दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
DIRECTORATE OF DISTANCE EDUCATION
जम्मू विश्वविद्यालय
UNIVERSITY OF JAMMU
जम्मू
JAMMU

पाठ्य सामग्री
STUDY MATERIAL

एम.ए.हिन्दी
M.A. HINDI
SESSION - 2020 ONWARDS

सत्र-प्रथम	हिन्दी साहित्य का इतिहास	पाठ्यक्रम संख्या-HIN -102
Semester - I		**Course Code. HIN-102**
इकाई संख्या-एक से पाँच		आलेख संख्या-(1- 37)
Unit I to V		**Lesson No. (1 to 37)**

DR. ANJU THAPPA

Course Co-ordinator

---

http:/www.distanceeducationju.in

इस पाठ्य सामग्री का रचना स्वत्व/ प्रकाशनाधिकार दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, जम्मू विश्वविद्यालय जम्मू के पास सुरक्षित है।

Printed and Published on behalf of the Directorate of Distance Education, University of Jammu, Jammu by the Director, DDE, University of Jammu, Jammu

M.A. HINDI (C.No. HIN-102)

COURSE CONTRIBUTORS :

- **Dr. Anju Thappa**
  Associate Professor,
  Directorate of Distance Education,
  University of Jammu.
  (Lesson Nos. 3, 34, 35, 36, 37)
- **Dr. Meeta Sharma**
  Associate Professor,
  Department of Hindi,
  University of Rajasthan.
  (Lesson Nos. 23-25)
- **Dr. Sunil Kumar**
  Assistant Professor,
  Department of Hindi,
  Guru Nanak Dev University, Amritsar.
  (Lesson Nos. 20-22)
- **Dr. O.P.N. Dwivedi**
  Retd. Associate Professor,
  Department of Hindi,
  University of Jammu, Jammu.
  (Lesson Nos. 1,2,4,5,6,7,9,26,27,28)
- **Prof. Vinod Taneja**
  Retd. Professor,
  Department of Hindi,
  GNDU, Amritsar.
  (Lesson Nos. 29-33)
- **Dr. Parshotam Kumar**
  Assistant Professor,
  Department of Hindi,
  University of Jammu.
  (Lesson No. 18 & 19)
- **Dr. Vandana Sharma**
  Assistant Professor,
  Department of Hindi,
  Central University of Jammu.
  (Lesson No. 8)
- **Dr. Raj Jamwal**
  Assistant Professor,
  Department of Hindi,
  Women College, Parade, Jammu
  (Lesson No. 10-17)

Content Editing, Review & Proof reading :

- **DR. ANJU THAPPA**
  Co-ordinator PG Hindi, DDE

© Directorate of Distance Education, University of Jammu, Jammu 2020

- All rights reserved. No part of this work may be reproduced in any form, by mimeograph or any other means, without permission in writing from the DDE, University of Jammu.
- The Script writer shall be responsible for the lesson/script submitted to the DDE and any plagiarism shall be his/her entire responsibility.

Printed by : Chenab Offset Printer /2020/500

विषय–सूची

आलेख संख्या	आलेख	पृष्ठ संख्या
1	आदिकाल का नामकरण।	5
2	आदिकाल की परिस्थितियां ।	10
3	आदिकाल का काल विभाजन।	17
4	आदिकाल की प्रवृत्तियां।	24
5	आदिकालीन हिन्दी का सिद्ध और नाथ साहित्य।	32
6	आदिकाल का रासो काव्य।	46
7	आदिकाल का जैन साहित्य।	55
8	लौकिक साहित्य	62
9	आदिकाल का गद्य साहित्य।	71
10	भक्तिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, सांस्कृतिक चेतना एवं भक्ति आंदोलन।	78
11	निर्गुण काव्य की विशेषताएं एवं प्रमुख निर्गुण कवियों का योगदान।	95
12	सगुण काव्य की विशेषताएं एवं प्रमुख सगुण कवियों का योगदान।	124
13	भक्तिकालीन भक्तित्तर साहित्य : सामान्य परिचय।	149
14	रीतिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि।	163
15	रीतिकाल का नामकरण।	173
16	रीतिकालीन साहित्य की विभिन्न धाराएं।	179
17	रीतिकालीन गद्य साहित्य।	199
18	गद्य के प्रारम्भिक उन्नायक।	207
19	19वीं शताब्दी के प्रमुख गद्यकार।	213
20	भारतेन्दु युगीन कविता : प्रवृतियाँ।	219
21	द्विवेदी युग – 20वीं शताब्दी का गद्य और प्रमुख गद्यकार।	231
22	द्विवेदी युगीन कविता और उसकी प्रवृतियाँ	241

विषय–सूची

आलेख संख्या	आलेख	पृष्ठ संख्या
23	वादों की कविता – छायावाद	251
24	प्रगतिवाद	268
25	प्रयोगवाद	286
26	वादमुक्त कविता (नई कविता)	307
27	अकविता	327
28	नवगीत	340
29	गद्य विधाएँ : हिन्दी निबन्ध	358
30	हिन्दी उपन्यास – उदभव और विकास	371
31	हिन्दी नाटक – उदभव और विकास	385
32	हिन्दी कहानी : उदभव और विकास	398
33	हिन्दी आलोचना : उदभव और विकास	418
34	कथेत्तर गद्य साहित्य : जीवनी	434
35	कथेत्तर गद्य साहित्य : आत्मकथा	446
36	कथेत्तर गद्य साहित्य : रेखाचित्र	458
37	कथेत्तर गद्य साहित्य : संस्मरण	468

आदिकाल का नामकरण

1.0. रूपरेखा

1.1. उद्देश्य

1.2. प्रस्तावना

1.3. आदिकाल का नामकरण

1.4. सारांश

1.5. कठिन शब्द

1.6. अभ्यासार्थ प्रश्न

1.7. संदर्भ ग्रन्थ

1.1 उद्देश्य

- आदिकाल के नामकरण को लेकर विभिन्न मतभेदों को जानेगें।
- आदिकाल के नामकरण पर एकमत का अभाव है, इसके कारणों को जानेगें।

1.2 प्रस्तावना

साहित्येतिहास के काल–विशेष का नामकरण एक जटिल प्रश्न है। अद्यावधि हिन्दी–साहित्य के जितने भी महत्वपूर्ण इतिहास ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनमें युग–विशेष, विशेषकर 'आदिकाल' के नामकरण पर मतैक्य का अभाव दिखाई पड़ता है। इसके कई कारण हैं क्योंकि :

(अ) इस कालखंड की अधिकांश रचनाएं या तो काल के गर्त में लुप्त हो चुकी हैं या कुछ वैयक्तिक, राजकीय या मंदिरों के ग्रन्थ–भण्डारों में दबी पड़ी हैं। ऐसी रचनाओं का पूरा परिचय ही या तो प्राप्त नहीं होता, यदि होता भी है तो स्पष्ट नहीं।

(आ) इस कालखंड के उपलब्ध अथवा ज्ञात साहित्य में प्रामाणिकता का अभाव रहता है।

(इ) विभिन्न भण्डारगारों, मन्दिरों अथवा निजी संकलनों में हस्तलिखित रूप में उपलब्ध साहित्य समय–समय पर अन्वेषकों द्वारा प्रकाश में लाया गया है और अभी भी यह प्रयास जारी है इससे इस कालखंड की पूरी तस्वीर अभी तक स्पष्ट नहीं हो पा रही।

(ई) इस कालखंड में हिन्दी भाषा के आदि रूप के निश्चित स्वरूप संबंधी मान्यता का अभाव।

1.3 आदिकाल का नामकरण

हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक इतिहासकारों ने काल–विभाजन तथा नामकरण की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' सन् 1929 में प्रकाशित होता है। इस रचना में हिन्दी साहित्य के प्रथम कालखंड को, उपलब्ध बारह रचनाओं के आधार पर 'वीरगाथा काल' अभियान दिया गया है। इसके पश्चात् तो एक परम्परा चल पड़ी जिसमें विद्वानों ने उपलब्ध सामग्री तथा विशिष्ट विशेषताओं के आधार पर हिन्दी साहित्य के इस कालखंड को अपनी–अपनी दृष्टि के अनुसार नाम दिए। इनमें से कुछ प्रमुख प्रसिद्ध इस प्रकार हैं:

	लेखक	अभिधान
(क)	रामचन्द्र शुक्ल	वीरगाथा काल
(ख)	रामकुमार वर्मा	सन्धिचारण काल
(ग)	महावीर प्रसाद द्विवेदी	बीजवपन काल
(घ)	राहुल सांकृत्यायन	सिद्ध सामंत काल
(ड़)	रामखेलावन पांडेय	संक्रमण काल
(च)	मोहन अवस्थी	आधार काल
(छ)	पृथ्वीनाथ कमल कुलश्रेष्ठ	अंधकार काल
(ज)	गणपति चन्द्र गुप्त	प्रारम्भिक काल
(झ)	रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'	बाल्य काल
(ञ)	शम्भुनाथ सिंह	प्राचीन काल
(ट)	वासुदेव सिंह	उद्भव काल
(उ)	हज़ारी प्रसाद द्विवेदी	आदिकाल
(ट)	राम प्रसाद मिश्र	संक्रांति काल
(ढ)	शैलेश जैदी	आविर्भाव काल
(ण)	धीरेन्द्र वर्मा	अपभ्रंश काल
(त)	चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी'	पुरानी हिन्दी काल
(थ)	हरीश	उत्तर अपभ्रंश काल

इन अभिधानों के अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने इस कालखंड को 'रासो काल', 'जय काव्य' काल ''धार्मिक

रास–काव्य'' 'वीर काल', 'जैन–काल' भी कहा है।

आदिकाल सम्बन्धी उपर्युक्त सभी नामकरणों के बीच विवाद आचार्य शुक्ल द्वारा प्रदत्त 'वीर गाथा काल' नाम के बाद सामने आया। उन्होंने इस युग में वीरगाथाओं (रासो काव्यों) की प्रचुरता को देखते हुए ही इसे वीरगाथा काल नाम दिया। उन्होंने इस युग के साहित्य में वीरगाथाओं को ही सम्मिलित किया और जैन तथा बौद्ध साहित्य को धार्मिक साहित्य कह कर इसमें सम्मिलित नहीं किया। उन्होंने वीरगाथा काल के नाम के पक्ष में अपना तर्क देते हुए लिखा है कि '.....मुंज और भोज के समय (संवत् 1050 के लगभग) तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का पूरा प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्य रचनाओं में पाया जाता है। अतः हिन्दी साहित्य आदिकाल संवत 1050 से लेकर 1375 तक अर्थात् महाराजा भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय के कुछ पीछे तक माना जा सकता है। ....राज्याश्रित कवि. .. अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरित्रों या गाथाओं का वर्णन करते थे। यही प्रबंध परम्परा रासो के नाम से पायी जाती है, जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने 'वीरगाथा काल' कहा है।'

शुक्ल जी का यह कहना कि सिद्धों और जैनों के साहित्य को धार्मिक होने के कारण इस युग में सम्मिलित नहीं किया जा सकता, उचित प्रतीत नहीं होता। यदि वे धार्मिक रचनाओं को साहित्य में सम्मिलित नहीं करते हैं तो फिर उन्हीं के द्वारा दिया हुआ भक्तिकाल नाम सर्वथा अनुपयुक्त हो जाता है और ऐसी स्थिति में पूर्व मध्यकाल के साहित्य को हिन्दी का साहित्य नहीं माना जा सकता। सूर, तुलसी, कबीर आदि का काव्य भी धार्मिक साहित्य है। फिर कौन सा ऐसा कारण है कि शुक्ल जी सूर, तुलसी और कबीर की रचनाओं को 'साहित्य' में सम्मिलित कर लेते हैं और सिद्धों तथा जैनों की रचनाओं को साहित्य में सम्मिलित नहीं करते?

शुक्ल जी द्वारा किये गये नामकरण 'वीरगाथा काल' का मूल आधार निम्नलिखित ग्रंथ हैं :

1. विजयपाल रासो
2. हम्मीर रासो
3. कीर्तिलता
4. कीर्तिपताका
5. पृथ्वीराज रासो
6. जयचंद प्रकाश
7. जयमयंक जस चंद्रिका
8. परमाल रासो
9. खुमान रासो
10. बीसलदेव रासो
11. खुसरो की पहेलियां
12. विद्यापति–पदावली

उन्होंने बीसलदेव रासो, विद्यापति पदावली तथा खुसरो की पहेलियां नामक ग्रंथों के अतिरिक्त सभी को वीरगाथाएं मानते हुये इस युग को वीरगाथा काल नाम दिया है। इन 12 ग्रंथों के अलावा प्राप्त रचनाओं को शुक्ल जी ने यह कह कर वीर काल में सम्मिलित नहीं किया कि कुछ तो इनमें नोटिस मात्र हैं, कुछ बाद की रचनाएं हैं और कुछ जैन धर्म के उपदेश विषयक ग्रंथ हैं।

शुक्ल जी ने जिन ग्रंथों को वीर गाथाकाल का आधार माना उनमें से अधिकांश ग्रंथों पर दबे शब्दों में सन्देह व्यक्त करते हुए लिखा था''इस काल की जो साहित्य सामग्री प्राप्त है, उसमें कुछ असंदिग्ध है और कुछ संदिग्ध'' ऐसी स्थिति में, जबकि आधारभूत साहित्य ही अप्रमाणित सिद्ध हो जाये, उस पर आधारित नामकरण की सार्थकता स्वतः ही संदिग्ध हो जाती है। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने शुक्लजी द्वारा जैन साहित्य को वीरगाथा काल से अलग करने की बात को अनुचित बताते हुए धार्मिक साहित्य को महत्वपूर्ण रूप में स्वीकार किया है। एक तथ्य और भी हमारे सामने आता है कि समस्त 'रासो' ग्रंथ वीर गाथात्मक नहीं है। स्वयं शुक्लजी ने बीसलदेव रासो को श्रृंगारिक काव्य माना है। उस युग के साहित्य के वृहत् भाग–श्रृंगारिक, नीतिपरक, धार्मिक, लौकिक साहित्य–की उपेक्षा कर केवल कुछ संदिग्ध वीर गाथाओं के आधार पर इसे वीरगाथा काल नाम देना उचित प्रतीत नहीं होता।

रामकुमार वर्मा ने हिन्दी साहित्येतिहास के इस काल को ग्रियर्सन की भांति 'चारण काल' कहा और हिन्दी साहित्य के प्रारम्भ के समय को सं. 750 मानते हुए 'सन्धि काल' तथा 'चारण काल' दो भाग कर दिए। राहुल जी ने इसी समय से हिन्दी का प्रारम्भ मानते हुए इसे बौद्ध–सिद्धों के साथ जोड़ते हुए 'सिद्ध सामन्त' अभिदान दे दिया। इन दोनों ही अभिधानों में जाति विशेष को ही अधिक महत्व दिया गया है। वर्मा जी द्वारा दिए गए नामकरण का आधार यद्यपि ग्रियर्सन और एफ.ई.के. है परन्तु फिर भी यह तो नहीं माना जा सकता कि मात्र चारणों ने ही इस कालखंड में काव्य रचना की। राहुल जी 'जैन काव्य' को महत्ता नहीं देते जबकि सिद्धों के समान ही जैन कवियों का भी प्रभूत योगदान इस काल के साहित्य में है। साथ ही सामन्तों की प्रेरणा से ही काव्य रचना नहीं हुई, लोक प्रेरणा से भी साहित्य रचना हो रही थी। इसी कारण से ये अभिधान भी स्वीकृत नहीं हो सके।

पृथ्वीनाथ कमल कुलश्रेष्ठ 1343 ई. से पूर्व के समय को साहित्येतिहास की दृष्टि से संदिग्ध मानते हुए उसे 'अंधकार काल' कहते हैं। यह तो आंख मूंदकर अंधकार महसूस करने के समान बात है। आज आदिकाल की जितनी रचनाएं उपलब्ध हैं उन्हें देखते हुए यह नाम किसी भी दृष्टि से समीचीन प्रतीत नहीं होता।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी के अनुसार हिन्दी साहित्य के बीज इस काल में दिखाई देते हैं। अतः इसका नाम 'बीजवपन' काल दिया गया। आदिकाल का साहित्य 'बीज–रूप' नहीं है, यह तो पूर्ववर्ती परिनिष्ठित अपभ्रंश की साहित्यिक प्रवृत्तियों का विकास है। हिन्दी भाषा और साहित्य का 'बीज' तो संस्कृत में है। अतः यह नाम संगत नहीं है।

इस काल को 'अपभ्रंश काल' तथा 'उत्तर अपभ्रंश काल' कहना भी भ्रामक है। भाषा की प्रधानता स्वीकार करने के कारण विषयवस्तु पर आधारित प्रवृत्ति निर्णय के बल पर साहित्य इतिहास के काल विभाजन के सिद्धांत की इस दृष्टि से अवहेलना हो जाती है।

रामखेलावन पाण्डेय 'हिन्दी साहित्य का नया इतिहास' में इस कालखंड को 'संक्रमण काल' कहते हैं। यह नाम भाषा और साहित्य में परिवर्तन की सूचना तो देता है पर पूरे युग की समग्रता का बोध इससे नहीं हो पाता।

1.4 सारांश

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी भाषा और साहित्य के इस प्रथम सोपान का अभिधान 'आदिकाल' दिया है। इस नामकरण से इस काल में मिलने वाली लगभग सभी ऐतिहासिक सामग्रियों का समावेश हो जाता है। इस नामकरण में अपभ्रंश और देशभाषा के सभी ग्रंथों को समाहित कर लेने की क्षमता है। इसके साथ ही इस काल के साहित्य की धार्मिक, राज्याश्रित तथा लौकिक धाराओं का विवेचन भी इसके अन्तर्गत हो जाता है। हिन्दी साहित्येतिहास के अधिकांश अध्येताओं ने इसी नाम को स्वीकृत किया है। इस नाम से उस व्यापक पृष्ठभूमि का बोध होता है, जिस पर आगे का साहित्य खड़ा है। भाषा की दृष्टि से उन सभी प्रमुख प्रवृत्तियों के आदि स्वर इस काल के साहित्य में

मिलते हैं जो भक्ति काल से आज तक विकसित होती रही है। इस प्रकार अन्य सभी नामों की अपेक्षा हिन्दी साहित्येतिहास के इस प्रथम सोपान का नाम 'आदिकाल' ही अधिक उपयुक्त और संगत माना जा सकता है।

1.5. कठिन शब्द (1) प्रवृति (2) समीचीन (3) अवहेलना (4) संक्रमण (5) पृष्ठभूमि (6) अभिधान (7) परिनिष्ठित (8) कालखंड

1.6. अभ्यासार्थ प्रश्न :

1. आदिकाल के नामकरण की समस्या पर प्रकाश डालिए

_____

_____

_____

_____

2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा दिए गए नामकरण पर प्रकाश डालिए।

_____

_____

_____

_____

12.7. संदर्भ ग्रन्थ :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ॰ रामकुमार वर्मा
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ॰ रामसजन पाण्डेय
4. हिन्दी साहित्य का उदभव और विकास – हज़ारी प्रसाद द्विवेदी

.....

आदिकाल की पृष्ठभूमि/परिस्थितियाँ

2.0. रूपरेखा

2.1. उद्देश्य

2.2. प्रस्तावना

2.3. आदिकाल की पृष्ठभूमि

2.3.1 राजनैतिक स्थिति

2.3.2 सामाजिक स्थिति

2.3.3 धार्मिक स्थिति

2.3.4 साहित्यिक एवं सांस्कृतिक स्थिति

2.4. कठिन शब्द

2.5. अभ्यासार्थ प्रश्न

2.6. संदर्भ ग्रन्थ

2.1 उद्देश्य

- हिन्दी साहित्य के आदिकाल की पृष्ठभूमि को जानना
- हिन्दी साहित्य का आदिकाल राजनैतिक दृष्टि से पतन का काल रहा है, इस बात से अवगत होंगे।
- आदिकाल की सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थिति से अवगत होगें।

2.2 प्रस्तावना

काल की अविच्छिन्न धारा के समान साहित्यिक परम्परायें और प्रवृतियां निरन्तर गतिशील रहा करती हैं। इसके नामकरण और पूर्वापर सीमा निर्धारण का प्रश्न हिन्दी साहित्य के इतिहास के विवादास्पद प्रश्नों में एक प्रमुख प्रश्न है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के अनेक अधिकारी लेखक विद्धानों ने इस संबंध में अपने अपने भिन्न मत दिये हैं। इस आलेख में आदिकालीन परिस्थितियों का अवलोकन निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर होगा।

2.3 आदिकाल की पृष्ठभूमि

2.3.1 राजनैतिक स्थिति

(i) बाह्य आक्रमण

हिन्दी साहित्य का आदिकाल राजनैतिक दृष्टि से पतन का काल रहा है। आदिकाल की सीमावधि सन् 769 से 1318 के मध्य निर्धारित की गई है। इस काल के आरम्भ में ही भारत के विशाल साम्राज्य निर्माता और अन्तिम हिन्दू सम्राट हर्षवर्धन का पतन हो चुका था। हर्षवर्धन की मृत्यु सन् 647ई. में हो चुकी थी। स्वयं हर्षवर्धन के समय ही भारत के उत्तरी–पश्चिमी सीमा प्रान्त पर विदेशी आक्रमण आरम्भ हो गये थे। इतिहासकारों का मानना है कि 636ई. में, खलीफा उमर के समय से ही भारत पर मुसलमानों के आक्रमण शुरू हो गये थे, किन्तु अभी तक वे अफगानिस्तान से आगे नहीं बढ़ पाये थे। सन् 712 ई. में मुहम्मद बिन कासिम ने भारत पर आक्रमण कर विदेशी आक्रान्ताओं के लिये द्वार खोल दिये थे। इसके पश्चात् एक के बाद एक, विदेशी आक्रामकों ने भारत पर आक्रमण किये, इसे लूटा, यहाँ की आन्तरिक शासन–व्यवस्था में हस्तक्षेप किया और एक समय ऐसा आया, जब भारतवर्ष पूर्णतया विदेशों के अधीन हो गया। मुहम्मद बिन कासिम के पश्चात् गजनी के शासकों ने भारत पर आक्रमण किये। गजनी के शासक अलप्तगीन के तुर्क दास सुबुक्तगीन ने सन् 991 में जयपाल पर आक्रमण कर उसे पराजित कर दिया। इस आक्रमण से सुबुक्तगीन को खैबर दर्रा और पेशावर हाथ लगे, जिनसे बाद के आक्रमणकारियों के लिये मार्ग खुल गये। इसके पश्चात् गजनी के शासक महमूद गजनवी ने 1000 ई. से 1026 तक भारत पर सत्रह बार आक्रमण किये, जिनमें सोमनाथ मंदिर की लूट भी सम्मिलित थी। गजनवी के पश्चात् मुहम्मद गौरी ने साम्राज्य–विस्तार, धन–प्राप्ति एवं इस्लाम के प्रचार–प्रसार को ध्यान में रखते हुये भारत पर आक्रमण शुरू किये। गौरी और पृथ्वीराज चौहान के बीच लड़े गये दो युद्ध तराइन का प्रथम एवं द्वितीय युद्ध सन् 1191 एवं 1192 ई. प्रमुख हैं। तराइन की दूसरी लड़ाई में पृथ्वीराज पराजित हुआ और एक शक्तिशाली राजपूत राजा का पतन हो गया। गौरी की मृत्यु के पश्चात् भारत का साम्राज्य गौरी के दास एवं प्रतिनिधि कुतुबुद्दीन ऐबक (सन् 1206) के हाथों में आ गया। यहीं से दिल्ली पर दास–वंश का शासन आरम्भ हो गया जो 1290 ई. तक चलता रहा। दासों के पश्चात् 1290 से 1320 तक खिलजी वंश का शासन रहा। खिलजी वंश के शासकों में जलालुद्दीन फिरोज खिलजी, अलाउद्दीन खिलजी, शहाबुद्दीन, उमर, कुतुबुद्दीन मुबारकशाह, नासिरुद्दीन खुसरो आदि प्रमुख थे। खिलजी वंश के पतन के पश्चात् काजी मलिक गयासुद्दीन ने तुगलक वंश की स्थापना की।

(ii) आन्तरिक स्थिति – अब थोड़ा भारत की आंतरिक व्यवस्था पर भी दृष्टिपात कर लिया जाये। हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् भारत में कोई शक्तिशाली सम्राट नहीं बचा। हर्षवर्धन के समय ही भारत दो भागों में बँट चुका था। नर्मदा के उत्तर में हर्षवर्धन का साम्राज्य था और दक्षिण में चालुक्यवंश के पुलकेशन द्वितीय का शासन था। कुछ इतिहासकारों का मत है कि हर्षवर्धन ने दक्षिण पर भी कुछ समय के लिए शासन किया था। हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् भारत में कई छोटे–छोटे राजाओं का अभ्युदय हुआ। केन्द्रीय संगठन शक्ति का अभाव हो गया और देश में छोटे–छोटे राजवंश–गुर्जर, तोमर, राठौड़, चौहान, चालुक्य, चन्देल आदि आपस में लड़–लड़कर अपनी शक्ति का ह्रास करने लगे। आठवीं शताब्दी में मौखरी वंश के यशोवर्मन (कान्य कुब्ज) ने एक बार पुनः भारत को संगठित करने का

प्रयास किया, किन्तु कश्मीर के राजा ललितादित्य के हाथों उसे पराजित होना पड़ा। इसके पश्चात् पृथ्वीराज चौहान एक शक्तिशाली सम्राट के रूप में उभर कर आया। किन्तु जयचन्द की दुरभिसंधि के कारण मुहम्मद गौरी के हाथों तराइन की दूसरी लड़ाई (1192) में उसे पराजित होना पड़ा। इसके साथ ही भारत पूरी तरह विदेशियों के हस्तगत हो गया। केन्द्रीय संगठन–शक्ति और नेतृत्व के अभाव में अनेक स्थानीय शक्तिशाली राजा आपस में लड़ कर अपनी शक्ति क्षीण करते रहे और विदेशी आक्रमणकारी इसका लाभ उठाते रहे। देश को पतन की अवस्था में पहुँचाने के लिए सामन्तवादी व्यवस्था का भी पूरा हाथ रहा। सामन्त लोगों की स्वार्थी मनोवृत्ति ने जन–कल्याण की उपेक्षा कर दी। राष्ट्रीयता की भावना लुप्त हो गई और प्रान्तीयता की भावना बलवती होने लगी। जातीय हितों के स्थान पर व्यक्तिगत हित प्रधान हो गये। इन सब का परिणाम यह हुआ कि समाज में विभिन्न विचारधारा वाले वर्गों का अभ्युदय हुआ। एक वर्ग आत्मसम्मान की रक्षा में लड़ते–लड़ते प्राणोत्सर्ग तक कर देना चाहता था, तो दूसरा वर्ग युग की भीषणताओं से किनाराकशी करके काव्य और आध्यात्मिक जीवन की बातें करता था। एक ऐसा वर्ग भी पैदा हुआ जो मृत्यु से पूर्व जीवन का आनन्द और रस भोग लेना चाहता था। यही कारण है कि इस युग में एक ओर वीर काव्य की रचना हुई तो दूसरी ओर आध्यात्मिक (सिद्ध, जैन आदि) काव्य की। श्रृंगारिक कवियों का वर्ग मृत्यु के क्षणों में भी जीवन का आनन्द भोग लेने वाले व्यक्तियों की विचारधारा का प्रतिनिधि था।

2.3.2 सामाजिक स्थिति – आदिकालीन समाज–व्यवस्था अत्यन्त जटिल हो गई थी। समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र नाम के वर्णों के साथ–साथ अनेक जातियों और उपजातियों में बँटा हुआ था। समाज में ब्राह्मणों का स्थान सबसे ऊँचा था तथा शूद्रों की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई थी। अस्पृश्यता बढ़ती जा रही थी। जिस प्रकार राजनैतिक दृष्टि से विखंडित राष्ट्र में राष्ट्रीयता का अभाव हो गया था, उसी प्रकार समाज में विभिन्न जातियों और वर्गों में विभक्त हो जाने के कारण सामाजिक संकीर्णता उत्पन्न हो गई थी। वंश, व्यवसाय, जाति, स्थान आदि मान्यताओं के प्रबल हो जाने के कारण समाज विभिन्न जातियों, वंशों, वर्णों आदि में विभाजित हो गया था फलतः सामाजिक संगठन और सहानुभूति का अभाव हो गया था। जाति–बंधन कड़े हो गये थे। उच्च वर्ग के लोग निम्न वर्ग के लोगों पर अत्याचार करते थे। परिवार पितृसत्तात्मक थे, नारी का स्थान हेय था। यहाँ तक कि नारी को भोग्य मात्र समझा जाने लगा था। शिक्षा की समुचित व्यवस्था नहीं थी। समाज का उच्च वर्ग ही शिक्षा प्राप्त कर सकता था। स्त्रियों के लिए शिक्षा के द्वार लगभग बन्द हो चुके थे। सती प्रथा जोर पकड़ रही थी। मुसलमानों के आगमन के कारण पर्दा–प्रथा और बाल विवाह जैसी सामाजिक कुरीतियों को प्रोत्साहन मिल रहा था। विधवा–विवाह निषिद्ध था। लोगों में अंधविश्वास बढ़ते जा रहे थे। समाज में साधु–संतों का प्रभुत्व बढ़ता जा रहा था। जन्म से मृत्यु तक विभिन्न प्रकार के संस्कारों और कर्मकाण्डों की व्यवस्था थी। पूजा–पाठ, तंत्र–मंत्र आदि का बोलबाला था।

समाज का दूसरा पक्ष यह भी था, जिसमें लोगों का आभूषणों आदि के प्रति मोह बढ़ गया था। लोग विभिन्न उत्सवों को आनन्दपूर्वक मनाते थे। राजपूत लोगों का शौर्य तो प्रसिद्ध था ही, किन्तु यह शौर्य आपसी युद्धों में अधिक प्रकट होता था। राजपूत लोग दूसरों की सुन्दर कन्या प्राप्त करने के लिए भी युद्ध कर लिया करते थे। क्षत्रिय राजकुमारों के लिए शिक्षण–प्रशिक्षण की विशेष व्यवस्था थी। संभवतः राजपूतों के युद्ध–प्रेम के परिणामस्वरूप ही इस युग में विभिन्न वीरगाथाओं (रासो) की रचना हुई थी। कुल मिलाकर इस युग का समाज असंगठित, रूढ़िवादी, अंधविश्वासी और विलासी हो गया था। राष्ट्र को पतनोन्मुखी बनाने में जितना हाथ राजनैतिक परिस्थितियों का था, उससे अधिक हाथ सामाजिक व्यवस्था का था।

2.3.3 धार्मिक स्थिति धर्म का भारतीय जन–जीवन से अटूट संबंध रहा है। किन्तु समय के बदलाव के साथ धर्म के स्वरूप में भी परिवर्तन होता रहा है। आदिकाल धार्मिक दृष्टि से उथल–पुथल का युग था। छठी शताब्दी के बाद

धार्मिक वातावरण में व्यापक रूप से परिवर्तन होने लगा था। वैष्णव धर्म के साथ–साथ बौद्ध और जैन धर्म का भी प्रचार–प्रसार हो रहा था। इनके साथ ही इस्लाम का प्रचार–प्रसार भी होने लगा था। प्रत्येक धर्म अपनी जड़ें मजबूत करने के प्रयत्न में लगा हुआ था। धार्मिक–सम्प्रदायों में जो एक विशेष परिवर्तन हो रहा था, वह यह कि इस समय सभी धर्म प्रचार–प्रसार की होड़ में अपने धर्म के मूल स्वरूप को भूल कर दूसरे वर्गों की विशेषताओं और पद्धतियों को निःसंकोच भाव से ग्रहण कर रहे थे।

बौद्ध धर्म की जो प्राचीन परम्परा थी, उसमें अब पर्याप्त परिवर्तन हो चुका था। चीनी यात्री हवेनसांग (सन् 630 से 645) ने बौद्ध धर्म की पतनोन्मुखी दशा पर दुःख भी व्यक्त किया था। न तो बौद्धों की हीनयान शाखा और न ही महायान शाखा अपना शुद्ध रूप सुरक्षित रख पाई थी। हीनयानियों ने तो फिर भी अपने परम्परागत स्वरूप को बनाए रखने की चेष्टा की किन्तु महायान शाखा में भयंकर परिवर्तन हो गए। महायान शाखा ने तो अपनी जड़ें गहरी करने के लिए ब्राह्मण धर्म की पौराणिक परम्परा से पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया, परिणामतः बौद्धों में मूर्त्तिपूजा, योग और भक्ति का समावेश होने लगा। निरीश्वर बौद्ध भी अब ईश्वर और अवतारवाद में विश्वास करने लगे। कालान्तर में महायान शाखा में तंत्र–मंत्र, पंचमकार (मांस, मदिरा, मत्स्य, मैथुन एवं मुद्रा) आदि ने स्थान पा लिया। महायान शाखा का यह रूप वज्रयान नाम से जाना जाने लगा। वज्रयानी परम्परा के सूत्रपात का श्रेय सरहपा नाम के सिद्ध को दिया जाता है। बौद्धों की यही वज्रयानी परम्परा आदिकाल के सिद्ध कवियों में दिखाई देती है। सिद्धों में अधिकांशतः निम्न वर्णों के लोग होते थे। आगे चलकर सिद्धों की इस साधना में पंचमकारों के लाक्षणिक अर्थ के स्थान पर सतही अर्थ को ही ग्रहण किया जाने लगा। फलतः बौद्ध धर्म और सिद्ध संप्रदाय पतन के गर्त में जा गिरे। सिद्धों के पतन के पश्चात् इन्हीं में से नाथों का अभ्युदय हुआ। नाथ संप्रदाय सिद्धों की भोग–प्रधान साधना के स्थान पर हठयोग साधना, कुंडलिनी जागरण आदि में विश्वास करता था।

जैन धर्म का प्रचार–प्रसार इस युग में द्रुत गति से हो रहा था। जैन धर्म शैवों की होड़ में आगे बढ़ने के लिए सतत प्रयत्नशील था। बारहवीं शती तक आते–आते वैष्णवों का भी उत्कर्ष होने लगा। वैष्णव धर्म के अभ्युदय से जैन धर्म की स्थिति दुर्बल होने लगी। राजपूत राज्यों में जैन धर्म विशेष सफलता प्राप्त नहीं कर सका क्योंकि राजपूत लोग जैन धर्म के अहिंसा–मूलक सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते थे। अतः जैन मतावलंबियों ने अपने धर्म के प्रसार के लिए वैष्णवों की धार्मिक कथाओं को अपने साहित्य का आधार बनाना आरम्भ कर दिया। जैन रचनाकारों ने राम–कृष्ण आदि वैष्णव वर्ग के नायकों की शक्ति को नकारते हुए उन्हें जैन धर्म में दीक्षित करके लोगों के सामने प्रस्तुत किया। 'पउम चरिउ' नामक ग्रंथ इस संदर्भ में उल्लेखनीय है, जिसमें राम को जैन धर्म में दीक्षित किया गया है। इसके साथ ही वैष्णवों की अवतारवादी धारणा को भी जैनियों ने ग्रहण कर तीर्थंकरों के अवतार की कल्पना आरंभ कर दी।

वैष्णव धर्म में भी शैव, शाक्त आदि अलग–अलग संप्रदायों का जन्म हो चुका था। इनके साथ ही एक ओर ब्राह्मणों की कर्मकाण्डपरक विचारधारा प्रचलित थी तो दूसरी ओर उपनिषदों की ज्ञानपरक धारा प्रचलित थी। शंकराचार्य ने इनमें समन्वय का सफल प्रयास किया। शंकराचार्य के पश्चात् रामानुज, निम्बार्क आदि आचार्यों ने ज्ञान और भक्ति का समन्वय कर समाज के समक्ष नवीन दार्शनिक दृष्टि प्रस्तुत की। यह धारा क्रमशः विकसित होती रही और इसका चरम उत्कर्ष भक्ति काल में जाकर हुआ। इस प्रकार आदिकाल में विभिन्न धार्मिक विचारधारायें प्रतिष्ठित होने की होड़ में अपने मूल स्वरूप को परिवर्तित करने का दुस्साहस तक कर रही थीं। ऐसी स्थिति में धर्मों के मूल स्वरूप को पहचानना मुश्किल हो गया था। विभिन्न धर्म–प्रचारकों शैवों, बौद्धों, हिन्दू साधुओं आदि ने जनता को अनेक प्रकार से भयाक्रान्त कर दिया था। धर्म केन्द्र भ्रष्ट होने लगे थे। यदि बौद्ध विहार विलास और भ्रष्टाचार के केन्द्र थे तो हिन्दू मन्दिर भी इस क्षेत्र में पीछे नहीं थे। सोमनाथ मन्दिर का वैभव तत्कालीन विलासी प्रवृत्ति का सुन्दर उदाहरण

है। ऐसी धार्मिक परिस्थितियों में इस्लाम का आगमन और प्रसार भारतीय धर्म–व्यवस्था के लिए महत्वपूर्ण मोड़ का सूचक था।

2.3.4 साहित्यिक एवं सांस्कृतिक स्थिति आदिकाल में साहित्य–सृजन के लिए प्रधानतः तीन भाषाओं संस्कृत, अपभ्रंश और लोकभाषा हिन्दी का प्रचलन था। संस्कृत का सम्बन्ध राज–दरबारों एवं विद्वानों से था। इस युग में षड्दर्शनविषयक ग्रन्थों की रचना हुई। परवर्ती हिन्दी साहित्य और भारतीय समाज में विकसित धार्मिक आन्दोलनों के आधार–ग्रन्थों का सृजन इसी युग में हुआ था। इस युग में संस्कृत के अनेक काव्य–शास्त्रियों, नाटककारों एवं कवियों का प्रादुर्भाव हुआ। साहित्यदर्पण, ध्वन्यालोक, राजतरंगिणी आदि इस युग के प्रमुख संस्कृत ग्रन्थ हैं। विश्वनाथ, मम्मट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, कुन्तक, क्षेमेन्द्र, राजशेखर आदि इसी युग के रचनाकार थे। शंकराचार्य, रामानुज और कुमारिलभट्ट जैसे आचार्यों एवं दार्शनिकों का प्रादुर्भाव भी इसी युग में हुआ था। पूर्वी सीमान्त प्रदेश में सिद्ध कवियों ने अपभ्रंश मिश्रित हिन्दी को लेखन का माध्यम बनाया। इसी प्रकार जैन आचार्यों ने प्राकृत मिश्रित हिन्दी को लेखन का माध्यम बना कर साहित्य–सृजन किया। मोटे रूप में संस्कृत इस युग में उच्च एवं राज–वर्ग की, अपभ्रंश धर्म–प्रसार की ओर हिन्दी लोक–प्रवृत्ति की भाषा बन गई थी। कुल मिला कर साहित्यिक दृष्टि से यह युग काफी समृद्ध था।

सांस्कृतिक दृष्टि से यह युग संक्रमण का युग था। एक ओर आदिकाल का आरम्भिक समय सांस्कृतिक उत्कर्ष का युग था तो दूसरी ओर आदिकाल का उत्तरार्ध मुस्लिम आक्रमणों तथा राजनैतिक एवं सामाजिक अव्यवस्था के कारण सांस्कृतिक अपकर्ष का युग था। कलाओं–स्थापत्य, संगीत, चित्र आदि की दृष्टि से यह समृद्धि का युग था। इस युग की स्थापत्य कला के प्रतीक खजुराहो, पुरी, सोमनाथ, भुवनेश्वर, कोणार्क आदि के मन्दिर अपनी श्रेष्ठता के लिए बेजोड़ हैं। इस युग में कलाओं तथा धर्म का समन्वय विशेष रूप से दृष्टव्य है। एक ओर इस युग के लोगों का जीवन और धर्म एक–दूसरे के पर्याय थे तो दूसरी ओर उनकी कलाओं को धर्म से अलग नहीं किया जा सकता है। इस समय तक यहाँ मुस्लिम आक्रामकों और धर्म–प्रचारकों का आगमन हो चुका था अतः यहाँ के जन–जीवन,संस्कृति आदि पर इस्लाम का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। इस युग के समाज के विभिन्न उत्सवों, पर्वों, मेलों, रहन–सहन, रीतिरिवाज़, पहनावे, खान–पान आदि पर इस्लाम का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। कलाओं पर भी इस्लाम का प्रभाव पड़ने लगा था किन्तु राजनैतिक उथल–पुथल के कारण कलाओं को राज्याश्रय नहीं मिल पाया था। हिन्दुओं की चित्रकला में अजन्ता शैली धीरे–धीरे लुप्त होती जा रही थी। मुसलमानों की मूर्तिपूजा–विरोधी नीति ने मूर्तिकला को ह्रासोन्मुख कर दिया।

2.4 कठिन शब्द (1) हस्तक्षेप (2) संकीर्णता (3) आध्यात्मिक (4) अटूट (5) रूढ़िवादी (6) प्रशिक्षण (7) पौराणिक (8) पद्धति (9) उत्कर्ष (10) दार्शनिक

2.5. अभ्यासार्थ प्रश्न :

1. आदिकाल की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालिए।

---

2. आदिकालीन राजनैतिक स्थिति पर विचार कीजिए।

3. आदिकालीन सामाजिक स्थिति पर लेख लिखिए।

4. आदिकालीन धार्मिक स्थिति पर प्रकाश डालिए।

5. आदिकालीन साहित्यिक एवं सांस्कृतिक स्थिति पर प्रकाश डालिए।

6.6. संदर्भ ग्रन्थ :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ॰ रामकुमार वर्मा
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ॰ रामचन्द्र शुक्ल
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ॰ रामसजन पाण्डेय

.....

आदिकाल का काल विभाजन

3.0. रूपरेखा

3.1. उद्देश्य

3.2. भूमिका

3.3. वर्ण्य विषय : आदिकाल का काल विभाजन

3.4. निष्कर्ष

3.5. दीर्घ प्रश्नावली

3.6. लघु प्रश्नावली

3.7. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

3.8. संदर्भ ग्रन्थ

3.1 उद्देश्य

- इतिहास का ज्ञान प्राप्त करना।
- हिन्दी साहित्य के इतिहास से परिचित होना।
- हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल विभाजन से परिचित होना।
- आदि काल के सीमा निर्धारण को समझना।

3.2 प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य का काल विभाजन एक जटिल समस्या है। साहित्य चेतना के क्रमिक विकास, प्रवृति–बोध और प्रेरक तत्वों को समझने के लिए हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल–विभाजन आवश्यक है। काल विभाजन की आवश्यकता पर डा० नगेन्द्र कहते हैं, ''वस्तु के समग्र रूप का दर्शन करने के लिए उसके अंगों का भी निरीक्षण करना

पड़ता है।'' स्पष्ट है कि काल विभाजन आवश्यक तो है, परन्तु उसकी सार्थकता साहित्य के ऐतिहासिक विकासक्रम को जानने में ही है। आदिकाल के काल विभाजन का प्रश्न हिन्दी साहित्य के इतिहास के विवादस्पद प्रश्नों में से एक प्रमुख प्रश्न है। इस सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने भिन्न–भिन्न मत दिये हैं। इस आलेख में विभिन्न मतों के औचित्य और अनौचित्य का पर्यवेक्षण किया जायेगा।

3.3 वर्ण्य विषय : आदिकाल का काल विभाजन

हिन्दी साहित्य के आरंभ के विषय पर विद्वानों का पर्याप्त मतभेद है। इस मतभेद का मूल कारण अपभ्रंश भाषा को हिन्दी में स्वीकार या बहिष्कृत करने से जुड़ा है। अपभंश हिन्दी से पूर्व प्रचलित भाषा थी। उनमें कौन से परिवर्तन किस बिन्दु पर आरंभ हुए जिससे धीरे–धीरे हिन्दी भाषा का स्वतंत्र विकास हुआ इस प्रश्न का सीधा और स्पष्ट उत्तर नही दिया जा सकता। भाषा प्रयोग से भाषा का विकास होता है। भाषा प्रवाहिनी नदी के समान गतिशील है। भाषा की प्रवाह प्रक्रिया में भाषा परिवर्तन को समझने में कठिनाई होती है। वस्तुतः अपभ्रंश जब साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी तब जन भाषा से दूर हट गई थी। अपभ्रंश की जनभाषा से हिन्दी का विकास होता है। चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने इसे ही पुरानी हिन्दी कहा है। उन्होनें स्पष्ट घोषणा की कि उत्तर अपभ्रंश ही पुरानी हिन्दी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी का आरंभ 993 ई० से मानते हैं जब अपभ्रंश भाषा घिस–घिस कर एक नई भाषा को विकसित करने में सक्षम हो रही थी। लेकिन हिन्दी के आरंभिक रूप का पता उन्हें बौद्ध तांत्रिकों की रचना में मिलता है। उन्होने लिखा है ''अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी के पद्यों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और योगमार्गी बौद्धों की सांप्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण मे लगता है। मुंज और भोज के समय (संवत् 1050) के लगभग तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का पूरा प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्य रचनाओं में भी पाया जाता है। अतः हिन्दी साहित्य का आदिकाल संवत् 1050 से लेकर संवत् 1375 तक अर्थात् महाराज भोज के समय से लेकर हम्मीर देव के समय के कुछ पीछे तक जा सकता है।''

आचार्य शुक्ल हिन्दी का आरंभ तो सिद्धों की रचनाओं से स्वीकार करते हैं लेकिन वास्तविक हिन्दी का प्रारंभ वे 993 ई० यानी दसवीं शताब्दी से मानते हैं। इसमें साहित्यिक तथ्य और उनकी विचारधारा का संघर्ष स्पष्ट दिखायी देता है। अनुभव और प्रयोग के धरातल पर भाषा का विकास सातवीं सदी से हो चुका था। लेकिन उनका मताग्रह और सिद्धांत की कट्टरता, उन्हें बौद्ध तांत्रिक रचनाओं से हिन्दी भाषा का विकास मानने से रोकती है। उनमें मर्यादावाद और नैतिकतावाद इस तरह प्रभाव जमाता है कि वे समाज के दूसरे विकल्प को स्वीकार करने को तैयार ही नहीं होते हैं। आचार्य शुक्ल के इतिहास और आलोचना में यह आग्रह बार–बार दिखाई पड़ता है। आचार्य शुक्ल के इतिहास में नाथ सिद्धों और जैन रचनाकारों की उपेक्षा की गई है। उन्होंने ऐसे साहित्य की कभी धार्मिक साहित्य कहकर उपेक्षा की और कभी वे विशुद्ध साहित्य के नाम पर उनको हाशिए पर रखते रहे। आचार्य शुक्ल ने आगे लिखा है – ''आगे चलकर भक्तिकाल में निर्गुण संत संप्रदाय किस प्रकार वेदांत के ज्ञानवाद, सूफियों के प्रेमवाद तथा वैष्णव के अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद को मिलाकर सिद्धों और योगियों द्वारा बनाए हुए इस रास्ते पर चल पड़ा यह आगे दिखाया जायेगा।'' हमारे कहने का मकसद स्पष्ट है कि यदि हम हिन्दी व्यवहार को सिद्धों की रचनाओं में पाते हैं तो वहां से हिन्दी का विकास माननें में हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। भाषा और अनुभूति दोनों स्तरों पर उस परंपरा का विकास बाद के साहित्य में भी मिलता है। नाथपंथियों की भाषा पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल लिखतें हैं ''इस प्रकार नाथपंथियों के इन जोगियों ने परंपरागत साहित्य की भाषा या काव्य भाषा से जिसका ढाँचा नागर अपभ्रंश या ब्रजभाषा का था, अलग एक सधुक्कड़ी भाषा का सहारा लिया, जिसका ढाँचा कुछ खड़ी बोली लिए राजस्थानी था।'' भाषा और साहित्य की इस तथ्यगत वास्तविकता को स्वीकार करने के बाद भी यदि हम उन्हें साहित्य में जगह न दें तो यह हमारे

सिद्धान्त की कमज़ोरी है।

किसी भी कालखण्ड के परिवर्तन में भाषा और संवेदना के कुछ सूत्र मिलते हैं, जिससे हम नये साहित्य के आरंभ की सूचना पाते हैं। अनुभूति के विस्तार और नये प्रयोग से नई भाषा के आविर्भाव को रेखांकित कर सकते हैं। कथ्य के आधार पर नाथ और सिद्धों का मूल्यांकन करने पर हम पाते हैं कि सिद्धों ने पंडित परम्परा के वर्चस्व को चुनौती दी। जनता की भाषा में साहित्य को रचा जिसका स्वाभाविक विकास भक्तिकाल में हुआ, इसलिए आरंभिक सीमा को थोड़ा पीछे ले जाया जा सकता है। इसका विकल्प आचार्य शुक्ल के इतिहास से भी उभरता दिखाई देता है।

नाथ, सिद्ध और जैन रचनाकारों के साहित्य से हिन्दी साहित्य का आरंभ माना जा सकता है। हिन्दी भाषा को विशिष्ट बनाने वाली भाषा प्रवृत्तियों का लक्षण इनके साहित्य में मिलता है। भाषा को विशिष्ट बनाने वाली मूलतः तीन भाषा प्रवृत्तियाँ हैं। प्रथम, क्षतिपूरक दीर्घीकरण जैसे प्राकृत अपभ्रंश के 'कम्म' 'कज्ज' जैसे शब्द हिन्दी में 'काम और काज' बन गए। दूसरा है, परसर्गों की बहुलता और तीसरा, तत्सम शब्दों का प्रचलन। जैन आचार्यों और कवियों की रचनाएँ मूल रूप में प्रमाणिक और सुरक्षित हैं। उनके अध्ययन से तत्कालीन साहित्यिक परिस्थिति की जो सूचना मिलती है, वह वास्तविक और विश्वसनीय है। इस दृष्टि से जैन रचनाओं का महत्व बहुत अधिक है। ये हमें लोकभाषा के काव्य रूपों को समझने में सहायता पहुँचाते हैं और साथ ही उस काल की भाषागत अवस्थाओं और प्रवृत्तियों को समझने में मदद भी करते हैं। जैन रचनाकारों के चरित काव्यों के अध्ययन से परवर्ती साहित्य की कथानक रूढ़ियों, काव्यरूपों, छंद योजना, वर्णन शैली और वस्तुविन्यास को समझनें में मदद मिलती है। इस प्रकार अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों स्तरों पर जैन साहित्य का महत्व बढ़ जाता है।

आचार्य शुक्ल के बाद दूसरे महत्वपूर्ण इतिहासकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हैं। उन्होंने अपभ्रंश भाषा को एक स्वतंत्र भाषा के रूप में स्वीकार किया है। लेकिन स्वतंत्र भाषा का महत्व उन्होंने हिन्दी के लिए आवश्यक माना है। उन्होंने आदिकालीन भाषा और साहित्य का रूप इतना अधिक मिला–जुला पाया कि वास्तविक हिन्दी की शुरूआत ही वे भक्ति काल से मानते हैं। वस्तुतः आदिकालीन साहित्य की भाषा में कंई तरह के मिश्रित रूप हमें मिलते हैं। सिद्धों की भाषा, नाथों की भाषा और जैन कवियों की भाषा में क्षेत्रीय विविधता के लोकरंग के साथ भाषा रंगी हुई जान पड़ती है। वे रासो काव्य परंपरा की भाषा में अलग प्रकार की विविधता को देखते हैं। इतनी अधिक मिश्रित संवेदनाओं के बीच यह पहचानने में अवश्य कठिनाई होती है कि भाषा कहां से शुरू हुई थी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक के समय को हिन्दी साहित्य का आदिकाल मानते हैं। तब मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक हो जाता है कि फिर अपभ्रंश काव्य पर इतनी विस्तृत चर्चा का उद्देश्य क्या था ? अपरोक्ष रूप से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी आदिकाल के प्रारंभिक सीमा को सातवीं सदी में ही स्वीकार करते हैं। उन्हीं के अनुसार इस प्रकार दसवीं से चौद्हवीं शताब्दी का काल जिसे हिन्दी का आदिकाल कहते हैं, भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश के ही आगे का रूप है। इसी अपभ्रंश के परवर्ती रूप को कुछ लोग उत्तरकालीन अपभ्रंश कहते हैं और कुछ लोग पुरानी हिन्दी। इस वक्तव्य को ध्यान पूर्वक पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि बारहवीं शताब्दी से पहले की भाषा अपभ्रंश थी। यही अपभ्रंश भाषा पुरानी हिन्दी भी थी। दूसरा उद्धरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के ही ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास' से प्रस्तुत किया जा सकता है। उनका कथन है ''सातवीं आठवीं शताब्दी से इन रचनाओं की प्राप्ति होने लगती है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक के काव्य में दो प्रकार के भाव पाये हैं। (1) सिद्धों की वाणी, और (2) सामन्तों की स्तुति। इसलिए उन्होंने उस काल को सिद्ध सामंत युग कहा है किन्तु इस नाम

से उन अत्यंत महत्वपूर्ण लौकिक साहित्य का कुछ भी आभास नहीं मिलता जो परवर्ती काव्य में भी व्यापक रूप में प्रकट हुई है।'' इस पूरे उद्धरण से ऐसा लगता है कि उन्हें सातवीं–आठवीं शताब्दी से साहित्य का उद्‌भव मानने में कोई आपत्ति नहीं है इसलिए सातवीं–आठवीं शताब्दी से हिन्दी साहित्य का उद्‌भव माना जा सकता है। बाद के साहित्यकारों में डॉ० राजकुमार वर्मा तथा राहुल सांकृत्यायन ने भी सातवीं आठवीं शताब्दी से हिन्दी का प्रारंभ माना है। डॉ० राजकुमार वर्मा ने गुलेरी जी के मत का समर्थन किया है और राहुल सांकृत्यायन ने भी उत्तर अपभ्रंश की रचनाओं को हिन्दी की रचना माना है। अतः हिन्दी साहित्य का आरंभ सातवीं शताब्दी से स्वीकार किया जा सकता है। यह एक अलग विवाद है कि सरहपा को प्रथम कवि मानें या पुष्य को। यदि तत्सम प्रधान भाषा के प्रयोग को हिन्दी का मुख्य आधार बनाया जाता है तो सरहपा पहले कवि ठहरते हैं।

5..4. निष्कर्ष

हिन्दी भाषा के आदिकाल की प्रारंभिक सीमा की तरह अंतिम सीमा भी विवादपूर्ण है। ग्रियर्सन आदिकाल की अंतिम सीमा 1400 ई० तक मानते हैं। मिश्रबंधु आदिकाल की अंतिम सीमा 1529 ई० स्वीकार करते हैं। रामचंद्र शुक्ल संवेदना के बदलाव के साथ आदिकाल की अंतिम सीमा 1318 ई० स्वीकार करते हैं, परंतु वे विद्यापति को आदिकाल में रखते हैं। विद्यापति संवेदना की दृष्टि से मूलतः इंद्रिय बोध के कवि हैं। उनकी कविता में मानवीय प्रेम और श्रृंगार की अभिव्यक्ति हुई है। उन्हें भक्तिकाल में नहीं रखा जा सकता। उनका जीवन बोध प्रेम की अनुभूति से प्रेरित है, लेकिन वे वीर और भक्ति भाव से पूर्ण काव्य की रचना भी करते थे। विद्यापति की कविता का रचनाकाल 1318 ई० के बाद का है। अतः हमें सीमा की सुसंगत विभाजन के लिए काल सीमा को आगे ले जाना होगा। अतः 1400 ई० को आदिकाल की अंतिम सीमा रखा जा सकता है। अमीर खुसरो को भी इस सीमा के अंतर्गत स्थान मिल जाता है। इसलिए आदिकाल की अंतिम सीमा को विद्वानों ने 1400 ई० ही माना है।

5.5. दीर्घ प्रश्नावली

1. हिन्दी साहित्य के आदिकाल की समय सीमा पर प्रकाश डालिए।

_____

_____

_____

_____

_____

2. शुक्ल द्वारा दिये गए आदिकाल की समय–सीमा पर लेख लिखिए।

_____

_____

_____

_____

_____

3. आदिकाल के काल विभाजन पर विभिन्न विद्वानों के मतों का विवेचन कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

5.6. लघु प्रश्नावली

1. हिन्दी साहित्येतिहास के प्रमुख लेखक और सभी कृतियों के नामोल्लेख कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

2.शुक्ल द्वारा आदिकाल की समय–सीमा निर्धारित कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी का आरम्भ ..... मानते हैं।
2. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ..... शताब्दी तक के समय को हिन्दी साहित्य का आदिकाल मानते हैं।
3. 'हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास' किसके द्वारा लिखा गया ग्रन्थ है ?
4. महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक के काव्य में कौन से दो प्रकार के भाव बताए हैं ?
5. ग्रियर्सन आदिकाल की अंतिम सीमा क्या मानते हैं ?

5.7. सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ० रामकुमार वर्मा
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

3. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ० रामसजन पाण्डेय

4. हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास – हजारी प्रसाद द्विवेदी

.....

आदिकाल की प्रवृत्तियाँ

4.0. रूपरेखा

4.1. उद्देश्य

4.2. प्रस्तावना

4.3. आदिकाल की प्रवृत्तियाँ

4.3.1 वीरों की गाथाएं

4.3.2 वीररस की प्रधानता

4.3.3 युद्धों का सजीव वर्णन

4.3.4 श्रृंगार रस वर्णन

4.3.5 प्रकृति–चित्रण

4.3.6 आश्रयदाता, राजाओं की प्रशंसा तथा राष्ट्रीयता का अभाव

4.3.7 जन–जीवन के सम्पर्क का अभाव

4.3.8 ऐतिहासिक असंगतियाँ

4.3.9 अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन

4.3.10 'रासो' ग्रन्थों की प्रचुरता

4.3.11 भाषा

4.3.12 काव्य रूप

4.3.13 छन्द

4.3.14 अलंकार

4.3.15 हिन्दी कविता का प्रारम्भिक रूप

4.3.16 सांस्कृतिक महत्व

4.3.17 भक्तिकालीन साहित्य पर प्रभाव

4.4 सारांश

4.5. कठिन शब्द

4.6. अभ्यासार्थ प्रश्न

4.7. संदर्भ ग्रन्थ

4.1 उद्देश्य

- इतिहासकारों द्वारा अभिहित नामों को जान पायेंगे।
- आदिकाल का अपना एक ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्व है, इस बात को समझेगें।
- इस काल के रचनाकारों का मुख्य प्रतिपाद्य क्या था इसको समझेंगें।

4.2 प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य के इतिहास का समय सामान्यतः सं. 1050 वि. से माना जाता है। सं. 1050 से सं. 1375 वि. तक के समय को हिन्दी साहित्य के इतिहास के इतिहासकारों ने आदिकाल, वीरगाथा काल, प्रारंभिक काल, उन्मेष काल, बीज वपन काल, सिद्ध सामंत काल, अपभ्रंश काल, संधिकाल, संक्रमण काल तथा चारणकाल आदि अनेक नामों से अभिहित करना चाहा है। इनमें दो नाम ही अधिक प्रचलित रहे है आदिकाल तथा वीरगाथा काल। इस काल में अधिकतर रासो ग्रंथ रचे गए हैं। विजयपाल रासो, हम्मीर रासो, खुमान रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो आदि इस काल के ग्रंथ हैं। विद्यापति कृत 'कीर्तिपताका' और 'विद्यापति पदावली' का भी इस काल के साहित्य में विशेष महत्व है हालांकि इसका समय आदिकाल के बाद का है। सिद्ध साहित्य, जैन साहित्य और लोक साहित्य भी इस कालावधि में प्रचुर मात्रा में रचा गया है।

4.3 आदिकाल की प्रवृत्तियां

प्रत्येक साहित्यिक काल की कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ और काव्यगत विशेषताएँ होती हैं। डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' ग्रंथ में इस काल की प्रवृत्तियों को रास एवं रामान्वयी काव्यधारा, नाथ, संत, वैष्णव, सूफी

काव्यधाराओं और विविध रचनाओं के उपशीर्षकों में करना चाहा है। इस काल की प्रवृत्तियों (विशेषताओं) का विवेचन निम्न शीर्षकों में किया जा सकता है

4.3.1. वीरों की गाथाएं– इस काल में वीरगाथात्मक रचनाएं प्रचुर मात्रा में लिखी गई। इस काल के अनेक रचयिता राजाओं के आश्रय में रहते थे। अपने–अपने आश्रयदाता राजाओं के शौर्य की प्रशंसा बढ़ा–चढ़ाकर करना उनकी एक प्रमुख विशेषता थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल की जनता भी ऐसी कहानियाँ कहने और सुनने में अधिक रस लेती थी। तत्कालीन राजाओं में शौर्य का अभाव भी नहीं था, इस लिए उनकी वीरता को काव्य का विषय बनाना स्वाभाविक था। पृथ्वीराज रासों में चन्दवरदाई ने पृथ्वीराज की वीरता और शौर्य का बहुत विस्तार से वर्णन किया है। खुमान रासो, परमाल रासो, बीसलदेव रासो आदि में भी इस तरह के वर्णन मिलते हैं। परमाल रासो जिसका विकसित रूप आल्हा है, आज भी गांवों में बड़े उत्साह के साथ गाया–सुना जाता है। इस काव्य में आल्हा और ऊदल की वीरता के कारनामे भरे हुए हैं।

4.3.2. वीररस की प्रधानता– इस काल की अधिकांश रचनाओं में वीर रस की अभिव्यक्ति हुई है। वीरों के साहस, शौर्य उत्साह, धैर्य आदि के वर्णन ऐसी ओजस्वी भाषा में हुए हैं, जो सहज ही वीर रस की अनुभूति कराते हैं। उदाहरण के लिए 'पृथ्वीराज रासो' की निम्नलिखित पंक्तियां देखिए –

छुटी अंखि पट्टी मानो उग्गि सूरं।
गिरे काइरं सूर बद्धे सनूरं।।
लियं हत्थ करवार भंजे कपारं।
लियं जोगिनी पव्व कीयें डकारं।।

(अर्थात् पृथ्वीराज के मंत्री कन्ह चौहान की आंखों पर बंधी पट्टी जब युद्धक्षेत्र में खुली, तब ऐसा लगा, मानो सूर्य उदय हो गया हो। उसकी वीरता के आतंक से कायर गिर पड़े और कन्ह के साथी शूरवीर सैनिक ओज से भर उठे। वे अपने हाथ में तलवार लेकर शत्रुओं के सिर काटने लगे। मारे गये सैनिकों के रक्त से खप्पर भर–भर कर योगिनी पीने लगी और तश्प्ति–सूचक डकार लेने लगी।) अनेकानेक युद्धों के कारण वीरों के लिए युद्ध–क्षेत्र में उत्साह दिखाने के अवसर आते ही रहते थे। कवियों ने जहां–जहां उत्साह का चित्रण किया है, वहां–वहां वीर रस प्रकट हो गया है। इस काल में वीर रस का इतना सुन्दर परिपाक हुआ कि बाद के साहित्य में इसका इतना रूप मिलना दुर्लभ है।

4.3.3. युद्धों का सजीव वर्णन– आदिकाल की एक प्रमुख प्रवृत्ति यह दृष्टिगत होती है कि इस काल में युद्धों का वर्णन बहुत अधिक हुआ। ये वर्णन इतने सजीव हैं कि आंखों के सामने युद्धों का चित्र उपस्थित हो जाता है। घोड़ों का दौड़ाना, शस्त्रों का चलना, युद्ध के बाजों का बजना सभी कुछ कवियों की वाणी से मुखरित होता हुआ प्रतीत होता है। युद्ध के ऐसे चित्र साहित्य में अन्यत्र प्राप्त नहीं होते। इसका कारण यह है कि इस काल के कवि न केवल युद्ध के प्रत्यक्षदर्शी होते थे, वरन् वे युद्धों में स्वयं हिस्सा भी लेते थे। चन्द कवि ने युद्ध वर्णन इस प्रकार किया है

बज्जिय घोर निसान रानं, चौहान चहौ दिस।
सकल सूर सामन्त समरि बल जंत मंत्र तिस।।
उट्ठि राज प्रिथिराज बाग मनो लग्ग वीर जट।
कढ़त तेग मन वेग लगत मनो बीज झट्ट घट।।

यहां पर द्वित्व वर्ण–प्रधान भाषा और छन्द की योजना ऐसी हुई है, जो युद्ध–वर्णन को बहुत स्वाभाविक बना देने वाली है। युद्ध–वर्णन के अनेक प्रसंग इस काल की सभी वीर रचनाओं में मिलते हैं।

4.3.4 शृंगार रस वर्णन– आदिकाल में एक प्रवृत्ति है वीर रस के साथ शृंगार रस का संयोग। इन रचनाओं में वीररस के वर्णन तो हैं, उनके साथ शृंगार रस की अभिव्यंजना भी स्थल–स्थल पर मिलती है। इस काल में युद्धों का एक कारण प्रायः कोई सुन्दर कन्या हुआ करती थी। ऐसा होता था कि राजा किसी दूत के मुख से किसी स्त्री के सौन्दर्य की प्रशंसा, उसके अंग–प्रत्यंग की शोभा का वर्णन सुनता था। वह वर्णन शृंगारिकता होता था। स्त्री की प्राप्ति न होने पर राजा उनके विरह में दग्ध रहता था। युद्ध में जीती हुई महिलाओं के साथ राजाओं के भोग–विलास के चित्र भी इन काव्यों में खींचे गए है। ये सभी प्रसंग शृंगार रस के हैं ऐसे प्रसंग वीरगाथा काव्य में बहुत मिलते हैं। इन वर्णनों में अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ वीररस और शृंगार रस बड़ी कुशलता के साथ मिले हुए हैं। वीरता और शृंगारिकता का ऐसा अदभुत मेल इस काल की उल्लेखनीय विशेषता है।

4.3.5 प्रकृति–चित्रण– इस काल में प्रकृति का आलम्बन एवं उद्दीपन दोनों ही रूपों में चित्रण हुआ है। युद्ध क्षेत्र में जाते हुए सैनिकों का वर्णन करते समय रास्ते में पड़ने वाले नगर, नदी, पर्वत आदि का वर्णन कवियों ने जमकर किया है। रात के उपस्थित होने, सुबह होने आदि का प्राकृतिक चित्रण भी कवियों ने किया है। प्रकृति का चित्रण विशेषकर उद्दीपन रूप में ही हो पाया है। प्रकृति के स्वतंत्र या आलम्बन रूप के चित्रण में कवियों ने अधिक रूचि नहीं दिखाई है। प्रकृति–चित्रण के नाम पर वस्तुओं की गणना ही अधिक मिलती है।

4.3.6 आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा तथा राष्ट्रीयता का अभाव– इस काल में कवियों की वाणी अपने–अपने आश्रयदाताओं के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन में ही लगी रही। इन लोगों ने देश की स्थिति एवं भविष्य की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया, जिसके कारण उनके काव्य में राष्ट्रीयता का पूर्ण अभाव रहा। उनका लक्ष्य केवल उसी राज्य या राजा तक ही सीमित रहता था, जिसके वे आश्रित होते थे। उदाहरण के लिए, महाकवि चन्दवरदाई ने पृथ्वीराज चौहान का यशोगान किया है, तो भट्ट केदार तथा मधुकर कवि ने पृथ्वीराज चौहान के विरोधी, कन्नौज के राजा जयचन्द का, हालांकि भारतीय जनता में इस नरेश को 'देशद्रोही' के रूप में जाना जाता है।

4.3.7 जन–जीवन के सम्पर्क का अभाव– रासो ग्रन्थों के रचयिता राजाश्रय में रहते थे। चन्दवरदाई, दलपति–विजय, भट्ट केदार, नरपति नाल्ह, जगनिक, विद्यापति आदि प्रमुख कवि राजाओं के आश्रित थे। इनका जन–जीवन से सम्पर्क कटा हुआ था। उनके जीवन के वैभव–विलास का चित्रण करना, उनकी समस्याओं एवं उनके द्वारा किये गये युद्धों आदि का चित्रण करना ही उनका मुख्य लक्ष्य था। इसलिए इस काल के कवि जनता के करीब नहीं थे। इस काल के काव्य में जन–जीवन की समस्याएँ नहीं चित्रित हो पायी हैं। जैन–बौद्ध कवि यद्यपि जनता के बीच रहते थे, फिर भी उनका सम्बन्ध उनकी समस्याओं से न था। चारण कवि (रासो कवि) के आराध्य राजा लोग थे और जैन बौद्ध कवियों की आराध्य थी अपनी–अपनी भक्ति पद्धति। अगर कोई सम्बन्ध था तो सिर्फ इतना कि उनकी रचनाओं को जनता में गाया–सुना जाता था। 'आल्हा' तो पुराने समय से ही जनता के बीच अत्यंत प्रिय रहा है। अल्हैतों का ओजमय वाचन श्रोताओं को अब भी थिरका देता है। इसके अलावा और कोई वीरकाव्य जनप्रिय नहीं है।

4.3.8 ऐतिहासिक असंगतियाँ– इस काल की अधिकतर रचनाएं तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित है किन्तु कवियों ने उनमें अपनी रूचि और आवश्यकता के अनुकूल स्थान–स्थान पर परिवर्तन कर दिया है। जिससे ऐतिहासिक सत्य को क्षति पहुंची है। वस्तुतः उनकी दृष्टि केवल घटना–विशेष का चमत्कारपूर्ण वर्णन करने में ही केन्द्रित रही है और उनका दृष्टिकोण इतना संकीर्ण है कि उन्होंने इतिहास के सत्य को अक्सर झुठलाने की कोशिश

की है। उन्होंने सच और झूठ को मिलाकर अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करना अपने काव्य का लक्ष्य बनाया है।

4.3.9. अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन– इस काल की रचनाओं में कवियों ने हर बात बढ़ा–चढ़ाकर कही है जिससे उनके वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण हो गए हैं। चन्दवरदाई ने पृथ्वीराज के जन्म का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करते हुए लिखा है जिस दिन पृथ्वीराज का जन्म हुआ उस दिन कन्नौज पर बिजली गिर गई, दिल्ली दहल गयी, शेषनाग भी कुलमुला उठा इत्यादि। साधारण सामन्तों के साधारण कामों को इस तरह की अलौकिक रंगत देना इस युग के सभी कवियों की सामान्य विशेषता है। प्रशंसा की धुन में कवियों ने आश्रयदाता राजाओं की अनेक कल्पित शादियों एवं कल्पित लड़ाइयों का वर्णन किया है। युद्ध–वर्णनों में अतिशयोक्ति का विशेषतया सहारा लिया गया है।

4.3.10. 'रासो' ग्रन्थों की प्रचुरता– इस युग में रची गई रचनाओं में से अधिकांश के साथ 'रासो' शब्द जुड़ा है। इसी कारण इन ग्रंथों को 'रासो काव्य' कहा जाता है। जैसे – पृथ्वीराजरासो, बीसलदेवरासो, खुमानरासो, परमालरासो आदि। इस काल के कवि 'रासो' या 'रासक' का प्रयोग चरित–काव्य एवं कथा–काव्य के लिए करते थे। इसका गेयरूपक के अर्थ में भी प्रयोग किया जाता था। इस काल में प्रायः सभी रासो ग्रन्थों में कथानक, घटनाएं एवं भाषा–तिथियाँ आदि उलट–पुलट हो गये हैं।

4.3.11. भाषा– इस काल में प्रायः पांच भाषाओं की रचनायें प्राप्त होती हैं–अपभ्रंश, डिंगल, खड़ीबोली, ब्रजभाषा तथा मैथिली। अपभ्रंश रचनाओं को हिन्दी रचनाओं में शामिल नहीं किया जाता है। शेष भाषाओं की रचनाओं को हिन्दी की थाती माना गया है।

अपभ्रंश– इस भाषा का सबसे प्राचीन रूप सिद्धों, तांत्रिकों तथा योगमार्गी बौद्धों की रचनाओं में मिलता है। कुछ जैन आचार्यों–स्वयंभू, पुष्पदंत, मेरुतुंग सोमप्रभ सूरि आदि ने भी इस भाषा में ग्रंथ लिखे हैं, जो उच्चकोटि के है। नाथपंथियों ने भी अपने मत के प्रचार के लिए राजपूताना तथा पंजाब की प्रचलित भाषा में ग्रंथ लिखे जिनमें अपभ्रंश, राजस्थानी तथा खड़ी बोली का मिश्रण प्राप्त होता है। विद्यापति ने भी इस भाषा में ग्रन्थ रचे। इन कवियों के काव्य में परंपरानुसार साहित्यिक प्राकृत के प्राचीन शब्दों को देशभाषा–मिश्रित अपभ्रंश का रूप प्राप्त होता है। उसमें कुछ पूर्वी प्रयोग भी है। भाषा की दृष्टि से जैन–साहित्य पर नागर अपभ्रंश का अधिक प्रभाव है। इस भाषा की रचनाओं का प्रभाव वीर काव्यों के बाद के भक्ति काव्य पर, विशेषकर ज्ञानमार्गी शाखा पर, अधिक पड़ा।

डिंगल– दूसरी महत्वपूर्ण भाषा राजस्थानी अथवा डिंगल है। प्रायः सभी 'रासो' इसी भाषा में लिखे गये हैं। भाषा की दृष्टि से डिंगल साहित्य प्रायः अव्यवस्थित है, क्योंकि उनका शुद्ध रूप प्राप्त नहीं होता। उसमें पिंगल का मिश्रण है। अपभ्रंश से प्रभावित होने के कारण उसमें संयुक्ताक्षरों तथा अनुस्वारों की भरमार है। प्रायः दस प्रतिशत अरबी–फारसी से युक्त शब्दों पर डिंगल की विभक्तियों का प्रभाव है। संयुक्ताक्षरों तथा अनुस्वारों की बहुलता भाषा की कृत्रिमता प्रकट करती है।

खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा– इन भाषाओं का रूप अमीर खुसरो की रचनाओं में प्राप्त होता है। उनकी पहेलियों तथा मुकरियों में तत्कालीन भाषा का रूप दिखाई देता है। खड़ी बोली दिल्ली तथा मेरठ की भाषा थी। इसमें हमें खड़ी बोली के पूर्व रूप के दर्शन होते हैं। इसमें अरबी तथा फारसी के शब्दों का भी प्रयोग है परन्तु काव्य–रचना तथा क्रियायें हिन्दी की हैं। खुसरो के ब्रजभाषा के छन्द भी बड़े स्वाभाविक और मनोरंजक हैं।

मैथिली– मैथिली बिहार के मैथिली जनपद की बोली होने पर भी हिन्दी की विभाषा मानी जाती है। इसलिए इस भाषा में लिखी गयी विद्यापति की पदावली हिन्दी–साहित्य की अमूल्य निधि मानी गई है। मैथिली तथा अवधी पड़ोसी बोलियां हैं। इसलिए उनके प्रारम्भिक स्वरूप में कोई भेद नहीं दिखाई देता।

4.3.12. काव्य–रूप– इस काल की रचनाओं में काव्य के दो रूप हैं–प्रबन्ध और मुक्तक। पृथ्वीराजरासो, परमालरासो, जयमयंक–जसचन्द्रिका, खुमानरासो, सन्देश रासक आदि प्रबन्ध काव्य हैं। खुसरो की पहेलियां, विद्यापति की पदावली और प्राकृत पैंगलम् में संकलित रचनायें मुक्तक काव्य के अन्तर्गत आती हैं। नरपति नाल्ह का बीसलदेवरासो मुक्तक और वीरगीतिकाव्य हैं। परन्तु इसमें कथा–सूत्र मिलते हैं।

4.3.13. छन्द– छन्दों के क्षेत्र में जिस प्रकार 'श्लोक' संस्कृत का और 'गाथा' प्राकृत का प्रतीक था, उसी प्रकार 'दोहा' अपभ्रंश का प्रतीक है। तुक का मिलन अपभ्रंश की विशेषता है। मुक्तक काव्य में इसका विशेष प्रयोग हुआ तथा इसमें प्रथम बार तुक मिलाने का प्रयत्न किया गया। अपभ्रंश के काव्य अनेक संधियों (सर्गों) में विभक्त हैं। प्रत्येक सन्धि में अनेक कड़वक होते हैं। पद्घटिका, अरिल्ल आदि कुछ छन्द लिखकर अन्त में 'धत्ता' अथवा अन्य किसी ऐसे छन्द द्वारा इनका विच्छेद किया जाता है। चौपाई तथा दोहों द्वारा कड़वकों की रचना का श्रेय सिद्धों को था। आरम्भ में कथा–काव्यों का छंद चौपाई था। अनेक दोहों के उपरान्त चौपाई द्वारा कथा की योजना 'ढोला मारू रा दूहा' में मिलती है। धीरे–धीरे अपभ्रंश में अनेक बड़े–बड़े छन्दों का आरम्भ हुआ। चन्दबरदाई छप्पय छन्द के विशेषज्ञ हैं, यद्यपि उन्होंने दूहा, पद्धरी, तोमर, नाराच आदि का भी सुन्दर प्रयोग किया है। कहीं–कहीं 'शार्दूल–बिक्रीड़ित' और 'गाहा' (गाथा) छन्दों का प्रयोग भी मिलता है।

4.3.14. अलंकार– इस काल के काव्यों में अनेक अलंकारों का प्रयोग सफलता के साथ हुआ है। प्रायः सभी प्रसिद्ध शब्दालंकार, जैसे–अनुप्रास, यमक, श्लेष और वीप्सा आदि तथा अर्थालंकार, जैसे–उपमा रूपक, उत्प्रेक्षा, सन्देह भ्रान्तिमान और अतिशयोक्ति आदि इस युग की रचनाओं में मिलते हैं।

4.3.15. हिन्दी कविता का प्रारम्भिक रूप– आदिकालीन साहित्य के प्रारम्भिक रूप एवं साहित्यिक महत्व को भुलाया नहीं जा सकता। इसका प्रारम्भ कविता से ही हुआ। हिन्दी भाषा के आदिमस्वरूप की परिचायक प्रवृत्तियाँ कविता में ही मिलती हैं। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में गद्य तथा पद्य–दोनों में साहित्य लिखने की परम्परा थी, फिर भी हिन्दी में केवल पद्य लेखन की परम्परा अपनाने का कारण संभवतः यह था कि हिन्दी के प्रारंभिक स्वरूप को पद्य में मान्यता दिलाना आवश्यक था। लोकभाषा के प्रारंभिक स्वरूप को साहित्य में मान्यता दिलाकर ही भाषा विकास की प्रक्रिया को सशक्त किया जा सकता था। इस काल में केवल डिंगल, ब्रजभाषा, मैथिली और खड़ी बोली के विकास को कविता द्वारा तीव्रता और मान्यता प्रदान की गई और इन भाषाओं को साहित्यिक रूप दिया गया।

4.3.16. सांस्कृतिक महत्व– सांस्कृतिक महत्व की दृष्टि से आदिकाल में रचा गया साहित्य अत्यंत महत्वपूर्ण है। संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश ग्रंथों के अतिरिक्त आदिकाल का महत्व हिन्दी ग्रंथों के ऐतिहासिक प्रमाण ढूँढने की दृष्टि से भी 19वीं शताब्दी में इस काल के साहित्य ने इसी दृष्टि से देश–विदेश के विद्वानों और साहित्येतिहास लेखकों का ध्यान आकर्षित किया। इस साहित्य को अधिकाधिक प्राचीन सिद्ध करने और उससे ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त करने का विद्वानों ने प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी इस साहित्य का महत्व है। सबसे बढ़कर इस काल के साहित्य का सांस्कृतिक महत्व है। डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के शब्दों में ''उससे भारत की एक सुदीर्घ सांस्कृतिक परंपरा पर प्रकाश पड़ता है। उस समय के अन्य अनेक धार्मिक सम्प्रदायों का इतिहास इस दृष्टि से अत्यंत रोचक है। इस प्रकार योगियों, सहजयानियों और तांत्रिकों के ग्रन्थों से अनेक उलटबाँसियों का संग्रह किया जा सकता है।'' सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से आदिकालीन साहित्य के अध्ययन से तत्कालीन महान सांस्कृतिक उथल–पुथल का परिचय होता है।

4.3.17. भक्तिकालीन साहित्य पर प्रभाव– आदिकाल के काव्य ने, जो जैन संतों और बौद्ध एवं नाथपंथी सिद्धों द्वारा

रचित है, अपने परवर्ती साहित्य को अपनी कई विशेषताओं से प्रभावित किया। जैन–कवियों के काव्य–रूपों, काव्य–रूढ़ियों एवं कथा–रूढ़ियों ने भक्तिकालीन काव्य को विशेषतः प्रभावित किया। बौद्ध और नाथपंथी सिद्धों के काव्य ने अपने विचारतत्व की ही छाप संत काव्य पर न छोड़ी, वरन् उसकी काव्य–शैली को भी प्रभावित किया। निर्गुणवादी संतों की वाणियों पर बौद्ध धर्म के अन्तिम सिद्धों और नाथपंथी योगियों के पदों का सीधा प्रभाव दिखाई देता है। वैसे ही पद, वैसी ही राग–रागनियों, वैसे ही दोहे, वैसी ही चौपाइयाँ कबीर आदि संतों ने व्यवहृत की हैं, जैसी उक्त मतों को मानने वाले उनके पूर्ववर्ती संतों ने की थी। क्या भाव, क्या भाषा, क्या अलंकार, क्या छंद, क्या पारिभाषिक शब्द सर्वत्र ही वे कबीरदास के मार्ग–दर्शक हैं। कबीर में जो खंडनात्मक प्रवृत्ति है, जो अखण्डता है, गुरू के प्रति जो प्रतिष्ठा–भाव है, वह सब सिद्धों की विरासत है। 'सद्गुरू' शब्द सहजयानियों, बज्रयानियों, तांत्रिक और नाथपंथी में समान–भाव से समादृत है। कबीर का जाति–पांति विरोध भाव भी बहुत कुछ सरहपा (सरोरुहपाद) द्वारा इस सम्बन्ध में अपनाये गये तेवर–जैसा ही है। सिद्ध–साहित्य ने एक अन्य प्रकार से परवर्ती कवियों को प्रभावित किया। उनके द्वारा लिखे गए गूढ़ अर्थगर्भित, प्रतीकात्मक पदों (जिन्हें 'उल्टबांसियां' कहा गया) की शैली को परवर्ती चन्दवरदाई, कबीर और सूरदास ने अपने दृष्टिकूटकों में अपनाया। श्री राहुल सांकृत्यायन और आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने स्वीकार किया है कि संत कवियों की उलटबांसियों पर सिद्धों का प्रभाव है। कबीर आदि साधकों ने नाथपंथियों और सहजयानियों के बहुत से शब्द, पद और दोहे–ज्यों के त्यों स्वीकार कर लिए थे।

4.4 सारांश

हिन्दी–साहित्य के इतिहास का यह काल जिसको 'आदिकाल' के नाम से अभिहित किया गया, साहित्य–सृजन और भाषा रचना की दृष्टि से विकासशील और महत्वपूर्ण है। इस काल में साहित्य की कई ऐसी उपलब्धियाँ सामने उभरकर आई हैं, जिनका परवर्ती साहित्य पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है।

4.5 कठिन शब्द (1) अभिधामूलक (2) अवदान (3) अनुभूतिगम्य (4) विकृति (5) निर्माता (6) परिणति (7) प्राप्तव्य (8) समन्वित (9) निवृत्ति (10) द्वन्द्व

4.6. अभ्यासार्थ प्रश्न :

1. आदिकाल की प्रमुख प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालें।

_____

_____

_____

_____

_____

2. आदिकाल की भाषा पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

3. आदिकाल साहित्य का भक्तिकालीन साहित्य पर कैसे प्रभाव पड़ा, स्पष्ट कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

4.6. संदर्भ ग्रन्थ :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ॰ हुक्मचन्द राजपाल
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ॰ रामसजन पाण्डेय

.....

आदिकालीन हिन्दी का सिद्ध और नाथ साहित्य

5.0. रूपरेखा

5.1. उद्देश्य

5.2. प्रस्तावना

5.3. आदिकालीन सिद्ध साहित्य

5.3.1 सरहपा

5.3.2 शबरपा

5.3.3 कण्हपा

5.3.4 लुइपा

5.3.5 डोम्भिपा

5.3.6 कुक्कुरिपा

5.4. सिद्ध साहित्यः प्रमुख अवधारणाएं

5.5. आदिकालीन हिन्दी का नाथ साहित्य

5.5.1 मत्स्येन्द्रनाथ

5.5.2 जालन्धरनाथ

5.5.3 गोरखनाथ

5.5.4 चर्पटनाथ

5.5.5 चौरंगीनाथ

5.6. सारांश

5.7. कठिन शब्द

5.8. अभ्यासार्थ प्रश्न

5.9. संदर्भ ग्रन्थ

5.1 उद्देश्य

- सिद्ध साहित्य के रचनाकारों एवं उनके द्वारा लिखे गए साहित्य को जानना।
- सिद्धों के दार्शनिक और भावात्मक विचारों को जानना।
- इस बात को जानना कि इनके साहित्य में एक ओर तो जीवन की स्वाभाविक प्रेरणाओं का सात्विक रूप था दूसरी ओर तंत्र की क्रियाओं के प्रति आस्था थी।

5.2 प्रस्तावना

सिद्ध साहित्य के अन्तर्गत जिन रचनाओं को स्थान प्राप्त है वे सिद्धों के दार्शनिक और भावात्मक विचारों से ओतप्रोत हैं। 'सिद्ध सम्प्रदाय' बौद्ध धर्म की परम्परा में हिन्दू धर्म से प्रभावित एक धार्मिक आन्दोलन था। इसमें एक ओर तो जीवन की स्वाभाविक प्रेरणाओं का सात्विक रूप ग्रहण है और दूसरी ओर तंत्र की क्रियाओं के प्रति आस्था है। इस साहित्य का रचनाकाल सातवीं शती से लेकर तेरहवीं शती के मध्य तक माना जा सकता है। इसके रचनाकारों ने वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड, यज्ञ और हिंसा के विरोध में सदाचार व करूणा का प्रसार किया था। इतना ही नहीं, सिद्धों ने आत्मवाद व करूणा का प्रसार व दुःख से तत्कालीन मानव–समाज को मुक्त करने का प्रयास किया। सिद्ध कवियों ने अपने सिद्धान्त को वर्ण भेद से भी ऊपर उठाया। सिद्ध साहित्य के रचयिताओं में सरहपा, शबरपा, लुईपा, डोम्भिपा, कण्हपा, कुक्कुरिपा विशेष प्रसिद्ध हैं। बौद्ध धर्म की वज्रयानी शाखा के सिद्धाचार्यों द्वारा सृजित साहित्य 'सिद्ध साहित्य' कहा जाता है। इन सिद्धों के समकालीन और परवर्ती शैव साधकों को 'नाथ' की संज्ञा दी गई है। अतः दोनों सम्प्रदायों में तात्विक अन्तर स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है।

5.3 आदिकालीन सिद्ध साहित्य

सिद्धों की भाषा का स्वरूप साहित्यिक अपभ्रंश से भिन्न रूप लिए हुए है। इसमें तत्समता की प्रवृत्ति स्पष्टतः देखने को मिलती है। इसे आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वानों ने अपभ्रंश से इतर हिन्दी की प्रमुख विशेषता के रूप में स्वीकार किया है। सिद्धों की भाषा को ''संध्या भाषा'' भी कहा जाता है। साधनापरक विशिष्ट प्रतीकों के कारण इनकी भाषा न केवल अस्पष्ट लगती है, अपितु सामान्य पाठक के लिए तो दुरूह भी है। इस विषय में डॉ. हरिवंश

काछड़ द्वारा किया गया विश्लेषण प्रभावित करता है। उनका कथन है कि ''जनसाधारण की भाषा में कविता करके इन्होंने अपने विचारों को जनता के समझने योग्य तो बना दिया किन्तु इन्हें सदा इस बात का भय रहता था कि कहीं हमारे विरोधी इस आचार बाह्य कर्म–कलाप का विरोध कर जनता में हमारे प्रति घृणा का भाव पैदा न कर दें। अतएव ये अपनी कविता सबको सुनने का अवसर न देते थे और इसीलिए इन्होंने ऐसी द्वयर्थक भाषा का प्रयोग प्रारम्भ किया उसी को संध्याभाषा कहा गया।''

सिद्धों ने प्रमुखतः 'दोहा कोष' तथा 'चर्यापद' जैसे काव्य–रूपों का प्रयोग किया है। नीति–काव्यों और उपदेशों को दोहा छंद के माध्यम से अभिव्यक्ति दी गई है। डॉ. धर्मवीर भारती के अनुसार 'दोहा–कोष' दोहों से युक्त चतुष्पदियों की 'कड़वक' शैली में मिलते हैं। सहरपा, कण्हपा, और तिलोपा के 'दोहा–कोष' उपलब्ध है। 'चर्यापद' वास्तव में इनके व्यवहार सम्बन्धी गेय पद है। इनमें सिद्धों की जीवनचर्या को अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। डॉ. भारती ने अपने शोध–ग्रंथ में लिखा है कि ''चर्यापद बौद्ध तांत्रिक चर्या के समय गाए जाने वाले पद हैं जो विभिन्न सिद्धाचार्यों द्वारा लिखे गए हैं, किन्तु एक साथ संगृहीत कर दिए गए हैं। ये पद विभिन्न राग–रागिनियों पर आधारित है।'' सिद्धों की कविता का वर्ण्य–विषय साधनापरक रहा है। या तो उन्होंने साधना सम्बन्धी सैद्धान्तिक अथवा नीतिपरक कथन किए है अथवा साधना के व्यावहारिक रूप को व्यक्त किया है अथवा पाखण्ड का विरोध किया है, या चित्तवृत्तियों के निरोध पर बल दिया है। इन अभिव्यक्तियों में उन्होंने साधना की विशिष्ट शब्दावली का प्रायः प्रयोग किया है। इस शब्दावली के बहुतायत से प्रयुक्त होने वाले कुछ शब्द ये हैं महासुख, सहज–समाधि, निरंजन, नैरात्म, निर्वाण, शून्य, गगन, ललना, रसना, अवधूती, शबरी, डोम्पी इत्यादि। यद्यपि उनकी कविता में काव्यत्व की कमी है, किन्तु अनेक स्थलों पर उनमें प्रतीकों एवं रूपकों का सुन्दर प्रयोग मिलता है जिससे उनकी साधना का रूप स्पष्ट होता है तथा काव्यत्व की झलक भी मिलती है।

परम्परा से सिद्धों की संख्या 84 मानी जाती रही है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह संख्या प्रतीकात्मक है और इसका सम्बन्ध चौरासी लाख योनियों अथवा कामशास्त्र से सम्बन्धित 84 आसनों से जोड़ा जाता है। महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन ने 84 सिद्धों की नामावली तो दी है, किन्तु उस सूची में मणिभद्रा, मेखला, कनखला तथा लक्ष्मीकरा चार योगिनियां भी सम्मिलित हैं। यहां सभी का परिचय न तो अपेक्षित है और न आवश्यक ही है। अतः प्रमुख सिद्धों का ही परिचय दिया जा रहा है।

5.3.1 सरहपा

84 सिद्धों में सर्वप्रथम सिद्ध सरहपा का साहित्य ही हमें प्राप्त होता है। डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य ने वि.सं. 690 में इनका समय निश्चित किया है, किन्तु राहुल सांस्कृत्यायन ने अपनी कृति ''हिन्दी काव्यधारा'' में इनका समय 769 ई. स्वीकार किया है। राहुल जी की मान्यता है कि पूर्व दिशा में स्थित किसी राज्ञी नामक नगर में किसी ब्राह्मण परिवार के अन्तर्गत इनका जन्म हुआ था। इन्होंने नालन्दा में अध्ययन किया तथा पहले बौद्ध भिक्षु बने और फिर वहीं आचार्य हो गए। बाद में वज्रयान के मंत्र–तंत्र से प्रभावित होकर एक शर बनाने वाली की निम्न जाति की कन्या को महामुद्रा बनाकर उससे सम्बन्ध स्थापित करने के कारण ये भी उसके साथ वन में रहकर शर बनाने लगे। इसीलिए ये सरहपा कहलाए। इनके नाम में ''पाद'' शब्द इसलिए जुड़ा कि सिद्ध लोग इस शब्द को आदरसूचक मानते थे। राहुल जी के अनुसार सरहपा किसी तांत्रिक नागार्जुन के शिष्य थे। सरहपा के 'दोहा–कोष' पर अद्वयवज्र ने एक टीका–विषयपद–भंजिका भी लिखी थी। राहुल जी को दोहा–कोष, के शाक्यमठ से सरहपाद के दोहाकोष की एक महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपि मिली थी जिसमें दोहों की संख्या पहले से प्राप्त दोहों की अपेक्षा कहीं अधिक थी। इसका प्रकाशन बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना से हो चुका है।

सरहपाद की कविता के वर्ण्य–विषय गुरु–महिमा, बाह्याडम्बरों तथा कर्मकाण्ड़ों का विरोध कायारूपी तीर्थ

की प्रशंसा, महासुख और सहज मार्ग आदि हैं। इनकी काव्य–भाषा सरल, सुबोध और स्पष्ट है। इनकी भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव भी देखा जा सकता है। कतिपय विद्वानों ने इनकी भाषा में तत्समता को देखकर हिन्दी भाषा के आरम्भिक स्वरूप को भी खोज लिया है। अनेक विद्वानों ने इन्हें ही हिन्दी का प्रथम कवि माना है जो उचित है। इनकी भाषा की तत्समता को समझने के लिए यह उदाहरण लिया जा सकता है –

जहि मण पवणभण संचरइ, रवि सनि णाह पवेस।
तहिं बढ़! चित्त विसाम करू, सरहें कहिअ उबेस।।

कलात्मकता की दृष्टि से इनकी कविता की भाषा प्रवाहपूर्ण, प्रतीकात्मक, आलंकारिक सौन्दर्य से युक्त तथा मुहावरों एवं कहावतों की खानों से सम्पन्न और लोकभाषा के निकट है। दृष्टान्त अलंकार के प्रयोग से युक्त उनकी कविता का एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है –

मन्तह मन्ते रूसत्रि शा होई।
पड़ित्त भित्ति किं उद्विअ कोई।।
तरूफल दरिसणे ण्णऊ अग्घाइ।
वेज्ज देक्खि किं रोग पलाइ।।

अर्थात् मन्त्रों की मंत्रणा से शांति नहीं होती। गिरी हुई दीवार क्या खड़ी हो सकती है ? वृक्ष के फल देखकर तृप्ति नहीं मिलती। वैद्य को देखकर क्या रोग पलायन कर जाता है ? भाव यह है कि मन्त्रों को जीवन में ढालने से ही वास्तविक शांति मिल सकती है। हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में सरहपा का अभूतपूर्व योगदान है। इन्होंने साहित्यिक अपभ्रंश से इतर लोकभाषा को अपनी कविता का माध्यम बनाकर हिन्दी भाषा को उसका भौतिक स्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया है। इतना ही नहीं, इनकी कविता की अनेक विशेषताओं का प्रभाव परवर्ती सन्त कवियों, विशेषकर कबीर आदि पर दिखाई देता है। इनके द्वारा प्रयुक्त दोहा शैली और पद शैली आगे चलकर निर्गुण और सगुण भक्त कवियों द्वारा प्रचुरता से काम में ली गई। इसमें स्पष्ट है कि हिन्दी कवियों के विकास में सरहपा का योगदान विशिष्ट और अविस्मरणीय है।

5.3.2 शबरपा

शबरपा सरहपा के शिष्य थे। भीलों और शबरों की भाँति वन्य–जीवन करने के कारण इन्हें शबरपा या शबरपाद नाम प्राप्त हुआ। इनके शिष्य लुईपा गौड़ राजा धर्मपाल के लेखक थे। ऐसी स्थिति में इनका समय आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्वीकार किया जा सकता है। राहुल जी ने इनके अनूदित ग्रंथों की संख्या 26 स्वीकार की है। इनके प्रमुख ग्रंथों के नाम ये हैं – 'चित्तगुह्य–गम्भीरार्थ', 'महामुद्रावज़गीति' और 'शून्यता दृष्टि'। इनके द्वारा रचित दो चर्यागीत भी उपलब्ध हुए हैं। इन्होंने सिद्धों में प्रचलित आध्यात्मिक प्रतीकों को प्रयोग किया है। जहां कहीं ''ऊँचा पर्वत'' प्रयोग आया है, वह सुशुम्ना नाड़ी का प्रतीक है। शबरी उसी नैरात्मा की प्रतीक है और शबर साधक का।

5.3.3 कण्हपा (कृष्णपाद)

सहजयानी सिद्धों की जो सूची गिनाई जाती है, उसमें इनका स्थान तेरहवें क्रमांक पर रखा गया हैं कण्हपा प्रसिद्ध जालन्धरपाद के शिष्य थे। इनके अनेक नाम प्रचलित हैं। ये कृष्णपाद, कण्हपा, कान्हूपा, कानपा और काफा जैसे नामों से भी सम्बोधित किए जाते रहे हैं। ये कर्नाटक के ब्राह्मण माने गए हैं, किन्तु डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य ने इन्हें उड़ियावासी जुलाहा स्वीकार किया है। ये राजा देवपाल (सन् 809–849 ई०) के समकालीन एक विद्वान

साधु थे। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के मतानुसार इनके द्वारा लिखित 57 पुस्तकें और 12 संकीर्तन के पद प्राप्त हुए हैं राहुल जी के मतानुसार तंत्र पर इनके 74 और दर्शन पर 6 ग्रंथ मिलते हैं। इनकी भाषा के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार ये उड़ियाभाषी तो हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार बंगला भाषी और महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन के मतानुसार मगहीभाषी माने गए हैं। राहुल जी ने तो इनके अनेक ग्रंथों को मगही में लिखा हुआ बतलाया है।

5.3.4 लुइपा

लुइपा शबरपाद के शिष्य थे। ये पालवंशी राजा धर्मपाल (सन् 769–809 ई.) के लेखक थे। इन्हें कायस्थ बतलाया गया है। राहुल जी ने इनकी सात अनूदित रचनाओं का उल्लेख किया है। इनमें पांच ग्रंथ अपभ्रंश के हैं। अपभ्रंश में रचित ग्रंथ ये है – 'अभिसमयविभंस', 'तत्व स्वभाव दोहाकोष', 'बुद्धोदय', 'भगवदाभिसमय' तथा 'लुईपाद गीतिका'। डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य ने इन्हें बंगला भाषा स्वीकार किया है। इनके प्रमुख शिष्य दारिकपा और डेंगीपा थे। 84 सिद्धों में इनका स्थान प्रथम है। इनकी कविता रहस्यात्मकता से ओत–प्रोत है। उदाहरण के लिए एक चर्यापद की प्रारम्भिक पंक्तियां देखिए जो इस प्रकार हैं –

काआ तरूवर पंच बिडाल।
चंचल चीए पइट्ठा काल।।
दिढ़ करिअ महासुइ परिणाम।
लुई भणइ गुरु पुच्छिअ पाण।।

तात्पर्य यह है कि काया रूपी तरुवर से पांच बिलाव (इंद्रियाँ) संलग्न हैं, चंचल चित्त में काल ने प्रवेश कर लिया है। लूई कहते हैं कि गुरू से ज्ञान प्राप्त कर महासुख का आकार निश्चित करो। इस प्रकार यहाँ चित्त–निरोध तथा इंद्रिय–निग्रह का उपदेश दिया गया है।

5.3.5 डोम्भिपा

डोम्भिपा मगध के एक क्षत्रिय वंश में उत्पन्न हुए थे। ये बीणापा तथा वरूपा दोनों के शिष्य थे। तन्–जर् में इनके नाम से इक्कीस पुस्तकें मिलती हैं। ''अक्षर द्विकोपदेश'', ''डोम्बिगीतिका'' तथा ''नादबिंदु द्वारे योगचर्या'' इनके अपभ्रंश में लिखे हुए ग्रंथ हैं। इनकी कविता से एक उदाहरण द्रष्टव्य है –

भुंजई मअण सहावर कमई सेा सइअल।
मोअ ओ धर्म करण्डिया, मारउ काम सहाउ।
अच्छउ अक्ख ज पुनइ, सो संसार विमुक्क।
ब्रह्म महेसर णारायणा, सक्खं असुद्ध सहाव।।

5.3.6 कुक्कुरिपा

कुक्कुरिपा के जन्म के विषय में अभी कुछ भी ज्ञान नहीं हो पाया है, किन्तु इनके विषय में आम धारणा ये प्रचलित है कि इनका जन्म कपिलवस्तु के ब्राह्मण परिवार के अन्तर्गत हुआ था इनके गुरु चर्पटीया थे। उन्होंने 16 ग्रंथों की रचना की। कुक्करिपा शबरपा की भाँति ही सहज जीवन पर जोर देने वाले थे।

इनके अतिरिक्त भूसुकुपा, शांतिपा, वीणापा, विरूपा, तिलोपा और गुण्डरिपा जैसे सिद्धों के नाम भी प्र्याप्त चर्चित रहे हैं। इनके विषय में राहुलजी ने संक्षिप्त ही सही, परिचय अवश्य दिया है। राहुल जी के अनुसार भूसुकुपा

नालन्दा के निकट एक क्षत्रिय परिवार में उत्पन्न हुए थे और पालवंशी राजा देवपाल के निकट थे। शांतिपा मगध देश के किसी ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थें वज्रयानी सिद्धों में इनका बड़ा मान–सम्मान था। वज्रयानी सिद्धों की सूची में विरूपा का स्थान तीसरा है। इन्हें गोरखनाथ और कानिया के समकालीन माना जाता है। ये डोम्भिपा के प्रमुख शिष्य थे। इनके द्वारा रचित तंत्र सम्बन्धी पुस्तकों की संख्या 18 बतलाई गई है। तिलोपा का दीक्षा नाम प्रज्ञाभद्र था। सिद्धचर्या में तिल कूटने के कारण इनका नाम तिलोपा पड़ गया था। इनके गुरु विजयपाद थे। इनके द्वारा रचित 11 पुस्तकों का उल्लेख राहुल जी ने किया है। गुण्डरीपा डिमुनगर में एक लुहार परिवार में उत्पन्न हुए थे इनके शिष्य धर्मपाद के शिष्य हालिपाद थे। इनके अतिरिक्त कुछ और भी सिद्ध कवि हुए हैं, जिन्होंने इसी काल में पद्य रचना की। किन्तु उनकी रचना विशिष्ट नहीं बन सकी जिससे वे साहित्य में कोई विशिष्ट स्थान नहीं बना पाये। अतः सिद्ध कवियों का परिचय ही यहां दिया गया है।

5.4 सिद्ध साहित्य : प्रमुख अवधारणाएं

सिद्ध–साहित्य के अन्तर्गत जिन अवधारणाओं को महत्व मिला है, वे ही इस साहित्य की विशेषताएँ बनी हुई हैं। ये अवधारणाएं निम्नांकित हैं :–

1. सिद्ध–साहित्य जिन सिद्धों की सर्जना है वे प्रायः अपनी दार्शनिक विचारधारा और योग साधना के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। प्रायः यह माना जाता है कि प्रसिद्ध सिद्धों की संख्या चौरासी है। जो भी है, इतना निश्चित है कि सभी सिद्धों की रचना पर तंत्र–साधना का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।
2. सिद्ध साहित्य की दूसरी विशेषता प्रतीकों के प्रयोग से सम्बन्धित है। इस साहित्य में जो प्रतीक मिलते हैं, वे पंचमकारों से सम्बन्धित हैं। वज्रयानी शाखा से सम्बन्धित होने के कारण ये प्रतीक वहीं से लिए गए हैं।
3. सिद्ध साहित्य में शून्य की साधना का उल्लेख भी मिलता है। सिद्ध–साहित्य में शून्यता को महत्व दिया गया है और उसे प्रज्ञान–सत्य माना गया है। इस साहित्य में शून्य का वर्णन जिन रूपों में मिलता है, वे ये हैं – शून्य, अतिशून्य और महाशून्य।
4. सिद्ध साहित्य की विशेषताओं में चन्द्रमा और सूर्य का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया मिलता है। चंद्र और सूर्य के संयोग से उत्पन्न स्थिति की चर्चा सिद्ध साहित्य में 'समता' अथवा 'सहज साधना' के नाम से की जाती है। निर्गुण भक्तों में कबीर एक ऐसे ज्ञानी थे जिनकी साखियों में सहज समाधि का विस्तृत वर्णन मिलता है।
5. सिद्ध साहित्य की उल्लेखनीय विशेषता में नारी के मुद्रा प्रतीक के वर्णन को लिया जा सकता है। सिद्ध साहित्य में उलटी साधना भी प्रचलित रही है। इनके अन्तर्गत सिद्ध लोग कुण्डली के जागरण के साथ–साथ प्राण वायु के ऊर्ध्वगमन को विशेष महत्व देते हैं। कबीर और जायसी के काव्य में जिस 'दशम द्वार' की चर्चा की गई है, वह इसी साधना का प्रतिफल है।
6. सिद्ध साहित्य का सामाजिक वर्णन भी महत्वपूर्ण है। सिद्धों ने अपने साहित्य के माध्यम से सामाजिक कुरीतियों का खंडन किया। सिद्धों के समय में जो धार्मिक आडम्बर प्रचलित थे, उन्हें सिद्धों की प्रहारक भाषा का सामना करना पड़ा है। धर्म, समाज, संस्कृति एवं अंधविश्वास सभी का गलित अंश सिद्धों की क्रांतिचेता व ओजस्वी वाणी का सम्बल पाकर रेत के महल की तरह ढह गया। इतना ही नहीं, सिद्धों ने अधूरे ज्ञान वाले और अर्द्धज्ञान के आधार पर ही ज्ञान का ढोंग करने वाले पाखंडियों को कड़ी भाषा में फटकार भी लगाई।
7. सिद्ध साहित्य के जितने भी रचयिता हुए हैं, उन सभी ने गुरु के प्रति अटूट श्रद्धा भावना व्यक्त की है।

इनकी रचनाएँ इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं कि गुरु का महत्व सर्वोपरि है। कबीर का साहित्य इसका प्रमाण है।

8. सिद्ध साहित्य की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उसमें योग साधना एंव काम साधना पर बल दिया गया है। इनकी अभिव्यक्ति प्रणाली सीधी, सरल व स्पष्ट है।

5.5 आदिकालीन हिन्दी का नाथ साहित्य

वज्रयानी सिद्धों का समय राहुल जी ने सन् 750 से 1200 ई. तक माना है। कबीर का समय 15वीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। बीच की दो शताब्दियों में नाथ गुरुओं के साहित्य का पर्याप्त प्रचार रहा। सामान्यतः विद्वानों ने 76 नाथ सिद्धों की सूची दी है। वास्तव में तो नाथों की संख्या केवल 9 प्रसिद्ध है। ''गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह'' में नौ मार्ग–प्रवर्त्तकों के नाम गिनाए गए हैं, जो इस प्रकार हैं – नागार्जुन, जड़भरत, हरिश्चन्द, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरक्षनाथ, चर्पटनाथ, जलंधर और मलयार्जुन। इनमें से नागार्जुन, चर्पटनाथ और जलंधर और मलयार्जुन। इनमें से नागार्जुन, चर्पटनाथ और जलन्धर वज्रयानी सिद्धों की सूची में भी स्वीकार किए गए हैं। आवश्यक है कि 'नाथ' शब्द का अर्थ जान लिया जाए।

'नाथ ' शब्द का सामान्य एवं प्रचलित अर्थ स्वामी, इष्टदेव अथवा संरक्षक है। भक्त कवियों ने इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है। कोशकार कालिकाप्रसाद आदि ने इस शब्द के ये अर्थ दिए हैं – प्रभु, अधीश्वर, स्वामी, पति, गोरखपंथी साधुओं की एक उपाधि। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने 'नाथ' शब्द के अर्थ की परम्परा स्पष्ट करने की चेष्टा की है – ''नाथ'' शब्द का प्रयोग रक्षक या शरणदाता के अर्थ में अथर्ववेद और तैत्तिरीय ब्राह्मण में मिलता है। महाभारत में स्वामी या पति के अर्थ में इसका प्रयोग पाया जाता है बोधिवर्यावतार में बुद्ध के लिए इस शब्द का व्यवहार हुआ है। जैनों और वैष्णवों में भी इस शब्द का प्रयोग सबसे बड़े देवता के अर्थ में पाया जाता है। परवर्ती काल में योगपरक पाशुपत शैव मत का विकास नाथ समप्रदाय के रूप में हुआ और नाथ शब्द ''शिव'' के अर्थ में प्रचलित हो गया। लोकोक्ति ''आगे नाथ न पीछे पगहा'' में नाथ अर्थ स्वामी अथवा संरक्षक से है। 'अनाथ' में भी नाथ ''संरक्षक'' का पर्याय है किन्तु नाथ सम्प्रदाय में इस शब्द का विशिष्ट अर्थ गृहीत किया गया है। हज़ारी प्रसार द्विवेदी ग्रंथावली में लिखा है – 'नाथ' शब्द दो अक्षरों से बना है – 'ना' तथा 'थ'। 'ना' का तात्पर्य अनादि रूप से है तथा 'थ' का तात्पर्य भुवनत्रय के स्थापित होने से है, इस प्रकार नाथ मार्ग का तात्पर्य उस 'अनादि' धर्म से है जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण है। श्री गोरक्षनाथ इसलिए नमस्कार और स्तुति के पात्र है, क्योंकि वे इस अनादि धर्म के प्रतिष्ठापक तथा सच्चे अर्थों में नाथ है।'' ''शक्ति संगम तन्त्र'' में 'नाथ' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ दिया गया है –

श्री मोक्षदानदक्षत्वान् नाथब्रह्मानुबोधनाथ।
स्थगिताज्ञान विभवात् श्रीनाथ इति गीयते।।

अर्थात् ''नाथ'' में ''ना'' अक्षर का अर्थ मोक्ष–दान में दक्ष नाथ ब्रह्म का बोध करना है तथा 'थ' अक्षर का अर्थ अज्ञान की शक्ति को स्थगित करने वाला अर्थात् अज्ञान को पूर्णतया छिन्न–भिन्न करने वाला है इस प्रकार ''नाथ'' शब्द के गायन से नाथ–ब्रह्म का साक्षात्कार होता है तथा अज्ञान का वैभव विनष्ट होता है।

नाथ सम्प्रदाय बौद्धों की वज्रयान शाखा से सम्बन्धित रहा है। इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत जो साहित्य सृजित हुआ है, उसमें लौकिक परिस्थितियों के लिए कोई स्थान नहीं है। नाथ साहित्य के रचयिताओं का एकमात्र प्रयास आध्यात्मिक साहित्य के सृजन का रहा है। यह दृष्टिकोण सिद्ध–साहित्य से मेल खाता है, किन्तु इसमें सिद्ध साहित्य की परम्परा को और अधिक सार्थक बनाने की चेष्टा की गई है। इस सम्प्रदाय के रचनाकारों ने जैन–साहित्य के

सर्वतोन्मुखी दृष्टिकोण से तनिक भी लाभ नहीं उठाया है। इन्होंने तो जीवन के सत्य को उजागर करने में सूक्तियों, रूपकों और दृष्टांतों का सहारा भले ही ले लिया हो, किन्तु जीवन के शृंगार के प्रति तो ये लोग अपनी आंखे बन्द करके चले हैं। जैन–साहित्य में जीवन के अन्तिम चरण में दुखद परिणाम से बचने का प्रयास है तथा अनुराग, प्रेम, सौन्दर्य का चित्रांकन है किन्तु नाथ सम्प्रदाय में जीवन के आकर्षक रूप को देखा तक नहीं गया है। इन्होंने लौकिक जीवन के प्रति निराशा का भाव अपनाया है।

नाथ साहित्य के रचयिताओं ने संयत और कठोर साधना पर विशेष बल दिया तथा नारी को विष–बेलि मानकर छोड़ दिया। ये लोग समझते हैं कि नारी योगियों के छलने के लिए ईश्वर की ओर से रचा गया षड्यंत्र है। सिद्ध सम्प्रदाय के साधकों ने जीवन को सहज और स्वाभाविक रूप से ग्रहण करने का आदेश दिया था, किन्तु इन साधकों ने तंत्र–शासन की उपेक्षा करते हुए योगिनी की अत्यधिक निकटता को अर्थात् नारी के निकट सम्पर्क को सन्देह की नज़रों से देखा है। नाथ सम्प्रदाय में जीवन के स्वाभाविक और मार्मिक स्थल उपेक्षित कर दिए गए हैं। गोरख वाणी में स्थान–स्थान पर आई हुई पंक्तियाँ इसकी गवाही देती हैं। उदाहरणार्थ कुछ अंश देखिए –

1. कनक कामिनी त्यागै दोई, सो जोगीस्वर बिरमै होइ।
2. चारों पहर आलंगन निंद्रा, संसार जाइ विषिया वाही।
   ऊभी बाँ गोरखनाथ पुकारै, भूल म्हारौ म्हारा भाई।।
3. षेती करौं तौ मेह बिन सूकै, बनिज करौ तो पूंजी तूटै।
   अस्त्री करौ तौ घर भंग हवैला, मित्र करौ तौ विसहर भैला।।
   वनषंड जाऊँ तो विरछ न फलना, नगरी मैं जाऊँ तो भिष्या न मिलना।
   बोल्या गोरखनाथ मछिंद्रका पूजा, छाड़िने माया भया अवधूता।।

ऐसा प्रसिद्ध है कि शिव ने बारह पंथ चलाए थे और गोरखनाथ ने भी बारह ही पंथ चलाए थे। सम्प्रदाय वाले परस्पर झगड़ते रहते थे अतः गोरखनाथ ने अपने तथा शिव जी के छः–छः पंथों को तोड़कर बारह पंथों का पुनर्गठन किया। जो भी हो, यह निश्चित है कि आजकल जो बारह पंथ प्रचलित हैं, वे यह हैं – 'सतनाथ', 'रामनाथ' 'धरमनाथ', 'लक्ष्मणनाथ', 'दरियानाथ', 'गंगानाथ', वैराग 'रावल या नागनाथ' 'जालन्धरिया', आईपन्थ 'कपिलानी' और 'भजनाथ'। नाथयोगियों की विशिष्ट वेशभूषा के कारण ही ये लोग दूर से ही पहचान में आते रहे हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि ये लोग मेखला, शृंगी, सेली, गूदड़ी, खप्पर, कर्णमुद्रा, बाघम्बर और झोला आदि साम्प्रदायिक चिन्ह धारण करते थे। जायसी के 'पद्मावत' में रतनसेन जब जोगी का वेश धारण करता है तब उसकी वेशभूषा भी उन्हीं नाथों की वेशभूषा जैसी दिखाई देती है। जायसी द्वारा किया गया वर्णन यह प्रमाणित करता है कि उनके समय तक नागपंथी योगियों का प्रभाव स्पष्ट था। प्रमुख गुरुओं और उनके साहित्य का परिचय इस प्रकार है –

5.5.1 मत्स्येन्द्रनाथ

नाथगुरुओं की परम्परा में आदिनाथ अर्थात् शिव के पश्चात् सर्वप्रथम मानव आचार्य गुरु मत्स्येन्द्रनाथ माने गए हैं। इन्हें अवतार माना गया है। कश्मीर के शैव मत सम्बन्धी शास्त्रों में भी इनका नाम बड़े आदर के साथ लिया गया है। मत्स्येन्द्रनाथ मध्ययुग के एक ऐसे संधिकाल में उत्पन्न हुए थे जिससे उन्हें अनेक साधना–पंथों का प्रवर्त्तक स्वीकार कर लिया गया है। सम्पूर्ण भारत भूमि में सैंकड़ों किंवदन्तियाँ यह प्रमाणित करती हैं कि ये महत्वपूर्ण योगी

थे। इनकी महत्ता ही इन्हें इनके प्रसिद्ध शिष्य गोरखनाथ से जोड़ देती है। डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ने स्व–सम्पादित ''कौल्ज्ञान निर्णय'' की भूमिका में कौल सिद्धों की एक सूची उद्धत की है जिसमें मत्स्येन्द्रनाथ का नाम भी लिया है। इनका वास्तविक नाम विष्णु शर्मा था। जन्मभूमि बंगदेश मानी गई है। पूजा का नाम श्री पिप्पलीशदेव और गुप्तनाम श्री भैरवानन्दनाथ बताया गया है। इनके विषय में जो विभिन्न किंवदन्तियाँ और अनुश्रुतियाँ प्रचलित रही है, उनके आधार पर आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने पाँच महत्वपूर्ण निष्कर्ष दिए हैं –

1. मत्स्येन्द्रनाथ और जालन्धरनाथ समसामयिक थे।
2. मत्स्येन्द्रनाथ गोरखनाथ के गुरु थे और जालन्धरनाथ कण्हपा या कृष्णपाद के गुरु थे।
3. मत्स्येन्द्रनाथ पहले योगमार्ग के प्रवर्त्तक थे, किन्तु बाद में संयोगवश एक ऐसे आचार में सम्मिलित हो गए जिसमें स्त्रियों के साथ अबाध संसर्ग प्रमुख बात थी। सम्भवतः यह वामाचारी साधना थी।
4. आरम्भ से ही जालन्धरनाथ और कण्हपा की साधन–पद्धति मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ की साधना–पद्धति से भिन्न थी।
5. मत्स्येन्द्रनाथ चन्द्रगिरि स्थान में उत्पन्न हुए थे। यह या तो बंगाल के समुद्री तट पर कहीं था अर्थात् ब्रह्मपुत्र नदी से घिरे हुए किसी दीपाकार भू–भाग पर अवस्थित था। इनका आविर्भाव नवीं शती में किसी समय में हुआ था। मत्स्येन्द्रनाथ या मछन्दरनाथ के नाम से संत'संग्रहों में कुछ हिन्दी पद भी प्राप्त होते हैं। ऐसे पदों का संग्रह आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने ''नाथों–सिद्धों की बानियां'' में कर दिया है। यह ग्रंथ नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हो चुकी है।

5.5.2 जालन्धरनाथ

जालन्धरनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के गुरु भाई थे। तिब्बती परम्परा में इन्हें मत्स्येन्द्रनाथ का गुरु माना गया है और इनके गुरु आदिनाथ अर्थात शिव माने गये हैं। तिब्बती परम्परा के आधार पर इनका जन्म नगरभोग अर्थात् नगरकोट, काँगड़ा के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। ये उच्चकोटि के विद्वान थे, किन्तु बाद में भिक्षु हो गए थे। जालन्धरनाथ के प्रमुख शिष्य कण्हपा और तन्तिया थे। इनके जन्म की भाँति ही इनकी जाति के विषय में भी पर्याप्त मतभेद हैं। तिब्बती परम्परा के अतिरिक्त बंगाली परम्परा के अनुसार ये हारी या हलखेर माने जाते हैं। कतिपय विद्वानों ने इन्हें पुरूवंशीय क्षत्रिय भी माना है। तंजूर में इनके द्वारा लिखित 7 ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। राहुल जी ने इन सात ग्रंथों में दो को अपभ्रंश में लिखा हुआ माना है। ग्रंथ ये है – 'विमुक्त मंजरी गीत' तथा 'हुंकार–चित्त बिन्दुभावनाक्रम'। जालन्धरनाथ का सम्प्रदाय जालन्धरिया कहलाता है। राहुल जी के अनुसार नेपाल में बौद्धों में आज भी प्रचलित 'जर्यागीत' इनकी रचना बताई जाती है। 'पुरातत्व निबंधावली' में इनका पद उद्धृत किया हुआ मिलता है। इनकी भाषा काफी बिगड़ी हुई थी। सूफी कवि जायसी ने अपने प्रसिद्ध काव्य ''पद्मावत'' में नागमती वियोग खण्ड के अन्तर्गत जालन्धरनाथ और उनके शिष्य गोपीचन्द का उल्लेख किया है। उनके द्वारा लिखित पंक्ति यह है –

''मानव भोग गोपीचंद भोगी, लेई अपसवस जालंधर जोगी।''

5.5.3 गोरखनाथ

गुरु गोरखनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे। इनका आविर्भाव विक्रम की दसवीं शती में माना गया है। ये महान योगी थे। इन्होंने नागपंथ के अन्तर्गत प्रचलित योग और हठयोग की साधना–पद्धति को एक सुनिश्चित स्वरूप प्रदान किया। इन्होंने नागपंथ का पुनर्गठन किया और उसे विकसित होने में पर्याप्त योगदान दिया। आचार्य हज़ारीप्रसाद

द्विवेदी ने लिखा है कि ''शंकाराचार्य के बाद इतना प्रभावशाली और इतना महिमान्वित महापुरूष भारत में दूसरा नहीं हुआ। भारतवर्ष के कोने–कोने में इनके अनुयायी आज भी पाए जाते हैं। भक्ति–आन्दोलन के पूर्व सबसे शक्तिशाली धार्मिक आन्दोलन गोरखनाथ का योगमार्ग ही था। भारतवर्ष की ऐसी कोई भाषा नहीं है जिसमें गोरखनाथ सम्बन्धी कहानियाँ न पायी जाती हों। इन कहानियों में परम्पर ऐतिहासिक विरोध बहुत अधिक है, परन्तु फिर भी उनसे एक बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि गोरखनाथ अपने युग के सबसे बड़े नेता थे। उन्होंने जिस धातु को छुआ, वही सोना हो गयी।''

इनके जन्मस्थान और वंश के विषय में अनेक प्रकार के मत प्रचलित हैं। ''योगिसम्प्रदाया विष्कृति'' में इनका जन्म स्थान गोदावरी तट के निकट अवस्थित चन्द्रगिरि नामक स्थान बताया गया है। नेपाल दरबार पुस्तकालय में उपलब्ध 'गोरक्ष सतस्त्रनाम स्तोत्र' के आधार पर दक्षिण दिशा में स्थित बड़व नाम देश में महामंत्र के प्रभाव से महाबुद्धिशाली गोरखनाथ आविर्भूत हुए थे। ग्रियर्सन का अनुमान है कि गोरखनाथ सम्भवतः पश्चिमी हिमालय के निवासी थे। वे नेपाल के ब्राह्मण वातावरण में बड़े हुए थे। गोरखनाथ ने संस्कृत और हिन्दी में पर्याप्त साहित्य सृजित किया, किन्तु उनके नाम पर उपलब्ध पुस्तकों में कितना अंश प्रामाणिक है और कितना नहीं, यह निश्चित करना पर्याप्त कठिन है। गोरखनाथ की हिन्दी में प्राप्त पुस्तकों का कुशल सम्पादन स्वर्गीय डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने ''गोरखबानी'' के नाम से किया था। यह ग्रंथ हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशित हुआ था। इस ग्रंथ की भूमिका में डॉ० बड़थ्वाल ने गोरखनाथ के नाम से प्रचलित 40 रचनाओं का उल्लेख किया है। डॉ० बड़थ्वाल ने इन सभी ग्रंथों का अवलोकन कर केवल 14 को ही स्वीकार किया है और उनकी प्राचीनता पर मुहर लगाई है। ये चौदह ग्रंथ इस प्रकार है – 'सबदी', 'पद', 'शिष्यादर्शन', 'प्राण सांकली', 'नरवै बोध', 'आत्मबोध', 'अभयमात्रा जोज', 'पन्द्रहतिथि', 'सप्तवार', 'मंछिद्र गोरख बोध', 'रोमावली', 'ज्ञान तिलक', 'ज्ञान चौंतीसा' और 'पंचमात्रा'। गोरखवाणी में इन्हें स्थान दिया गया है।

गोरखनाथ ने संस्कृत में जो साहित्य रचा है, उसका ही नहीं, उनके लोकभाषा साहित्य का भी प्रमुख विषय हठयोग साधना रही है। इनके वर्ण्य–विषय का सार यह बतलाया गया है – ''हठयोगी साधक पिंड अर्थात् शरीर को ब्रह्माण्ड का लघु रूप मानकर कार्य–साधना करता है तथा कार्य–साधना कर ब्रह्माण्ड को साधता है अर्थात् अपना परम प्राप्तव्य–सहज समाधि–प्राप्त करता है। इसमें मूल साधना है – षडांग योग (अर्थात् आसन, प्राणयाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) के द्वारा प्राण–वायु को नियंत्रित करना। सामान्यतः हम इड़ा (सूर्य नाड़ी) के द्वारा श्वास लेते हैं और निकालते हैं, किन्तु हठयोगी साधक योग साधना द्वारा इन दोनों मार्गों को अवरुद्ध कर इनके बीच से गए सुषुम्ना (अवधूती) नाड़ी मार्ग को खोलता है और मूलाधार चक्र (मेरुदण्ड के निम्नतम बिन्दु के निकट) में अवस्थि कुण्डलिनी (शांभवी) शक्ति को जाग्रत कर उसे सुषुम्ना नाड़ी मार्ग से ऊर्ध्वमुखी करता है। जाग्रत कुण्डलिनी मूलाधार चक्र से उद्‌बुद्ध होकर क्रमशः स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनहत, आज्ञा (त्रिकुटी) आदि चक्रों का भेदन करते हुए जब अन्तिम सहस्त्रार चक्र (ब्रह्म, रन्ध्र, शुन्य) में पहुंचती है, तो वहाँ स्थित शिव से शक्ति (कुण्डलिनी) का सम्मिलिन हो जाता है और योगीसहज समाधि में लीन हो जाता है। हठयोग में ''ह'' कार का अर्थ यूर्य है ''ठ'' कार का अर्थ चन्द्र है, इन दोनों के संयोग को हठयोग कहा गया है। शरीर में सूर्य की स्थिति मूलधार के निकट मानी गई है तथा चन्द्रमा की स्थिति अन्तिम चक्र के निकट तालु में मानी गयी है। प्राण–वायु के निरोध से हठयोगी शरीरस्थ इन्हीं सूर्य और चन्द्र का योग कराता है। गोरखनाथ की बानियों में भाषा–वैविध्य देखने को मिलता है। उसमें बंगला, उड़िया, नेपाली, भोजपुरी, मगही आदि पूर्वी भाषाओं के बीज मिलते हैं। कहीं–कहीं तो मराठी, गुजराती और राजस्थानी भाषा का सौन्दर्य भी देखने को मिल जाता है। इस भाषा–वैविध्य के विषय में डॉ. बड़थ्वाल की टिप्पणी उपयुक्त प्रतीत होती है। उन्होंने

कहा है कि ''गोरखनाथ के उपदेशों का प्रचार करने के इच्छुक उनके अनुयायी जहाँ–जहाँ गए, वहां–वहां के लोगों के लिए उन उपदेशों को बोधगम्य कराने के लिए देश–कालानुसार हेर–फेर करते रहे।'' गोरखनाथ ने अपने साहित्य में प्रमुखतः चार शैलियों का प्रयोग किया है– प्रश्नोत्तर शैली, गेय शैली, आलंकारिक शैली और उलटबाँसियों की शैली। एक उदाहरण देखिए जो है तो उलटबांसी का, किन्तु इसमें गेय शैली, प्रतीक शैली भी आकर सम्मिलित हो गयी है–

नाथ बोलै अमृत बांणी बरिषैगी कंबली भीजैगा पांणी।
गाड़ि पडरवा बांधिलै षूंटा, चले दमांमां बाजिले ऊँटा।।
कउवा की डाली पीपल बासे, भूसा कै सबद बिलइया नासै।
चले बटावा थाबी बाट, सोवै डुकरिया ठौरै षाट।।
ढूकिले कूकर भूकिले चोर, काढै धणीं पुकारै ढोर।
ऊजड़ षेड़ा नगर मझारी, तालि गागरि ऊपर पनिहारी।।
मगरी परि चूल्हा धूंधाइ, पोवणहारा को रोटी खाइ।
कांमिनि जलै अंगीठी तापै, बिचि बैसदर थरहर कांपै।।
एक जु रढिया रढती आई, बहू बिवाई सासू जाई।
नगरि को पांधी कूई आवै, अलटी चरचा गोरष गावै।।

गोरखनाथ ने उल्टबांसी का प्रयोग करके एक विचित्र सौन्दर्य उत्पन्न कर दिया है। यह एक ऐसी शैली है जिसमें सामान्य लौकिक कार्यों में असंगति दिखाकर उनके सूक्ष्म आध्यात्मिक अर्थ किए जाते हैं। उपर्युक्त पद को ही लें तो कहा जा सकता है कि सामान्य रूप से पानी बरसता है और कम्बल भीगता है, किन्तु यहाँ इसका अभिप्राय यह है कि भौतिक कर्मों की प्रतीक कम्बली सामान्यतः योगी को अमृतवर्षा में भीगने से बचाती रहती है, किन्तु अब निर्लिप्त होकर अमृतमय कर्मों के रूप में जल–बिन्दु सदृश क्षणभंगुर अस्तित्व के ऊपर बरस रही है। इसी प्रकार अविवेक रूपी पड़वा जो माया रूपी गाय की सन्तान है, को गाढ़कर अर्थात् नष्ट करके, खूँटे अर्थात् जीव को बन्धनयुक्त करने, काली माया को बाँधने अर्थात् वशीभूत करने की बात कही गई है। वास्तव में गोरखनाथ ने नाथ सम्प्रदाय, का पुनर्गठन किया और उसे एक नया रूप प्रदान करने वाले, योगमार्ग का प्रचार करने वाले संतों तथा जनता को वामाचार की बुराइयों से मुक्त करके सात्विक एवं पवित्र जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देने के उद्देश्य से प्रचार साहित्य का सृजन किया। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने उनके व्यक्तित्व का आख्यान तो किया ही है, साथ–ही–साथ उनके महत्व को भी स्पष्ट करते हुए टिप्पणी की है कि –

''गोरखनाथ अपने युग के सबसे महान धर्मनेता थे उनकी संगठन शक्ति अपूर्व थी। उनका व्यक्तित्व समर्थ धर्म गुरु का व्यक्तित्व था। उनका चरित्र स्फटिक के समान उज्ज्वल, बुद्धि भावावेश से एकदम अनाविल और कुशाग्र थी। उनके चरित्र में कहीं भी भाव–विह्वलता नहीं है। जिन दिनों उन्होंने जन्म ग्रहण किया, उन दिनों भारतीय धर्म साधना की अवस्था विचित्र थी। शुद्ध जीवन, सात्विक वृत्ति और अखण्ड ब्रह्मचर्य की भावना उन दिनों अपनी निम्नतम सीमा पर पहुंच चुकी थी। गोरखनाथ ने निर्मम हथौड़े की चोट से साधु और गृहस्थ–दोनों की कुरीतियों को चूर्ण–विचूर्ण कर दिया।''

5.5.4 चर्पटनाथ

चर्पटनाथ गोरखनाथ के शिष्य थे। इनका आविर्भाव काल भी 13वीं शताब्दी माना जाता है। इनका वास्तविक नाम चरकानन्द था। ये जाति के ब्राह्मण थे। डॉ. बड़थ्वाल के अनुसार चंबा रियासत की राजवंशावली में इनका उल्लेख हुआ है। ये आचारवान योगी थे। इन्होंने बाह्यडम्बरों की कटु आलोचना की है तथा आत्मा के योगी को महत्व दिया है। इन्होंने बाह्याडम्बरों का महत्व देने वाले विभिन्न सम्प्रदायों के साधुओं को खूब फटकारा है। इनके कुछ उदाहरण देखिए –

1. इक सेति पटा इक नीलि पटा, इक तिलक जनेऊ लंबि जटा।
   एक फीए एक मोनी इक कांति फटा, जब आवैगी कालि घटा।।
2. मांगे भिच्छा भरि भरि खाँहि। नाथ कहावै मरि मरि जाहिं।
   बाकर कूकर कींगुर हाथि। बाली भौली तरूणी साधि।
   दिन करि भिच्छा रात्य भोग। चटपट कहै बिगोवै जोग।

5.5.5 चौरंगीनाथ

चौरंगीनाथ भी एक प्रसिद्ध सिद्ध थे। इनका लिखा एक महत्वपूर्ण ग्रंथ 'प्रणसांकली' है। इस पुस्तक के अनुसार ये राजा शलिवाहन के पुत्र, मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य और गोरखनाथ के गुरूभाई थे। डॉ. पीतम्बरदत्त बड़थ्वाल ने चौरंगीनाथ की चार छोटी–छोटी सबदियों को अपने ''चौंरगीनाथ'' शीर्षक निबन्ध में उद्धृत किया है। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी की मान्यता है कि चौरंगीनाथ ही पंजाब की लोककथाओं के ''पूरनभगत'' हैं।

चौरंगीनाथ डॉ. बड़थ्वाल के मतानुसार उन महात्माओं में से एक थे जिन्होंने अपनी कठिन साधना से प्राप्त सिद्धि को जनवाणी सर्व–साधारण के लिए सुलभ कराने का प्रयत्न किया। इन्हें गोरखनाथ का समकालीन माना जाता है। चौरंगीनाथ का समय 11वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना गया है। प्रमुख नाथ ये ही हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त भी भरथरी (भर्तृहरि), गोपीनाथ, नागा अरजल्द (नागार्जुन), काणेरी आदि के नाम भी लिए जाते हैं, किन्तु इनका कोई साहित्यिक योगदान दिखाई नहीं देता है।

5.6 सारांश

नाथपंथी साहित्य का अवलोकन करने के पश्चात् निर्भ्रान्त रूप से कहा जा सकता है कि इस साहित्य के सर्जकों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण नाम गुरु गोरखनाथ का ही है। इन्होंने अपनी विभिन्न हिन्दी बानियों से नाथपंथी योग साधना, कार्य साधना तथा हठयोग का बहुविध वर्णन और विश्लेषण किया तथा आरण की पवित्रता के साथ हठयोग साधना को एक निश्चित आयाम प्रदान किया है। इनके प्रयत्न से ही नाथ पंथ संगठित हुआ और उसे एक धर्मसम्मत एवं लोकसम्मत स्वरूप प्राप्त हुआ। परवर्ती भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य की विभिन्न काव्यधाराओं पर इनके नाथपंथी साहित्य का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। इस सम्बन्ध में आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी की यह टिप्पणी विशेष महत्व रखती है – ''हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल के पूर्व नाथमत ही सबसे प्रबल लोकधर्म था। परवर्ती काल में भक्ति की प्रचण्ड धारा में यद्यपि बहुत–सी पुरानी स्मृतियाँ बह गयीं, परन्तु नाथपंथियों के विश्वास और साहित्य अपना अमिट चिन्ह इन पर छोड़ गये हैं। कबीर, दादू, नानक आदि भक्तों के परिवर्तित सम्प्रदाय पर और उनके द्वारा लिखित और संगृहीत साहित्य पर नाथपंथी सम्प्रदाय का बड़ा प्रभाव है। .....कबीर आदि सन्तों के अनेक पद थोड़े परिवर्तन के साथ पूर्ववर्ती नाथ–सिद्धों की रचना हैं। निर्गुण मत के सभी सन्तों के सम्प्रदाय में गुष्टी या प्रश्नोत्तरमूलक साहित्य का बड़ा प्रचार है। आज जहाँ तक जाना जा सकता है, इस प्रकार के साहित्य के आदि प्रचारक नाथ कवि ही हैं। .....हिन्दी साहित्य के प्रेम कथानकों में भी इन नाथ योगियों की बहुत अधिक चर्चा है और सगुण साहित्य में उद्धव–गोपी संवाद के बहाने एक अच्छा–सा साहित्य इन्हीं का सीधे जवाब देने के उद्देश्य से लिखा गया है। जनता

में प्रचलित अनेक मंत्र–तंत्रों में इन योगियों का प्रभाव है और आयुर्वेदिक रसायन औषधियों में से कितनी तो नाथ सिद्धों की आविष्कृत हैं इस प्रकार जनचित्त पर अवश्य इस सम्प्रदाय का प्रभाव अक्षुण्ण है।''

5.7 कठिन शब्द (1) अवधारणा (2) अन्तर्गत (3) आडम्बर (4) प्रवाह (5) अपेक्षा (6) प्रेरणा (7) अभिव्यक्ति (8) सैद्धान्तिक (9) अध्ययन

5.8. अभ्यासार्थ प्रश्न :

1. आदिकालीन सांस्कृतिक सामग्री का परिचय दीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

2. सिद्ध–साहित्य का विवेचन कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

3. जैन साहित्य का संक्षेप में परिचय दीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

4. नाथ साहित्य पर टिप्पणी कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

5.9. संदर्भ ग्रन्थ :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ॰ रामचन्द्र शुक्ल
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ॰ रामसजन पाण्डेय
3. हिन्दी साहित्य का अधुनातन इतिहास – श्री भगवान शर्मा

.....

आदिकाल का रासो काव्य

6.0. रूपरेखा

6.1. उद्देश्य

6.2. प्रस्तावना

6.3. आदिकालीन रासो काव्य

6.3.1 मुंजरासो

6.3.2 हम्मीर रासो

6.3.3 परमाल रासो

6.3.4 खुमाण रासो

6.3.5 बीसल देव रासो

6.3.6 पृथ्वीराज रासो

6.4 रासो काव्य की विशेषताएँ

6.5 सारांश

6.6. कठिन शब्द

6.7. अभ्यासार्थ प्रश्न

6.8. संदर्भ ग्रन्थ

6.1 उद्देश्य

- रासो या रास काव्य जैन कवियों द्वारा लिखे गए हैं, इस बात को जानेगें।
- वीर भावना से प्रेरित होकर इन ग्रन्थों का सृजन हुआ है, इसकी जानकारी प्राप्त करेगें।
- जनता को प्रभावित करने के उद्देश्य से यह ग्रन्थ लिखे गये हैं और इन ग्रन्थों में लोक तत्वों का प्राचुर्य दिखलाई देता है। इस बात से अवगत होंगे।

6.2 प्रस्तावना

रासो या रास काव्य जैन कवियों द्वारा लिखे गए हैं और वीर भावना से प्रेरित होकर भी ऐसे ग्रंथों का सृजन हुआ है। दोनों में एक स्पष्टतः अन्तर दिखाई देता है। जैन कवियों द्वारा सृजित गीत–नृत्यपरक रास काव्य–परम्परा प्रमुखतः जैन धर्म से प्रेरित थी और उसका प्रमुख उद्देश्य जैन धर्म अथवा उसके अनुकूल आचार का प्रचार करना था। जनता को प्रभावित करने के उद्देश्य से सृजित इन रास काव्यों में लोक–तत्व का प्राचुर्य दिखलाई देता है। इन रास काव्यों से नितान्त भिन्न भूमिका पर रचित रासो काव्य–धारा का साहित्यिक महत्व गीत–नृत्यपरक अथवा गीत–नृत्यप्रधान रास–परम्परा से कहीं अधिक है। वीररसात्मक रासो काव्य–परम्परा का आधार छन्द–वैविध्य रहा है। अपभ्रंश के दो छन्दशास्त्रियों–विरहांक तथा स्वयंभू ने रासो अथवा रासक काव्य–रूप पर विचार व्यक्त करते हुए लगभग यही मत व्यक्त किया है। विरहांक ने अपने छन्द निरुपक ग्रंथ 'वृत्तजाति समुच्चय' में रासक काव्य के विषय में यह लिखा है – कि जो रचना बहुत से अडिल्ल, दोहा, मात्रा, रड्डा तथा ढोसा छंदों से रची जाती है, उसे रासक कहते हैं। इसी प्रकार स्वयंभू ने अपने पिंगल शास्त्र सम्बन्धी ग्रंथ ''स्वयंभू छंदस्'' में रासाबंध नामक काव्य–रूप के सम्बन्ध में लिखा है कि काव्य में रासाबंध अपने घत्ता, छप्पय, पद्धड़ी तथा अन्य रूपकों के कारण जन–मन अभिराम होता है। इन दोनों काव्यशास्त्रियों के निर्देशों से यह स्पष्ट हो जाता है कि रासा, रासो, रासक अथवा रासाबंध काव्य का आधार छंद–वैविध्य है।

6.3 आदिकालीन रासो काव्य

जैन कवियों द्वारा रचित काव्य–परम्परा के ग्रंथों का परिचय यहाँ नहीं दिया जा रहा है यहाँ केवल छन्द–वैविध्यपरक रासो काव्य–परम्परा के प्रमुख ग्रंथों का परिचय ही अभीष्ट है।

6.3.1 मुंजरासो

''मुंजरासो'' का उल्लेख अवश्य मिलता है, किन्तु यह कोई स्वतंत्र रचना है, ऐसा अभी तक न तो प्रमाणित हुआ है और न यह ग्रंथ अभी तक प्राप्त ही हुआ है। हाँ, हेमचन्द्र के प्राकृतव्याकरण सिद्ध ''हेमचन्द्रानुशासन'', मेरूतंग के ''प्रबन्ध–चिन्तामणि'' तथा एक अन्य जैन प्रबन्ध–संग्रह में मुंज से सम्बन्धित किसी काव्य–रचना के लगभग 20 छन्द प्राप्त हुए हैं। इन छन्दों को पढ़ने से एक कथा की रूप–रेखा स्पष्ट हो जातीहै। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि यह काव्य–रासो काव्य–परम्परा का ही ग्रंथ है। इसका रचनाकाल तो अज्ञात है ही, रचनाकार भी अज्ञात है, हेमचन्द्र के व्याकरण का रचनाकाल संवत् 1190 वि. माना गया है। मुंज को ऐतिहासिक व्यक्ति स्वीकार करते हुए उनका समय संवत् 1000–1050 वि. माना गया है। इस आधार पर यह अनुमानित किया गया है कि मुंज रासों का समय संवत् 1054 तथा संवत् 1190 विक्रम के मध्य का रहा होगा। उपलब्ध 20 छन्दों के आधार पर जो कथा आकार लेती है, वह यह है – मुंज तथा कर्नाटक के राजा तैलप में शत्रुता थी। वह (अर्थात् मुंज) तैलप की शक्ति को अनुमानित किए बिना ही उस पर आक्रमण कर देता है। फलतः युद्ध में पराजित होता है और बंदी बना लिया जाता है। बन्दी

जीवन व्यतीत करते हुए उसका प्रेम तैलप की विधवा बहिन मृणालवती से हो जाता है। मुंज के साथी उसे मुक्त कराने का प्रयास करते हैं, किन्तु मृणालवती षड्यंत्र को जान लेती है और तैलप को शिकायत कर देती है। अन्त में तैलप क्रुद्ध होकर मुंज को अपमानित करता है और उससे घर–घर भीख मँगवाता है। इतना ही नहीं, वह उसे हाथी के पैर तले कुचलवाकर मरवा भी देता है। इस तरह मुंजरासों में मुंज के पतन की करूणाप्रेरित मार्मिक कथा विन्यस्त दिखाई देती है। इसमें दोहा, शिखरिणी, गाथा और अनुष्टुप आदि छंदों का प्रयोग हुआ है।

6.3.2 हम्मीर रासो

''हम्मीर रासो'' के विषय में यह प्रसिद्ध है कि आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रंथ ''शार्ङ्गधर पद्धति'' के रचयिता शार्ङधर ने ही हम्मीर रासो नामक वीररस के काव्य का प्रणयन किया था। इस रास ग्रंथ की प्रति आज भी अप्राप्त है। केवल पैंगलम में इसका उल्लेख मिलता है। उपलब्ध छंद निश्चित रूप से किसी छंद–वैविध्यपरक रासों काव्य के रहे होंगे। पण्डित राहुल सांकृत्यायन ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि इन छंदों का रचयिता जज्जल नामक कवि था। इस सम्भावना का कारण यह बताया गया है कि उपलब्ध छंदों में से कुछ के अंतर्गत ''जज्जल भणइ'' आया है। उन्होंने यह भी संकेत किया है कि जज्जल हमीर का सेनापति था। इस ग्रंथ के विषय में आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदीजी की टिप्पणी भी द्रष्टव्य है – ''राहुल जी का यह मत प्राकृतपैंगलम (बिब्लियोधि–इण्का) में प्रकाशित टीकाओं के ''जज्जलस्य उक्तिरियम्'' अर्थात् यह जज्जल की उक्ति है पर आधारित जान पड़ता है। टीकाकारों के इस वाक्य का अर्थ यह भी हो सकता है कि जज्जल की कविता है और यह भी हो सकता है कि किसी अन्य कवि द्वारा बिद्ध पात्र जज्जल की कविता है और यह भी हो सकता है कि किसी अन्य कवि द्वारा निबद्ध पात्र जज्जल की उक्ति है, अर्थात् कवि–निबद्ध वक्तृ प्रौढ़ोक्ति है। यदि दूसरा अर्थ लिखा जाए तो रचना जज्जल की नहीं, किसी अन्य कवि की होगी, किन्तु वह अन्य कवि शार्ङधर ही है इसका कोई सबूत नहीं। इतना अवश्य है कि यह उक्ति किसी ऐसे काव्य से उद्धृत है जिसमें वीररस का प्रसंग अवश्य था।''

इन छंदों के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने ग्रंथ ''हिन्दी साहित्य का इतिहास'' में लिखा है कि ''मुझे पूरा निश्चय है कि ये पद्य असली 'हम्मीर रासो' के ही है'' डॉ. माताप्रसाद गुप्त का मत है कि ''इन छंदों की भाषा ऐसी है कि रचना हम्मीर के समय के कुछ ही बाद की होनी चाहिए। शार्ङधर भी हम्मीर के समकालीन नहीं थे। उनके पितामह श्री राघवदेव हम्मीर के कृपापात्र थे। इसलिए यह असंभव नहीं है कि हम्मीर सम्बन्धी उक्त रचना शार्ङधर की कृति रही हो। किन्तु यह बात अभी निश्चय के साथ नहीं कही जा सकती है। रचना उत्तरकालीन साहित्यिक अपभ्रंश में है। इसके छंद प्राकृत पैगलम् में उदाहरणों के रूप में उद्धृत किए गए हैं, इसलिए रचना सम्मानित रही होगी, यह भी प्रतीत होता है'' इसमें प्रयुक्त छंद गाहिणी, रोला, छप्पय, कुण्डलिया, गअणंग, लीलाबाई, जलहरण तथा क्रीड़ाचक है।

6.3.3 परमाल रासो

''परमाल रासो'' के विषय में भी हिन्दी जगत् में पर्याप्त भ्रम फैला हुआ है। विद्वानों की धारणा है इस ग्रंथ के विषय में भ्रम फैलाने का कार्य बाबू श्यामसुन्दर दास ने किया है। वास्तविकता यह स्वीकार की जा रही है कि 'परमाल रासो' नाम का कोई ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। इसका उल्लेख भी प्रायः नहीं के बराबर हुआ है। बाबू श्यामसुन्दर दास ने पृथ्वीराज रासो के वृहत् रूपान्तर के महोवा खण्ड की एक प्राचीन प्रति को ही परमाल रासो नाम से सम्पादित कर दिया था। यह तथ्य उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है। इस विषय में डॉ. माताप्रसाद गुप्त का मत भी दृष्टव्य है। उनका कथन है कि ''नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित पृथ्वीराज रासों के परिशिष्ट रूप में दिए हुए

'महोवा खण्ड' का यह एक परिवर्द्धित रूपान्तर मात्र है, स्वतंत्र रचना नहीं है। यद्यपि पृथ्वीराज रासो में सम्मिलित 'महोवा खण्ड' भी प्रमाणिक रचना नहीं है, क्योंकि वह अलग से ही मिलता है पृथ्वीराज रासो की किसी पूर्ण कृति में नहीं मिलता है।

डॉ. रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' ने भी परमाल रासो के विषय में अपने विचार व्यक्त किए हैं। उनका कथन है कि ''उत्तरप्रदेश में 'आल्हा खण्ड' के नाम से जो काव्य प्रचलित है, वही परमाल रासो के मूल रूप का विकसित रूप माना जाता है। यह रासो लोग–गेय काव्य था, अतः इसके मूल रूप की सुरक्षा नहीं हो सकी। इसमें अनेक अंश बाद में जोड़े गए हैं तथा अनेक अंशों में वर्णन और भाषा–सम्बन्धी परिवर्तन किए गए हैं। धीरे–धीरे 'आल्हा' लोक गीत की एक शैली ही बन गया हैं अतः आधुनिक विषयों पर भी 'आल्हा' लिखे जाने लगे हैं।'' आगे वह परमाल रासो की रचना तथा सम्पादन के आधार को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, ''प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के अभाव में मौखिक रूप में उपलब्ध आल्हा खण्ड के आधार पर परमाल रासो के साहित्यिक स्वरूप के विषय में कुछ भी कहना कठिन है। 1865 ई. में चार्ल्स इलियट ने जिस आल्हा खण्ड का प्रकाशन कराया था, वह मौखिक परम्परा पर ही आधारित है। इसी प्रति के आधार पर डॉ. श्यामसुन्दर दास ने परमाल रासो का पाठ–निर्धारण किया और उसे नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित कराया। इस रूप में उपलब्ध परमाल रासो यद्यपि सर्वथा प्रामाणिक कृति तो नहीं है, तथापि आदिकाल में रचित मूल परमाल रासो के ऐतिहासिक अस्तित्व को समझने में सहायक अवश्य हैं'' कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि परमाल रासो का अस्तित्व पूर्णतः संदिग्ध है डॉ. दिनेश के कथनों में अन्तर्विरोध भी है और उन्होंने जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे अनुमान के आधार पर अधिक दिखाई देते हैं। हाँ, डॉ. माताप्रसाद गुप्त का मत अपेक्षाकृत अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है।

6.3.4 खुमाण रासो

''खुमाण रासो'' के सर्जक के रूप में दलपत विजय नामक कवि का नाम लिया जाता है। नवीं और दसवीं शताब्दी में चित्तौड़ में खुमाण नाम से तीन रावल हुए हैं। आचार्य शुक्ल ने खुमाण द्वितीय का समय विक्रम सं. 870–900 अनुमानित किया है। उनका यह भी अनुमान है कि अब्बासिया वंश के खलीफा अलमामू (विक्रम सं. 870 से 890) से यदि किसी खुमाण का युद्ध हुआ होगा तो वह यही खुमाण द्वितीय रहा होगा। इसी के महत्व को उद्घाटित करने के लिए खुमाण रासो' की रचना हुई होगी। वर्तमान में खुमाण रासो की जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं, उनमें प्रक्षिप्त अंश भी समाविष्ट हो गए हैं। यही कारण है कि उपलब्ध प्रति में महाराणा प्रतापसिंह तथा उनके बाद भी राजसिंह तक अनेक महाराणाओं का वर्णन मिल जाता है। श्री मोतीलाल मेनरिया का अनुमान है कि खुमाण रासो का वर्तमान रूप 18वीं शती के अन्त का होगा। अगरचन्द नाहटा का मत भी उल्लेखनीय है। उनका कथन है कि ''दलपत विजय एक जैन कवि थे। दीक्षा के पश्चात् इनका नाम दौलत विजय हो गया था तथा वे तपागच्छ के सुमति साधु के वंशज 'पक्ष विजय' की शिष्य परम्परा में शांतिविजय के शिष्य थे। खुमाण रासों के द्वितीय खण्ड से उदाहरण देकर नाहटा जी ने अपने मत को प्रमाणित किया है।'' डॉ. दिनेश की भी मान्यता है इसका रचयिता 17वीं शती का दलपति विजय नामक कोई जैन साधु था। डॉ. दिनेश के मत से सहमत होना कठिन है, क्योंकि पहली बात तो यह है कि जैन परम्परा में प्राप्त रास काव्य अपेक्षाकृत सीमित आकार वाले रहे हैं। उनमें कहीं–न–कहीं उनके 'रास' होने तथा नृत्य अथवा गायन दोनों के लिए प्रयुक्त होने का स्पष्ट उल्लेख रहता है। नवीनतम शोधों के आधार पर यह निष्कर्ष दिया जा सकता है कि खुमाण रासो 5000 छंदों का एक विशाल रासो काव्य है जिसकी प्रामाणिक हस्तलिखित प्रति पूना के संग्रहालय में उपलब्ध है। न तो इसे कहीं ''रास'' कहकर पुकारा गया है और न यह गेय नृत्य–परम्परा का रास काव्य है। ऐसी स्थिति में अगरचन्द नाहटा द्वारा उद्धृत छंदों को प्रक्षिप्त स्वीकार किया जा सकता है। पृथ्वीराज रासो के समान इस

ग्रंथ में भी वीर और श्रृंगार रस की धारा सामानान्तर रूप से प्रवाहित हुई है तथा इसमें दोहा, चौपाई, कवित्त, गाहरा, छप्पय आदि विविध छंदों का प्रयोग भी हुआ है। वस्तु–वर्णन की दृष्टि से भी इस ग्रंथ का महत्व है। इसके अन्तर्गत युद्ध, विवाह, नायिका भेद, संयोग, वियोग और षट्ऋतु आदि के सरस मधुर वर्णन भी प्राप्त होते हैं।

6.3.5 बीसलदेव रासो

बीसलदेव रासो वैसे तो रासो काव्य–परम्परा में आता है, किन्तु गेय होने के कारण एवं लोकजीवन के तत्वों से संयुक्त होने के कारण लौकिक साहित्य के अन्तर्गत भी रखा जा सकता है। इसमें एक प्रकार के मिश्र छंद का प्रयोग हुआ है। छंद–वैविध्य यहाँ नहीं है। इसके रचयिता का नाम नरपति नाल्ह बताया जाता है। इसके रचनाकाल के विषय में पर्याप्त मतभेद रहा है। हाँ, कवि ने स्वयं अपनी इस कृति के रचनाकाल के सम्बन्ध में लिखा है :–

''बारह से बहोत्तराँ मँझारि।
जेठ बदी नवमी बुधिवारि।''

उपर्युक्त दो पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि बीसलदेव रासो की रचना संवत् 1272 वि. में बुधवार के दिन जेठ बदी नवमी को आरम्भ हुई थी, किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ''बहोत्तराँ'' को द्वादशोत्तर का रूपान्तर मानते हुए उक्त रचनाकाल को सं० 1212 वि. अनुमानित किया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि गणना करने का विक्रम सं० 1212 में ज्येष्ठ बदी नवमी को बुधवार ही पड़ता है। नवीन खोजों से इस काव्य की एक अपेक्षाकृत प्राचीन प्रति मिली है, जिसमें रचनाकार सम्बन्धी पंक्ति इस रूप से मिलती है – ''संवत् सहस तिहत्तर जानि, नाल्ह कवीश्वर सरसीय वाणि।'' अर्थात् संवत 1073 वि. में नाल्ह कवीश्वर ने इसकी रचना की है। इस सम्बन्ध में डॉ. मोती लाल मेनारिया का अभिमत है कि इसकी रचना सोलहवीं शती के नरपति नाल्ह नामक एक गुजराती कवि ने की थी। किन्तु पाठालोचन के विद्वान डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने अनेक प्राचीन प्रतियों का परीक्षण करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला है कि ''बीसलदेव रासो'' की रचना चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक अवश्य हो गयी होगी।''

इस प्रकार इस काव्य को आदिकालीन साहित्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने उक्त प्राचीन प्रतियों के आधार पर मात्र 128 छंदों की एक प्रति का सम्पादन भी किया है, जबकि सत्यजीवन वर्मा द्वारा सम्पादित तथा नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित प्रति के चार सर्गों के क्रमशः 85, 86, 103 तथा 42 अर्थात् कुल 316 छंद हैं। सत्यजीवन वर्मा के अनुसार इतिहास की दृष्टि से इस रचना का महत्व नगण्य है, क्योंकि केवल विग्रहराज चतुर्थ उपनाम बीसलदेव का नायक के रूप में नाम लेकर ही काव्य की रचना की गई है, ऐतिहासिक तथ्यों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। इस संबंध में आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का अभिमत है कि ''इस देश में सातवीं शती से ही ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम पर ही काव्य रचना करने की परम्परा चल पड़ी थी, किन्तु काव्य का नाम भी ऐतिहासिक व्यक्तियों का रहा, कथा निर्वाह पूर्ण रूप से काल्पनिक ही रहा।''

फिर भी ''बीसलदेव रासो'' के साहित्यिक महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त तथा श्री अगरचन्द नाहटा ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि ''बीसलदेव रासो'' हिन्दी का एक गौरव ग्रंथ माना जाता है, क्योंकि इसमें एक स्वस्थ प्रणय की एक सुन्दर प्रेमगाथा कही गई है और सामान्यतः उसके सम्बन्ध में यह विश्वास रहा है कि यह हिन्दी के प्राचीनतम ग्रंथों में से एक है। यह वास्तव में एक विरह काव्य है जिसकी प्रमुख घटनाएँ ये हैं – साँभर के नरेश बीसलदेव का मालवा के शासक भोज परमार की पुत्री राजमती से विवाह करना, उसका अपनी रानी से रूठकर उड़ीसा की ओर प्रयाण करना, और उड़ीसा के राजा के यहाँ बारह वर्ष तक उसके भृत्य के रूप में रहना, रानी राजमती का विरह–वेदना में अपने दिन व्यतीत करना तथा पति के पास अपना संदेश भेजना, रानी का संदेश पाकर

बीलसदेव का पुनः साँभर लौटना, भोज का अपनी पुत्री को अपने घर लिवा ले जाना और बीसलदेव का धारा नगरी जाकर राजमती को पुनः साँभर लाना।

'बीलसदेव रासो' ऐतिहासिक रासो काव्य–परम्परा के अन्तर्गत नहीं आता है। इसका मूल स्वरूप प्रेमपरक है। डॉ. गुणपतिचन्द्र गुप्त ने इसे विरह–काव्य स्वीकार किया है जो सर्वथा उचित है। हमें यह लगता है कि इस कृति में नरपति नाल्ह का उद्देश्य न तो इतिहास का आख्यान प्रस्तुत करने का रहा है और न किसी नरेश अथवा आश्रयदाता के गौरव को बढ़ा–चढ़ाकर प्रस्तुत करने का। सम्पूर्ण ग्रंथ को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि का मूल उद्देश्य नारी चरित्र का गुणगान करने का रहा है। वास्तव में यह एक अनुभूति–प्रवण काव्य है। इस काव्य का प्रमुख उद्देश्य विरह–विकल नारी के व्यथित हृदय से संत्रस्त, विवश और असहाय नारी की अन्तर्व्यथा को शब्दबद्ध करते हुए शोषित नारी–जाति के प्रति सहानुभूति का उद्रेक किया है। उसने कह भी दिया है –

अस्त्री जनम काँई दियो हो महेस,
अवर जनम थारे घणा हो नरेस।।

6.3.6 पृथ्वीराज रासो

चन्दवरदाई द्वारा रचित पृथ्वीराज रासो हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत सर्वाधिक विवादास्पद काव्य रहा है। इस ग्रंथ को लेकर अलग–अलग मत प्रस्तुत किए गए हैं, पृथ्वीराज रासो के चार संस्करण मिलते हैं। वृहत् रूपान्तर में 69 –समय' अर्थात् सर्ग है तथा 16, 306 छंद है। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ उदयपुर के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। नागरी प्रचारिणी सभा ने सन् 1885 ई. में लिखित प्रति के आधार पर पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पण्डया, बाबू राधाकृष्ण दास, कुँवर कन्हैया जू तथा बाबू श्यामसुन्दर दास से सम्पादित कराकर रासों के इस वृहत् रूपातन्तर का प्रकाशन सन् 1901–12 के बीच कराया था। मध्यम रूपान्तर की हस्तलिखित प्रतियाँ, अबोहर अर्थात् बीकानेर के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। इसमें 7000 छंद हैं और इसकी प्रतियाँ 17वीं शती में लिपिबद्ध हैं। लघु रूपान्तर में केवल 19 समय और 3500 छंद हैं इस लघु रूपान्तर की हस्तलिखित प्रतियाँ भी बीकानेर में सुरक्षित हैं। पृथ्वीराज रासो का जो लघुतम रूपान्तर उपलब्ध है, उसमें कुल 1300 छंद है और इसमें सर्गों का विभाजन नहीं है। डॉ. दशरथ शर्मा रासो के लघुतम रूपान्तर को मूल रासो मानते हैं। पाठालोचन के विद्वान डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने उक्त लघु पाठ का रचनाकाल संवत् 1428 के लगभग स्वीकार किया है। श्री नरोत्तम स्वामी का मत है कि चंद ने पृथ्वीराज चौहान तृतीय के दरबार में रहकर रासो की रचना मुक्तक रूप में की थी, किन्तु इनके मत से कोई दूसरा विद्वान सहमत नहीं हो पाया है। मुनि जिन विजय, डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ. विपिन बिहारी त्रिवेदी आदि विद्वानों की यह मान्यता है कि पृथ्वीराज चौहान के दरबारी कवि चन्दवरदाई ने ही मूल रूप में पृथ्वीराज रासो की रचना की थी, किन्तु उसका मूल रूप अब उपलब्ध नहीं है। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने मूल रासो की रचना शुक–शुकी–संवाद के रूप में मानते हुए डा. नामवरसिंह के साथ ''संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो'' का सम्पादन किया था, किन्तु इसे भी विद्वान रासो के मूल रूप से दूर पाते हैं। डॉ. माताप्रसाद गुप्त मूल पृथ्वीराज रासो को अपेक्षाकृत एक छोटी रचना मानकर कथानक की दृष्टि से उसे जयानक के 'पृथ्वीराज विजय' का पूरक मानते हुए उसे पृथ्वीराज चौहान के उत्तरकालीन जीवन से सम्बंद्ध करते हैं। अनेक तथ्यों के आधार पर ''रासो'' के रचनाकाल के सम्बन्ध में डॉ. गुप्त ने यह निष्कर्ष निकाला है 'पृथ्वीराज रासो' की रचना संवत् 1400 के आसपास ही हुई मानी जा सकती है, इससे पूर्व की नहीं।''

प्रामाणिकता के द्वंद्व से परे पृथ्वीराज रासो एक उच्च कोटि की साहित्यिक कृति है जिसमें भावात्मक सौन्दर्य के साथ कलात्मक वैशिष्टय का सुन्दर सामंजस्य हुआ है। अपने युग के अनुरूप इसमें वीर श्रृंगार रस की गंगा–यमुना एक साथ प्रवाहित इसके कथा–संगठन में पर्याप्त शिथिलता है, फिर भी महाराज पृथ्वीराज चौहान (तृतीय) की

''कित्ति–कथा'' के रूप में उसमें आरम्भ से लेकर अन्त तक एक अन्तःसूत्र विद्यमान है। कवि ने इस काव्य में प्रसंगानुकूल अनेक सरस मधुर वर्णनों की संयोजना की है। पात्रों की भावाभिव्यंना के अवसर यद्यपि इसमें कम हैं, फिर भी अनेक स्थलों पर पात्रों की भावनाओं की सहज स्वाभाविक मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। छंदांतर शैली में विरचित इस काव्य में भावों की तीव्रता अथवा मन्थरता के अनुसार छंद–परिवर्तन होता है, जिसमें छंद के साथ ध्वनि–परविर्तन भी हो जाता है। इस सम्बन्ध में कवि की सफलता इस बात में निहित है कि भाव एवं गति का परिवर्तन केवल छंद के वाचन से ही लक्ष्य किया जा सकता है। ''शिवसिंह सरोज'' में चंदवरदाई को छप्पयो का राजा कहा गया है। इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं है, क्योंकि चंद ने वीर रस के साथ नखशिख वर्णन तथा श्रृंगार रस के लिए भी छप्पय छंद का सफल एवं प्रभावपूर्ण प्रयोग किया है। रासो के छप्पय छंद वास्तव में कवि चंद के काव्य–कौशल के परिचायक हैं। इस संदर्भ में यह बात ध्यातव्य है कि रासो के छप्पय (षट्पदी) 'छंद कवित्त' नाम से ही प्राप्त होते हैं इसका कारण स्पष्ट करते हुए ''रूपदीप पिंगल'' – कान ने लिखा है कि सत्रहवीं शताब्दी तक छप्पय 'छंद कवित्त' के नाम से प्रसिद्ध था। (छप्पय छंद कवित्त यहु) सभा द्वारा प्रकाशित रासो के वृहत् संस्करण में 72 प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ है।

वस्तुवर्णन की दृष्टि से भी पृथ्वीराज रासों में सरसता मधुरता तथा प्रभावोत्पादकता है तथा उसमें वैविध्य, विशदता एवं चित्रात्मकता भी है। श्रृंगार के–संयोग और वियोग–दोनों पक्षों का वर्णन, युद्ध वर्णन, नखशिख वर्णन, षट्ऋतु वर्णन, उदय वर्णन में कवि को विशेष सफलता मिली है। कन्नौज में गंगातट पर जल भरते हुए सुन्दरियों का एक अत्यधिक स्वाभाविक, गतिशील, सरल एवं मोहक चित्र कवि ने अंकित किया है। देखिए –

द्रग चंचल, चंचल तरूनि चितवय चित्तहरन्ति।
कंचन कलश झकोरि कै सुन्दरि नीर भरति।।

पृथ्वी राज रासो के 'पद्मावती समय' में अनेक स्थलों पर कवि की सौंदर्यानुभूति पर प्रकाश पड़ता है। जहाँ चरित्र विधान का प्रश्न है, उसमें भी पर्याप्त व्यापकता, विविधता तो है ही, स्वाभाविकता भी विद्यमान है। प्रारम्भ में रासों का प्रमुख पात्र पृथ्वीराज एक धीरोदत्त नायक के रूप में आता है, किन्तु बाद में उसके व्यक्तित्व में अदूरदर्शिता, अविवेक और हठधर्मिता भी आकर मिल जाती है। इस प्रकार पृथ्वीराज एक ह्रासोन्मुखी सामन्ती संस्कृति का प्रतीक बनकर सामने आता है। आकार–प्रकार की दृष्टि से पृथ्वीराज रासो महाकाव्य है। इसमें महाकाव्योचित गरिमा तो है ही, साथ–ही–साथ राजपूती युग के जीवन का समग्र और विश्वसनीय चित्र भी उपलब्ध होता है। भाषा की दृष्टि से भी यह ग्रंथ पर्याप्त विवादास्पद रहा है। भले ही चंद ने इसमें षट्भाषा के प्रयोग की बात कही हो, किन्तु वास्तव में इसकी भाषा मिश्रित भाषा है। बावजूद इसके कि यह ग्रंथ प्रामाणिक है अथवा नहीं, इस काव्य का साहित्यिक महत्व अक्षुण्ण है।

6.4 रासो काव्य की विशेषताएँ

रासो काव्य का निर्माण मध्ययुग तक होता है। इनमें ह्रासोन्मुखी सामंती प्रवृत्ति का चित्रण स्पष्टतः देखा जा सकता है। नाना प्रकार की कथानक रूढ़ियों और कवि–समयों का चित्रण रासोकार करते रहे हैं। युद्धों और विवाहों के चित्रण द्वारा मिथ्याभिमान और विलास से जर्जर जीवन को उभार कर रासो के रचयिताओं ने समाज का सच्चा सांस्कृतिक और सामाजिक इतिहास प्रस्तुत किया है। इन रासों ग्रंथों में इतिहास के सन्–संवत् भले ही अशुद्ध हों, भ्रामक हों, किन्तु सामाजिक जीवन की झाँकी के भरे–पूरे चित्र अवश्य मिलते हैं। तत्कालीन इतिहास के गवेषकों के लिए रासो काव्यों का विशेष महत्व है। रासो काव्यों की सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं :–

1. रासो काव्यों में आश्रयदाताओं की भरपूर प्रशंसा मिलती है और राष्ट्रीय भावना का अभाव मिलता है। आश्रित

कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की वीरता का गान तो उत्साह से किया, किन्तु राष्ट्रीय भावना का पूर्णतः अभाव उनमें रहा है।

2. रासो काव्यों में युद्ध का सजीव वर्णन मिलता है। युद्ध, सेना की साज–सज्जा और आक्रमण आदि का वर्णन चित्र–व्यंजनात्मक शैली में किया गया है।

3. रासो काव्यों में युद्धों के सजीव और रसपूर्ण वर्णन प्राप्त होते हैं तो वीर भाव श्रृंगार रस से पुष्ट होकर भी आया है। स्त्रियाँ ही प्रायः आपसी विद्वेष का कारण होती थीं। फलतः वीर के साथ श्रृंगार रस को भी बराबर स्थान मिलता रहा है। नारी दोनों रसों के केन्द्र में रही है। उसे पाने के लिए युद्ध हुए हैं और पा लेने पर जीवन का विलास पक्ष पुष्ट हुआ है। बीसलदेव रासो की भावभूमि प्रेम की निश्छल अभिव्यक्ति से सरस है तो पृथ्वीराज रासो में भी श्रृंगार रस वीर रस के साथ ''मधुबतियाँ'' करता दिखलाया जाता है।

4. रासो काव्यों में प्रकृति के आकर्षक चित्र अंकित हुए हैं। 'बीसलदेव रासो' और 'पृथ्वीराज रासो' इसके उदाहरण हैं। इनके रचयिता ने प्रकृति के चित्रों से भी भावचित्रण को सौंदर्य प्रदान किया है। बारहमासों व ऋतुओं के प्राकृतिक चित्र संयोग–वियोग में उद्दीपन का काम करते हैं।

5. रासो काव्यों में शुद्ध ऐतिहासिकता का अभाव दिखाई देता है। वर्णनात्मकता के कारण इतिहास में कल्पना भी आ कर मिल गई है।

6. रासो काव्यों मे भावोत्कर्ष कम वस्तु–वर्णन की प्रधानता अधिक रही है। कहीं–कहीं ये वर्णन नीरस और उबाऊ भी हो गए हैं।

7. रासो काव्यों की भाषा प्रायः डिंगल रही है, क्योंकि यही वह भाषा है जो वीर भावों की व्यंजना के लिए उपयुक्त रही है।

8. रासो काव्यों में छन्द–वैविध्य पर्याप्त मिलता है। डॉ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि ''जब रासो के छंद बदलते हैं तो श्रोता के चित्र में प्रसंगानुकूल नवीन कम्पन होने लगता है।''

9. रासो काव्यों में कथा को गति देने, जिज्ञासा बनाए रखने और आकर्षण पैदा करने के लिए कथानक रूढ़ियों का प्रयोग हुआ है।

10. रासो काव्यों की एक विशेषता उनकी अभिनेयता रही है। गति–नृत्यपरक परम्परा का प्रचार जैन धर्मावलम्बियों के मध्य अधिक रहा। यही कारण है कि उनके द्वारा सृजित सभी रासो काव्य इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। दूसरी परम्परा का प्रचार जैनियों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के सामाजिक वर्ग में रहा है। विद्वानों की यह मान्यता रही है कि इन रासो काव्यों का गायन अभिनय के साथ–साथ होता है।

6.5 सारांश

आदिकालीन साहित्य में रासो साहित्य का विशेष महत्व है। इसी महत्ता के कारण 'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति और रासो काव्यों की विशेषताओं को लेकर विद्वानों मे पर्याप्त चर्चा रही है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि हिन्दी साहित्य के आदिकाल में रासो काव्य पर्याप्त मात्रा में लिखे गए थें इसी पर्याप्त मात्रा ने रासो काव्यों की कुछ विशेषताओं को उद्घाटित कर दिया।

6.6 कठिन शब्द (1) सामंती (2) व्यंजना (3) नीरसता (4) सौंदर्यानुभूति (5) स्वाभाविकता (6) अदूरदर्शिता (7) अविवेक (8) हस्तलिखित (9) प्रवाहित

6.7. अभ्यासार्थ प्रश्न :

1. रासों काव्य और उनके लेखकों का नामोल्लेख कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

2. रासों काव्य का विस्तापूर्वक विवेचन कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

6.8. संदर्भ ग्रन्थ :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ॰ रामकुमार वर्मा
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ॰ रामसजन पाण्डेय

.....

आदिकाल का जैन साहित्य

7.0. रूपरेखा

7.1. उद्देश्य

7.2. प्रस्तावना

7.3. आदिकालीन जैन साहित्य

7.3.1 उपदेश रसायन

7.3.2 भरतेश्वर बाहुबलि घोर रास

7.3.3 भरतेश्वर बाहुबलि रासो

7.3.4 बुद्धिरास

7.3.5 चन्दनबाला रास

7.3.6 रेवन्तगिरि रास

7.3.7 नेमिनाथ रास

7.3.8 स्थूलिभद्र रास

7.3.9 जिन कुशल सूरि पट्टाभिषेक रास

7.3.10 अन्य रास ग्रन्थ

7.4. सारांश

7.5 कठिन शब्द

7.6. अभ्यासार्थ प्रश्न

7.7. संदर्भ ग्रन्थ

7.1 उद्देश्य

- आदिकालीन जैन साहित्य में जैन धर्म की कथाओं, दार्शनिक मंतव्यों या उपदेशों को आधार बनाया गया है। इस बात से अवगत होंगे।
- जैन कवियों की रचनाएँ विभिन्न शैलियों में उपलब्ध है, इस बात को जानेगें।
- इन रचनाओं में राजाओं की वीरता, युद्धों आदि का वर्णन मिलता है, इस बात को जानेगें।

7.2 प्रस्तावना

जैन साहित्य में हिन्दी की वे रचनाएँ आती हैं जिनके अन्तर्गत जैन धर्म की कथाओं, दार्शनिक मंतव्यों या उपदेशों को आधार बनाया गया है। 'श्रावकाचार', 'भरतेश्वर बाहुबलि रास', 'चन्दनबाला रास', 'स्थूलिभद्र रास', रेवन्तगिरिरास और 'नेमिनाथ रास' इसी वर्ग की रचनाएँ हैं। जैन कवियों की रचनाएँ आचार, रासो, फागु और चरित आदि विभिन्न शैलियों में उपलब्ध हैं। जो आचार–शैली में लिखी गई हैं, उनमें उपदेशात्मकता है। कुछ रचनाओं में उपदेश के साथ–साथ नीति कथन भी देखने को मिलता है। मुनि जिनि विजय द्वारा मान्यता–प्राप्त 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' में राजाओं की वीरता, युद्धों आदि का वर्णन मिलता है। हाँ, इतना अवश्य है कि हिंसा और वीरता के बाद विरक्ति और मोक्ष के भाव प्रतिपादित करना इन कवियों का लक्ष्य रहा है।

7.3 आदिकालीन जैन साहित्य

श्री अगरचन्द नाहटा की मान्यता है कि जैन मुनियों का जीवन बहुत ही संयमित होता है। भिक्षा के भोजन द्वारा वे अपनी क्षुधा–निवृत्ति करके प्रायः सारा समय स्वाध्याय, धर्म–प्रचार, ग्रंथ–लेखन आदि धार्मिक और सत्कार्यों में लगाते रहे हैं। इसलिए उनका साहित्य बहुत अधिक मिलता है। प्राचीन राजस्थानी साहित्य तो जैन–कवियों की ही देन है। तेरहवीं शताब्दी से इनकी रचनाओं का प्रारम्भ होता है। और अविच्छिन्न रूप से प्रत्येक शताब्दी के प्रत्येक चरण में रची गई उनकी छोटी–बड़ी रचनाएं आज भी प्राप्त हैं। जैन कवियों की रचनाएँ गुजरात और राजस्थान में बराबर सृजित होती रही हैं। भाषा की दृष्टि से भी इनमें पर्याप्त समानता रही है। जैन कवियों की रचनाएँ अधिकांशतः धर्म–प्रचार के निमित्त लिखी जाती थीं और सात्विक एवं आडम्बरहीन जीवन पर सर्वाधिक बल दिया जाता था। जैन कवियों द्वारा रचित रचनाओं का स्वर अधिकांशतः प्रचारात्मक और उपदेशात्मक रहा है, किन्तु यह निर्भ्रान्त रूप से नहीं कहा जा सकता है कि काव्य–सौंदर्य का मार्मिक अंकन देखने को नहीं मिलता है, वहीं दूसरी ओर वस्तु–जगत और उत्सवों आदि का प्रभावी अंकन भी देखने को मिल जाता है। जैन कवियों की रचनाएँ प्रबंधात्मकता से भी संयुक्त हैं और कुछ ऐसी भी हैं जो खण्डकाव्य की श्रेणी में आती हैं। प्रायः इन रचनाओं में नायक अन्त में जैन धर्म ग्रहण कर लेता है अथवा उसके प्रभाव से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इन रचनाओं का समापन अधिकांशतः शांत रस में हुआ है। रास संज्ञक रचनाओं में छन्द–वैविध्य भी मिलता है, किन्तु वह रास काव्यों की तुलना में पर्याप्त सीमित दिखाई देता है। जैन–साहित्य की जो सर्वप्रथम रचना प्राप्त होती है, वह देवसेन (संवत् 990) की ''श्रावकाचार'' है। इसका उल्लेख आचार्य शुक्ल ने भी अपने ''हिन्दी साहित्य का इतिहास'' में किया है। इस पुस्तक में 250 दोहों में श्रावक धर्म का

आख्यान किया गया है। श्रावकाचार से उद्धृत यह अंश देखिए–

जो जिण सासण भाषियउ, सो मइ कहियउ सारू।

जो पालइ सइ भाउ करि, सो सरि पावइ पारू।।

जैन कवियों द्वारा निर्मित गीत–नृत्यप्रधान रास काव्य परम्परा की प्रमुख कृतियों का परिचय निम्नांकित रूप में समझा जा सकता है–

7.3.1 उपदेश रसायन

यह जिनदत्त सूरि की रचना है। यह प्राचीन उपलब्ध रासो–काव्य है। इसका रचनाकाल कवि के एक अन्य काव्य ''कालस्वरूप कुलक'' के आधार पर निश्चित किया गया है जिसमें संवत् 1200 विक्रम की एक घटना का उल्लेख निम्नांकित रूप में किया गया है–

विक्कम संवच्छरि सय बारह।

हुयहइ पणठठ्उ सुहु घर बाहर।।

कवि ने इस रचना के अंत में इसे ''रसायन'' कहा है किन्तु इसके टीकाकार जितपाल उपाध्याय ने इसे रासक माना है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने इसके दो संस्करणों का उल्लेख किया है जिनमें से एक में केवल 32 छंद हैं और दूसरे में 80 छंद हैं। इसका वर्ण्य–विषय जैन धर्म सम्बन्धी उपदेश हैं। रचना का शीर्षक भी इसी ओर संकेत कर रहा है।

7.3.2 भरतेश्वर बाहुबलि घोर रास

इस रचना की खोज का श्रेय अगरचन्द नाहटा को है। इस ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति नाहटा जी को जैसलमेर से प्राप्त हुई है। इसके रचयिता देवसूरि के शिष्य वज्रसेन सूरि थे। नाहटाजी ने इसका रचनाकाल संवत् 1225 वि. में अनुमानित किया है। 'भरतेश्वर बाहुबलि घोर रास' में केवल 45 छंद हैं। इनमें भगवान ऋषिदेव के पुत्रों – भरत एवं बाहुबलि–के घोर युद्ध का वर्णन है। ग्रंथ में 'रास' शब्द का उल्लेख कहीं नहीं किया गया है। यह रास डॉ. दशरथ ओझा और डॉ. दशरथ शर्मा द्वारा सम्पादित ''रास और रासान्वयी'' ग्रंथ में प्रकाशित हो चुका है। इसमें तत्सम शब्दों का प्रयोग भी हुआ है तथा इसकी भाषा अपभ्रंश और राजस्थानी से प्रभावित हिन्दी है।

7.3.3 भरतेश्वर बाहुबलि रासो

डॉ. गणपतिचन्द गुप्त ने इसी ग्रंथ से हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ माना है। इसके रचयिता शालिभद्र सूरि हैं। यह 203 छंदों की रचना है और इसमें प्रयुक्त प्रमुख छंद रासो है। इस कृति में जो कथा वर्णित है, वह भरतेश्वर और बाहुबलि को अध्योध्यावासी ऋष जिनेश्वर के यहाँ सुनन्दा और सुमंगला से उत्पन्न बताया गया है। भरत आयु में बड़े थे और पर्याप्त पराक्रमी थे। भरत को अयोध्या का राजा बनाया गया और बाहुबलि को तक्षशिला का राज्य मिला। कवि ने इन दोनों राजाओं की वीरता और युद्धों आदि का वर्णन विस्तार से किया है, किन्तु हिंसा और वीरता के पश्चात् विरक्ति और मोक्ष के भाव प्रतिपादित करना कवि का प्रमुख लक्ष्य रहा है। इसकी भाषा में नाटकीयता, उक्ति–वैचित्र्य और रसात्मकता सर्वत्र दिखाई देती है। उदाहरणार्थ ये पंक्तियाँ देखिए–

बोलत बाहुबली बलवन्त। लोह खण्डि तउ गरवीउ हंत।।

चक्र सरीसउ चूनउ करिउँ। सयलहँ गोत्रह कुल संहरऊँ।।

7.3.4 बुद्धिरास

शालिभद्र सूरि द्वारा रचित एक छोटी–सी रचना ''बुद्धिरास'' भी प्राप्त हुई है। इसमें मात्र 63 छंद हैं। इसका वर्ण्य–विषय धर्मोपदेश है। प्राचीन जैन ग्रंथगारों में इसकी अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। बुद्धिरासो का उद्देश्य पथभ्रष्ट लोगों का मार्गदर्शन करना रहा है। इस रचना को पढ़ने और सुनने का माहात्म्य अन्तिम छंद में यह बतलाया गया है–

शालिभद्र गुरू संकुललीय सिवि हूँ, गुरू उपदेसि।

पढहि गुणहि जे सं लहिं ताहइ विघ्न टलेसि।।

इसकी भाषा सरस और प्रवाहपूर्ण तो है ही, गेय भी है। इसमें रचनाकाल का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। विद्वानों ने निष्कर्ष रूप में इसका रचनाकाल संवत् 1238 से 1244 वि. के बीच अनुमानित किया है।

7.3.5 चन्दनबाला रास

''चन्दनबाला रास'' कवि आसगु द्वारा रचित एक छोटी–सी रचना है। इसकी छंद संख्या मात्र 35 है। इसकी रचना कवि ने जालौह (पश्चिमी राजस्थान) में की थी। इसका रचनाकाल संवत् 1255 से 1260 के मध्य स्वीकार किया जाता है। इसमें कथा–नायिका राजकुमारी चन्दनबाला के अपहरण, विक्रय, उत्पीड़न, सतीत्व तथा मोक्ष–प्राप्ति का वर्णन किया गया है। कतिपय विद्वानों ने इस कृति का साहित्यिक महत्व स्वीकार किया है। कवि ने इसमें भाव–सौन्दर्य के अनेक सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए हैं।

7.3.6 रेवन्तगिरि रास

इसकी रचना विजयसेन सूरि ने की थी। इसका रचनाकाल संवत् 1288 वि. के आसपास माना गया है। इसका वर्ण्य–विषय जैनधर्म से सम्बन्धित है। इस रास में गिरनार के जैन–मंदिरों के जीर्णोद्धार, रेवतंगिरि तीर्थ का यात्रा और नेमिनाथ की प्रतिमा की स्थापना आदि का वर्णन किया गया है। इसमें कुल 72 छंद हैं। रचना में तीर्थाटन, मूर्ति–स्थापना, वास्तुकला के सौंदर्य–वर्णन के साथ–साथ प्राकृतिक सुषमा के आकर्षक चित्र भी देखने को मिलते हैं। प्रकृति का एक सहज और गतिशील बिम्ब इन पंक्तियों में देखा जा सकता है–

कोयल कलयलो मोर के कारयो,

सम्मए महुयर महुर गुँजारवो।

कवि ने वनराजि का वर्णन करते समय वस्तु–परिगणन प्रणाली का प्रयोग किया है और शब्दावली आनुप्रासिक है। इस रचना के दो संस्करण प्रकाशित हुए हैं। एक संस्करण 'रासो और रासान्वयी काव्य' में प्रकाशित है और दूसरी प्राचीन गुर्जर काव्य भाग–एक में गायकवाड़ ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

7.3.7 नेमिनाथ रास

इसकी रचना सुमतिमणि ने की थी। यह 58 छंदों की एक छोटी रचना है जिसके अन्तर्गत नेमिनाथ का

चरित्र–वर्णन सरस और आकर्षक शैली में किया गया है। विद्वानों की मान्यता है कि इसकी भाषा अपभ्रंश से प्रभावित राजस्थानी हिन्दी है। अनुमानित किया गया है कि यह रचना 13वीं शती के अन्तिम दशक की रही होगी। इसका प्रकाशन भी 'रास और रासान्वयी काव्य' में हो चुका है।

7.3.8 स्थूलिभद्र रास

यह ग्रंथ 1209 ई. में रचित है और इसके रचयिता जिनधर्म सूरि माने गए हैं। स्थूलिभद्र और कोशा वेश्या के विषय में और भी रचनाएँ मिलती हैं, किन्तु इस कृति की सभी घटनाओं से उनका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। डॉ. रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' की मान्यता है कि अवान्तर घटनाओं के माध्यम से लौहघट के रूप में स्थूलिभद्र का संयम चित्रित करके कवि ने काव्य को विशिष्ट बना दिया है। कोशा वेश्या के पास भोगलिप्त रहने वाले स्थूलिभद्र को कवि ने जैनधर्म की दीक्षा लेने के बाद मोक्ष का अधिकारी सिद्ध किया है। काव्य की भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव अवश्य है, फिर भी इसकी भाषा का मूल रूप हिन्दी है। धार्मिक दृष्टि से प्रेरित होने पर भी इसकी भावभूमि और अभिव्यंजना काव्यानुकूल है।

7.3.9 जिन कुशल सूरि पट्टाभिषेक रास

इस ग्रंथ के रचयिता धर्मकलश मुनि माने जाते हैं। इसमें मात्र 38 छंद हैं। कृति के अन्तर्गत जिन कुशल सूरि के पट्टाभिषेक (संवत् 1377) की ऐतिहासिक घटना का वर्णन है। यह रास श्री अगरचन्द नाहटा द्वारा सम्पादित 'ऐतिहासिक जैन–काव्य संग्रह' में प्रकाशित हो चुका है इसी क्रम में कतिपय अन्य जैन कवियों द्वारा रचित रासो काव्यों की चर्चा की जा सकती है। ऐसे रास ग्रंथों में ''जम्बूस्वामी रास'' जिनके रचयिता धर्मसूरि (संवत् 1266) माने गए हैं, 'आबूरास' जिसका दूसरा नाम 'नेमिजिणन्द रास' भी है तथा जिसके रचयिता पाल्हड़ आदि प्रमुख हैं।

7.3.10 अन्य रास ग्रंथ

जैन कवियों द्वारा रचित और शोधकर्ताओं द्वारा अन्वेषित कतिपय अन्य जैन रास ग्रंथ अग्रांकित हैं–

(1) गयसुकुमार रास (रचनाकार देल्हणि, रचनाकाल 1300 वि. के आसपास) इसकी छंद संख्या मात्र 38 है।

(2) महावीर रासो (रचनाकार अभयतिलक मणि, रचनाकाल 1307 वि.)

(3) शान्तिनाथ देव रासो (रचनाकाल लक्ष्मीतिलक उपाध्याय, रचनाकाल सं. 1313 वि.)

(4) सप्त क्षेत्र रासो (रचनाकर का नाम अज्ञात), इसमें जैन धर्म से सम्बन्धित सात प्रसिद्ध घटकों–साधु–साध्वी, श्रावक–श्राविका, जिन मंदिर तथा ज्ञान का वर्णन करने के साथ–साथ उनकी उपासना का उपदेश दिया गया है।

(5) बारह व्रत रास (रचनाकार विनयचन्द सूरि, रचनाकाल सं. 1338), कुल छंद संख्या 53 है।

(6) कच्छुली रास (रचनाकार का नाम अज्ञात, रचनाकाल वि. 1363 छंद सं. 35)

(7) बीस बिहरमाणरास (रचनाकार श्रावक वस्तिग, रचनाकाल सं. 1368 वि.)

(8) श्रावकविधि रास (रचनाकार गुणाकर सूरि, रचनाकाल सं. 1371 वि.)

(9) समरारासो (रचनाकार अम्बदेव सूरि, रचनाकाल सं. 1371 वि)

अनेक जैन कवियों ने फागु–काव्यों की भी रचना की है।

अद्यावधि उपलब्ध फागु काव्यों में सबसे प्राचीन जिनचंद सूरि फागु है जिसके लेखक का पता नहीं है। जिन पद्यसूरि रचित थूलिभट्ट फागु, एक अज्ञात कवि की जम्बू स्वामी फागु इस काल की सर्वाधिक प्रसिद्ध काव्य–कृतियाँ हैं। इस काल का एकमात्र जैनेतर फागु–काव्य वसंत विलास फागु भी मिलता है।

फागुन और चैत मास में मस्ती और उल्लास से गाये जाने वाले इन लोकगीतों को जैनियों ने कुछ विशेष साहित्यिक रूप देकर फागु–काव्य की संज्ञा से अभिहित कर दिया। ये फागु–काव्य चाहे जैनियों के हों या जैनेतर इनमें वसंतश्री की शोभा का, कामीजनों के क्रीड़ा, लोकजीवन के उल्लास और आनन्दमय जीवन, श्रृंगार के संयोग और वियोग पक्षों का बड़ा ही सरस, मार्मिक और मधुर चित्रण मिलता है।

ये फागु–काव्य प्रायः आकार में छोटे लगभग 2527 छंदों में रचित होते हैं। केवल वसंत विलास के ही छंदों की संख्या चौरासी है। जैनियों ने किसी न किसी कथा का आधार देकर इन्हें प्रबन्धात्मकता का रूप प्रदान कर दिया है। इस रूप में ये गेयरूपक खंड–काव्य बन गये हैं। कहीं–कहीं इनकी कथा 'भासो' में विभक्त है जैसा कि थूलिभद्द फागु सात भासों में निबद्ध है।

जैनियों ने इन फागु–गीतों का उपयोग अपनी धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही किया। इन्होंने उन्मादक वातावरण में भी शील, संयम, त्याग, अहिंसा की विजय दिखलाई। इन जैन फागु–काव्यों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें धार्मिक वातावरण रहने के बावजूद इनका काव्य–सौन्दर्य प्रायः अक्षुण्ण मिलता है।

इसी प्रकार चउपई काव्यरूप में भी जैनियों ने अपनी रचनाएँ की। नेमिनाथ चउपई जैसे काव्य तो बड़े ही सरस बन पड़े हैं। बारहमासा के माध्यम से राजुल का जो विरह–वर्णन विनय चन्दसूरि ने किया है बड़ा ही मर्मस्पर्शी है।

इन जैनाचार्यों द्वारा रचित 'चर्चरी' नामक काव्यरूप की भी कतिपय रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। कवि सोममूर्ति द्वारा रचित ''जिनप्रबोध सूरि चर्चरी'' रचना उल्लेखनीय है। इसी प्रकार ''रेलुआ'' संज्ञक रचनाएँ (यथा–''गुरावली रेलुआ'', ''धवल'' (उत्साह प्रकट करने वाला मंगल गीत) भी उल्लेखनीय हैं। इन ग्रंथों के अतिरिक्त जैन कवियों ने कतिपय चरित काव्यों की भी रचना की है।

7.4 सारांश

संक्षेप में कह सकते हैं कि हिन्दी के आदिकालीन साहित्य में जैन कवियों द्वारा सृजित हिन्दी साहित्य अपनी विविधता और गुणवत्ता की दृष्टि से पर्याप्त महत्व रखता है। भले ही इस साहित्य में उपदेश, प्रचार, सत्परामर्श और धर्म आदि की शिक्षा दी गई हो, किन्तु फिर भी उपेक्षणीय नहीं है। कारण यह है कि इस प्रकार के काव्यों में काव्यत्व भी स्थान–स्थान पर देखने को मिलता है। इन ग्रंथों के सम्बन्ध में डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त का यह कथन उल्लेखनीय है–''वस्तुतः इनका काव्य केवल सिद्धान्तों की व्याख्या नहीं है, अपितु उसमें नारी सौंदर्य, यौवन, प्रणय, विरह जैसे विषयों एवं प्रकृति के नाना दृश्यों का भी निरूपण आकर्षक अलंकारपूर्ण शैली में हुआ है। अतः वे काव्यत्व की कसौटी पर खरे सिद्ध होते हैं। इनकी विषय–वस्तु पौराणिक है, तथा पात्र धार्मिक साधक हैं, साथ ही इनमें शांत रस की प्रधानता है। जनता में प्रचलित रासो–शैली को अपनाकर उन्होंने उसे साहित्यिक रूप प्रदान किया।''

7.5 कठिन शब्द (1) स्वाध्याय (2) उपदेशात्मकता (3) प्रतिपादित (4) स्वाध्याय (5) क्षुधा (6) निवृत्ति (7) अविच्छिन्न (8) वैविध्य (9) संयम (10) अक्षुण्ण

7.6. अभ्यासार्थ प्रश्न :

1. आदिकालीन जैन साहित्य पर प्रकाश डालिए।

_____

_____

_____

_____

_____

2. आदिकालीन किन्हीं तीन रचनाओं पर प्रकाश डालिए।

_____

_____

_____

_____

_____

7.7. संदर्भ ग्रन्थ :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ॰ रामकुमार वर्मा
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ॰ रामसजन पाण्डेय

.....

लौकिक साहित्य

8.0. रूपरेखा

8.1. उद्देश्य

8.2. प्रस्तावना

8.3. लौकिक साहित्य

8.3.1 लोकाश्रित काव्य परिचय व विकास

8.3.2 विभिन्न लौकिक काव्य

8.4. लौकिक साहित्य की विशेषताएं

8.5. सारांश

8.6. कठिन शब्द

8.7. अभ्यासार्थ प्रश्न

8.8. संदर्भ ग्रन्थ

8.1 उद्देश्य

- आदिकालीन साहित्य विविध आयामी है, इसमें चित्रित लौकिक साहित्य के बारे में जानेगें।
- आदिकाल में जहाँ वीर काव्य की प्रचुरता है वहीं लौकिक, लोकाश्रित अथवा स्वच्छन्द काव्य परम्परा दृष्टिगोचर होती है, इस बारे में जानेगें।

8.2 प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य का आरम्भिक काल जिसे आदिकाल के नाम से अभिहित किया जाता है का निजी विशिष्ट महत्त्व है। यह साहित्य विविध आयामी है जिसमें कि हमें अनेक प्रकार का साहित्य प्राप्त होता है। काव्य रचना के विभिन्न आश्रय केन्द्रों एवं प्रेरणा स्त्रोतों की दृष्टि से मध्यकाल के समस्त हिन्दी काव्य को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–धर्माश्रित काव्य, राज्याश्रित काव्य या वीर काव्य तथा लोकाश्रित काव्य।

जहाँ प्रथम दो वर्गों का काव्य क्रमशः तत्कालीन धर्म सम्प्रदायों एवं राज दरबारों की रुचि, मनोवृत्ति तथा प्रवृत्ति

का प्रतिनिधित्व करता है, वहाँ तीसरे वर्ग का काव्य उस युग के जन–सामान्य की साहित्यिक रुचियों तथा प्रवृत्तियों को प्रस्तुत करता है। लोकाश्रित कवि किसी विशेष संस्था या सत्ता के निर्देशों से प्रेरित होकर काव्य–रचना नहीं करता अपितु आत्मानुभूति की प्रेरणा से प्रेरित होकर अपने युग की लोक रुचि के अनुकूल काव्य सृष्टि करता है।

आदिकालीन साहित्य में इस प्रकार स्वच्छन्द रूप में, लौकिक विषयों पर ग्रन्थ लिखने की प्रवृत्ति भी मिलती है। इस धारा के प्रतिनिधि कवि अमीर खुसरो हैं। उनके अतिरिक्त विद्यापति आदि उच्च कोटि के कवियों ने भी लोक काव्यों की रचना की। कतिपय अन्य लोक रासो काव्यों की भी सर्जना हुई है और लोक कथाओं पर आधारित फुटकर काव्य भी रचे गए।

अतः आदिकाल में जहाँ वीर काव्य तथा धार्मिक काव्य हमें प्रचुरता से प्राप्त होता है वहीं लौकिक, लोकाश्रित, अथवा स्वच्छन्द काव्य परम्परा भी दृष्टिगोचर होती है।

8.3 लौकिक साहित्य

8.3.1 लोकाश्रित काव्य परिचय व विकास :

अमीर खुसरो : वीरगाथा काल की सन्ध्या में अमीर खुसरो ने साहित्य को विविध रंगों से रंजित किया जबकि लौकिक साहित्य के आदर्श निश्चित नहीं थे और रचनाएँ धर्म या राजनीति के संकेतों पर नाचती थी। उस समय विनोद व मनोरंजन की प्रवृत्तियों को जन्म देना साधारण काम न था। यही अमीर खुसरो की विशेषता थी कि उन्होंने साहित्य के लिए एक नवीन मार्ग का अन्वेषण किया और वह था जीवन को संग्राम और आत्मशासन की सुदृढ़ और कठोर शृंखला से मुक्त कर आनंद और विनोद के स्वच्छन्द वायुमण्डल में विहार करने की स्वतंत्रता देना। यही अमीर खुसरो की मौलिकता थी।

अमीर खुसरो का वास्तविक नाम अब्दुल हसन था जिनका जन्म 1312 में ज़िला एटा में हुआ। ये बड़े ही प्रसन्नचित्त, मिलनसार तथा उदार थे। इनके गुरू का नाम निज़ामुद्दीन औलिया था।

रचनाएँ : अमीर खुसरो अरबी, फारसी, तुर्की और हिन्दी के विद्वान थे व संस्कृत का भी थोड़ा बहुत ज्ञान था। इन्होंने कविता की 99 पुस्तकें लिखी जिनमें कई लाख शेयर थे पर अब इनके केवल 20–22 ग्रंथ प्राप्य हैं। इन ग्रन्थों में 'किस्सा चार दरवेश' और 'खालिक बारी' विशेष उल्लेखनीय हैं। इनकी रचनाएँ हैं– 'तुगलक नामा', 'दो सुखने', 'ढकोसले' इत्यादि। इनका तुर्की, अरबी, फारसी तथा हिन्दी का पर्याय कोश नामक ग्रन्थ भी बड़ा प्रसिद्ध है। फारसी से कहीं अधिक हिन्दी भाषा में इन्होंने लिखा है।

इनकी कुछ पहेलियाँ, मुकरियाँ और फुटकर गीत उपलब्ध होते हैं–

पहेली

एक थाल मोती से भरा सबके सिर पर औंधा धरा
चारों ओर वह थाली फिरै, मोती उससे एक न गिरे। (आकाश)
उस जार के एक होजर बस्ती, बाहरबा की घर
पीउ सरल और पेट नरम, मुंह मीठा तासीर गरम। (तरबूज़)

डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में–

"इनको भाव की गहराई की दृष्टि से भले ही महत्त्व न दिया जाए किन्तु भाषा की दृष्टि से इनकी पहेलियां साहित्य के इतिहास का सदा एक महत्त्वपूर्ण अंग रहेंगी।"

इनके अपने मौलिक विचार थे। ये संगीतज्ञ, गवैये, इतिहासकार, आलोचक तथा जागरुक साहित्यकार थे

जिन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से समन्वय करने का भरसक प्रयास किया।

शिव कुमार शर्मा के अनुसार–

"इनके साहित्य में हिन्दु–मुस्लिम एकता का प्रथम प्रयत्न है तथा उसमें भाषा सम्बन्धी एकता का आदर्श भी उपस्थित किया गया है।"

वस्तुतः उन्होंने फारसी, अरबी, हिन्दी सब भाषाओं में रचनाएँ की। वस्तुतः उनके काव्य में खड़ी बोली काव्य–भाषा बनने का सफल प्रयास कर रही थी।

डॉ. नगेन्द्र–"आदिकाल में खड़ी बोली को काव्य की भाषा बनाने वाले वे पहले कवि हैं।"

वे प्रसिद्ध गवैये थे। ध्रुव पद के स्थान पर कौल या कव्वाली बनाकर इन्होंने बहुत से नए राग निकाले थे। जो अब तक प्रचलित हैं। वीणा को घटाकर इन्होंने सितार बनाया था। चूंकि इन रचनाओं को अमीर खुसरो ने जन मनोरंजन की दृष्टि से लिखा इसलिए इन को मात्र मनोरंजनात्मक साहित्य माना जाता है जिसमें हृदय की परिस्थितियों का कोई चित्रण नहीं न ही कोई संदेश समाविष्ट है। मात्र हृदय को प्रसन्न करना ही इनका लक्ष्य होता है।

डॉ. राम कुमार वर्मा के शब्दों में–

"चारण कालीन रक्तरंजित इतिहास में जब पश्चिम के चारणों की डिंगल कविता उद्धत स्वरों में गूंज रही थी और उसकी प्रतिध्वनि और भी उग्र थी, पूर्व में गोरखनाथ की गम्भीर धार्मिक प्रवृत्ति आत्म–शासन की शिक्षा दे रही थी उस काल में अमीर खुसरों की विनोद पूर्ण प्रकृति हिन्दी साहित्य के इतिहास की एक महान निधि है। मनोरंजन और रसिकता का अवतार यह कवि अमीर खुसरो अपनी मौलिकता के कारण सदैव स्मरणीय रहेगा।"

विद्यापति : 1425 में बिहार के दरभंगा ज़िले में उत्पन्न विद्यापति एक विद्वान वंश से सम्बन्ध रखते थे। बाल्यकाल में ही ये कुशाग्र बुद्धि युक्त थे। इनके गुरु महा महा पाध्याय हरिमित्र थे।

शिव कुमार शर्मा– "विद्यापति का व्यक्तित्त्व विविधमुखी है। उसमें पांडित्य, कला, रसिकता और भावुकता का अद्‌भुत समन्वय है।"

रचनाएँ : विद्यापति एक महान पण्डित थे। उन्होंने अपनी रचनाएँ संस्कृत अवहट्‌ठ और मैथिली भाषा में लिखी हैं। संस्कृत पर इन का असाधारण अधिकार था। अतः अधिकांश रचनाएँ इन्होंने संस्कृत में ही लिखी। विद्यापति संक्रमण काल के कवि होने के कारण एक ओर वीर गाथा काल का प्रतिनिधित्व करते हैं तो दूसरी ओर हिन्दी में भक्ति और श्रृंगार परम्परा के प्रवर्त्तक माने जाते हैं।

संस्कृत : भूपरिक्रमा वाक्यावली, विभाग सार, लिखनावली, शैव सर्वस्वार इत्यादि।

अवहट्ट : कीर्तिलता, कीर्तिपताका

मैथिली : पदावली।

हिन्दी साहित्य में इनकी अक्षुण्य कीर्ति का आधार कीर्तिलता, पदावली, कीर्तिपताका हैं।

कीर्तिलता : अपने चरित नायक महाराजा कीर्ति सिंह के वीरत्व, शौर्य, पराक्रम को उद्‌घाटित करने के लिए तथा उनके यशोगान के लिए विद्यापति ने इसकी रचना की। इसमें कीर्ति सिंह के पिता गणेश्वर की मृत्यु, कीर्ति सिंह की विजय, उनके राज्याभिषेक आदि का वर्णन है।

काव्य में तत्कालीन संस्कृति का पूर्ण प्रतिबिम्ब है। कवि ने अपने समय की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सभी परिस्थितियों का चित्रण किया है। हिन्दू, मुसलमान, खान, वेश्याओं तथा सैनिकों के सजीव व पक्षपात सहित चित्रण से ग्रंथ के साहित्यिक सौंदर्य में और भी अभिवृद्धि हुई है।

शिव कुमार शर्मा– "इस रचना का हिन्दी साहित्य में दो दृष्टियों से महत्त्व मानते है साहित्यिक प्रवृत्तियों तथा भाषा संबंधी परिवर्तन के कारण।"

कीर्तिलता में परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्रंश से कुछ आगे बढ़ी हुई भाषा के दर्शन होते हैं। विद्यापति ने इसे अवहट्ट कहा है। वे कहते हैं।

दू सिल बअना सब जच मिट्ठा ते तेंसन जम्पओ अवहटटा

कीर्ति पताका : यह ऐतिहासिक कृति है। इसमें उन्होंने अपने आश्रयदाता शिव सिंह का यशोगान किया हैं। विलासमय जीवन, युद्ध विजय–पराजय आदि से यह रचना हमें वीर गाथाओं का स्मरण करवाती है।

इसकी भाषा अपभ्रंश है जिसमें संस्कृत के शब्द भी आ गए हैं, इस ग्रन्थ में दोहा छन्द व गद्य का प्रयोग किया गया है।

पदावली : यह रचना मैथिली भाषा में रची गई है। जयदेव की परंपरा का अनुसरण करते हुए उसमें राधा कृष्ण की प्रणय लीलाओं का अत्यन्त हृदयहारी वर्णन किया गया है। इस कृति में उनका शृंगारी रूप पूर्णतः उभर कर आया है। शृंगार के अन्तर्गत भी संयोग शृंगार का चित्रण कवि ने तन्मयता से किया है। इस दृष्टि से विद्यापति पर यह आक्षेप लगया जाता है कि वे शृंगरि, कवि ही हैं।

विद्यापति की देन : विद्यापति को संस्कृत साहित्य के शृंगार वर्णन की विशाल परंपरा परंपरागत सम्पत्ति के रूप में मिली और उसका उन्होंने यथासम्भव सदुपयोग भी किया।

विद्यापति में जयदेव के काव्य की सम्पूर्ण प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं किंतु उनके साहित्य में रस रीतिवाद का सर्वप्राधान्य है। यद्यपि विद्यापति ने किसी निश्चित रूप रेखा के अनुसार पदावली में नायिका भेद प्रभेद प्रस्तुत नहीं किया किंतु राधा कृष्ण के परकीया प्रेम के सीमित वृत्त में नायिका भेद का जो भाग सहज में समाविष्ट हो सकता था वह सब कुछ पदावली में है।

अतः विद्यापति ने परवर्ती कवियों के लिए कृष्ण भक्ति साहित्य तथा रीतिकालीन साहित्य के लिए राधा–कृष्ण के ब्याज से नायिका भेद वर्णन की प्रवृत्ति का परोक्ष रूप से मार्ग प्रशस्त कर दिया। राधा कान्ह के सुमिरन का बहाना करके प्रणय लीलाओं के उन्मुक्त मांसल–चित्र उपस्थित करने वाले रीतिकालीन कवि तथा विद्यापति के दृष्टिकोण, उद्देश्य तथा परिस्थितियों में पर्याप्त साम्य हैं। इस दिशा में विद्यापति में फिर भी थोड़ी बहुत कलात्मकता बनी रही है जबकि रीति कवि में उसका सर्वथा अभाव है।

8.3.2 विभिन्न लौकिक काव्य : अमीर खुसरो और विद्यापति की रचनाओं के अतिरिक्त आदिकाल में हमें और भी अनेक काव्य प्राप्त होते हैं जिन्हें हम लौकिक काव्य या लौकिक साहित्य के अन्तर्गत रख सकते हैं। लौकिक काव्य परम्परा के विकास में उन्होंने भी पर्याप्त योगदान दिया है–

ढोला मारू रा दूहा : 11 वीं. शती में रचित यह एक लोक–भाषा काव्य है। इसमें ढोला नामक राजकुमार और मारवणी नामक राजकुमारी की प्रेम कथा का वर्णन है। राउलवेल के कवि रोडा ने प्रेम वर्णन की जो परम्परा हिंदी में आरम्भ की थी, उसको इस की रचना से विकास की एक नई दिशा प्राप्त हुई।

इस काव्य में नारी हृदय की अत्यन्त मार्मिक व्यंजना मिलती है। प्रेम का सात्त्विक, किन्तु सरस पक्ष इसमें विस्तार से प्रस्तुत हुआ है। कवि ने मारवणी के भावों की व्यंजना में संस्कृत के प्रेम काव्यों की परंपरा का प्रभाव भी ग्रहण किया है। ऋतुओं की सरसता के सन्दर्भ में मारवणी के विरह–वर्णन हृदय पर स्थायी प्रभाव डालते हैं।

इसमें नारी हृदय की वेदना सचमुच इठला रही है–

सा धणबलि कुरलाभई भसम ढंढोलि सि आइ।

उंजर नाहि छाई प्राणियउ, था दिस सल रहियाह।

जयचन्द प्रकाश और जयमयंक जस चन्द्रिका : ये दोनों रचनाएँ अभी उपलब्ध नहीं हैं। इनकी चर्चा केवल "राठौड़ां री ख्यात" में मिलती है। प्रथम कृति के रचयिता भट्ट केदार नामक में महाराज जयचन्द के पराक्रम और प्रताप का वर्णन है।

द्वितीय कृति के रचनाकार मधुकर कवि बताए जाते हैं। सुना जाता है कि दयालदास ने इन्हीं रचनाओं के आधार पर कन्नौज का वृतान्त लिखा है अतः किसी समय में इन ग्रंथों का अस्तित्व अवश्य था।

वसन्त विलास –

इस कृति के रचयिता का पता नहीं चल सका है। इसमें 84 दोहों में वसन्त और स्त्रियों पर उसके विलासपूर्ण प्रभाव का मनोहारी चित्रण किया गया है। इस काव्य संग्रह में प्रकृति और नारी दोनों का मदोन्मत्त स्वरूप रस की तीव्र धारा प्रवाहित करता है।

आदिकाल को विद्वानों ने अब तक वीर गाथाओं और धार्मिक उपदेशों का ही युग माना था। वसन्त विलास ने राउलवेल की श्रृंगार भावना को चरम सीमा पर पहुँचा दिया है। इस काव्य के सरस वर्णनों को पढ़कर सूर की श्रृंगार भावना या इसके बाद रीतिकालीन कवियों की श्रृंगारिकता साहित्य में अचानक आ जाने वाली प्रवृत्ति नहीं रह जाती।

कवि लिखता है–

इणि परि कोइलि कूजइ, पूजइँ युवति मणोर विधुर वियोगिनी धूजइँ, कूजइ मयण किसोर।

एक ओर हृदय को सालता हुआ कोयल का मदिर कूजन और दूसरी ओर पति संयुक्ताओं का विलासमय काम पूजन वियोगिनी मधुर प्रेमदाओं को कंपायमान कर देते हैं और वे मनोज की मधुर अनूभूति को करने लगती हैं।

8.4 लौकिक साहित्य की विशेषताएँ :

1. मनोरंजनात्मक काव्य – लौकिक साहित्य चूंकि लोक–काव्य है जिसकी रचना जन–मानस की मनोवृत्ति को ध्यान में रख कर की गई अतः उस काल में वीर रसात्मक प्रवृत्ति का आधिक्य था जबकि विनोदपूर्णता तथा मनोरंजन का अभाव था इस अभाव को इस स्वच्छन्द काव्य धारा ने दूर किया।

पहेली

एक थाल मोती से भरा

सबके सिर पर औंधा धरा

चारों ओर वह थाली फिरे

मोती उससे एक न गिरे

2. समन्वय की प्रवृत्ति – इस काव्य के प्रवर्त्तक अमीर खुसरो की रचनाओं में हमें देश प्रेम की भावना प्रबल रूप से मिलती है। खुसरो ने हिन्दू–मुसलमान एकता को बढ़ाने का प्रयत्न किया। यही नहीं कला पक्ष की दृष्टि से विभिन्न भाषाओं का समन्वय भी उनमें परिलक्षित होता है। उन्होंने फारसी, अरबी, हिन्दी भाषाओं में रचनाएँ की है। शिव कुमार शर्मा "इनके साहित्य में हिन्दु मुस्लिम एकता का प्रथम प्रयत्न है। भाषा संबंधी एकता का आदर्श भी प्रस्तुत किया गया है।"

3. परिवेश के प्रति जागरूकता – इस साहित्य के रचयिता परिवेश के प्रति पर्याप्त जागरुक रहे हैं।

अमीर खुसरो की रचना तुगलकनामा में उन्होंने अपने समय की राजनीतिक व ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख किया है। विद्यापति ने भी अपने समय के राजाओं की वीरता की प्रशंसा करने के लिए ही कीर्तिलता व कीर्तिपताका की रचना की। उनके समय में जो परिवेश, परिस्थितियाँ थी उनका भी सजीव अंकन किया है।

4. गद्य का प्रयोग – इस साहित्य में यद्यपि पद्यों में ही अधिकांशतः रचनाएँ हुई पर गद्य रचना की दिशा में भी कुछ स्फुट प्रयास लक्षित होते हैं। इसमें राउलवेल, उक्ति व्यक्ति प्रकरण, वर्णरत्नाकर आदि उल्लेखनीय हैं। अमीर खुसरो की रचना 'खजायत उलफतूह' गणनीय है।

5. गीति काव्य – विद्यापति की रचनाओं में हमें गीति काव्य के सभी गुण मिलते हैं जिसमें भाव–प्रवणता, मधुरता और आत्मीय तत्व इतना अधिक है कि पढ़ते–पढ़ते पाठक भाव–विभोर हो जाता है।

मेरा मोसे सिंगार करावत, आगे बैठ के मान बढ़ावत

तासे चिक्कन न कोई दीसा, ए सखो साजन न सखी सीसा

6. कथा काव्य के तत्त्व – इन काव्यों में कथा काव्य के तत्त्व हेलिका, पहेलिका, सूक्तियाँ, सुभाषित, कहावत आदि की प्रवृत्ति भी दृष्टिगत होती है।

ढोला मारू रा दूहा दोहों में मारू ढोला से प्रश्न करती है तो ढोला उनके उत्तर देता है। मारू के पूछने पर कि विरहाकुल स्त्री ने रात्रि बिताने के लिए वीणा बजानी आरंभ की पर चांद को देख कर रोक क्यों दी तो ढोला उत्तर देता है–यह देख कर कि वीणा के नाद को सुनकर शशि के रथ के मृग रूक गए और रात रूक गई इसलिए वीणा रख दी। 'मारू ढोला रास' में सुभाषितों का प्रयोग हैं–

गीत शास्त्र विनोदेन कालौ गच्छति धीमताम

व्यसनेज सु मूर्खणं निद्रया कलहैन च।

7. कथानक रूढ़ियां – लौकिक रासो काव्यों में हमें कथानक रूढ़ियां भी प्राप्त होती हैं यह भी इसमें एक विशेष प्रवृत्ति है। कथानक रूढ़ियों में सन्देश वाहक पक्षी मिलन, वियोग, भाग्य परिवर्तन आदि प्रमुखतः समाविष्ट की जाती है।

"ढोला मारू रा दूहा" में क्रौच पक्षी से लेकर ढाढियों तक से अपनी विरह वेदना कही गई है और वही ढोला को जाकर सन्देश देता है तभी मारू ढोला का पुनर्मिलन होता है।

8. भाषा – इस साहित्य की भाषा प्रमुखतः अपभ्रंश, डिंगल पिंगल थी पर लौकिक साहित्य में इसके साथ–साथ फारसी, अरबी, हिन्दी, खड़ी बोली, ब्रज, मैथिली, अवहट्ठ अनेक भाषाओं में रचनाएं हुई। विद्यापति ने तो अवहट्ठ तथा मैथिली में भी रचनाएं लिखी। इस प्रकार इस दृष्टि से यह साहित्य समृद्ध है।

9. अलंकार – विद्यापति के लौकिक काव्यों में हमें अलकारों का समुचित प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। अनुप्रास, यमक, विभावना, विरोधाभास आदि अलंकार दृष्टव्य हैं।

विद्यापति ने नायक के मुख के लिए पंकज तथा आँखों के लिए भ्रमर जैसे रूढ़ उपमान संजोए हैं।

10. छन्द – इस साहित्य में दोहा, चौपाई, पद आदि का प्रयोग किया गया है। विद्यापति के पदों में भाव प्रवणता और अनुभूति की सघनता के साथ–साथ संगीतात्मकता भी विद्यमान रहती है।

11. रस–योजना – लौकिक साहित्य के अन्तर्गत फुटकर रचनाओं में ही अमीर खुसरो ने इस छोटे से कलेवर में करूण, शान्त, हास्य, वीभत्स आदि रसों का सुन्दर संयोजन किया है।

12. कविता की नवीन धाराएं – इस साहित्य में अमीर खुसरो जैसे कवि ने अपनी मौलिकता का परिचय देते हुए कविता को एक नव दिशा दी। पहेलियाँ आदि को खुसरो ने ही साहित्यिक दृष्टि से इतना महत्त्व दिया। पहेलियों के द्वारा उन्होंने कौतुहल, रसिकता और विनोद को जीवन का विषय बनाया।

8.5 सारांश :

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में आदिकालीन लौकिक साहित्य की परम्परा भी पर्याप्त समृद्ध है। वीर गाथा काव्य, धार्मिक काव्य की तरह ही इस काव्य धारा का आदिकाल में अपना निजी, विशिष्टताओं के कारण अपना स्थान है। इस साहित्य के प्रमुख दो कवि अमीर खुसरो तथा विद्यापति बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न सांसारिक समन्वय के सेतु बन्ध, भारतीय संगी व काव्य के उन्नायक ही नहीं जननी–जन्मभूमि के प्रति अगाध प्रेम रखने वाले राष्ट्र प्रेमी भी थे।

इनके साहित्य का महत्व केवल तत्कालीन या समसामयिक दृष्टि से नहीं था बल्कि इससे मानव विनोद और मानव मनोरंजन के नए साधन मिले जिससे आज भी मानव हृदय को आनंद देने में यह साहित्य पूर्णतः समर्थ है। इसी दृष्टि से कि यह साहित्य मात्र मनोरंजनात्मक है इस पर कतिपय विद्वान आरोप भी लगाते हैं।

वस्तुतः देखें तो पाएंगे कि यह आक्षेप या यह आरोप ही इस साहित्य का गुण है और साहित्य को मात्र मनोरंजन की दृष्टि से रचना जो कि उस समय उस वातावरण की माँग भी था इस साहित्य को अन्य साहित्य की कोटि से भिन्न रचना धारा के अधीन ला खड़ा कर देता है। साहित्य मनोरंजन की वस्तु हो गया ऐसा साहित्य में पहली बार हुआ।

यही इस काव्य धारा की मौलिक विशेषता है और इसी कारण इसी दृष्टि से साहित्य का मूल्यांकन होना चाहिए।

8.6 कठिन शब्द (1) पर्याप्त (2) समृद्ध (3) सांसारिक (4) समसामयिक (5) समर्थ (6) आक्षेप (7) फुटकर (8) वीभत्स (9) मौलिकता (10) कौतुहल

8.7 अभ्यासार्थ प्रश्न :

1. आदिकालीन लौकिक साहित्य पर प्रकाश डालें।

_____

_____

_____

_____

_____

2. लौकिक साहित्य की विशेषताओं का विवेचन कीजिए।

_____

_____

_____

_____

3. विभिन्न लौकिक काव्य पर प्रकाश डालें।

4. लोकाश्रित काव्य का परिचय देते हुए उसके विकास पर प्रकाश डालें।

8.8. संदर्भ ग्रन्थ :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ॰ नगेद्र
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ॰ रामकुमार वर्मा

.....

आदिकाल का गद्य साहित्य

9.0. रूपरेखा

9.1. उद्देश्य

9.2. प्रस्तावना

9.3. आदिकाल का गद्य साहित्य

9.3.1 कुवलयमाला कथा

9.3.2 राउलवेल

9.3.3 उक्ति व्यक्ति प्रकरण

9.3.4 वर्ण–रत्नाकर

9.3.5 कीर्तिलता

9.4. सारांश

9.5. कठिन शब्द

9.6. अभ्यासार्थ प्रश्न

9.7. संदर्भ ग्रन्थ

9.1 उद्देश्य

- इस बात को समझेगें कि इस युग में जो साहित्य लिखा गया वह बहुत कम है फिर भी उसके महत्व को कम करके आंकना समीचीन प्रतीत नहीं होता।

9.2 प्रस्तावना

साहित्य मानव–चेतना की अभिव्यक्ति है। चेतना अनुभूति की सघनता तथा चिन्तन के समन्वित आधार पर स्वरूप ग्रहण करती है। अनुभूति का सम्बन्ध हृदय की सम्वेदनशीलता से है और चिन्तन वस्तुतत्व के स्थितिबोध के लिये उठने वाली शंकाओं, जिज्ञासाओं तथा प्रश्नों के बौद्धिक समाधान का दूसरा नाम है। मानव–जीवन के विकास–क्रम में हृदय के सम्वेदनशील तत्वों की क्रियाशीलता पहले देखी जाती है। प्रकृति की भयंकरता देखकर आदिमानव के हृदय में भय का संचार हुआ होगा। प्राकृतिक उपकरणों की क्षण–क्षण परिवर्तित रमणीयता ने मानव–हृदय में रागात्मक वृत्तियों को उद्‌भूत किया होगा और प्रकृति की पोषकता के सतत् अनुभव के उपरान्त ही मानव–मन में उसके प्रति पूज्य–वृत्ति जागी होगी। जीवन–विकास के द्वितीय चरण में मानव ने चिन्तन का आधार लिया होगा। उसको व्यक्त जगत के जटिल रहस्यमय रूपों में बौद्धिक समाधान किया होगा। तर्कों की शृंखला ने विचारों को क्रम दिया होगा। नीतियों और सूक्तियों ने इन्हें सीमाओं में बांधा होगा और चिन्तन अपनी सूक्ष्मताओं में साकार हुआ होगा।

अनुभूति और चिन्तन, चेतना की ये दोनों सीमायें, सत्तागत भेद के कारण अभिव्यक्तिगत शैली–भेद भी स्थापित कर लेती हैं। हृदय की सम्वेदनशील वृत्तियाँ विशिष्ट छन्द, स्वर, लय, गति, प्रवाह तथा ध्वनि के आधार पर मूर्त होकर पदरचना में सौष्ठव ला देती हैं। शब्दों में नाद–सौंदर्य आ जाता है। वे कोमलता, मधुरता, सरलता और कभी पौरुषता में बँधकर थिरक उठते हैं। सम्वेदनात्मक वृत्तियों की यह अभिव्यक्ति–शैली सामान्यः 'पद्य' कही गई है। दूसरी ओर चिन्तन, जटिल समस्याओं के बौद्धिक समाधान, तर्कों की शृंखला, विचारों के क्रम, नियमों की मर्यादा तथा सूक्ष्मता की सीमाओं में बँधकर मूर्त होता है। शब्द–रूपों में संयम आ जाता है। वाक्य–रचना में अर्थ–तत्वों की स्थिति–बोध के लिये सम्बन्ध–तत्वों की परम्परा–विहित प्रणाली का अनुसरण किया जाता है। चिन्तन की छन्दमुक्त इस अभिव्यक्ति–शैली को सामान्यतः गद्य कहा गया है। संस्कृत–साहित्यशास्त्र में गद्य और पद्य की विभाजक रेखा छन्दबद्धता है। पद्य छन्द–बद्ध होता है और गद्य छन्द–बद्धता–रहित। साहित्यदर्पणकार ने 'गद्य' को 'वृत्तगन्धोज्झित' अर्थात् छन्द–बद्धता–रहित शब्दार्थयोजना माना है और इसके चार प्रकार बताये हैं'मुक्तक', 'वृत्तगन्धि', 'उत्कलिकाप्राय' औश्र पूर्णा। 'मुक्तक' गद्य–बन्ध असमस्त पदों में रचा जाता है। 'वृत्तिगन्धि' गद्य–बन्ध में बीच–बीच में वृत्तों की गन्ध आ जाती है। 'उत्कलिकाप्राय' गद्य–बन्ध लम्बे–लम्बे समस्त पदों में लिखा जाता है और 'चूर्णक' गद्य बन्ध में छोटे–छोटे पद होते हैं।

9.3 आदिकाल का गद्य साहित्य

मानवता के इतिहास के प्रथम चरण में मानव–हृदय सम्वेदनात्मक रागमूलक वृत्तियों का प्राधान्य लेकर चलता है। फलस्वरूप अनुभूति–प्रधान चेतना पद्यात्मक शैली में ही अभिव्यक्त होती है। ज्यों–ज्यों जीवन सरलता और भावमयता त्यागकर जटिलता की ओर बढ़ता है, ज्यों–ज्यों जीवन में विचार–तत्वों का प्राधान्य होता है, त्यों–त्यों चिन्तन–चेतना गद्यात्मक शैली में अभिव्यक्त होती है। पद्य का सम्बन्ध सम्वेदना, भाव, रागपरकता एवं कल्पना से है और गद्य मूलतः विचार, तर्क, चिन्तन तथा प्रत्यक्ष जगत् से सम्बद्ध है। यही कारण है कि संसार के साहित्य में 'पद्य' की स्थिति पहले और 'गद्य' का विकास को बाद में देखा जाता है। हिन्दी साहित्य भी उपर्युक्त नियम का अपवाद नहीं है।

मानवता अनागत भविष्य में कौन–सा रूप ग्रहण करेगी इसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यह तो स्पष्ट है कि उसका अतीत रागतत्व–प्रधान रहा है। उसका पथ हृदय के आग्रह से निर्दिष्ट होता रहा है और आज यह भी प्रत्यक्ष है कि वह बुद्धि–तत्व का आधार लेकर अपना पथ प्रशस्त कर रही है। आज के मनीषी जीवन के

सन्तुलित विकास के लिए दोनों के समन्वय की आवश्यकता की ओर भी निर्देश कर रहे हैं। यदि यह सम्भव हुआ तो गद्य और पद्य का शैलीगत पार्थक्य मिट सकता है। दोनों एकाकार हो सकते हैं। हिन्दी का मुक्त छन्द अपने स्वरूप में भविष्य का यह रूप छिपाये हुए है। 'वस्तु' और 'व्यक्ति' के समन्वय पर बल देने वाले विविध कवि–प्रयोग भी आज इसी दिशा की ओर संकेत कर रहे हैं।

साहित्यिक हिन्दी–गद्य का क्रमबद्ध इतिहास उन्नीसवीं शती से प्राप्त होता है। इसके पहले भी राजस्थानी–गद्य ब्रजभाषा–गद्य तथा खड़ीबोली–गद्य की परम्परायें क्षीण, मन्द एवं शिथिल गति से चल रही थीं। हिन्दी गद्य के उपर्युक्त तीनों रूपों में राजस्थानी–गद्य प्राचीनतम माना गया है। इसका सूत्रपात दसवीं शताब्दी के आस–पास माना जाता है। ब्रजभाषा–गद्य का प्रयोग अनुमानतः संवत् 1400 के आसपास से स्वीकार किया गया है। हठयोग, ब्रह्मज्ञान आदि विषयों से सम्बन्धित कुछ गोरखपंथी गद्य–पुस्तकें प्राप्त हुईं। इनमें राजस्थानी और खड़ीबोली–मिश्रित गद्य का प्रयोग किया गया है। ब्रजभाषा–गद्य का सूत्रपात कब हुआ था? इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। खड़ी बोली का प्रयोग यों तो अमीर खुसरो, सन्त कवियों तथा दक्खिनी हिन्दी के कवियों में स्फुट रूप से बराबर होता रहा है, किन्तु उपलब्ध सामग्री के आधार पर खड़ीबोली गद्य की परम्परा पटियाला के रामप्रसाद निरंजनी कृत 'भाषा योगवासिष्ठ' (1741 ई.) से ही प्रारम्भ मानी जा सकती है।

उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व प्राप्त हिन्दी–गद्य के उपर्युक्त तीनों रूप अशक्त थे। उनमें जीवन की व्यावहारिक समस्याओं से सम्बन्धित तर्क–पुष्ट प्रौढ़ विचारों को वहन करने की क्षमता नहीं की। राजस्थानी–गद्य अपेक्षाकृत समृद्ध अवश्य कहा जाता है, किन्तु उनकी समृद्धि भी विवेचन, तर्क, युक्ति, चिन्तन तथा मनन से पुष्ट सूक्ष्म विचारों की सीमा का संस्पर्श नहीं कर सकी थी। हिन्दी–गद्य की इस अप्रौढ़ता के पर्याप्त कारण थे।

अपभ्रंश के ध्वंसावशेषों से मिलकर जब हिन्दी–साहित्य अपना स्वरूप निर्माण कर रहा था उस समय मुख्यतः उसे बौद्ध सिद्धों और आचार्यों का ही आश्रय मिला था। बौद्ध सिद्धों (700–1143 ई.) तथा जैन आचार्यों (943–1143 ई.) दोनों का सम्बन्ध जन–जीवन से केवल धार्मिक दृष्टि से ही था। धार्मिक उपदेशों को जनता तक पहुंचाने के लिए इन दोनों ने पद्यात्मक अभिव्यक्तियों को ही मान्यता दी।

यदि कभी किसी ने गद्य का प्रयोग किया भी होगा तो उसमें वैचारिक प्रौढ़ता का अभाव रहा होगा, क्योंकि धार्मिक आचार–विचार के लिए अधिक सशक्त गद्य की आवश्यकता नहीं होती।

चारण कवियों द्वारा रचित 'रासो' ग्रन्थों में 'वीरत्व' और 'प्रेम' की ही अभिव्यंजना प्रधानता स्वीकृत थी। काव्य की इस विशिष्ट आख्यानक परम्परा को स्वीकार करके चलने वाले कवि आश्रयदाताओं के चरित्रों को व्यापकत्व और अमरत्व दोनों प्रदान करना चाहते थे। इसलिए गद्य की ओर उनका ध्यान नहीं गया।

आदिकालीन हिन्दी के गद्य–रूपों को समझने के लिए आवश्यक है कि हम हिन्दी के आदिकालीन गद्य की स्थिति और स्वरूप पर विचार कर लें क्योंकि यही गद्य बाद के सभी गद्य–रूपों की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। आदिकालीन गद्य के स्वरूप विकास की सूचना देने वाली प्रमुख कृतियाँ निम्नलिखित हैं :–

1. उद्योतनसूरी–कृत कुवलयमाला कथा (नवीं शती)
2. रोडकवि कृत राउलवेल (ग्यारहवीं शती)
3. दामोदर शर्मा कृत उक्तिव्यक्तिप्रकरण (बारहवीं शती)
4. ज्योतिरीश्वर ठाकुर कृत वर्ण रत्नाकर (चौदहवीं शती)
5. विद्यापति कृत कीर्तिलता (चौदहवीं शती)

वस्तुतः हिन्दी साहित्य के आदिकाल में जो साहित्य लिखा गया है, उसमें गद्य साहित्य को किसी भी तरह से उपेक्षित नहीं किया जा सकता है। हां, यह सत्य है कि इस युग में जो गद्य साहित्य लिखा गया, वह बहुत कम है, फिर भी उसके महत्व को कम करके आंकना समीचीन प्रतीत नहीं होता है।

श्री अगरचन्द नाहटा ने ''जनरल ऑफ द यू.पी. हिस्टोरिकल सोसाइटी'' की 12वीं जिल्द में ''तरूणप्रभ सूर्य'' नामक चौदहवीं शती के जैन विद्वान की एक गद्य रचना ''दर्शाणभद्र कथा'' की सूचना प्रकाशित कराई थी। इसे भी आदिकालीन गद्य की एक रचना स्वीकार किया गया है किन्तु अधिकारी विद्वानों ने इसे अधिक महत्व नहीं दिया है। आदिकाल में जो प्रारम्भिक गद्य लिखा गया, उसमें जिन रचनाओं का विशेष महत्व है–उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

9.3.1 कुवलयमाला कथा

आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी कृति ''हिन्दी साहित्य का आदिकाल'' में नवीं शताब्दी की एक रचना ''कुवलयमाला कथा'' का उल्लेख अवश्य किया है। इसमें कतिपय प्रसंगों के अन्तर्गत तत्कालीन बोलचाल की भाषा के उदाहरण कम ही सही, पर मिलते अवश्य हैं। उन्होंने एक उद्धरण भी दिया है जो इस प्रकार है :

'' भो भो भट्उत्ता। तुम्हें ण याणह यो राजकुले वृत्तांत?

तेहिं भणियं–भण हे व्यघ्रस्वामि! क वार्ता राजकुले?''

9.3.2 राउलवेल

राउलवेल गद्य–पद्य–मिश्रित चम्पू काव्य का उदाहरण प्रतीत होती है। इसके रचनाकर का नाम रोड़ा बतलाया है। यह एक ऐसी कृति है जो शिलालेखों के रूप में प्राप्त हुई है। ये शिलालेख प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय बम्बई में सुरक्षित हैं। इनका पाठ भी प्रकाशित कराया जा चुका है। अधिकांश विद्वानों ने इसका रचनाकाल दसवीं शताब्दी माना है, किन्तु डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार यह ग्यारहवीं शताब्दी की रचना है। इसमें नायिका राउल के नख–शिख का आकर्षक वर्णन किया गया है। पहले तो रचनाकार ने उसके सौन्दर्य का वर्णन पद्य में लिखा है, तत्पश्चात् गद्य में भी प्रस्तुत किया है। यदि ''राउलवेल'' की भाषा पर दृष्टिपात करें तो उसमें हिन्दी की विभिन्न बोलियों के शब्द सरलता से मिल जाते हैं। शब्द–प्रयोग में राजस्थानी शब्दों की प्रधानता है। शैली में अलंकृति है और नख–शिख वर्णन प्रारम्भिक काल की रचना होने के बावजूद आकर्षक बन पड़ा है। इस कृति में उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकारों का आकर्षक प्रयोग देखने को मिलता है।

9.3.3 उक्ति–व्यक्ति–प्रकरण

इस कृति के रचयिता दामोदर शर्मा बतलाए जाते हैं। ये प्रसिद्ध गहड़वार नरेश गोविन्दचन्द्र के सभा–पण्डित थे। इनका शासनकाल 1154 ई. स्वीकार किया गया है। इस ग्रंथ के विषय में डॉ. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने यह टिप्पणी की है कि ''उक्ति–व्यक्ति–प्रकरण एक अत्यन्त महत्वपूर्ण व्याकरण ग्रंथ है। इससे बनारस और आस–पास के प्रदेशों की संस्कृति और भाषा आदि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इतना ही नहीं इस ग्रंथ से उस युग के काव्य–रूपों के सम्बन्ध में भी थोड़ी बहुत जानकारी प्राप्त होती है।'' डॉ. मोतीचन्द भी आचार्य द्विवेदी के मत के समर्थन में हैं। इस ग्रंथ की भाषा का एक उदाहरण देखिए – ''वेद पढ़ब, स्मृति अभ्यासिब, पुराण देखब, धर्म करब।'' इससे यह प्रमाणित होता है कि इसमें गद्य और पद्य–दोनों शैलियों की हिन्दी भाषा में तत्सम शब्दावली के प्रयोग की प्रवृत्ति थी। यह भी ज्ञात होता है कि हिन्दी व्याकरण की ओर उस समय ध्यान देना प्रारम्भ हो गया था।

9.3.4 वर्ण–रत्नाकार

यह मैथिली हिन्दी में रचित गद्य की एक महत्वपूर्ण रचना है। इसके रचनाकार मैथिली कवि ज्योतिरीश्वर माने गए हैं। यह कृति डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी तथा बबुआ मिश्र द्वारा सम्पादित होकर एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल से सन् 1940 ई. में प्रकाशित हुई थी। इसे गद्य की प्रारम्भिक रचनाओं में महत्वपूर्ण बतलाया गया है। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने इस कृति पर टिप्पणी करते हुए लिखा है, ''यह है ज्योतिरीश्वर नामक मैथिल कवि लिखित 'वर्ण–रत्नाकर''', जिसमें नाना श्रेणी के मनुष्यों, मानव–व्यापारों, सभाओं और उत्सवों आदि के वर्णन करने के ढंग का उल्लेख मिलता है। प्राचीन मैथिली भाषा के अध्ययन की दृष्टि से तो पुस्तक अत्यन्त उत्तम है ही, काव्य–रूपों के अध्ययन की दृष्टि से भी बहुत उपयोगी है।'' इस ग्रंथ की उपयोगिता और महत्ता को रेखांकित करते हुए इस कृति को डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी ने संस्कृत के सुप्रसिद्ध ग्रंथ ''मानसोल्लास'' के समकक्ष स्वीकार किया है। इसका रचनाकाल 14वीं शताब्दी माना गया है। एक उदाहरण देखिए जो रचनाकार की आलंकारिक भाषा और सौंदर्य–वर्णन विषयक कुशलता को सूचित करता है। इस उदाहरण में तत्सम शब्दावली के प्रयोग की प्रवृत्ति भी देखने को मिलती है– ''पुन कयिसति नायिका। कामदेव नगर अइसन शरीर। निष्कलंक चाँद अइसन मुह। कवल खंजीरीर अइसन लोचन। यमुना के तरंग अइसन भुजइ।'' इसी प्रकार ये पंक्तियाँ भी देखिए– ''उज्जवल कोमल लोहित सम सुंतल सालंकार पंचगुण संपूर्ण चरण अकठिन सुकुमार गज हस्त प्राय जानु युगल पीन मांसल कूर्म्म पृष्ठाकार श्रोणी गंभीर दक्षिणावर्त्त मण्डलाकृति नाभि क्षीण सुकुमार वलित तिनि गुणे समन्वित पुष्टिग्राह वेकण्य स्याम सदृश सुकुमार सुक्ष्म सुकोष दीर्घ छह गुणे सम्पूर्ण कोमलता।'' इस प्रकार स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल में गद्य–लेखन के जो ये नमूने उपलब्ध होते हैं, वे समय की हवा का स्पर्श पाकर बहुत वर्षों के बाद पल्लवित और पुष्पित हुए हैं।

9.3.5 कीर्तिलता

यह विद्यापति द्वारा रचित एक वीरगाथात्मक काव्य है। इसमें विद्यापति ने अपने आश्रयदाता कीर्तिसिंह का कीर्तिगान किया है। निश्चय ही यह चौदहवीं शती में रचित है। इसमें बीच–बीच में गद्य का भी प्रयोग किया गया है। इसमें प्रयुक्त गद्य का एक नमूना नीचे उद्धृत है।

''तान्हि वेश्यन्हि करो मुखसार मण्डनते अलक तिलका पत्रवली खंडन्ते। दिव्याम्बर पिन्धन्ते, उभारि–उभारि केशपास बन्धन्ते सखिजन। प्रेरन्ते, हँसि हेरन्ते। सआनी लानुमी पातरी पतोहरी, तरूणी। तरट्टी वन्ही, विअख्खवणी परिहास पेषणी, सुन्दरी सार्थ। जबे देखिअ तबे मन करे तेसरा लागि तीनू उपेष्खिआ।।''

''वे वेश्यायें मुख को सार (चन्दन लेपादि) से मंडन करतीं। अलकों में तथा कपोल स्तनादि पर कुंकुम चन्दनादि से पत्रावली (चित्र) बनाती। दिव्या वस्त्र धारण–करतीं, उभार–उभारकर केशपास बाँधतीं, दूतियों को प्रेरित करती कि वे नायक के पाये जायें। हँसकर देखतीं। तब उन सयानी लावण्यमयी, पतली, कृशोदरी, तरुणी, चंचला, बनी (वनिता) विचक्षणी (चतुर) परिहास प्रगल्भा, सुन्दरी नायिकाओं को देखकर इच्छा होती है कि तीसरे पुरुषार्थ (काम) के लिए अन्य तीनों छोड़ दिये जायें।''

9.4 सारांश

उपर्युक्त प्रमुख गद्य कृतियों के अतिरिक्त जैन लेखकों द्वारा तेरहवीं चौदहवीं शती की लिखी हुई कई धार्मिक एवं कथात्मक गद्य रचनायें भी उपलब्ध हैं। किन्तु आदिकालीन गद्य की प्रकृति को समझने के लिए उनका अलग से कोई विशेष महत्व नहीं है। निश्चय ही उपर्युक्त गद्य–रचनाओं में परवर्ती हिन्दी–गद्य का पूर्वरूप विद्यमान है। तत्सम

शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति का बढ़ना, संश्लिष्ट पदों के स्थान पर विश्लिष्ट पदों के प्रयोग को विशेष महत्व देना, विभक्तियों का लोप और परसर्गों का प्रयोग–बाहुल्य, कृदन्तों ये क्रियापदों के निर्माण की प्रवृत्ति, संयुक्त क्रियाओं के प्रयोग में वृद्धि ध्वनि–परिवर्तन के अन्तर्गत 'स्वर–संकोचन' की प्रवृत्ति का बढ़ना आदि ऐसी विशेषतायें हैं जो परवर्ती हिन्दी गद्य में विकसित होकर उसे स्वतंत्र भाषा–रूप प्रदान करती है। अपभ्रंश (अवहट्ठ) या पुरानी हिन्दी की उपर्युक्त गद्य–रचनाओं में जो विशेषताएँ लक्षित होती हैं वे कम या अधिक पश्चिमी, मध्यादेशीय तथा पूर्वी सभी क्षेत्रों की रचनाओं में लक्षित होती है। किन्तु आगे चलकर क्षेत्रीय विशेषताओं के बढ़ने से इनके आधुनिक रूप अलग–अलग बोलियों–गुजराती, मराठी, बँगला, मगधी, राजस्थानी, ब्रजभाषा, खड़ीबोली, अवधी आदि–में ढल गए।

9.5 कठिन शब्द (1) हस्तक्षेप (2) संकीर्णता (3) आध्यात्मिक (4) अटूट (5) रूढ़िवादी (6) प्रशिक्षण (7) पौराणिक (8) पद्धति (9) उत्कर्ष (10) दार्शनिक

9.6 अभ्यासार्थ प्रश्न :

1. आदिकालीन गद्य साहित्य पर प्रकाश डालिए।

_____

_____

_____

_____

_____

2. आदिकालीन गद्य साहित्य को किन दो श्रेणियों में बांटा गया, विस्तारपूर्वक प्रकाश डालिए।

_____

_____

_____

_____

_____

3. आदिकालीन 'वर्ण रत्नाकर' का विवेचन कीजिए।

9.7 संदर्भ ग्रन्थ :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – हुकुमचन्द राजपाल
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ॰ रामसजन पाण्डेय
4. हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास– राजनाथ शर्मा

.....

भक्तिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, सांस्कृतिक चेतना एवं भक्ति आंदोलन

10.0. रूपरेखा

10.1. उद्देश्य

10.2. भूमिका

10.3. भक्तिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

10.4. परिस्थितियाँ

10.5. सांस्कृतिक चेतना और भक्ति आन्दोलन

10.6. सारांश

10.7. प्रश्नावली

10.8. पठनीय संदर्भ ग्रन्थ

10.1. उद्देश्य :

प्रस्तुत अध्याय में हिन्दी साहित्य के सबसे वृहद् काल भक्तिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विस्तृत अध्ययन किया गया है। इस काल को उक्त नामकरण देने के पीछे जिन परिस्थितियों का हाथ रहा, उत्तर और दक्षिण दोनों के भक्त कवियों की परम्पराओं तथा आंदोलनों की भूमिका रही उनका परिचय हमें इस अध्याय में प्राप्त होता है। इसके साथ ही इस अध्याय का उद्देश्य विद्यार्थियों को भक्तिकाल में उत्तर और दक्षिण के सन्तों के दार्शनिक और जागरुक दृष्टिकोण के अन्तर्गत तत्कालीन व्यवस्था की संक्रमित परिस्थितियों को सामने लाना तथा उनके इस काल में किए गये संघर्ष और विद्रोहात्मक प्रवृतियों को भी सामने लाना है।

10.2. भूमिका :

'भक्ति' शब्द 'भज' धातु में क्तिन प्रत्यय लगने से बनता है जिसका अर्थ है अनुराग, श्रद्धा, सम्मान, सेवा। आराध्य के प्रति अनुरक्ति का नाम ही भक्ति है। इस अनुरक्ति में श्रद्धा, सम्मान और सेवा की भावनाएं स्वाभाविक रुप से निहित रहती हैं। 'भगवद् गीता' में भगवान् के प्रति मन और बुद्धि को अर्पित करने वाले व्यक्ति को ही भक्त कहा गया है। 'नारद

भक्ति सूत्र' में भक्ति को परम प्रेमरूपा और अमृत स्वरूपा कहा गया है। ''सा त्वस्मिन परम प्रेमरूपा, अमृत स्वरूपा च'' शांडिल्य भक्ति सूत्र के अनुसार ईश्वर से परम अनुरक्ति ही भक्ति है। नारद भक्ति सूत्र के अनुसार यह प्रेमाभक्ति कर्म, ज्ञान और योग से भी बढ़ कर है, क्योंकि वह साधन न होकर स्वयं फलरूपा है। वल्लभाचार्य ने भगवान् में महात्मयपूर्वक सुदृढ़ और सतत् स्नेह को ही भक्ति माना है। आचार्य शुक्ल के अनुसार श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है। जिसमें उन्होंने प्रेम को व्यक्तिगत और श्रद्धा को सामाजिक भाव माना है। परमात्मा के निर्गुण या सगुण रूप में महानता के दर्शन करते हुए उस महत्ता के प्रति श्रद्धा से अवनत होना ही भक्ति है। महत्ता के प्रति इस पूजा में, बुद्धि में महान जीवन–मूल्यों के प्रति असीम आस्था व्यक्त होती है। इसीलिए शुक्ल जी ने भक्ति को धर्म की रसात्मक अनुभूति माना है। हिंदी विद्वान् आचार्य शुक्ल की भक्ति धारणा का विरोध शाब्दिक रूप में अवश्य करते हैं पर वे इससे अधिक सटीक धारणा प्रस्तुत नहीं कर पाए। अतः यह मानना उचित है कि भक्ति के विकास के स्त्रोत प्राचीन धर्म–साधना और साहित्य में मिलते हैं। शांडिल्य भक्ति सूत्र में ''भक्ति प्रमेया श्रुतिभ्यः कहकर संकेत किया गया है कि भक्ति के बीज वेदों में विद्यमान है।''

10.3. भक्तिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि :

भारतीय धर्म–साधना के इतिहास में भक्ति–मार्ग का विशिष्ट स्थान है, यद्यपि संहिता भाग के रचना–काल तक उसके अस्तित्व का कोई परिचय नहीं मिलता। वैदिक युग में यज्ञ–अथवा कर्मकाण्ड के माध्यम से धर्मानुष्ठान हुआ करते थे। आगे लोग प्रायः प्राकृतिक वस्तुओं अथवा घटनाओं के मूल में किसी देवता की कल्पना कर लेते थे और उसे प्रसन्न रखने के लिए यज्ञादि का आयोजन करते थे। विनय अथवा प्रार्थना भी उनके दैनिक जीवन की उल्लासमयी अभिव्यक्ति थी। उनका ध्यान मुख्यतः ऐहिक सुखों की प्राप्ति पर केन्द्रित था और वे अन्तःकरण की साधना की अपेक्षा बाह्य विधानों का अनुसरण करने की ओर अधिक प्रवृत रहते थे, फिर भी, शुभाशुभ परिणामों में उनका विश्वास था, जिस कारण उनके यज्ञादि कर्मकाण्ड श्रद्धा से अनुप्राणित रहते थे। श्रद्धाविहीन यज्ञ का कोई अर्थ न था। इसी से श्रद्धामूलक भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ और आगे चलकर बहुदेववाद भी एकदेववाद में परिणत हो गया। भक्त के लिए यह स्वाभाविक हो गया कि वह बिखरी हुई शक्तियों में सामंजस्य लाकर अपनी दृष्टि किसी एक में निर्विष्ट करे। फलस्वरूप बहुदेवों की कल्पना सिमटकर धीरे–धीरे एक में ही समाहित होने लगी और कहा जाने लगा कि विद्वान लोग उसी (सत) को इन्द्र, मित्र, वरुण या अग्नि के नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार सार्वभौम मौलिक एकता के प्रतिपादन द्वारा परमात्व–तत्त्व की प्रतिष्ठा हो गयी। प्राकृतिक शक्तियों के दैवीकरण के बाद देवताओं का मानवीकरण होने लगा, जिसकी परिणति अवतारवाद में हुई। हिंस्र तथा कठोर वृत्तियों का स्थान क्रमशः कोमल वृत्तियां लेने लगीं, जिसका प्रभाव भक्ति–साधना की विधियों पर पड़ना स्वाभाविक था। श्रमण–संस्कृति द्वारा इस प्रवृत्ति को पर्याप्त प्रश्रय तथा प्रोत्साहन मिला।

आर्यों की अनेक सभाएं तथा परिषदें हुआ करती थीं जिनमें उपस्थित किये गये तर्क–वितर्क एवं दार्शनिक विवेचन के परिणामस्वरूप ब्राह्मण, आरण्यक, तथा उपनिषद नामक भागों की रचना हुई। जीवात्मा तथा अव्यक्त प्रकृति की भावना का उदय सम्भवतः इसी अवधि में हुआ। कर्मफल तथा जन्मान्तरवाद की कल्पना के आधार पर कर्म–बन्धन से जीवात्मा को उन्मुक्त करने के उपाय सोचे जाने लगे। कर्म–जाल से पृथक् रहकर परमात्म–चिन्तन में तल्लीन रहने के लिए तपादि की व्याख्या हो गयी। भक्ति–भावना आर्यों के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचारों के फलस्वरूप क्रमशः श्रद्धा–उपासना से विकसित होकर उपास्य भगवान के ऐश्वर्य में भाग लेना (भज=भाग लेना) जैसे व्यापक भाव में परिणत हुई। वैसे 'भक्ति' का सर्वप्रथम उल्लेख श्वेताश्वेतर 'उपनिषद' (6133) में मिलता है। यह भी उल्लेखनीय है कि आर्यों के भारत आने पर उन्हें यहां के किन्नर, यक्ष, गन्धर्व, असुर, व्रात्य, विद्याधर आदि जातियों की नागर संस्कृति का परिचय मिला था। आर्य लोग मुख्यतः सैनिक जीवन के अभ्यासी थे और उनका जातीय जीवन ग्रामीण संस्कृति पर

आधारित था। इन दोनों के मिलन और पारस्परिक आदान–प्रदान से भारतीय संस्कृति का विकास हुआ, जिसकी छत्र–छाया में भक्ति–परम्परा का बीज विकसित हुआ।

वैदिक भक्ति–परम्परा के समानान्तर दक्षिण भारत में द्रविड़– संस्कृतिगर्भित पृथक् भक्ति–परम्परा का सूत्रपात हो चुका था। यह परम्परा ईसा–पूर्व कई शताब्दियों से चली आ रही थी, जिसमें शरणागति और समर्पण की भावना प्रबल रूप में पायी जाती थी और जो कालान्तर में दाक्षिणात्य आचार्यों द्वारा उत्तर भारत में भी लोकप्रिय बनी। वास्तव में ईस्वी सन् के प्रारम्भिक काल में ही उत्तर और दक्षिण की दोनों परम्पराओं का मिलन हो गया था, जिसका निदर्शन आङयारों तथा अडियारों के भक्ति–साहित्य में सुलभ है। इसके अन्तर्गत 'पूजा' को भक्ति का मुख्य साधन माना गया है, जिसे 'शिव' की भांति तमिल भाषा का शब्द ठहराया गया है। 'मायोन' तथा 'तिरुमाल' को भी विष्णु का पर्याय बतलाया जाता है। स्वयं 'भागवत' को भी कन्नड़ प्रदेश में रचित कहा गया है। यह ग्रन्थ मध्यकालीन भक्ति–परम्परा का मुख्य प्रेरणा–स्त्रोत बना।

भक्ति–भावना के सन्दर्भ में पंच रात्र भी कम उल्लेखनीय नहीं हैं। इनका मुख्य उद्देश्य भक्ति–मार्ग के साधन का निरूपण करना रहा है। संहिताओं ने देवालयों के निर्माण, उनमें आराध्य देव की प्रतिष्ठा और विधिवत पूजन–अर्चन की व्यवस्था दी थी। इससे अवतारवाद को प्रचुर प्रश्रय मिला। ईसाई मत और इस्लाम धर्म की देन के रूप में भक्ति की स्थापना बहुत पहले से ही अप्रमाणित हो चुकी है। इधर श्रमण–संस्कृति और साहित्य के आधुनिक विद्वानों ने भी परम्परा से अपना प्राचीन सम्बन्ध–सूत्र दिखलाने के यत्न किये हैं, जिन्हें किसी एक ही उत्स के भिन्न–भिन्न स्रोत समझा जा सकता है। फिर भी, इनमें रागात्मक शरणागति और समर्पण के वैसे विविधतापूर्ण भाव विकसित नहीं हो पाये जिनके दर्शन एतद् विषयक साहित्य में अन्यत्र सुलभ हैं।

हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में भक्तिकाल से तात्पर्य उस काल से है जिसमें मुख्यतः भागवत धर्म के प्रचार तथा प्रसार के परिणामस्वरूप भक्ति–आन्दोलन का सूत्रपात हुआ था और उसकी लोकोन्मुखी प्रवृत्ति के कारण धीरे–धीरे लोक–प्रचलित भाषाएं भक्ति–भावना की अभिव्यक्ति का माध्यम बनती गयीं और कालान्तर में भक्ति विषयक विपुल साहित्य की बाढ़ सी आ गई। परन्तु यह भावना वैष्णव धर्म तक ही सीमित न थी शैव, शाक्त आदि धर्मों के अतिरिक्त बौद्ध और जैन सम्प्रदाय तक इस प्रवाह से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। इस काल में भक्ति परक रचनाओं की ही प्रधानता रही है। कुछ विद्वानों ने इस काल को हिन्दी साहित्य का 'स्वर्ण युग' भी कहा है। उनकी दृष्टि में हिन्दी काव्य का श्रेष्ठतम अंश इसी काल में उपलब्ध होता है। वस्तुतः निर्गुण और सगुण दो धाराओं में प्रवाहित होने वाला यह काव्य गुणवत्ता और परिमाण दोनों दृष्टियों से अत्यन्त समृद्ध है। काव्य–विधाओं के आधार पर भी इस काल को हम अन्य कालों के काव्य से अधिक समृद्ध पाते हैं। जिस समय इस काल के लिए 'स्र्वण युग' शब्द का प्रयोग किया गया था तब उन विद्वानों के समक्ष वर्तमान युग का प्रचुर साहित्य नहीं था अर्थात् यह शब्द आज से लगभग अर्ध शताब्दी पूर्व प्रयोग में आया था और तत्कालीन सीमाओं में भक्तिकाल से श्रेष्ठ काव्य की कल्पना करना सम्भव नहीं था। इस काल में उन सन्त कवियों का स्थान है जिन्होंने एकेश्वरवाद में आस्था व्यक्त करते हुए निर्गुण–निराकार ईश्वर की भक्ति का सन्देश दिया। भक्तिकाल के सभी कवियों की दृष्टि सामाजिक–राजनीतिक सुधार के प्रति थी। भक्ति–साहित्य सामंत विरोधी लोक जागरण का क्रांतिकारी साहित्य है। वस्तुतः इसकी उत्पत्ति के पीछे एक ओर तो हिन्दू समाज का अपनी भीतरी विकृतियों से रुग्ण होना था तथा दूसरी ओर विधर्मियों के तलवार के बल पर धर्म प्रचार से आत्मरक्षा हेतु सचेत होना था। भक्तिकाल में हिन्दू–मुस्लिम दोनों जातियों में उदात्त मानव–मूल्यों की प्रतिष्ठा द्वारा उनके धर्म के भेद को मिटाने का प्रयत्न किया गया एवं समाज के इन दोनों महत्वपूर्ण वर्गों की विषमताओं और

दुर्बलताओं पर प्रहार करके पूरे समाज को सुधारने की चेष्टा और सैद्धान्तिक स्तर पर तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था और मुसलमान शासकों की अन्यायी नीतियों के विरुद्ध आक्रोश व्यक्त किया गया तथा हिंसा, दुराचार, अनाचार, सामाजिक कुरीतियों, भेदभाव और अन्धविश्वासों के प्रति भी आवाज उठाई गयी। निम्न और अछूत समझे जाने वाले भक्तों को भी भक्तिकाल में भक्तों में सम्मिलत होने की छूट मिली। युग के दवाब ने उन्हें प्रगतिशील तत्त्वों को अपनाने की छूट दी। भारतीय सन्तों और सूफी कवियों ने साम्प्रदायिक सीमाओं से ऊपर उठकर हिन्दू धर्म, दर्शन, संस्कृति और साहित्य के प्रति उदारतावादी दृष्टिकोण अपनाया तथा ईश्वर के निराकार रूप की प्रतिष्ठा की। इस काल की दो प्रमुख शाखाओं के अन्तर्गत उत्पन्न चारों काव्यधाराओं अर्थात् सन्त, प्रेम, राम तथा कृष्ण में ईश्वर अराधना के लिए भक्ति पर समान बल दिया गया यद्यपि सन्त काव्य के प्रतिनिधि कबीर के राम निराकार है और वे ज्ञानगम्य है किन्तु भक्ति के बिना उसकी प्राप्ति नहीं होती, प्रेम काव्य के प्रतिनिधि जायसी ने शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत इन चारों साधनों को भगवद् भक्ति के लिए आवश्यक बताया। इसी प्रकार राम एवं कृष्ण धारा में वैधी तथा प्रेमा भक्ति का विशद चित्रण मिलता है। भक्तिकाल में ही उत्तर और दक्षिण के सन्तों के दार्शनिक और जागरुक दृष्टिकोण के अन्तर्गत तत्कालीन अव्यवस्था, अन्याय और रूढ़ियों के खिलाफ विभिन्न मतों, दार्शनिक सिद्धान्तों और मतों की भी उत्पत्ति हुई। धर्म और उसके मूलाधार की नई व्याख्या करने वालों में शंकर नाथमुनि, यमुनाचार्य, रामानुज एवं मठास्वामी प्रमुख है। उनकी नवीन धारणाओं ने सम्पूर्ण भारत में प्रचार पाया था जिसके फलस्वरूप भारत में भक्ति आन्दोलन की पृष्ठभूमि तैयार हुई तथा जिसने भारतीय सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन को झकझोर कर रख दिया था। ब्राह्मण धर्म की कर्मकाण्ड पद्धतियों तथा कठोर वर्णाश्रमनीति की प्रतिक्रिया स्वरूप इन्होंने जाति–पाति और ऊंच–नीच के भेद–भाव को भी मिटा कर रख दिया। निर्गुण ब्रह्म की उपासना के साथ–साथ समाज में सगुण आदर्श को प्रस्तुत करने के पीछे भक्तिकाल में वस्तुतः समाज के नियमन की भावना चल रही थी। इसके लिए दो प्रकार के आदर्शों को प्रस्तुत किया गया। राम और कृष्ण को। दोनों को ही पूर्ण ब्रह्म का प्रतीक मान, उनके चरित्रों में लौकिक और अलौकिक शक्तियों, सम्पूर्ण उदात्त मानवीय गुणों, दूरदर्शी राजनीतिक दृष्टि, सामाजिक नियमन की अद्‌भुत क्षमता और लोकहित की भावना इत्यादि का समन्वय कर उन्हें आदर्श मानव के रूप में प्रस्तुत किया गया।

भक्तिकाल में रचित साहित्य अपने पूर्ववर्ती तथा परवर्ती कालों के साहित्य से निश्चित रूप से उत्तम है। यह साहित्य एक महती साधना और प्रेमोल्लास का संदेश है। जहां जीवन के सभी विषाद, नैराश्य और कुंठाएं धुल जाती हैं। भारतीय जनता भक्ति–साहित्य के श्रवण से उस युग में आशान्वित होकर सांत्वना प्राप्त करती रही है। आज भी उसे तृप्ति मिल रही है। भविष्य में भी यही साहित्य उसके जीवन का सम्बल बना रहेगा। भक्तिकाल में रचित साहित्य जहां उच्चतम धर्म की व्याख्या करता है। वहां उसमें उच्च कोटि के काव्य के भी दर्शन होते हैं। यह साहित्य परम भक्ति का साहित्य है, इसमें आडम्बरविहीन एवं सुचितापूर्ण सरल जीवन की सरल झांकी है। डा. श्याम सुन्दर दास के शब्दों में, ''जिस युग में कबीर, जायसी, तुलसी, सूरदास जैसे रससिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्य वाणी उनके अन्तः करणों से निकल कर देश के कोने–कोने में फैली थी। उसे साहित्य के इतिहास में सामान्यतः भक्ति युग कहते हैं। निश्चित ही वह हिन्दी–साहित्य का स्वर्ण युग था।''

हिन्दी के कई विद्वानों का मत है कि हिन्दी साहित्य में भक्ति काल का आविर्भाव राजनीतिक पराजय का परिणाम है जबकि दूसरे कुछ विद्वान इसे एक अविच्छिन्न सांस्कृतिक, धार्मिक एवं सामाजिक भावना का परिणाम मानते हैं। इनके लिए यह एक आन्दोलन है और महाआन्दोलन है जोकि भारतीय साधना के इतिहास में अप्रतिम है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा बाबू गुलाबराय ने भक्तिकाल के उद्‌भव अथवा आन्दोलन को पराजित मनोवृत्ति

का परिणाम तथा मुस्लिम राज्य की प्रतिष्ठा की प्रतिक्रिया माना है। आचार्य शुक्ल जी लिखते हैं, ''अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।'' बाबू गुलाबराय का मत है कि ''मनोवैज्ञानिक तथ्य के अनुसार हार की मनोवृति में दो बातें सम्भव हैं या तो अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता दिखाना या भोग–विलास में पड़कर हार को भूल जाना। भक्ति काल में लोगों में प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति पाई गई।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भी भारतीय धर्म साधना में भक्ति का उदय कब हुआ और क्यों हुआ, इस विषय पर अपने विचार अभिव्यक्त किए हैं। पाश्चात्य विद्वान बेवर, कीथ, ग्रियर्सन तथा विलसन इत्यादि ने भक्ति को ईसाई धर्म की देन बताया है। बेवर महोदय ने महाभारत में वर्णित 'श्वेत द्वीप' का अर्थ गौरांग जातियों का निवास स्थान (यूरोप) करते हुए तथा जयन्तियां मनाने की प्रथा का सम्बन्ध ईसाईयत से स्थापित करते हुए भारतीय भक्ति भावना को ईसाई धर्म के प्रभाव से विकसित सिद्ध करने का प्रयास किया है। ग्रियर्सन का कहना है कि ईसा की दूसरी–तीसरी शताब्दी में कुछ ईसाई मद्रास आकर बस गए थे जिनके प्रभाव से भक्ति का विकास हुआ। प्रो. विल्सन ने भक्ति को अर्वाचीन युग की वस्तु सिद्ध करते हुए कहा कि विभिन्न आचार्यों ने अपनी प्रतिष्ठा के लिए इसका प्रचार किया। एक अन्य पाश्चात्य विद्वान ने तो कृष्ण को क्राइस्ट का रूपान्तर कहकर अपनी कल्पना शक्ति का परिचय दिया है। कुछ विद्वानों ने तो यहां तक भी कह दिया कि समूचे का समूचा भक्तिकाल अथवा इसका आन्दोलन मुस्लिम संस्कृति के सम्पर्क की देन है और शंकराचार्य, निम्बार्क, रामानुज, रामानन्द, वल्लभाचार्य, आलवार सन्त तथा वीरशैव और लिंगायत आदि शैव सम्प्रदायों की दार्शनिक मान्यताओं पर भी मुस्लिम प्रभाव है। परन्तु भारतीय विद्वानों – श्री बालगंगाधर तिलक, श्रीकृष्ण स्वामी आयंगर और डा. एच राय चौधरी ने पाश्चात्य विद्वानों तथा अन्य विद्वानों के उक्त मतों का खण्डन करते हुए भक्ति का मूलोद्‌गम प्राचीन भारतीय स्त्रोतों से सिद्ध किया है।

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य में भक्ति के उदय अथवा भक्तिकाल की पृष्ठभूमि को न तो पराजित मनोवृति का परिणाम मानते हैं और न ही इसे मुस्लिम राज्य की प्रतिष्ठा की प्रतिक्रिया। उनका कहना है, ''यह बात अत्यन्त उपहासस्पद है कि जब मुसलमान लोग उत्तर भारत के मन्दिरों को तोड़ रहे थे तो उसी समय अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण में भक्त लोगों ने भगवान् की शरणागति की प्रार्थना की। मुसलमानों के अत्याचार से यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिन्ध में और फिर उसे उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर हुई दक्षिण में।''

भक्तिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत भक्ति के उदय, और उसकी आरम्भिक अवस्था, हिन्दी साहित्य में भक्ति–भावना का प्रस्फुटन तथा उसके ऐतिहासिक कारणों तथा इस विषय में भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के मतों को जानने के साथ–साथ भक्तिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत भारत की वर्तमान परिस्थितियों को जानना भी आवश्यक है।

10.4. परिस्थितियाँ :

राजनीतिक परिस्थितियाँ – हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल के इस सुदीर्घ समय को राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है (क) प्रथम भाग 1375 से 1583 सं. तक। (ख) 1583 से 1700 सं. तक। प्रथम भाग में दिल्ली पर तुगलक और लोधी वंश के शासकों ने राज्य किया और द्वितीय भाग में मुगलवंश के बाबर, हुमायूं, अकबर, जहांगीर तथा शाहजहां ने। राजनीतिक दृष्टि से प्रायः यह काल विक्षुब्ध, अशान्त तथा संघर्षमय काल था।

मुहम्मद गौरी के विजित प्रदेशों पर तुर्कों की सल्तनत स्थापित हुई। बलबन, अलाउद्दीन आदि सुलतान तथा उनके सरदार साम्राज्य–विस्तार के कार्य में सफल भी हुए किन्तु उनके अशक्त उत्तराधिकारियों द्वारा उसकी रक्षा न हो सकी। अलाउद्दीन खिलजी तथा तुगलक ने सतत प्रयासों से केन्द्रीय शासन को सुदृढ़ बनाकर अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया किन्तु उनके आंख मूंदते ही सब कुछ चौपट हो गया। फलतः चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं शताब्दियों में बहुत से मुसलमानों तथा हिन्दुओं के प्रादेशिक राज्य उठ खड़े हुए। तुर्क शासक विदेशी होते हुए भी इस देश को अपना चुके थे। उनमें कुछ की धमनियों में हिन्दू रक्त था। तुर्कों के पीछे पठानों का राज्य हुआ। उनके पूर्वज हिन्दू या बौद्ध थे। अतएव ये लोग एक प्रकार से विदेशी नहीं रह गये थे।

1295 में अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली की गद्दी पर बैठा। उसने मालवा और महाराष्ट्र को जीता। गुजरात जीतकर उसने राजपूताना को तीनों ओर से घेर लिया तथा रणथम्भौर, चित्तौड़, सिवाना, जालोर और भिन्नमाल आदि प्रदेश जीत लिए। इस प्रकार दक्षिण भारत में मुस्लिम शासन पहुंचा। अलाउद्दीन के मरते ही दिल्ली का शासन ढीला पड़ गया पर गयासुद्दीन तुगलक ने 1320 में उसमें फिर जान डाली। उसने बंगाल को जीतकर दक्षिण में महाराष्ट्र तथा आंध्र तक अपना राज्य स्थापित किया। कुछ काल के उपरान्त, प्रान्तीय शासकों में स्वतंत्रता की प्रवृत्ति आने लगी। दिन–प्रतिदिन कोई न कोई प्रांतीय शासक स्वतंत्रता की घोषणा करता और दिल्ली सम्राट उस पर चढ़ाई करके उसे अपने अधीन करता। मेवाड़ में हम्मीर सिसोदिया 1326 में स्वतंत्र हो गया। उन्हीं दिनों विजयनगर के हिन्दू राज्य का उदय हुआ। मथुरा और बंगाल में दिल्ली सल्तनत के सूबेदार स्वतंत्र सुलतान बन बैठे, दक्षिण में बहमनी सल्तनत की स्थापना की। फिरोज तुगलक ने इन विद्रोहों को दबाया भी किन्तु उसके उत्तराधिकारी निकम्मे और नालायक निकले और राज्य की शक्ति प्रान्तीय शासकों के हाथों में चली गई। इन्हीं दिनों दक्षिण में विजयनगर और बहमनी राज्यों में संघर्ष चलता रहा। वैसे तो तुर्क राज्य काफी खोखला हो ही चुका था किन्तु 1398 में दिल्ली राज्य तैमूर की निर्मम ठोकर को खाकर सम्भल न सका।

15वीं शताब्दी प्रान्तीय शासकों का युग है। इसमें राजस्थान में मेवाड़ की उन्नति हुई। महाराणा लाखा, चूड़ा और कुंभा के शासन काल में वह एक प्रमुख शक्ति बन गया। मालवा, गुजरात, बंगाल, जौनपुर और कश्मीर में स्वतंत्र रियासतें थीं ही। तिरहुत में कामेश्वर नामक ब्राह्मण ने हिन्दू राज्य की स्थापना की थी। उसके पौत्र गणेश्वर ने उसे स्वतंत्र कर लिया। गणेश्वर का पुत्र कीर्तिसिंह और पौत्र शिवसिंह स्वतंत्र हिन्दू राजा थे। बुन्देलखण्ड में गाहड़वाल वंशज बुन्देल सरदार राज्य करने लगे। उड़ीसा में सूर्यवंशी कपिलेन्द्र ने स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। बहमनी सल्तनत के टूट जाने पर उसके स्थान पर चार छोटे–छोटे राज्य कायम हो गये। 15वीं शताब्दी के मध्य में पठानों ने दिल्ली ले ली और वे बिहार तक फैल गये पर वे दिल्ली के राज्य को साम्राज्य न बना सके। 16वीं शताब्दी के मध्य में जब बाबर ने आक्रमण किया तब उस समय सभी स्वतंत्र प्रादेशिक राज्य थे। उस समय भारत में प्रमुख शासक पश्चिमी मण्डल में मेवाड़ का राणा सांगा और दक्षिण में विजयनगर का कृष्णदेव राय थे। बाबर ने 1526 में पानीपत के मैदान में युद्ध के नवीन उपकरणों के प्रयोग से इब्राहीम लोधी को पराजित किया। दिल्ली से आगे बढ़ते ही उसकी राणा सांगा से मुठभेड़ हुई किन्तु वहां पर भाग्य ने बाबर का साथ दिया। सांगा के पश्चात् राजपूतों में प्रतिरोध की शक्ति न रही पर पठानों ने हिम्मत न हारी और प्रतिरोध जारी रखा। पठान शासक शेरशाह सूरी ने साधनों के बिना हुमायूं को पूरी तरह पराजित किया। शेरशाह के समय में ही हिन्दी का अमर काव्य पद्मावत लिखा गया। शेरशाह के उत्तराधिकारी अयोग्य निकले और उधर मुगलों का नेतृत्व अकबर जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति के हाथ में था। हेमचन्द्र के नेतृत्व में पठानों ने पानीपत के दूसरे युद्ध में अकबर का डटकर मुकाबला किया किन्तु अन्ततोगत्वा अकबर का पलड़ा भारी रहा। दिल्ली सम्राट अकबर के सामने देश के छोटे–छोटे हिन्दू और मुसलमान राजाओं ने एक–एक कर घुटने टेक दिए। अकबर के समय में भी मेवाड़ के राणा प्रताप ने उसकी अधीनता न मानी और आजीवन लड़ता रहा। प्रताप का पुत्र अमरसिंह

जहांगीर से 16 वर्ष लड़ा पर अन्त में उसने अधीनता मान ली। शाहजहां के शासन के अन्तिम दिनों में बुन्देलखण्ड में चंपतराय और महाराष्ट्र में शिवाजी की स्वतंत्रता की चेष्टाएं प्रगट हुईं।

प्रस्तुत काल के इस विस्तृत ब्यौरे से एक बात नितांत स्पष्ट है कि विदेशी आक्रांताओं के द्वारा ''आया, देखा और नष्ट कर दिया'' के समान कुछ क्षणों, घण्टों या दिनों में भारत पर आधिपत्य स्थापित नहीं हुआ बल्कि उन्हें देशी शासकों के प्रतिरोध का बुरी तरह सामना करना पड़ा। यहां के देशी शासक अन्तिम दम तक प्राणप्रण से स्वाधीनता के लिए जूझते रहे। उनमें किसी भी प्रकार की निराशामय पराजित मनोवृत्ति नहीं थी और न ही उस समय का साहित्य निराशामय परिस्थितियों की उपज है।

निःसन्देह इस काल में कतिपय कट्टर तथा साम्प्रदायिक मुस्लिम शासकों द्वारा हिन्दी जनता पर अकथनीय अत्याचार भी ढाये गये किन्तु सभी विदेशी संकीर्ण हृदय थे, ऐसी बात नहीं। इसके साथ–साथ मुस्लिम प्रजा भी विशेष सुखी नहीं थी। धर्म के आधार पर शिया और सुन्नी लोगों में विद्वेष की आग सदा सुलगती रही। अरबी, तुर्की, ईरान तथा अफगान आदि मुसलमान आपस में सदा चलते रहते थे। शासक वर्ग में भी राज्य–लिप्सार्थ निर्मम हत्याओं का सिलसिला चलता रहा। अल्तमश के सिर पर आरामशाह का खून है। रजिया तथा नसरुद्दीन ने अपने कई भाइयों को पद से वंचित करके राज्य प्राप्त किया। रजिया और उसके प्रेमी का वध हुआ। अलाउद्दीन खिलजी ने अपने चाचा और मुहम्मद तुगलक ने अपने पिता की हत्या करके राज्य प्राप्त किया। अलाउद्दीन की मलिक काफूर के द्वारा मृत्यु हुई। सिकन्दर लोधी ने अपने भाई बरबक को ठिकाने लगाया। मुगल सम्राटों में शाहजादा खुर्रम को अपने कुल के बहुत से आदमियों को ठिकाने लगाना पड़ा और औरंगजेब ने राज्य–प्राप्ति के लिए क्या कुछ नहीं किया। अकबर, जहांगीर और शाहजहां के समय को छोड़कर मुस्लिम–काल का शेष सारा समय मारकाट, गृह–कलह, विदेशी आक्रमणों के आतंक तथा युद्ध का काल रहा है।

ऐसी बात भी नहीं है कि सभी मुसलमान शासक हिन्दुओं के प्रति अनुदार और असहिष्णु रहे हों। बहुत से मुस्लिम शासकों ने संस्कृत तथा देशी भाषाओं के साहित्य, संगीत और कला को प्रोत्साहन दिया। कश्मीर के जैनुलाबुद्दीन के प्रोत्साहन से जोनराज ने संस्कृत में दूसरी राजतरंगिणी लिखी। जौनपुर के सुलतानों ने शास्त्रीय संगीत का पुनरुद्धार करवाया और संगीत शिरोमणि नामक ग्रन्थ संस्कृत में तैयार हुआ। हुसैन शाह बंगाली ने महाभारत और भागवत का बंगाली में अनुवाद करवाया। सच यह है कि अधिकांश मुसलमान शासक भारतीय थे।

इन मुसलमान शासकों के मन्त्री और सलाहकार अधिकांश हिन्दू थे। हुसैन शाह बंगाली का मन्त्री गोपीनाथ वसु था। काश्मीर के सुलतान शहाबुद्दीन के मुख्यमंत्री उदय श्री और चंद्रडामर थे। वहीं के सुलतान सिकन्दर का मंत्री सृह भट्ट ब्राह्मण था जो कि मूर्ति–पूजा का विरोधी था। उसने कई मन्दिरों की मूर्तियां तुड़वा दी थी। इस करतूत से सिकन्दर बुतशिकन के नाम से प्रसिद्ध हुआ परन्तु उसके बेटे जैनुलाबुद्दीन ने उन मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया। उस समय हिन्दू शासकों के द्वारा भी साहित्य, संगीत तथा अन्य ललित कलाओं को प्रोत्साहन मिला। इसमें विजयनगर के राजाओं और मेवाड़ के राणा कुम्भा का विशिष्ट स्थान है।'' अकबर और उसके वंशजों के प्रशासन में हिन्दी को बराबर आश्रय मिलता रहा। हिन्दू धर्म के कट्टर विरोधी औरंगजेब ने भी अपने दरबार में हिन्दी कवियों को स्थान दिया था। सुना जाता है कि उसने स्वयं भी हिन्दी में कविता की थी।

कोई भी साहित्य परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता है किन्तु भक्तिकालीन साहित्य इस बात का अपवाद है। भक्तिकाल के प्रमुख चार कवियों कबीर, जायसी, तुलसी और सूर की वर्ण्य सामग्री युग के राजनीतिक वातावरण के ठीक प्रतिकूल है। उन्हें न तो सीकरी से काम था और न प्राकृत जन गुण–गान से सरोकार था। इन भक्तों की वाणी धर्म और शांति प्रधान रही हां, कुछ एक उद्धरण इन भक्तों की वाणी में इधर–उधर बिखरे हुए अवश्य

मिल जाते हैं

(क) वेद धर्म दूर गये, भूमि चोर भूप भये।
साधु सीद्यमान जान रीति पाप पीन की।।

(ख) कलि बारहि बार दुकाल परै, अन्न दुःखी सब लोग मर।

(ग) म्लेच्छनि भार दुखित मेदिनी।

पर ये उद्धरण उनकी रचनाओं के मूल विषय नहीं है।

सामाजिक परिस्थिति – चौदहवीं, पन्द्रहवीं शताब्दियों में हिन्दू–मुसलमानों में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आदान–प्रदान हुआ। हिन्दुओं में जात–पात और शादी–ब्याह के बन्धन कड़े हुए। एक ही परिवार के व्यक्ति कुछ हिन्दू रह जाते और कुछ मुसलमान हो जाते। उस समय तक हिन्दू–मुसलमानों के परस्पर विवाहों के उदाहरण मिल जाते हैं। काश्मीर के सुलतान शाहमीर की लड़कियों का विवाह हिन्दू सामन्तों के साथ हुआ था और उसके लड़के अल्लेशर का विवाह हिन्दू सेनापति की लड़की से हुआ था। लड़की पति का धर्म स्वीकार कर लेती थी। जांति–पांति के बन्धन अवश्य दिन–प्रतिदिन कठोर होते जा रहे थे किन्तु इनके प्रति आवाज भी उठ रही थी। रामानन्द और उनके शिष्य कबीर खुलकर इसका विरोध कर रहे थे। खान–पान के बन्धन भी शायद इतने कड़े नहीं थे। जैनराज की राजतरंगिणी में लिखा है कि ''शहाबुद्दीन और उसके मन्त्री उदय श्री और चन्द्रडामर ने एक चषक में मदिरापान किया था।'' चौदहवीं शताब्दी तक खान–पान के बन्धन इतने कड़े नहीं थे पर पीछे छूआछूत और खान–पान के बन्धन अधिक कड़े हो गए।

शेरशाह ने जमींदारी की प्रथा को उठा दिया था किन्तु मुगलों ने इस प्रथा को फिर जारी किया। मुगल दरबार के जागीरदार तथा मनसबदार बड़े समृद्ध थे। बादशाह और जागीरदारों का जीवन भोग–विलास तथा ऐश्वर्यपूर्ण था। बादशाह को प्रजा के सुख–दुख का ध्यान भी था। 1630–31 में जब गुजरात खानदेश और दक्षिण में अकाल पड़ा तो शाहजहां ने उन प्रान्तों के लगान में छूट दे दी और अनाज मुफ्त बंटवाया।

बहुतेरे हिन्दू विविध कारणों से स्वेच्छया मुसलमान बने होंगे। सभी मुसलमान बादशाह और सामन्त इस्लाम को तलवार के बल पर फैलाने के पक्ष में नहीं थे। फिरोज तुगलक, सिकन्दर बुतशिकन, अहमदशाह गुजराती, महमूद वघेड़ा और सिकन्दर लोधी जैसे धर्मान्धों के साथ ही जैनुलाबुद्दीन, हुसैनशाह बंगाली और शेरशाह जैसे उदारचरित शासक भी थे। इस काल के पूर्व तक विधर्मियों को हिन्दू बना लेने के प्रमाण भी मिलते हैं। गौरी के कैदियों का शुद्धिकरण किया गया था। चीन की ओर से अहोम लोग आकर आसाम में आ बसे थे और उनका आर्यीकरण कर लिया गया था। कहीं–कहीं हिन्दू मुसलमान कन्याओं को ब्याह लेते थे परन्तु अपना धर्म बनाए रहते थे। कदाचित् शाहजहां को इसलिए फरमान निकालना पड़ा था कि युवती को ग्रहण करने वाले हिन्दू को मुसलमान होना ही होगा। कदाचित् इसी कारण हिन्दुओं में जाति–पांति की कट्टरता बढ़ी। उनमें पाचन शक्ति का ह्रास हुआ और उनमें कच्छप वृत्ति बढ़ी। विलासी मुस्लिम अधिकारियों को सस्ती रसिकता से रक्षा पाने के लिए हिन्दू समाज में पर्दे और बाल–विवाह का प्रचलन हुआ। जहां हिन्दुओं में ऊंच–नीच का भेद आया, वहां मुसलमानों में शिया–सुन्नी की असमानता ने रंग दिखाया। कुछ मुस्लिम शासकों में रूप–लिप्सा और काम–पिपासा भी कम नहीं थी। अलाउद्दीन इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। उस युग के हिन्दुओं की आर्थिक विपन्नता का चित्र खींचते हुए तारीखे फीरोजशाही के लेखक बर्नीयर ने लिखा है ''उन हिन्दुओं

के पास धन संचित करने के लिए कोई साधन नहीं रह गए थे और उनमें से अधिकांश को निर्धनता, अभावों एवं आजीविका के लिए निरन्तर संघर्ष में जीवन बिताना पड़ता था। प्रजा के रहन–सहन का स्तर बहुत निम्न कोटि का था। करों का सारा भार उन्हीं पर था। राज्य–पद उनको अप्राप्य थे।'' अलाउद्दीन ने दोआब के हिन्दुओं से उपज का 50 प्रतिशत भाग कर के रूप में बड़ी कठोरता से उगाहा था।

जहां हिन्दुओं और मुसलमानों में शासित और शासक का भेद था वहां धीरे–धीरे वे एक दूसरे के प्रति उदार भी होने लगे थे। तत्कालीन वास्तु और चित्र–कला तथा धर्म और काव्य के क्षेत्र में उनमें आदान–प्रदान और समन्वय के यथेष्ट प्रमाण मिलते हैं। मुसलमानी इमारतों और राजपूत तथा मुगल शैली के चित्रों को देखने से मुसलमान और हिन्दू–कला के घुल–मिल जाने से नवीन कला शैली का प्रादुर्भाव हुआ।

धार्मिक परिस्थिति – उस समय की भारतीय धार्मिक परिस्थिति को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है (क) बौद्ध धर्म की विकृत परिस्थिति, और (ख) वैष्णव धर्म की परम्परागत परिस्थिति। इनके अतिरिक्त एक तीसरी विदेशी धार्मिक परिस्थिति ने भी भारत में स्थान बनाया जिसे हम सूफी धर्म कहते हैं।

महात्मा बुद्ध के महानिर्वाण के पश्चात् बौद्ध धर्म दो सम्प्रदायों में विभक्त हुआ हीनयान और महायान। हीनयान में सिद्धान्त पक्ष की दार्शनिक जटिलता थी अतः कम लोगों की आस्था उस पर टिक सकी। महायान में सिद्धान्त के स्थान पर व्यवहार पक्ष की प्रधानता थी। उसमें आचार सम्बन्धी पवित्रता को ही निर्वाण का साधन माना गया और उसमें सभी वर्गों के लोगों को सम्मिलित होने की आज्ञा मिली। हीनयान अधिक कट्टरता के कारण संकुचित होता चला गया और महायान अधिक उदारता के कारण विकृत। शंकर तथा कुमारिल भट्ट ने बौद्ध धर्म पर प्रखर प्रहार किया और वैदिक धर्म का पुनरुद्धार किया। सुसंस्कृत जनता शंकर धर्म के उपदेशों से आकृष्ट हुई। महायान सम्प्रदाय ने जनता के असंस्कृत वर्ग को जन्त्र–तंत्र, अभिचार तथा चमत्कारी बाजी से वशीभूत किये रखा, इसी कारण उसका नाम कालान्तर में मंत्रयान पड़ा। इसके साथ वाममार्ग भी चल रहा था जिसमें स्त्रियों को वश में करने के लिए नाना प्रकार के जन्त्र–मन्त्र, अभिचार आदि का प्रयोग किया जाता था। मंत्रयान ने वाममार्ग की मद्य, मांस, मैथुन, मुद्रा आदि अनेक मुद्राओं को अपना लिया। उसके महासुखवाद के स्थान को मुद्रा साधनो ने ले लिया। इसके लिए युगबद्धता जैसे गर्हित उपचारों का प्रयोग किया गया और नारी के प्रति वासनात्मक सम्बन्ध को साधना का आवश्यक अंग समझ लिया गया। मन्त्रयान से वज्रयान निकला और उसमें चौरासी सिद्ध दीक्षित हुए। सिद्धों ने जन्त्र–मन्त्र शैली को अपनाते हुए भी उसमें क्रान्तिमूलक परिवर्तन किए। नाथ सम्प्रदाय के सिद्धों का एक बढ़ा हुआ परिष्कृत रूप समझना चाहिए। सिद्धों और नाथों के मुख्य–मुख्य सिद्धान्त थे कर्मकाण्ड और कुछ नहीं। वर्ण व्यवस्था अनावश्यक है। मोक्ष के लिए गुरु की परम आवश्यकता है। ईश्वर एक तथा घट–घट व्यापक है। धर्म की इस दशा को लक्ष्य करके कदाचित् तुलसीदास ने कहा था ''गोरख जगायो जोग, भक्ति भगाओ भोग।''

अस्तु! सिद्धों और नाथों की मुख्य–मुख्य रूढ़ियां सन्त मत की धार्मिक भूमि बनी। सन्त–मत के पनपने का थोड़ा बहुत श्रेय इन सिद्धों और नाथों को जाता है।

भक्ति की लहर दक्षिण से आई। शंकर से बहुत पहले दक्षिण देश में आलवार सन्तों में भक्ति का प्रसार एवं प्रचार हुआ। शंकर ने बौद्ध धर्म के विरोध में अद्वैतवाद का प्रचार किया। इसकी प्रतिक्रिया में अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय चल निकले जिनमें नारायण की भक्ति पर विशेष बल दिया गया और जनता को भक्ति का स्थूल आश्रय मिला। उनमें विष्णु के अवतारों राम और कृष्ण की कल्पना हुई। रामानन्द ने भक्ति का द्वार सबके लिए खोला और जन–भाषा में अपने

सिद्धान्तों का प्रचार किया। इनसे पूर्व के आचार्यों ने संस्कृत में अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया था और उनके उपदेश सुसंस्कृत जनता तक ही सीमित थे। रामानन्द ने तुलसी के लिए बहुत कुछ मार्ग प्रशस्त कर दिया। मन और कर्म की शुद्धता और राम जन तुलसी की भक्ति का निचोड़ कहा जा सकता है।

विष्णु के दूसरे अवतार श्रीकृष्ण की उपासना के विविध भेद और उपभेद लेकर चले हुए अनेक सम्प्रदायों ने भी इस भूभाग को काफी प्रभावित किया। महाभारत में वर्णित दुष्टों के संहारक, अधर्म विनाशक तथा धर्म–रक्षक कृष्ण का ग्रहण न करके भागवत् के दशम स्कन्ध में वर्णित कृष्ण के रूप का ग्रहण किया गया और इस रूप की आध्यात्मिक व्याख्या करके इसे अलौकिक रूप दिया गया, किन्तु, इसमें शनैःशनैः भोग प्रधान मानसिक तृप्ति के उपादानों का समावेश होता गया, अतः लोग इधर झुके। इस युग में इनके जो उद्‌गार निकले उनमें भक्ति की आड़ में कुछ विलासवासना छिपी रही, किन्तु आगे चलकर तो इसने कृष्ण को रसिया तथा छैला का रूप दे डाला।

इधर भारत में मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व ही इन सूफियों ने यहां इस्लामी वातावरण तैयार कर लिया था और कुछ सम्प्रदाय भी खड़े कर लिये थे। इन्होंने भारतीय अद्वैतवाद को अपने ढंग से अपनाया और प्रेम–स्वरूप निराकर ईश्वर का प्रचार किया। इन पर योग का प्रभाव भी स्पष्ट है। ये लोग इस्लाम को छोड़े बिना यहां के नाथ सम्प्रदाय तथा ऐकेश्वरवादी विचारों को अपनाते हुए समन्वय करने में अग्रसर हुए तथा हिन्दूमुस्लिम हृदयों के अजनबीपन को मिटाया। तुलसीदास ने ''उपखान'' शब्द से कदाचित् इन्हीं की ओर संकेत किया है।

साहित्यिक परिस्थिति इस धार्मिक संघर्ष के युग में सभी विचारकों ने गद्य में अपने विचार प्रकट न करके उन्हें छन्दोबद्ध रूप दिया। संस्कृत में इस सम्बन्ध में टीकाओं, व्याख्याओं की सृष्टि होती रही। किसी नवीन मौलिक उद्भावना से काम नहीं लिया गया। सिद्धान्तप्रतिपादन तथा भक्ति प्रचार की भावना उस समय के समस्त साहित्य में काम कर रही है। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी जैसे भावुक कवि भी इस मनोवृत्ति से अछूते नहीं रहे।

उन दिनों हिन्दुओं का उच्च वर्ग संस्कृत में अपने उद्‌गारों की अभिव्यक्ति करता रहा। इधर मुगलों द्वारा फारसी को राजकाज के लिए स्वीकार किया जा चुका था। अतः फारसी में अनेक इतिहास ग्रन्थों की रचना हुई तथा प्रचुर मात्रा में कविता लिखी गई। फारसी में संस्कृत के अनेक धार्मिक तथा ऐतिहासिक ग्रन्थों का अनुवाद हुआ। शेरशाह सूरी मुगल बादशाह और शहजादे तथा अनेक प्रादेशिक मुस्लिम शासकों के अतिरिक्त हिन्दू राजाओं तथा सम्पन्न लोगों ने हिन्दी को भी प्रोत्साहन दिया, परन्तु संस्कृत और फारसी साहित्य के समान हिन्दी को आदर नहीं मिल सका। राजस्थानी की कुछ वचनिकाओं में तथा ब्रजभाषा की वार्ताओं और टीकाओं में गद्य का भी प्रयोग हुआ किन्तु पद्य का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग हुआ और उसमें भक्ति साहित्य का अधिक निर्माण हुआ। बादशाहों तथा राजाओं के आश्रित कवियों ने प्रशस्ति, शृंगार, रीति, नीति आदि से सम्बन्धित मुक्तक और प्रबन्ध दोनों प्रकार की रचनायें की। इस काल में वीर–रस प्रधान काव्य की रचना नहीं हुई उसका प्रासंगिक रूप से अन्य रसों के साथ वर्णन हुआ है।

भक्ति साहित्य में भारतीय संस्कृति और आचार–विचार की पूर्णतः रक्षा हुई है। भक्ति काव्य जहां उच्चतम धर्म की व्याख्या करता है वहां उसमें उच्च कोटि के काव्य के दर्शन होते हैं। इसकी आत्मा भक्ति है, इसका जीवन–स्रोत रस है, इसका शरीर मानवीय है। रस की दृष्टि से भी यह साहित्य श्रेष्ठ है। यह साहित्य एक साथ हृदय, मन और आत्मा की भूख को तृप्त करता है। यह साहित्य लोक तथा परलोक को एक साथ स्पर्श करता है। अतः इसे पराजित मनोवृत्ति का परिणाम कहना नितांत भूल होगी।

सांस्कृतिक परिस्थिति – समन्वयात्मकता भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषता है। पुराणों में समन्वयात्मकता की प्रवृत्ति को पुनर्जाग्रत करने का प्रयास किया गया है। उनमें पूजा–उपासना और कर्मकांड में दर्शन का पुट दिया गया है। मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, धर्म–शास्त्रों का सम्मान, कर्मफल में विश्वास, अवतारवाद तथा गौ और ब्राह्मण की पूजा

पौराणिक धर्म की प्रमुख विशेषताएं है जिनका अनुगुंजन सगुण भक्ति साहित्य में सर्वत्र श्रवणगोचर होता है। वादरायण द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र भिन्न–भिन्न उपनिषदों के मतों में समन्वयात्मकता लाने का प्रयास है। शंकर ने इसी पर शारीरिक भाष्य लिखा, जो कि भक्ति काल के सभी संप्रदायों और मतों का प्रेरक तत्त्व बना रहा।

मध्यकालीन धर्म साधना में पूर्ववर्ती सभी धर्म साधनाएं अपने जिस किसी रूप में बनी रहीं। शैव, शाक्त, भागवत सौर गाणपत्य जैसे प्रमुख धर्मों में ज्ञान, योगतंत्र और भक्ति की प्रवृत्तियों का समन्वय होने लगा। योग का प्रभाव उस समय इतना अधिक बढ़ा कि भक्ति, ज्ञान, और कर्म के साथ भी योग शब्द को जोड़ा जाना आवश्यक समझा जाने लगा। राम और शिव, भगवती दुर्गा और वैष्णवी में समन्वय लाने की प्रक्रिया बराबर चलती रही जिसकी प्रतिध्वनि तुलसी के रामचरित मानस में ''शिव द्रोही मम दास कहावा, सो नर मोहिं सपनेहु नहिं पावा'' आदि शब्दों में पाई जाती है।

समन्वयात्मकता की उक्त प्रवृत्ति धर्म के समान मूर्ति एवं वास्तुकलाओं में भी देखी जा सकती है। एलोरा के समीप कैलास मन्दिर में शिव की मूर्ति के सिर के ऊपर बोधिवृक्ष स्थित है। चम्बा नरेश अजय पाल के शासन काल में उत्कीर्ण वरुण, ब्रह्मा और शिव के साथ बुद्ध भी है। खजुराहो से उपलब्ध कोक्कल के वैद्यनाथ मन्दिर वाले शिलालेख में ब्रह्म, जिन, बुद्ध तथा वामन को शिव का स्वरूप कहा गया है। भक्ति आन्दोलन कदाचित् इसी समन्वयात्मक प्रवृत्ति का परिणाम है।

इसी काल में हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियां एक दूसरे के निकट आईं। संगीत, चित्र तथा भवन निर्माण कलाओं में दोनों संस्कृतियों के उपकरणों में समन्वय आरम्भ हो गया। दोनों जातियों के साहित्य व शैलियां यत्किचित् रूप में एक दूसरे को प्रभावित करने लगीं। इस प्रकार मध्य काल में भारत की सामाजिक संस्कृति का रूप और अधिक निखरने लगा। ताजमहल और लाल किला भारतीय तथा ईरानी वास्तुकलाओं के सम्मिश्रण के उत्तम निदर्शन है। नायक–नायिकाओं के नयनाभिराम चित्रों तथा विविध कलाओं के रूप में दोनों जातियों की चित्र कलाओं का समागम दर्शनीय है। भारतीय व ईरानी संगीत कलाओं का भी इस काल में अद्भुत मणिकांचन योग हुआ। काव्यों में भी राग–रागनियों का प्रयोग किया जाने लगा। आदि ग्रन्थ इसका उदाहरण है।

10.5. सांस्कृतिक चेतना और भक्ति आन्दोलन :

हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल सबसे सशक्त काल माना जाता है। भक्तिकाल से अभिप्राय उस काल से है जिसमें मुख्यतः भागवत धर्म के प्रचार–प्रसार के परिणामस्वरूप भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात एवं प्रवर्त्तन हुआ। जहां तक भक्ति के उदय का प्रश्न है, यह स्पष्ट है कि इसका आरम्भ दक्षिण भारत में हुआ परन्तु इसे उत्तर भारत में लाने का श्रेय स्वामी रामानन्द की अपेक्षा इनके गुरु को दिया जाता है। अन्य युगों की भांति भक्तिकाल में भी भक्ति काव्य के साथ–साथ अन्य प्रकार की रचनाएं भी होती रहीं परन्तु प्रधानता भक्तिपरक रचनाओं की ही रही। इसलिए भक्ति की प्रधानता के कारण चौदहवीं शती के मध्य से लेकर सत्रहवीं शती के मध्य तक के काल को भक्तिकाल कहना सर्वथा युक्तियुक्त है। यह मध्यकालीन भक्ति आंदोलन भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। इस आंदोलन ने भारतीय जन–मानस को कई शताब्दियों तक अपने प्रभाव में बनाए रखा। केवल धार्मिक दृष्टि से ही नहीं, सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टि से भी यह आंदोलन बहुत महत्वपूर्ण है। जिसने तत्कालीन भारतीय समाज और जनता को नई दिशा प्रदान की। ज्यों तो संस्कार रूप में भक्ति के बीज वेदों, उपनिषदों, गीता और पुराणों में मिलते हैं, किन्तु भक्ति की एक आन्दोलन के रूप में सारे देश में व्याप्ति इसी युग में सम्भव हुई। भले ही इस धारणा से कुछ विद्वान सहमत नहीं हैं।

डा. ग्रियर्सन ने भक्ति आन्दोलन को पन्द्रहवीं शती का धार्मिक पुनर्जागरण स्वीकार किया है। स्पष्ट है कि

इतिहास में पहली बार सारा देश भक्ति के उन्मेष से आंदोलित हो उठा और भावानात्मक एकता के सूत्र में बंध गया। डॉ. गियर्सन ने इस आन्दोलन की वास्तविकता और महत्ता को पहचानते हुए कहा है, 'हम अपने को एक ऐसे धार्मिक आंदोलन के सामने पाते हैं जो इन सब आन्दोलनों से कहीं अधिक विशाल है जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा है, यहां तक कि बौद्ध धर्म के आन्दोलन से भी अधिक विशाल है क्योंकि इसका प्रभाव आज भी विद्यमान है। इस युग में धर्म, ज्ञान का नहीं बल्कि भावावेश का विषय हो गया था।' इसीलिए आचार्य परशुराम चतुर्वेदी हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ के भक्तिकाल से तात्पर्य उस काल से मानते हैं जिसमें मुख्यतः भागवत धर्म के प्रचार तथा प्रसार के लिए परिणामस्वरूप भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात हुआ था। उसकी लोकोन्मुखी प्रवृत्ति के कारण धीरे–धीरे प्रचलित भाषाएं भक्ति भावना की अभिव्यक्ति का माध्यम बनती गई और कालांतर में भक्ति विषयक विपुल साहित्य की बाढ़ सी आ गई यहां भक्ति आन्दोलन के मूल में स्थित तत्कालीन परिवेश का संक्षिप्त अध्ययन अपेक्षित है

तेरहवीं चौदहवीं शती के अन्त तक हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी। रासो काव्य, नाथ, पंथी साहित्य, महाराष्ट्र में उदय होती हुई निर्गुण भक्ति धारा, अमीर खुसरो का जन–मन–रंजनकारी हल्का–फुलका साहित्य और विद्यापति की शृंगारिक धारा उत्तर भारत के विभिन्न प्रदेशों में हिन्दी भाषा के माध्यम से साहित्यिक क्षेत्र में पदार्पण कर चुकी थी। इस समय तक सगुण भक्ति का स्वरूप हिन्दी में प्रस्फुटित नहीं हो पाया था। परन्तु जब उत्तर भारत मुस्लिम आक्रान्ताओं के निरन्तर होने वाले आक्रमणों से उद्देलित हो रहा था, उस समय निरापद दक्षिण भारत में धर्म और उसके मूलाधार (ब्रह्म) की नई व्याख्या करने के प्रयत्न चल रहे थे। शंकर, नाथमुनि, यामुनाचार्य, रामानुज, मध्वस्वामी प्रभृति दार्शनिक ब्रह्म–उपासना की परस्पर भिन्न परन्तु मूलरूप में एक, विभिन्न उपासना पद्धतियों की स्थापना करने में दत्त–चित्त थे और उनकी ये नवीन धार्मिक व्याख्याएं भारत–व्यापी प्रचार पा रही थीं। उनके इन प्रयत्नों को ही सम्पूर्ण भारत में उस भक्ति आन्दोलन को जन्म देने का श्रेय है, जिसने भारतीय सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन को झकझोर कर एक नई दिशा की ओर उन्मुख कर दिया था। वस्तुतः यह नवीन चेतना जितनी धार्मिक थी, उससे अधिक सांस्कृतिक थी। इतिहास इस बात का साक्षी है कि एक बार धर्म तो जीवन में विरोध और विद्रोह को जन्म दे सकता है परन्तु संस्कृति सदैव समन्वयकारी ही बनी रहती है और दक्षिण भारत का यह नवीन धार्मिक आन्दोलन अपनी मूल चेतना में अखिल भारतीय सांस्कृतिक नव–चेतना का ही नया रूप था और ऐसा नया रूप था जो परम्परा से प्रगाढ रूप से सम्बन्ध और नवीन सामाजिक परिवर्तनों वाली परिस्थितियों में समाज के लिए उपादेय और जन–कल्याणकारी था। भक्ति–आंदोलन में सांस्कृतिक चेतना की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति सार्वभौम सत्य के आधार पर प्रतिष्ठित धार्मिक भावना और दार्शनिक चिन्तनधारा के माध्यम से हुई है। भारतीय जीवन में समय–समय पर विदेशी विजातीय तत्त्वों के आते रहने के कारण परस्पर संघात होते रहे हैं परन्तु इन्हीं से होकर ऐसी जीवनी–शक्ति का संचार भी होता रहा है भारतीय लोग इसमें से प्रत्येक स्थिति में से उभर कर आने की क्षमता रखते हैं वस्तुतः भक्ति–आन्दोलन की सांस्कृतिक चेतना भक्तिकाल में फैल चुकी विषमताओं, साम्प्रदायिकता तथा धर्म–साधनों की बाढ़ आ जाने के विरोध में नव–जीवन की प्रेरणा से भरी हुई समन्वय साधना की प्रवृत्ति को लेकर उत्पन्न हुई।

पन्द्रहवीं–सोलहवीं शती के इस भक्ति आन्दोलन के मूल में इससे कहीं पहले दक्षिण भारत के तमिल प्रदेश में बौद्धों और जैनों के आंतक और अत्याचारों की प्रतिक्रिया में शैवों और वैष्णवों ने मिलकर एक धार्मिक क्रान्ति की। छठी से लेकर नौवीं शती तक वहां बौद्धों और जैनों को राज्याश्रय प्राप्त रहा। जिसका दुरुपयोग करते हुए उन्होंने शैवों और वैष्णवों का दमन किया, जिसकी व्यापक प्रतिक्रिया शैवों (नायनमारों) और वैष्णवों (आलवारों) के भक्ति आंदोलन के रूप में हुई। इस सन्तों की भक्ति विशुद्ध प्रेम पर आधारित थी। इनके उपास्य शिव और विष्णु थे। इन सन्तों ने जैनियों और बौद्धों के अपरिग्रह को भी अस्वीकार करते हुए ईश्वर के प्रति व्यक्तिगत भक्ति को मुक्ति का

मार्ग बताया। ब्राह्मण धर्म की कठोर वर्णाश्रमनीति की प्रतिक्रिया स्वरूप भी इन्होंने जाति–पाति और ऊंच–नीच का भेद मिटाकर सबके लिए भक्ति का मार्ग खोल दिया। आलवार भक्ति परम्परा में दसवीं से लेकर चौदहवीं शती तक आचार्य युग माना जाता है इस युग में कुछ ऐसे विद्वान भी हुए जो तमिल के अतिरिक्त संस्कृत के भी पंडित थे। इन्हीं के प्रयत्नों और प्रभाव से दक्षिण का वैष्णव भक्ति आन्दोलन ग्यारहवीं – बारहवीं शती के बाद उत्तर भारत में फैलने लगा। आलवार भक्तों की संख्या बारह मानी जाती है। इनके तमिल नामों के साथ ही इनके संस्कृत नामों का भी उल्लेख किया गया है। यहां इनके संस्कृत नाम दिए जा रहे हैं 1. सरायोगी 2. भूतयोगी 3. महद्योगी या भ्रांतयोगी 4. भक्तिसार 5. शठकोप 6. मधुर कवि 7. कुलशेखर 8. विष्णुचित 9. गोदा भक्तिन नामक संत महिला, जिसका तमिल नाम आंडाल था। 1. भक्तांधिरेणु 11. मुनिवहन 12. परकाल। इन भक्तों का समय ईसा की प्रथम शताब्दी बल्कि इससे कुछ पूर्व से लेकर 8वीं, 9वीं शताब्दी तक आंका गया है। इन भक्तों में भक्ति का व्यवहारिक पक्ष विद्यमान है। 1.वीं –11वीं शताब्दी में आचार्य नाथमुनि हुए, जिन्होंने वैष्णवों का संगठन, मन्दिरों में कीर्तन एवं वैष्णव सिद्धातों की दार्शनिक व्याख्या तथा आलवार भक्तों के पदों का संग्रह ''दिव्य प्रबन्धम'' नाम से किया। पूरे संग्रह में पदों की संख्या लगभग चार हज़ार है। 'दिव्य प्रबन्धम' में विष्णु के दो अवतारों राम और कृष्ण की भक्ति की प्रधानता है। आलवार अथवा वैष्णव भक्तों के कारण ही दक्षिण का जो वैष्णव भक्ति आन्दोलन उत्तर भारत में फैला डा. मलिक मोहम्मद ने इन दोनों के कारणों की समता पर प्रकाश डालते हुए कहा है। ''जिन परिस्थितियों ने तमिल प्रदेश में वैष्णव भक्ति आन्दोलन को (आलवारों के द्वारा) जन्म दिया लगभग वे ही परिस्थितियां तेरहवीं–चौदहवीं शताब्दियों में हिन्दी प्रदेश में विद्यमान थीं, हां, उत्तर की परिस्थितियों में एक बात और थी और वह थी मुसलमान विदेशी शासकों की धर्मांधता और इस्लाम के प्रचार के हेतु उनके द्वारा अपनाई गई क्रूर धार्मिक नीति। अन्य सभी बातें लगभग वही थीं, जो तमिल प्रदेश के भक्ति आंदोलन को जन्म देने के लिए कारणभूत थी ठीक ही यह इतिहास का दुहराना हुआ है।''

इसके साथ ही आठवीं–नवीं सदी में दार्शनिक स्तर पर बौद्ध विचारों से टकराने की भूमिका शंकराचार्य ने निभाई। उन्होंने बौद्धों के प्रभाव को घटाने तथा वेदों और ब्राह्मणों की महत्ता स्थापित करने के लिए अपने दार्शनिक चिंतन में अद्धैतवाद के सिद्धांत पर जोर दिया। वस्तुतः बौद्धों की नास्तिकता, भोगवाद और मीमांसक हिन्दुओं के कर्मकाण्ड की जड़े काटने के लिए आचार्य शंकर ने माया के सिद्धांत का सहारा लेकर जगत को मिथ्या ठहराया और वैराग्यमूलक, निवृत्तिमार्ग सन्यास मार्ग का प्रवर्त्तन किया। आचार्य युग के आचार्यों–नाथमुनि, यमुनाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी और निंबार्कचार्य ने शंकर अद्वैत के मूल तत्त्व आत्मा–परमात्मा की एकता को ग्रहण करते हुए भी उनके मायावाद और जगत के मिथ्यात्व के सिद्धान्त का खण्डन किया। इन सभी आचार्यों ने ब्रह्म के समान ही जीव और जगत को भी सत् बतलाया और इस प्रकार शंकर के निवृत्तिमार्गी चिंतन के स्थान पर प्रवृत्तिमार्गी चिंतन को प्रश्रय दिया। यही आशामूलक दृष्टि उस समय की निराशामूलक परिस्थितियों का स्वाभाविक मार्ग थी। आचार्यों ने निर्गुण की सत्ता और महत्ता को स्वीकारते हुए ब्रह्म के सगुण रूप को विशेष गौरव प्रदान किया तथा ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को बढ़कर माना।

इस प्रकार 10वीं शताब्दी तक दक्षिण भारत में भक्ति आन्दोलन ने बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म पर तो विजय प्राप्त कर ली। परन्तु आगे चलकर दक्षिण भारत का भक्ति आंदोलन धीरे–धीरे अपना उन्मुक्त और समतावादी चरित्र खोने लगा। सन्तों द्वारा जातिगत प्रतिबंध की उपेक्षा करने के बावजूद जाति–व्यवस्था और ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को चुनौती नहीं दी गई। मन्दिरों की संख्या में काफी वृद्धि हुई। वृहत अनुष्ठान एवं कर्मकाण्ड की अधिकता होने लगी। इन अनुष्ठानों एवं कर्मकाण्ड के माध्यम से ब्राह्मणों की जो शक्ति बढ़ गई, उसे सुधारने के लिए दक्षिण की वैष्णव आचार्य परम्परा में सर्वप्रथम रामानुजाचार्य ने प्रयास किया। रामानुज (सन् 1107–1137 ई) ने शंकर के मायावाद के खंडन तथा

प्रवृत्तिमार्गी, आस्थामूलक सगुणोपासना की स्थापना के लिए श्री सम्प्रदाय के अंतर्गत विशिष्टताद्वैतवादी दर्शन की स्थापना की। नयनाट और आलवार सन्त पुस्तकीय ज्ञान की उपेक्षा करते थे, जबकि रामानुजाचार्य ने भक्ति को वेदों की परम्परा के साथ जोड़ने का प्रयास किया। आलवारों की भक्ति रामानुज के यहां दार्शनिक आधार पाकर नए युग की चुनौतियों का मुकाबला करने में सक्षम हुई। भक्ति आंदोलन के इस विकास क्रम में शंकराचार्य के अद्वैतवाद का खण्डन और विरोध करने वाले कई वैष्णव सम्प्रदाय उत्पन्न हुए जिनमें आस्थामूलक सगुणोपासना की स्थापना के लिए रामानुज के बाद श्री मध्वाचार्य ने ब्रह्म सम्प्रदाय के अंतर्गत द्वैतवाद का प्रवर्त्तन किया। मध्वाचार्य ने शंकर के मायावाद का खण्डन करते हुए विष्णु की भक्ति का प्रचार किया जिससे भक्तिपथ निष्कंटक हुआ। इस परम्परा में आगे चैतन्य सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक महाप्रभु चैतन्य हुए जो माध्व सम्प्रदाय में दीक्षित थे। इसके पश्चात् शुद्धाद्वैतवादी दर्शन का विकास इस सम्प्रदाय के विष्णु गोस्वामी से ही प्रारम्भ हो गया था किन्तु इसके वास्तविक प्रवर्त्तक तेलुगु ब्राह्मण वल्लभाचार्य (सन् 1479–1530) थे जिन्होंने इसका भक्ति–सम्प्रदाय 'पुष्टि मार्ग' चलाया। इसके पश्चात् तेलगु ब्राह्मण निम्बार्क (ग्यारहवीं–बारहवीं शती) ने सनक अथवा निम्बार्क सम्प्रदाय का प्रारम्भ किया। इस सम्प्रदाय के दार्शनिक मत का नाम द्वैताद्वैत अथवा भेदाभेद वाद है। इन सभी आचार्यों ने 'दिव्य प्रबन्धम' से तो प्रेरणा ली ही, साथ में श्रीमद भागवत, गीता, उपनिषद और ब्रह्मसूत्र को भी अपने चिंतन का आधार बनाया।

दक्षिण भारत के उक्त सभी आचार्यों ने उत्तर भारत की यात्राएं की और ब्रज प्रदेश को अपने धर्मप्रचार का केन्द्र बनाया। इनमें कृष्ण भक्ति की उत्तर भारत में पताका फहराने का सबसे अधिक श्रेय आचार्य वल्लभाचार्य को है। इनकी मृत्यु के उपरांत इनके कार्य को इनके पुत्र विट्ठलनाथ (सन् 1515–1581) ने आगे बढ़ाया। उत्तर भारत में कृष्णभक्ति की धारा को प्रवाहित करने वाले सम्प्रदायों में राधावल्ल सम्प्रदाय का विशेष योगदान है जिसके प्रर्वत्तक गोस्वामी हित हरिवंश जी (सन 1502–1552 ई.) थे। इसके अतिरिक्त हरिदास स्वामी (सन् 1490–1575 ई.) द्वारा चलाए गए हरिदासी या सखी सम्प्रदाय ने भी कृष्ण भक्ति के प्रसार में योग दिया।

उत्तर और दक्षिण भारत की भक्ति परम्पराओं, और सांस्कृतिक चेतना से जुड़े हुए इस आन्दोलन में सम्बन्ध सेतु का काम करने वाले आचार्य स्वामी रामानन्द (सन् 1299–1410) थे, जिन्होंने रामभक्ति के प्रचार के लिए, रामावत सम्प्रदाय की स्थापना की। रामानन्द के गुरु राघवानंद थे जोकि रामानुज के शिष्य थे। रामानन्द एक ओर रामानुज के श्री सम्प्रदाय की तेन्कलै शाखा से जुड़े थे तो दूसरी ओर उत्तर भारत के नाथों की योग साधना से। डा. पीतांबरदत्त बड़थ्वाल के अनुसार रामानन्द के गुरु राघवानन्द पर भी योगी नाथों का प्रभाव था। वे कहते हैं, ''राघवानन्द बाहर से रामानुज सम्प्रदाय में होते हुए भी वस्तुतः इन्हीं योगी–नाथों के उत्तराधिकारी हैं और उनसे पाई हुई सामग्री को उन्होंने रामानंद को दिया। यही कारण है कि उनकी शिष्य परम्परा में एक ओर कबीर आते हैं, जिन पर योगियों की परम्परा का प्रचुर प्रभाव है और दूसरी ओर उनकी प्रभाव परम्परा में तुलसीदास आते हैं, जिनमें दक्षिण भारत की प्रपतिमूलक रामभक्ति की प्रधानता है।'' रामानन्द एक क्रांतिकारी महापुरुष थे। उन्होंने भक्ति को जनतान्त्रिक रूप प्रदान किया। ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों की भक्ति का उपदेश उन्होंने दिया। यही कारण है कि उनके पांच सौ से भी अधिक शिष्य सारे उत्तर भारत में फैले थे और घर–घर में राम मंत्र का निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में प्रचार कर रहे थे। संस्कृत के प्रकांड पंडित होते हुए भी इन्होंने अपनी शिक्षाएं और उपदेश लोकभाषा में ही दिए। यही इनकी विशिष्टता एवं विलक्षणता है।

भक्ति आन्दोलन एवं इसकी सांस्कृतिक चेतना के विकास में रामानन्द की भांति ही उत्तर और दक्षिण की साधना–पद्धतियों में समन्वय स्थापित करने का श्रेय मराठी संत ज्ञानेश्वर (1275–1296 ई.) तथा नामदेव (सन्

1270–1350 ई.) को है। इनके द्वारा चलाए गए बारकारी सम्प्रदाय का सम्बन्ध दक्षिण भारत में विष्णु स्वामी द्वारा शुरू किए गए विष्णु स्वामी सम्प्रदाय से माना जाता है।

भक्ति आंदोलन के इन विभिन्न आचार्यों, सम्प्रदायों, सिद्धान्तों एवं दार्शनिकताओं के कारण ही भक्तिकाल में संत काव्य परम्परा, सूफी कवियों की प्रेमाख्यान परम्परा, रामभक्ति परम्परा तथा कृष्णभक्ति परम्परा के रूप में चार परम्पराएं चलती रहीं। निर्गुणोपासकों के राम निर्गुण होने के नाते घट–घट वासी हैं। इसीलिए वे सभी की सत्–शक्तियां और सत्–क्रियाओं के मूल स्रोत हैं तो सगुणोपासकों के राम अपनी सारी शक्ति राक्षसों, म्लेच्छों, अत्याचारियों के दमन में लगाते हुए प्रतीत होते हैं और लोकरक्षण का विश्वास जगाते हैं। इस प्रकार संतों ने हिंदुओं तथा मुसलमानों को सद्भावना और सदाचार के सोपान पर समान रूप से खड़ा कर दिया। भक्तिकालीन संतों का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य सम्प्रदाय निरपेक्षता और भावात्मक एकता रहा। इस दिशा में एक ओर सन्तों ने प्रयत्न किए तो दूसरी ओर सूफी साधकों ने। भिन्नता के बावजूद इन चारों में कई सामान्य प्रवृत्तियां भी प्राप्त होती रही क्योंकि सम्पूर्ण भक्ति आन्दोलन का स्वर मानव मात्र की समानता की घोषणा करने वाला रहा है। इस भक्ति आन्दोलन ने धर्म को एक विशेष वर्ग की सम्पत्ति न मानकर उसे सभी की सम्पत्ति माना था। ईश्वर की निर्गुण भक्ति को भी मोक्ष का आधार माना गया तथा सगुण भक्ति के आधार को भी। दोनों को मिला कर ईश्वर की उपासना की गई। समस्त भारत में हमें भक्ति–आन्दोलन के जो रूप मिलते हैं एक प्रबुद्ध विचारकों द्वारा प्रचारित रूप; दूसरा अशिक्षित, निम्नवर्गीय साधकों द्वारा स्थापित रूप। प्रबुद्ध चिन्तकों द्वारा आरम्भ किया गया भक्ति–आंदोलन समस्त भारत में फैल गया था और इस आन्दोलन ने विभिन्न मतों, धर्मों, सम्प्रदायों में विभक्त भारतीय जन को पुनः एक सूत्र में बांध दिया था, यही इस भक्ति आंदोलन की चरम सामाजिक और सांस्कृतिक उपलब्धि थी। बौद्ध धर्म के परवर्ती सिद्ध साधकों ने दूसरे रूप को जन्म दिया था। इस रूप में सामाजिक अन्याय के प्रति विरोध का उग्र और तीखा स्वर तो अवश्य रहा। परन्तु ये सिद्ध गण धर्म या भक्ति का कोई ऐसा सुचिन्तित स्वरूप स्पष्ट नहीं कर सके जो समाज के सभी वर्गों को समान रूप से प्रभावित कर पाता। कारण यह था कि ये लोग अशिक्षित थे और अशिक्षित होने के कारण तर्क या आस्था का अवलम्ब न ग्रहण कर चमत्कारों द्वारा ही समाज को प्रभावित करने का प्रयत्न करते रहते थे।

भक्ति आंदोलन ने समाज में ईश्वर विश्वास और आस्था के माध्यम से आत्मविश्वास और निर्भयता का संचार किया। साथ ही ज्ञान, सत्कर्म, सत्संकल्प, सदाचार और आदि मूल्यों की प्रतिष्ठा द्वारा सुदृढ़ सामाजिक संगठन की नींव डाली। युग के यथार्थ से टकरा कर भारतीय मनीषा इस युग में चिंतन, भावना और कल्पना की ऊंचाइयों का स्पर्श कर सकी। भगवान की महिमा के भावन से भक्तों ने आत्मगौरव या मानव महिमा का साक्षात्कार किया। भक्ति आंदोलन को आचार्य शुक्ल ने सही ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य एवं इतिहास दृष्टि के कारण इसका सम्बन्ध जनता के प्रतिरोध से जोड़ा था। लेखक की स्पष्ट धारणा है कि दक्षिण में रामदास स्वामी ने लोक धर्माश्रित भक्ति का संचार करके महाराष्ट्र में भक्ति का अभ्युदय किया। पीछे से सिक्खों ने भी लोकधर्म का आश्रय लिया और सिक्ख शक्ति का भी प्रादुर्भाव हुआ। डॉ. रामविलास शर्मा का भक्ति आंदोलन को जातीय आंदोलन मानना न्यायोचित है क्योंकि इस आन्दोलन में सन्तों ने जातिगत धर्म से ऊपर उठकर ईश्वर के प्रेम–स्वरूप का प्रचार किया तथा हिन्दू–मुस्लिम दोनों के हृदयों के अजनबीपन को मिटाया जिससे सांस्कृतिक द्वन्द्व के उपरान्त सांस्कृतिक समन्वय स्थापित हुआ।

10.6. सारांश :

यहां भक्ति आंदोलन के स्वरूप पर विचार करते समय कुछ बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है। वस्तुतः कोई भी आन्दोलन समाज से निरपेक्ष नहीं हो सकता। भक्ति उस युग की मांग ही नहीं, लोक जागरण का आधार भी थी। यही कारण है कि भक्ति आन्दोलन को आज सही ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समझने पर बल दिया जाता है। इसलिए भक्ति

आंदोलन के उद्‌भव के पीछे जो विभिन्न प्रकार के कारण दिये जाते हैं वह खोखले और निरर्थक साबित हो चुके हैं क्योंकि यह आन्दोलन अपने समय की सहज और स्वाभाविक उपज है जो तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार जन्मी। इसके सारे मूल तत्त्व इसी जमीन पर विद्यमान थे जैसे दक्षिण भारत में तो यह भक्ति की अजस्र धारा प्रबल वेग से बह रही थी, किन्तु उत्तर भारत में भी पौराणिक धर्म का प्रचार पहले से ही था। गहड़वार राजाओं के समय उत्तर भारत प्रधान रूप से स्मार्त धर्मावलम्बी था। सगुण भक्ति के आवश्यक उपकरण–वैयक्तितक सम्बन्ध का ईश्वर के प्रति होना तथा अवतारवाद पर विश्वास की भावनाएं इस प्रदेश की जनता में बद्धमूल थी। अतः भक्ति का बिरवा ऐसा नहीं है जोकि विदेश से लाया गया हो अथवा विधर्मियों द्वारा इसका सिंचन और पल्लवन हुआ हो। न तो यह निराशा–प्रवृत्तिजन्य है और न ही किसी प्रतिक्रिया का फल। वस्तुतः यह एक प्राचीन दर्शन–प्रवाह और प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा की एक अविच्छिन्न धारा है। इस धारा का प्रस्फुटन आकस्मिक नहीं, इसके लिए तो सुदीर्घ काल से सहस्रों मेघ खण्ड एकत्रित हो चुके थे। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी इस भक्ति आन्दोलन के साहित्य के विषय में लिखते हैं, ''समूचे भारतीय इतिहास में अपने ढंग का अकेला साहित्य है। इसी का नाम भक्ति साहित्य है। यह एक नई दुनिया है। वस्तुतः भक्ति युग का आन्दोलन एक ऐसा आन्दोलन है, जो सब आन्दोलनों से कहीं अधिक व्यापक और विशाल है, जिन्हें भारतवर्ष ने कभी भी नहीं देखा है। यहां तक कि वह बौद्ध धर्म के आन्दोलनों से भी अधिक व्यापक और विशाल है, क्योंकि इसका प्रभाव आज भी विद्यमान है।''

10.7. प्रश्नावली :

1. भक्ति काल की ऐतिहासक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

2. भक्तिकाल की परिस्थितियों पर प्रकाश डालिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

3. भक्तिकाल की सांस्कृतिक चेतना का विश्लेषण कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

4. भक्ति–आन्दोलन की पृष्ठभूमि के पीछे क्या कारण थे। इस पर सविस्तार प्रकाश डालिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

10.8. पठनीय संदर्भ ग्रन्थ :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ० नगेन्द्र
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास – हुकुम चन्द राजपाल

.....

निर्गुण काव्य की विशेषताएं एवं प्रमुख निर्गुण कवियों का योगदान

11.0. रूपरेखा

11.1. उद्देश्य

11.2. भूमिका

11.3. निर्गुण शाखा

11.4. ज्ञानमार्गी शाखा अथवा सन्त काव्य की प्रमुख विशेषताएं

11.5. ज्ञानमार्गी धारा के प्रमुख कवि

11.6. प्रेम मार्गी शाखा

11.7. प्रेम मार्गी धारा के प्रमुख कवि

11.8. निर्गुण काव्य की विशेषताएं

11.9. सारांश

11.10. प्रश्नावली

11.11. पठनीय संदर्भ ग्रन्थ

11.1. उद्देश्य :

इस अध्याय में भक्तिकाल की निर्गुण शाखा के काव्य की विशेषताएं एवं प्रमुख निर्गुण कवियों के योगदान के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। निर्गुण काव्य की ज्ञानमार्गी धारा के प्रवर्त्तक कबीर तथा प्रेममार्गी धारा के प्रर्वत्तक जायसी और उनके समकालीन अन्य सन्तों की दार्शनिकता इस अध्याय का मुख्य भाव है जो निर्गुण काव्य की विशेषताओं के रूप में सामने आया है। इसके अतिरिक्त इन कवियों ने भक्ति साहित्य में जो योगदान दिया

तथा अंधविश्वासों तथा रूढ़ियों में जकड़े समाज में ज्ञान की अलख जलाने का जो प्रयास किया तथा सबसे बढ़ कर तत्कालीन समाज की सबसे बुरी और बड़ी बुराई ऊँच–नीच और जातिगत भेदभाव की खाई को पाटने का प्रयत्न तथा हिन्दु–मुस्लिम एकता के समन्वय का जो प्रयत्न किया, उस पर इस अध्याय में विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

11.2. भूमिका :

'निर्गुण' शब्द का शाब्दिक अर्थ 'गुण रहित' है तथा 'गुण' का अर्थ है विशेषण या लक्षण। इसलिए जिस ब्रह्मा का निरूपण किसी विशेषण या लक्षण द्वारा न किया जा सके वह निर्गुण है। उपनिषदों में ऐसे ब्रह्मा को 'नेति–नेति' अर्थात् 'वह ऐसा नहीं है' कहा गया है। वह गुणातीत है। प्रकृति में सत्व, रज, और तप ये तीन गुण हैं। किन्तु निर्गुण ब्रह्म इन तीनों प्राकृतिक गुणों से रहित है जैसे

"निर्गुण सत्वरजस्तमांसि गुणाः तैः वर्जितः" अर्थात सत, रज और तम जो गुण है, उनमें वर्जित निर्गुण है।

निर्गुण ब्रह्म निराकार, अलक्ष्य, द्वैताद्वैत विलक्षण, एवं सत्व, रजस और तमस तीनों गुणों से परे है, फिर भी घट–घट में समाया हुआ है। इसे अपनी भक्ति का आलम्बन बनाना बहुत कठिन है। यह निर्गुण 'ब्रह्मा' अनुभूति का विषय है और प्रेम से प्राप्य है। यही निर्गुण 'ब्रह्म' तद्युगीन सामाजिक विसंगतियों और विषमताग्रस्त समाज को ऐक्य की अनुभूति कराने का सशक्त माध्यम बना। 'निर्गुण' भावना से भावित है। अरूप होकर भी सभी रूपों में विद्यमान है। आदि और अन्त से रहित है, फिर भी पिंड और ब्रह्मांड सभी में व्यापत है। देश–काल से परे है। जिसके स्वरूप का वर्णन करने में वाणी असमर्थ हो जाती है अर्थात जो गूंगे के गुड़ के समान अनुभूति का विषय है, रंग, रूप, रेखा से परे है, घट–घट का निवासी होने पर भी इन्द्रियों से परे है। निर्गुण काव्य में यह शब्द साहित्य का द्योतक न होकर गुणातीत की ओर संकेत करता है तथा किसी निषेधात्मक सत्ता को व्यक्त न करते हुए परब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुआ है। निर्गुण के स्वरूप के विषय में कबीर जी की ये पंक्तियां दृष्टव्य हैं

सतों, धोखा कासूं कहिये।
गुन में निरगुन, निरगुन में गुन, बाट छाँड़ि क्यूँ बहिये।
अजर–अमर कथै सब कोई अलख न कथणां जाइ।
नाति–स्वरूप–वरण नींह जाके घटि–घटि रह्यो समाइ।
प्यंड–ब्रह्मांड कथै सब कोई वाके आदि अरु अंत न होइ।
प्यंड–ब्रह्मांड छांडि जे कीहयै कहै कबीर हरि सोइ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी 'निर्गुण' शब्द को 'ब्रह्मा' का पर्याय माना है। अव्यक्त, निराकार, अरूप यह 'निर्गुण' अनुभूति का विषय है और प्रेम से प्राप्य है। जो भक्तिकाल में निर्मित साहित्य के अन्तर्गत मनुष्य–जीवन के एक निश्चित लक्ष्य और आदर्श को लेकर चला। तीन सौ वर्ष के लम्बे समय में प्रवाहित होती हुई भक्ति–भावना एक रूप में प्रवाहित नहीं हो सकती थी। प्राचीन परम्परा के परिणाम–स्वरूप भक्ति–भावना दक्षिण भारत में चल रही थी। जब वह उत्तर भारत में आई तो उस पर मुसलमानों के बस जाने के परिणाम–स्वरूप एक ऐसे धर्म की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी, जो दोनों वर्गों को समान रूप से ग्राह्य हो सके। इसलिए हिन्दुओं के अद्वैतवाद और मुसलमानों के एकेश्वरवाद को मिला कर भक्ति के क्षेत्र में 'निर्गुण भक्तिधारा' का प्रारम्भ हुआ। इसके अनुसार भगवान् निर्गुण है, निराकार है, उसकी प्राप्ति के लिए आचरणों की आवश्यकता नहीं, बल्कि अन्तः साधना की आवश्यकता है। निर्गुण

काव्य धारा के कवियों में उन कवियों का स्थान है, जिन्होंने एकेश्वरवाद में आस्था व्यक्त करते हुए निर्गुण–निराकार ईश्वर की भक्ति का सन्देश दिया। सामाजिक स्तर पर इन कवियों ने पाखण्ड के विरोध एवं हिन्दू–मुस्लिम एकता पर बल दिया। निर्गुण काव्यधारा के कवियों द्वारा तत्कालीन समाज में एक प्रकार की वैचारिक क्रान्ति का उदय हुआ। इन कवियों के पास धर्म, दर्शन, भक्ति और चरित्र–निर्माण के लिए अपना निजी सन्देश था। ये धर्म के क्षेत्र में संकीर्णता के भी घोर विरोधी थे। निर्गुण कवियों में समन्वय–दृष्टि का स्वस्थ रूप से विकास हुआ था। कबीर, दादू, हरिदास, जायसी, मुल्ला दाऊद इत्यादि कवियों ने जिस रूप में अपने विचार व्यक्त किये हैं, उनका आधार कोई एक विचारधारा या मतवाद नहीं है। अद्वैतवाद, वैष्णवों की भक्ति–भावना, सिद्धों–नाथों की सहज–सरल साधना आदि की पद्धति का इनके द्वारा किया गया समन्वय सर्वजन सुलभ था। कविता के माध्यम से इन्होंने जो कुछ लिखा, उसे साधारण और सहज भाषा में प्रस्तुत किया जोकि जनभाषा के रूप में इस्तेमाल होती थी। आध्यात्मिक दृष्टि से सम्पन्न निर्गुण धारा के इन कवियों में ज्ञानमार्गी कवियों ने अपने काव्य में जहाँ पर तत्कालीन समाज में व्याप्त कुरीतियों और मिथ्या आडम्बरों पर प्रहार करते हुए ईश्वर के निर्गुण रूप की सत्ता को प्रतिष्ठापित किया। वहीं पर प्रेम मार्गी कवियों ने अपने काव्य में हिन्दू जनता में प्रचलित कथाओं के आधार पर अपने काव्य की रचना करते हुए ईश्वरीय प्रेम का वर्णन किया।

इस प्रकार भक्ति की दो प्रमुख धाराएं हो गईं (1) निर्गुण भक्तिधारा (2) सगुण भक्तिधारा

निर्गुण भक्तिधारा आगे चल कर दो उपशाखाओं में बंट गई (1) ज्ञानमार्गी शाखा और (2) प्रेममार्गी शाखा

इन्हें विद्वान् क्रमशः सन्त काव्यधारा और सूफी प्रेम काव्य धारा का नाम देते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सन्त काव्य को ''निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा'' का नाम देते हैं। डा. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी इस शाखा को निर्गुण भक्ति साहित्य कहते हैं। डा. राम कुमार वर्मा इसे 'सन्त काव्य परम्परा' का नाम देते हैं।

11.3. निर्गुण–भक्ति शाखा :

(1) **ज्ञानमार्गी शाखा** कालक्रम की दृष्टि से भक्ति–काव्य में सर्वप्रथम ज्ञानाश्रयी शाखा का उदय हुआ। ज्ञानमार्ग की प्रतिष्ठा आचार्य शंकर ने की थी उन्होंने ज्ञान और भक्ति तथा निर्गुण और सगुण भक्ति के विरोध की स्थापना करते हुए निर्गुण को ज्ञान से संबद्ध किया है। उन्होंने निर्गुण ब्रह्म तथा ज्ञान साधना को ही परम सत्य के रूप में स्वीकार किया। इसलिए निर्गुण काव्यधारा में ज्ञान की अनुभूति को ही भक्ति माना जाता है अर्थात् निर्गुण ब्रह्मा को प्राप्त करने का साधन ज्ञान को बताया गया है। ज्ञानमार्गी शाखा की निर्गुण भक्ति ने समानता का संदेश दिया। निर्गुण भक्त कवियों का उद्देश्य एक ऐसे समाज का निर्माण करना था जहां किसी प्रकार का भेद नहीं हो। इस शाखा के कवियों ने समाज–सुधार पर विशेष बल दिया है। इसलिए इस शाखा के साहित्य को सन्त साहित्य भी कहते हैं। 'सन्त' शब्द उस व्यक्तित्व की ओर संकेत करता है जिसने सत्रूपी परमतत्व का अनुभव कर लिया हो, जो अपने अहं से ऊपर उठकर उसके अस्तित्व में विलीन हो गया हो। कबीर की एक साखी के अनुसार–निरबैरी, निहकामता, सांई सेंती नेह। विषया सून्दरा रहे, संतनि को अंग एह। अर्थात् संतों का लक्षण उनका निबैरी निष्काम, प्रभु का प्रेमी और विषयों से विरक्त होना है। भक्तिकाल में इस शब्द का प्रयोग उन भक्तों के लिए होने लगा जो वारकरी सम्प्रदाय के प्रधान प्रचारक थे और उनकी साधना–पद्धति निर्गुण भक्ति के आधार पर चलती थी। इनमें नामदेव, ज्ञानदेव, एकनाथ इत्यादि महाराष्ट्रीय प्रान्त से सम्बन्धित भक्तों के नाम आते हैं। उनके सिद्धान्तों और स्थापनाओं में समानता होने के कारण, उत्तरी भारत में कबीर इत्यादि भक्त कवियों के लिए भी यह शब्द प्रचलित हो गया।

भक्तिकाल की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों की अत्यन्त विषम अवस्था में अपनी भक्तिभावना द्वारा समाज में एक नयी अलख जगाने का महत्वपूर्ण कार्य सन्त काव्यधारा के कवियों ने किया। अपनी ज्ञानाधारित भक्तिभावना और धार्मिक निष्पक्षता एवं न्यायप्रियता से इन कवियों ने तत्कालीन मान्यताओं को जन–साधारण के लिए बोधगम्य और आसान बनाया। इन कवियों के साहित्य में आध्यात्मिक प्रेरणा और चेतना के साथ–साथ सामाजिक चेतना भी अग्रणी थी। जातिवाद सामाजिक विसंगतियों और विषमताओं को उत्पन्न करता है। संत कवि इसके सख्त विरुद्ध थे वे सदैव एक मानवतावादी और समानतावादी समाज की स्थापना के लिए प्रयत्नशील तथा जागरूक रहे। इसीलिए उन्होंने समाज–सुधार पर विशेष बल दिया तथा हिन्दू–मुस्लिम दोनों की निरर्थक रूढियों और संस्कारों का विरोध कर दोनों जातियों में अविरोध–भाव उत्पन्न करने का प्रयास किया। हिन्दू–मुस्लिम दोनों में भावात्मक एकता लाने के लिए इन्होंने निर्गुणवाद के आधार पर राम और रहीम की एकता और समरूपता का सन्देश दिया। सन्त अथवा ज्ञानाश्रयी काव्यधारा के उद्‌भव में तत्कालीन परिस्थितियों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। सन्त कवियों ने पांडित्य और पुस्तकीय ज्ञान को व्यर्थ मानते हुए मानवीयता और मनुष्य के विवेक और अनुभव पर बल दिया तथा अपने साहित्य में लौकिक अनुभूतियों को स्थान दिया। सन्त कवियों ने अपने साहित्य में निर्गुण मार्ग और ज्ञान मार्ग को सैद्धान्तिक रूप में अपनाते हुए उसके व्यावहारिक पक्षों पर भी बल दिया। सन्त मत भक्ति–आन्दोलन की वह शाखा है जिसका नेतृत्व उच्च वर्ग के शिक्षित लोगों द्वारा न होकर निम्नवर्ग के अशिक्षित लोगों द्वारा हुआ। सन्त काव्य में आध्यात्मिक विषयों की अभिव्यक्ति हुई है परन्तु वह जन–जीवन पर आधारित अनुभूतियों से सम्पन्न है। सन्त काव्य किसी विदेशी धर्म साधनाओं के प्रभाव से विकसित साहित्य नहीं है बल्कि यह तत्कालीन आन्दोलन से प्रभावित अपभ्रंश की काव्य–धारा विशेष का विकसित रूप है, जो महाराष्ट्र से होता हुआ हिन्दी प्रदेश में पहुंचा और इसने अनेक धार्मिक सम्प्रदायों के प्रभाव को आत्मसात् किया है, किन्तु इसमें धर्म अथवा साधना की कोई शास्त्रीय व्याख्या नहीं बल्कि जन–भाषा में उसका मर्म है। इस काव्य में जन–जीवन के सत्य की अभिव्यक्ति अलंकार विहीन सीधी–सादी भाषा में है, यहां पग–पग पर स्वाधीन चिंतन प्रतिफलित हुआ है। सन्त साहित्य साधना, लोक पक्ष तथा काव्य–वैभव सभी दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। नाथ–सम्प्रदाय की पद्धति शास्त्रीय और साधना व्यक्तिगत थी, किन्तु सन्त–सम्प्रदाय की पद्धति स्वतन्त्र और साधना सामाजिक थी। सन्त कवियों की विचार–सरणि निजी अनुभूतियों पर आधारित थीं, अतः उसमें दर्शन की शुष्कता न होकर काव्य की कोमलता है। सन्त साहित्य में एक अद्‌भुत विचारगत साम्य है।

सन्त साहित्य में सभी सन्त कवि निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर बल देते थे। निर्गुण ईश्वर की उपासना का उपदेश देकर निर्गुण पंथ के इन कवियों ने भक्ति को जन–साधारण और लोक के साथ स्थापित करने का माध्यम बनाया तथा यह उपदेश भी दिया कि निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति सद्‌गुरू द्वारा दिए गए ज्ञान से ही हो सकती है। सन्तों की साधना अपने युग की विषम समस्याओं का समाधान थी। सन्तों की गंभीर, सत्यनिष्ठ दृष्टि व्यापक लोकहित की भावना से भी अनुप्रेरित थी। इसलिए लोक और जन–साधारण को उन्होंने सांसारिक माया जाल के आवरण से मुक्त होकर, ज्ञान चक्षुओं को खोल कर साक्षात् सत्य रूपी परब्रह्म का साक्षात्कार सद्‌गुरु द्वारा दिए गए ज्ञान के उपदेश से सम्भव होना बताया। लोकहित, सामाजिक नैतिकता और मर्यादा के कारण हिन्दी साहित्य के इतिहास से इन कवियों की विशिष्टता है। सन्त काव्य की प्रवृत्तियाँ अथवा विशेषताओं को सभी ने अपने–अपने ढंग से विवेचित–विभाजित किया है किन्तु इससे विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

11.4. ज्ञानमार्गी शाखा अथवा सन्त काव्य की प्रमुख विशेषताएं :

11.4.1. भक्ति निरूपण – सन्त कवियों ने भक्ति के अनुभूति–पक्ष को ही मुख्य रूप से चित्रित किया है। निर्गुण

ब्रह्मा की प्राप्ति ज्ञान के द्वारा ही की जा सकती है। इसी कारण इन कवियों को ज्ञानमार्गी कहा गया। इन्होंने मूर्तिपूजा, अवतारवाद, बहुदेववाद तथा सगुणवाद इत्यादि को त्याज्य बताया और केवल निर्गुण ब्रह्मा की सत्ता को ही स्वीकार किया। सन्तों की भक्ति के उपास्य परब्रह्मा परमेश्वर हैं। इन्होंने एकमात्र उन्हीं की भक्ति को भवसागर से मुक्ति का साधन बताया। ईश्वर के प्रति प्रेम और अनुराग को व्यक्त करने की इनकी साधना पद्धति नामस्मरण की साधना तथा स्वानुभूतिपरक आत्मनिवेदन को स्वीकार करती है। अपने निरंजन के प्रति वे अपनी भक्ति और श्रद्धा तथा उससे अपने हृदय को दास्य, दैन्य, सख्य, रति, वात्सल्य इत्यादि सभी भावों से जोड़ते हैं। इनके भक्ति भाव में सर्वप्रथम अहम् का त्याग आवश्यक है क्योंकि इनकी दृष्टि में अहम् का नाश होते ही भक्त और भगवान् का अन्तर समाप्त होकर दोनों एकाकार हो जाते हैं। सन्त भक्तों की भक्ति साधना कठिन और दुष्कर है क्योंकि इसमें भक्त को मोह–माया और सांसारिकता को त्याग कर अपने भीतर छिपे दुर्गुणों और सांसारिक शत्रुओं को मारना पड़ता है तथा हृदय को धार्मिक और आध्यात्मिक चेतना की तरफ अग्रसर करना पड़ता है। सन्त भक्तों के लिए भक्ति उनके हृदय की प्रवृत्ति है क्योंकि इसका लक्ष्य और दिशा आध्यात्मिक है। इनके अनुसार भगवान् का सामीप्य प्राप्त कर उसके साथ तादात्मय स्थापित करना तथा उसके साथ एकात्मक हो जाना ही भक्त का लक्ष्य है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर परमात्मा और जीवात्मा में कोई अन्तर नहीं रह जाता। प्रभु प्रेम की सुखानुभूति का आनन्द मात्र अनुभव किया जा सकता है व्यक्त नहीं किया जा सकता :

"अकथ कहानी प्रेम की कछु कही न जाय
गूंगे केरी सरकरा, खाए और मुसकाय।।"

निर्गुण भक्ति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता निष्काम भक्ति है। इस प्रकार की भक्ति करने से जीवनकाल में जीवनमुक्ति और देह त्यागने पर मोक्ष भी प्राप्त हो जाता है इसलिए सन्त भक्तों ने प्रपत्तिपरक भक्ति भाव के विविध सोपानों का चित्रण किया है जिसमें प्रथम हैं–'आनुकूल्यस्य संकल्पः' अर्थात् भगवान् के अनुकूल रहने का संकल्प। द्वितीय है 'प्रतिकूल्यस्य वर्जनम्' अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि माया जन्य भावों की प्रतिकूलता या त्याग। तृतीय है, 'रक्षित्यतीति विश्वास' अर्थात् भक्त ईश्वर की रक्षणशीलता पर पूर्ण विश्वास करे। इसी प्रकार 'मोहि राम भरोसो तेरो, और कौन का करूं निहोरो,' आदि उक्तियाँ ईश्वर पर अड़िग आस्था का संकेत करती है। प्रपत्ति भाव की भक्ति की अन्य विशेषता एकमात्र भगवान् के गुणों का वरदान तथा वर्णन करना है। इसलिए सन्त भक्तों की वाणी यही प्रस्फुटित करती है'निर्गुण राम जपहु रे भाई'। इसका अन्य अंग 'आत्मनिक्षेप' है अर्थात् अपने को पूर्णतया भगवान् के अधीन कर देना जैसे'तन मन जीवन सौंपि सरीरा। ताहि सुहागिनी कहै कबीरा।।' सन्त कवियों का प्रमुख लक्ष्य सामान्य भक्ति पद्धति का प्रचार करना था। जिससे जातिगत भेद–भाव की भावना का परिहार हो सके। इसलिए सभी सन्त कवियों ने मनुष्य मात्र को समान मानते हुए सबको भगवद् भक्ति का समान अधिकारी बताया है

जाति–पांति पूछे नहीं कोई,
हरि को भजै सो हरि का होई

सन्त भक्तों ने प्रभु के नाम स्मरण को साधना का आधार माना है। इनके अनुसार नाम सुमिरन ही मोक्ष प्राप्ति में सहायक है। इस प्रकार की साधना भक्ति मनुष्य के अंतःकरण को शुद्ध कर उसे सांसारिक आडम्बरों और कर्मकाण्डों की व्यर्थता से दूर कर देती है।

11.4.2. सामाजिक चेतना

भक्ति काव्य अपने मूल में सामाजिक और सांस्कृतिक आन्दोलन को समेटे हुए था। यह मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन लोक जागरण, भारतीय जागरण अथवा जन आन्दोलन के नाम से जाना जाता है। इस युग में समाज में विभिन्न वर्ग एवं जातियां रूढ़ि–ग्रस्तता, धार्मिक भेदभाव एवं कई सामाजिक विषमताओं एवं अव्यवस्थाओं से जूझ रही थी। भक्ति आन्दोलन इस रूढ़िग्रस्त, समाज और उसकी अमानवीय व्यवस्थाओं के प्रति आक्रोशात्मक एवं सामाजिक जागरुकता और चेतना से भरपूर अभिव्यक्ति था। इस भक्ति आन्दोलन का जन–साधारण पर व्यापक और तीव्र प्रभाव हुआ था। समाज की निम्न, शूद्र और हेय समझी जाने वाली जातियों में सन्तों का प्रादुर्भाव हुआ। कबीर, रैदास, सेना, पीपा इत्यादि सन्तों ने जातिवाद और वर्ण–व्यवस्था के प्रतिरोध में अपनी सामाजिक और वैचारिक प्रखरता का परिचय दिया। जिससे अपनी जाति और पहचान के लिए इनमें किसी भी प्रकार की कोई हीन भावना नहीं थी अपितु अपने साहित्य सृजन में भी इन्होंने अपनी व्यक्तिगत पहचान को ही बनाए रखा। रविदास के शब्दों में

"जाके कुटुम्ब ढोर ढोवंत फिरहिं अजहुँ बानारसी आसपास।
आचार सहित विप्र करहिं डंड डीत तिन तनै रविदास दासानुदासा।।"

सन्त भक्तों का समय सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक दृष्टि से घोर अव्यवस्था का समय था। हिन्दू समाज शास्त्रीय धर्म पर आधारित था जिसमें जातिवादी और वर्णश्रमवादी व्यवस्था थी तो दूसरी ओर इस्लाम धर्म की धार्मिक कट्टरता, उग्रता और सामाजिक विषमता भी अपने पूरे प्रभाव पर थी। ऐसे में मानव मूल्यों और मनुष्यता को सबसे बड़े धर्म और आस्था में बनाये रखने के लिए सन्त कवियों ने अपना साहित्य सामाजिक अव्यवस्था, अनैतिकता, तथा अनावश्यक आडम्बरों, रूढ़ियों और परम्परागत परम्पराओं के विरोध में रचा। समाज शास्त्रीय आडम्बरों और कर्मकाण्डों से चल रहा था। लोकाचार सम्बन्धी कुरीतियां भी यत्र–तत्र विद्यमान थीं। युगचेता सन्त कवियों ने रूढ़ियों और व्यर्थ के आड़म्बरों में जकड़े हुए मनुष्यों और समाज के भीतर सामाजिक चेतना भरने का भरपूर प्रयास किया।

11.4.3. निर्गुण ब्रह्मा में विश्वास

सन्त साहित्य की महत्वपूर्ण विशेषता निर्गुणोपासना अथवा निर्गुण ईश्वर में विश्वास है। परन्तु सन्त कवियों का युगीन परिवेश दो स्तरों पर सामाजिक विषमताओं से ग्रस्त था। एक ओर अवतारवाद जन्म–जन्मांतर तथा मूर्तिपूजा में विश्वास रखने वाला हिन्दू समाज था तो दूसरी ओर इस्लामिक कट्टरताओं से जकड़ा हुआ मूर्ति भंजक मुस्लिम समाज था। विषमता का दूसरा स्तर हिन्दू समाज की आंतरिक विषमताओं से सम्बन्धित था। मूर्तिपूजा, अवतारवाद, तीर्थाटन तथा कर्मकाण्ड इत्यादि सगुणोपासना से सम्बन्धित थे और सगुणोपासना विषमता के प्रसार का मूल कारण बनी हुई थी। समाजचेता सन्तकवियों ने समस्या के स्वरूप का बिल्कुल वस्तुनिष्ठ और मंगलमूलक दृष्टि से अध्ययन किया और सगुणोपासना के स्थान पर निर्गुणोपासना का पथ प्रशस्त किया क्योंकि उनके अनुसार निगुणोपासना को स्वीकार करते हुए ही सगुणोपासना, अवतारवाद, मूर्ति–पूजा, धार्मिक, कुरीतियों इत्यादि का स्वतः निराकरण हो जाता है। इनका विरोध करते हुए सन्त कवियों ने राम–नाम के मर्म पर ही बल दिया। कबीर का कहना है

दशरथ सुत तिहूं लोक बखाना,
राम नाम का मरम है आना।

सन्त कवियों ने निर्गुण ब्रह्म की उपासना का मार्ग हिन्दू–मुस्लिम के साथ–साथ अन्य जातियों और वर्णों के लिए भी समान रूप से खुला रखा। निर्गुण ईश्वर को इन सन्तों ने वर्णनातीत माना तथा इसे अनुभवजन्य कहा, क्योंकि

निराकार ईश्वर सृष्टि के प्रत्येक कण–कण में विद्यमान है। अतः उसे बाहर ढूंढना मूर्खता है। केवल ज्ञान द्वारा ही उसे हम अपने हृदय के भीतर ही प्राप्त कर सकते है। चाहे उसे परमात्मा कहो, राम कहो अथवा खुदा या रहीम कहो, कोई अन्तर नहीं पड़ता। ईश्वर तो अविगत हैं। नाम, रूप, रंग, आकार इत्यादि से परे हैं। वेद, पुराण तथा स्मृतियाँ वहाँ तक नहीं पहुंच सकती। कबीर का कहना है

निर्गुणनाम जपहु रे भाई।
अविगत की गति लखि न जाई।।

सन्त कवियों के अनुसार 'ब्रह्मा' अजन्मा और निर्विकार है। जिसे मन्दिरों–मस्जिदों अथवा जंगलों–पर्वतों पर कठिन तपस्या करके प्राप्त नहीं किया जा सकता। वह तो मनुष्य के हृदय में ही विद्यमान है। इस विषय में कबीर का कहना है

कस्तूरी कुंड़ली बसै मृग ढूंढे वन माहिं।
ऐसे घट–घट राम है, दुनिया देखे नाहिं।।

सन्त कवियों ने धार्मिक कट्टरता को सांप्रदायिक सीमाओं से निकाल कर मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित किया। इसीलिए सन्तों का निर्गुण ब्रह्मा निराकार, अगोचर और निरंजन होते हुए भी मानवीय गुणों से सम्पन्न है। सन्त कवि दादू दयाल निर्गुण ब्रह्मा की दीन–दयालुता का उल्लेख करते हुए कहते हैं

देखत दीन दुखी क्यों कीजे,
तुम हो दीन दयाल।।

इसके साथ ही सन्तों की दृष्टि में वह व्यक्ति भी राम–रूप हो जाता है जिसमें मानवीय गुणों का उत्कर्ष हो जाता है। सन्त कवि रज्जब के शब्दों में

शील रहे सुमिरण गहै, सतय सन्तोषण नेह।
रज्जब प्रत्यक्ष राम जी, प्रगट भये तेहि गेह

11.4.4. सद्गुरु की महत्ता

ज्ञानमार्गी सन्त कवियों ने सद्गुरु की महत्ता पर अत्यधिक बल दिया है। उन्होंने गुरु को ईश्वर से अधिक मान दिया है। इनके अनुसार राम की कृपा भी भक्त पर तभी होती है, जब गुरु की कृपा होती है। कबीर के शब्दों में

गुरु गोबिन्द दोउ खड़े काके लागूं पायं।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो बताइ।।

सन्त कवियों ने सांसारिक मोह–माया के आवरण से मुक्ति तथा परब्रह्मा निरुपाधि ईश्वर के साक्षात्कार के लिए सद्गुरु के महत्व को स्वीकार किया है। उन्होंने गुरु की महिमा को अनंत माना है क्योंकि वही अंनत से मिलाप कराने वाला है तथा गुरु ही मनुष्य के ज्ञान चक्षु खोल कर उसके हृदय में छाये हुए अन्धकार को दूर कर सकता है। कबीर के शब्दों में

सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपकार।
लोचन अंग उधाडिया, अनंत दिखावण हार।।

सन्त कवियों के अनुसार गुरु पग–पग पर मार्ग–दर्शन कराने वाला प्रत्यक्ष ब्रह्मा है। जो संसार में जीवन रूपी खेल खेलने तथा उसमें हार–जीत के सारे दांव मात्र ईश्वर के प्रेम से हासिल करने के गुर बताता चला जाता है

पासा पकड़ा प्रेम का, सारी किया सरीर।
सतगुरु दांव बताइया, खेलै दास कबीर।।

सन्त कवि यह भी मानते थे कि बिना गुरु की शिक्षा से कोई ज्ञानवान नहीं हो सकता। मनुष्य की शंकाओं का समाधान बिना गुरु के कोई नहीं कर सकता और प्रभु राम से सच्चा सम्बन्ध स्थापित करवा सकता है। सद्गुरु ही ज्ञान की अग्नि में तपाकर शिष्य के सार भूत अंश को, उसके वास्तविक स्वरूप को, माया के विजातीय तत्व से अलग कर देता है। कबीर के शब्दों में

सतगुरु मेरा सूरिबाँ, ज्यों तातैं लोहि लुहार।
कसनी दै कंचन किया, ताइ लिया ततसार।।

सन्त कवि गुरु और ब्रह्मा में अन्तर नहीं मानते। वे मानते हैं कि बह्म तो फिर भी परोक्ष सत्ता है परन्तु गुरु तो प्रत्यक्ष ब्रह्मा है। गुरु महिमा और ब्रह्मा में अभेदता स्पष्ट करते हुए सन्त रज्जब ने कहा है

जन्म सफल तब का भया, चरणो चित्त लाया।
रज्जब राम दया करी, दादू गुर पाया।।

सन्त कवियों ने ज्ञान, भक्ति और योग इत्यादि समस्त सन्दर्भों में गुरु के महत्व को प्रतिपादित किया है तथा माना है कि गुरु की कृपा से ही मनुष्य संसार के समस्त बन्धनों से मुक्त हो सकता है। इन्होंने गुरु को मुक्ति के पर्याय के रूप में भी स्वीकार किया है

11.4.5. बहुदेववाद तथा अवतारवाद का विरोध– प्रायः सभी सन्त कवियों ने बहुदेववाद तथा अवतारवाद का विरोध किया है। इस अवधारणा पर अविश्वास प्रकट करते हुए उन्होंने इसका निर्भीकतापूर्वक खण्डन किया तथा हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता स्थापित करने के उद्देश्य से एकेश्वरवाद का समर्थन किया। इन निर्गुणवादी सन्त कवियों ने 'राम' और 'रहीम' तथा 'कृष्ण' और 'करीम' को एक ही ईश्वर का रूप बताया। इस विषय में कबीर की निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं

जन्म मरन से रहित है मेरा साहिब सोय।
बलिहारी वहि पीव की, जिन सिरजा सब कोय।।

बहुदेववाद तथा अवतारवाद के विरोध के पीछे एक तो शंकर के अद्वैतवाद का प्रभाव शेष था तथा दूसरे यह सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक आवश्यकता भी थी क्योंकि तत्कालीन मुसलमान शासक वर्ग एकेश्वरवादी था तथा समाज का दूसरा महत्वपूर्ण हिन्दू वर्ग बहुदेववादी तथा अवतारवाद के सिद्धान्तों पर आस्था रखने वाला था। इन दोनों जातियों में फैली वैमनस्यता तथा धार्मिक कट्टरता को दूर कर उनमें शांति एवं एकता की स्थापना हेतु ही इन्होंने एकेश्वरवाद का उपदेश दिया तथा बहुदेववाद का घोर विरोध किया। सन्त चरनदास के शब्दों में

यह सिर नवे न राम कूं, नाहीं गिरियो टूट।
आन देव नहि परसिये, यह तन जाये छूट।।

सन्त कवियों का यह भी विश्वास था कि 'अवतार' भी जन्म–मरण के बन्धन में ग्रस्त होते हैं। इसलिए वे भी परम ब्रह्मा की भक्ति प्राप्त नहीं कर सकते। मुख्य हिन्दू अवतारों के साथ–साथ ब्रह्मा, विष्णु, महेश की इन सन्तों ने

प्रशंसा नहीं की और उन्हें मायाग्रस्त घोषित किया क्योंकि इनके अनुसार उनका भी कर्ता निराकार परम ब्रह्मा ही है। कबीर के शब्दों में

अक्षय पुरुष इक पेड़ है, निरंजन बाकी डार।

त्रिदेवा शाखा भये पात भया संसार।।

11.4.6. जाति–पाति के भेद–भाव का विरोध सन्त कवियों के अनुसार ईश्वर की दृष्टि में, मनुष्य की संरचना में कोई भेद नहीं है। जाति और वर्ण–व्यवस्था मानवकृत है, ईश्वर रचित नहीं। जो शुद्ध मन से ईश्वर का भजन करता है, वही भक्त है। ईश्वर अपने भक्तों को भक्ति के अन्तर्गत स्वीकार करता है, जातियों के अन्तर्गत नहीं। उनका यह भी विश्वास था कि ऊंच–नीच और जाति–पाति की दीवारें तो मनुष्य ने अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए खड़ी की हैं जबकि ईश्वर तो सबका सांझा है

जाति–पाति पूछे नहीं कोई,

हरि को भजे सो हरि का होय

सन्त कवि जो स्मृति–आधारित वर्ण व्यवस्था के पीड़ित वर्ग से उठ कर आये थे। उन्होंने जन्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र होने की बात को नकार दिया। ये चारों जातियां हज़ारों वर्षों से वर्णसंकर अथवा जाति–बहिष्कृत लोगों की संख्या बढ़ने के साथ ही हज़ारों उपजातियों में विभक्त हो गई थीं। जाति का शिकंजा समाज पर बुरी तरह से कसा हुआ था। सन्त कवियों ने इस स्थिति के निवारण के लिए ही जातिव्यवस्था पर प्रहार किया। समाज का यह दृष्टिकोण भी उन्हें कदाचित अखरा कि ब्राह्मण से उत्पन्न व्यक्ति ही ब्राह्मण कहलाए, भले ही उसके कर्म शूद्रों वाले हों, तथा अन्य उच्च जातियों के कर्म भी भले ही उनकी जाति के अनुसार न हो परन्तु वह उच्च जाति के ही कहलवायेंगे तथा शूद्र जाति के लोग बुद्धिमान अथवा विवेकशील होने के बावजूद भी पढ़ने–लिखने से वंचित रखे जायें तथा धर्मक्षेत्रों में उनका प्रवेश वर्जित हो। इन सामाजिक और धार्मिक विसंगतियों को दूर करने के लिए भी उन्होंने जाति–पाति और वर्ण–व्यवस्था के प्रति तीव्र आक्रोश प्रकट किया

ऊंचे कुल का जनमिया, जे करनी ऊंच न होई

सुबरन कलस सुरा भरा, साधुनिंदा सोई

वे चाहते थे कि विवेकशील और ज्ञानवान व्यक्ति का आदर होना चाहिए और उसे समाज में उचित स्थान मिलना चाहिए, भले ही वह किसी भी जाति वर्ण या धर्म से हो। इसीलिए उन्होंने कहा

जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान।।

उनके अनुसार पंडित और विद्वान वह नहीं है, जो वेद–पुराण पढ़ता है और शास्त्रों का ज्ञान रखता है। उनके अनुसार पंडित वह भी है जो मानवीय गुणों से परिपूर्ण है, एकता में विश्वास रखता है तथा ब्रह्मा को जानता है

पोथी पढि–पढि जग मुआ, पंडित भया न कोय,

ढाई अच्छर प्रेम के पढ़े सो पंडित होय।।

11.4.7. रुढ़ियों और आडम्बरों का विरोध–सिद्धों और नाथ पंथियों से प्रभावित होने के कारण प्रायः सभी सन्त कवियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों में प्रचलित रूढ़ियों, अन्धविश्वासों और मिथ्या आडम्बरों की कटु भर्त्सना की

है। इन्होंने धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा, बहुदेववाद, अवतारवाद, मूर्तिपूजा, तीर्थ, व्रत तथा रोजा, नमाज, हज इत्यादि विधि–विधानों का कड़ा विरोध करते हुए अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त कीं। हिन्दुओं की मूर्तिपूजा पर कटाक्ष करते हुए उन्होंने कहा

पाहन पूजे हरि मिलै, तो मैं पूजूं पहार।
ताते वह चाकी भली, पीस खाय संसार।।

हिन्दुओं की तीर्थ सम्बन्धी अवधारणा पर भी कटाक्ष करते हुए कहा

तीरथ करि–करि जग मुआ, जूड़ै पानी न्हाइ।
राम नाम जानै बिना, काल गरासा जाइ।।

इसी प्रकार उन्होंने मुसलमानों की नमाज पर कटाक्ष करते हुए कहा

कांकर पत्थर जोरि के मस्जिद लई बनाय।
तां चढि मुल्ला बांग दे, क्या बहिए हुआ खुदाय।।

तथा उनके खुदा को हज करके प्राप्त करने की अवधारणा पर भी कटाक्ष किया

सेख सबूरी बाहिरा, क्या हज काबै जाई।
जाको दिल साबित नहीं, ताकि कहां खुदाई।

11.4.8. मानवतावादी दृष्टि– सन्त कवियों की धर्म भावना मानवतावादी दृष्टिकोण पर टिकी है। उनके द्वारा स्थापित मानव धर्म में सारी सृष्टि ईश्वर का स्वरूप है। उसके द्वारा बनाए गये मनुष्यों में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर देखने वाली दृष्टि में है। उनका सिद्धान्त था कि ''साईं के सब जीव हैं''। इस युग में जाति प्रथा की कुप्रवृति के साथ–साथ व्यक्ति की सामाजिक स्थिति उसके वर्ण अथवा व्यवसाय के आधार पर परखी जाती थी। सन्त कवियों ने इसका विरोध कर मात्र भक्ति के आधार पर व्यक्ति को ऊंचा या नीचा स्थान दिया। मात्र जाति के आधार पर कोई ऊंचा या श्रेष्ठ नहीं हो सकता, जब तक कि उसका कर्म न श्रेष्ठ है। शायद इसीलिए कबीर ने तीखे स्वर में ब्राह्मण की श्रेष्ठता पर कटाक्ष करते हुए कहा है

तू ब्राह्मण हौं काशी का जुलाहा चीन्ह न मोर गियाना।
जौ तू बामण बामणी जाया, तौ आन बाट ह्वै क्यों नहीं आया।।

सन्त कवियों द्वारा स्थापित मानव धर्म के दो पहलू उभर कर सामने आये हैं। अपने सकारात्मक पहलू में उन्होंने प्रेम, अहिंसा, सत्य, सहानुभूति, करुणा, दया और मानवीयता इत्यादि शाश्वत मानव मूल्यों की स्थापना की है तथा नकारात्मक, पहलू में उन्होंने सामाजिक विषमता, छूआछूत, जाति–पाति, पाखंड, अत्याचार, अन्धविश्वासों तथा किसी भी प्रकार की हिंसा का विरोध किया है। बिना किसी भेदभाव के उन्होंने हिन्दु–मुसलमान दोनों की सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार करते हुए मानव धर्म की स्थापना की है तथा सत्य, नैतिकता, नैतिक आचरण तथा वैयक्तिक शुद्धता से बढ़कर इनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं है यथा

सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदे सांच है, ताके हिरदे आप।।

11.4.9. रहस्यवाद–दर्शन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है भावना अथवा साधना के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है। सन्त कवियों का रहस्यवाद भी अद्वैतवादी चिंतन पर आधारित है। शंकर के अद्वैतवाद के मूलभूत सिद्धातों का प्रभाव संतों की विचारधारा पर दिखलाई पड़ता है। संतों के अनुसार ब्रह्मा, अगोचर, सर्वव्यापी, निर्गुण, निरंजन, शून्य सर्वज्ञ और निराकार है। इसलिए नामरूप–विहीन, अदृश्य तथा अजन्मे ईश्वर से सम्बन्धित रहस्यात्मक उक्तियों को उन्होंने विभिन्न स्तरों पर अपनी अभिव्यक्ति का आधार बनाया है। आत्मा–परमात्मा के सम्बन्ध का कथन करके जब आत्मा का परमात्मा के प्रति अनुराग व्यक्त किया जाता है तो उसे रहस्यवाद कहा जाता है। रहस्यानुभूति अथवा रहस्य चेतना के कारण इनकी रचनाएं अधिक काव्यात्मक हुई है। इनकी दार्शनिक अभिव्यक्ति इसी पर आधारित है। सर्वत्र उस निर्गुण और निराकार ब्रह्मा की व्यापकता और विद्यमानता से ज्ञान और प्रेम के साथ इन सन्त कवियों की उसमें पूर्ण आस्था दृष्टव्य है। शरीर क्या है? ईश्वर क्या है? अद्वैत भावना रहस्यानुभूति का मूल है। इसीलिए कबीर कहते हैं–

जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहिं समाना, यह तत कथ्यौ गियानी।।

सन्त कवियों का रहस्यवाद मूलतः ज्ञान प्रधान है। निर्गुण ब्रह्मा की भक्ति विभिन्न भावों में व्यक्त की है। सन्तों ने ब्रह्म को स्वामी, मित्र, माता–पिता, गुरु, पति, प्रियतम इत्यादि अनेक रुपों में अंकित किया है। कबीर द्वारा परमात्मा को पति रूप में तथा अपनी आत्मा को पत्नी के रूप में किया गया चित्रण अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा

दुलहनि गावहु मंगलाचार।
हमारे घर आए हो राजा राम भरतार।।

सन्त कवि गुरु नानक की रहस्यवादी उक्ति भी दृष्टव्य है

नानकु कहै सहेली हो सहु खरा पिआरा।
हम सह केरीआ दासीआ साचा खसमु हमारा।

सन्त कवियों ने विशुद्ध भावात्मक रहस्यवाद का भी चित्रण किया है। जहां पर प्रेम और प्रणयानुभूति का भी समावेश हुआ है प्रिय अर्थात प्रभु मिलन को व्याकुल विरहिणी आत्मा की असमर्थता का चित्रण उन्होंने इस प्रकार किया है

आई न सकौं तुझ पै, सकूं न तुझ बुलाइ।
जियरा यूं ही लेहुगे, विरह तपई तपाइं।।

11.4.10. ज्ञान महिमा

सन्त साहित्य की महत्वपूर्ण विशेषता ज्ञान की महिमा मानी जा सकती है। सन्तों का ज्ञान शास्त्रीय ज्ञान नहीं है। उन्होंने शास्त्रीय और सांसारिक ज्ञान की निंदा की है। उनका ज्ञान आत्मज्ञान है। उनकी ज्ञान महिमा की प्रवृत्ति निर्गुणोपासना से जुड़ी है। सगुणोपासना तो अज्ञानी व्यक्ति भी कर लेता है। परन्तु निर्गुण ब्रह्मा की उपासना कर पाना सबके लिए सम्भव नहीं है। निर्गुण ब्रह्मा की उपासना ज्ञान चक्षु खोलकर ही की जा सकती है। संतों के पास ज्ञान चक्षु थे, विवेक था। इसीलिए शास्त्रीय और पांडित्य प्राप्त ज्ञानियों को उन्होंने अनुभव शून्य माना चूंकि उन्होंने अपने आत्मज्ञान को साधना और अनुभव के तौर पर जाना था। अतः उनके लिए उन्होंने स्पष्ट कहा

तेरा मेरा मनुवा कैसे एक होइ रे।
तू कहता कागद की लेखी,

मैं कहता आंखिन की देखी।

उनके ज्ञान का स्वरूप ईश्वर का नाम–स्मरण, आत्मोत्थान, परम सत्ता की पहचान तथा आत्मा–परमात्मा के एकीकरण के प्रयत्न पर आधारित है।

11.4.11. नारी के प्रति दृष्टिकोण– सन्तों का नारी विषयक दृष्टिकोण दो प्रकार का है। एक ओर उन्होंने नारी को माया का प्रतीक कहा है तथा उसे विष की बेल, ठगिनी इत्यादि कहा है तथा उसे कामिनी, कुलटा, कुलक्षिणी कहकर उसकी भर्त्सना करते हुए यहां तक कहा है कि–

नारी की झाईं परत अन्धा होत भुजंग।
कबिरा तिनको कौन गति नित नारी के संग।।

तो दूसरी ओर पतिव्रता नारियों की केवल प्रशंसा ही नहीं की अपितु उन्हें अपनी एकनिष्ठ भक्ति के आदर्श के रूप में स्वीकार किया है। वस्तुतः सन्त कवियों ने नारी का मूल्यांकन उसके आंतरिक गुणों के आधार पर ही किया है। सत्यनिष्ठ और पतिपरायणता नारी की वे प्रशंसा करते हैं

पतिवरता मैली भली, काली कुचिल कुरूप
पतिवरता के रूप पर वारौ कोटि सरुप।।

11.4.12. भाषा एवं शैली :– प्रायः सभी सन्त कवियों पर ''कागद मसि छूयो नहीं कलम गह्यो न हाथ'' उक्ति चरितार्थ होती है। ये लोग अशिक्षित थे। परन्तु व्यवहारिक ज्ञान में निपुण थे। अतः बोलचाल की साधारण भाषा को ही इन्होंने अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। साहित्यिक भाषा के प्रयोग में ये अक्षम थे। अतः इन्होंने विभिन्न प्रकार की भाषाओं का अपने काव्य में प्रयोग किया है। जिस कारण इनकी भाषा सधुक्कड़ी या खिचड़ी कहलाती है। इनकी भाषा में अवधी, ब्रज, पूर्वी हिन्दी, अरबी, खड़ी बोली, राजस्थानी तथा पंजाबी इत्यादि शब्दों का सम्मिश्रण प्राप्त होता है।

इनके काव्य में मुख्यतः गेय मुक्त शैली का प्रयोग हुआ है। गीति–काव्य के सभी तत्व–भावात्मकता, सूक्ष्मता, संगीतात्मकता, वैयक्तिकता इत्यादि इनके काव्य में पाये जाते हैं। उपदेशात्मक पदों में गीति–माधुर्य के स्थान पर बौद्धिकता आ गई है इसके अतिरिक्त इन्होंने दोहा, साखी, चौपाई की शैली का भी प्रयोग किया है। कुल मिला कर इनकी भाषा आडम्बर विहीन है तथा उसे आलंकारिकता और छन्द शास्त्र से लादने का प्रयास नहीं किया गया है।

11.5. ज्ञानमार्गी–धारा के प्रमुख सन्त कवि :

सन्त साहित्य में योगदान देने वाले प्रमुख सन्त कवियों का परिचय इस प्रकार है–

नामदेव– इनका जन्म 1329 को सतारा के नरसी वमनी (बहमनी) गाँव में हुआ था। अपने पैतृक व्यवसाय में इनकी रुचि नहीं थी। बचपन से ही इनका मन सत्संग एवं साधुसेवा में लगा रहा। संत विसोवा खेचर इनके गुरू थे। प्रसिद्ध संत ज्ञानेश्वर के प्रति भी इनकी गहरी आस्था थी। मराठी में रचित अभंगों के अतिरिक्त हिन्दी भाषा में भी इनकी रचनाएं उपलब्ध हैं। सधुक्कड़ी भाषा में रचित इनकी रचनाओं में निर्गुणोपासना, कर्मकाण्डों तथा मिथ्या आडम्बरों का खण्डन तथा ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण किया गया है–

जल तरंग अरु फेन बुद–बुदा, जलते भिन्न न होई।
इहु परपंचु पार ब्रह्मा की लीला, विचरत आन न होई।।
मिथिआ थरमु अरुसुपव मनोरथ, सति पदारथु जानिआ।
सक्रित मनसा गुर उपदेसी, जागत ही मनु मानिआ।।

कहत नामदेउ हरि की रचना, देषहु रिदै बीचारी।
घट–घट जंतरि सरब निरन्तरि, केवल एक मुरारी।।"

सन्त नामदेव ने दर्जी के पेशे को अपनाया था। अतः वे कैंची, सूई और गज के माध्यम से ही भक्ति–रहस्य उद्‌घाटित करते थे जैसे –

मन मेरी सूई, तन मेरा धागा।
खेचर जी के चरण पर नामा सिंपी लागा।।

कबीर दास :– रामानंद की शिष्य परम्परा में आने वाले सन्तों में कबीर का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। इनके जन्म काल तथा मृत्यु (सन् 1398–1518 ई.) तथा जीवन की प्रसिद्ध घटनाओं के विषय में अनेक किवंदतियाँ प्रसिद्ध हैं। जन श्रुति के अनुसार इनका जन्म काशी में एक विधवा ब्राह्माणी के घर में हुआ। लोकभय से वह इन्हें लहरतारा नामक तालाब के किनारे छोड़ आई। इनका पालन–पोषण नीरू–नीमा नामक जुलाहा दम्पति ने किया। लोई नामक साध्वी से इन्होंने विवाह किया जिससे कमाल और कमाली नामक पुत्र–पुत्री का जन्म हुआ।

कबीर निरक्षर थे। परन्तु इन्होंने आत्मचिंतन एवं लोक निरीक्षण से जो ज्ञान प्राप्त किया। उसी को निर्भयतापूर्वक अपने काव्य में अभिव्यक्त किया। कबीर एक क्रान्तिकारी विचारक, सुधारक और सन्त थे। वे मस्तमौला, लापरवाह एवं फक्कड़ फकीर थे। उनका व्यक्तित्व अनेक प्रकार के विरोधी तत्वों का सम्मिश्रण कहा जा सकता है। उनमें वैष्णवों जैसी आस्था और उदारता, अद्वैतवादी दार्शनिकों जैसी ज्ञान गुरुता हठयोगियों जैसी साधना–निष्ठा थी। उन्होंने निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर बल दिया तथा वेद, पुराण और कुरान आदि के रूप में प्राप्त पुस्तकीय या शास्त्रीय ज्ञान का खण्डन किया है। वे कोरे सिद्धान्त ज्ञान में विश्वास नहीं रखते थे। उनका ज्ञान साधना तथा अनुभव जन्य था। इस ज्ञान का निर्गुण ब्रह्म के प्रेम से प्रगाढ सम्बन्ध है। उनके अनुसार ज्ञान से ही मोह–माया का नाश होता है तथा परमात्मा–प्रेम का आरम्भ होता है।

संतो भाई आई ग्यान की आँधी।
भ्रम की टाटी सबै उड़ानी माया रहै न बाँधी।

सन्त और कवि के रूप में कबीर जीवन की सहजता के निकट ही हैं। उनके काव्य में छन्द, अलंकार, इत्यादि गौण है तथा लोक मंगल की चिंता प्रधान है। इनका सम्पूर्ण काव्य 'बीजक' नामक संग्रह तीन भागों सबद, रमैनी और साखी में उपलब्ध होता है। अपनी इन रचनाओं में उन्होंने जाति–पाति, छुआ–छूत, रूढ़ियों, अन्धविश्वासों मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद का खण्डन किया है। इनकी अभिव्यंजना शैली बहुत सशक्त थी तथा बहुत सारी भाषाओं के मिश्रण के कारण इनकी भाषा को सधुक्कड़ी कहा जाता है। इनके काव्य में प्रतीक–योजना का भी सुन्दर निर्वाह हुआ है। इसके अलावा इनके काव्य में उलटबाँसियों के भी उदाहरण मिलते हैं।

रैदास :– रैदास रामानंद जी के दूसरे प्रमुख शिष्य थे। इनके जीवनकाल की तिथि के विषय में कुछ निश्चित रूप से ज्ञात नहीं होता। ऐसा माना जाता है कि यह कबीरदास के समकालीन थे। मीराबाई ने इन्हें अपने गुरु के रूप में स्मरण किया है। कबीर के समान इनके ईश्वर भी निराकार थे। इनकी भक्ति प्रेम–भाव की है। यह ईश्वर–प्राप्ति के लिए अहंकार का निवारण आवश्यक मानते थे।

रैदास की कविता में भी सामाजिक विषमता के प्रति विरोध है। वर्णवादी व्यवस्था की असमानता के प्रति उन्होंने भी तीव्र आक्रोश व्यक्त किया है तथा जाति–प्रथा और मिथ्या आडम्बरों तथा कर्म–काण्डों को तोड़ने का उपदेश दिया है। उनकी कविता में मूर्तिपूजा, अवतारवाद तथा तीर्थयात्रा इत्यादि बाह्य विधानों का विरोध किया गया है। उन्होंने

जन–सामान्य को निश्चल भाव से निर्गुण ब्रह्म की भक्ति की ओर प्रेरित किया है

अब कैसे छुटै राम, नाम रट लागी।
प्रभू जी तुम चंदन हम पानी, जाकी अंग–अंग बास समानी।
प्रभु जी तुम धन बन हम मोरा, जैसे चितवत चन्द चकोरा।
प्रभु जी तुम दीपक हम बाती, जाकी जोति बरै दिन राती।

इनकी रचनाओं का कोई व्यवस्थित संकलन नहीं है। गुरु ग्रंथ साहिब तथा अन्य कई संग्रहों में इनके पद बिखरे हुए मिलते हैं।

गुरु नानक देव :– नानक पंथ के प्रवर्त्तक गुरुनानक देव जी का जन्म स. 1526 वैशाख माह के तलवंड़ी ग्राम में हुआ था। पिता का नाम कालूराम तथा माता का नाम तृप्ता देवी था। इनका विवाह सुलक्खनी से हुआ। जिससे उनके श्रीचंद और लक्ष्मी चंद दो पुत्र हुए। आगे चल कर श्रीचंद ने ''उदासी सम्प्रदाय'' का प्रवर्त्तन किया। गृहस्थी में और किसी व्यवसाय में नानक का मन नहीं रमा। इन्होंने पूरे भारत का भ्रमण किया तथा देशाटन के लिए मक्का, मदीना, बगदाद, बलख, बुखारा, काबुल, कंधार आदि भी गए। यात्रा में अनेक जैन साधुओं, फकीरों, योगियों तथा सन्तों का सत्संग किया। सन् 1539 ई. में गुरु अंगद देव (बाबा लहना) को गुरु गद्दी का भार सौंपकर करतारपुर में अखंड ज्योति में समा गए।

अन्य सन्त कवियों की तरह नानक जी भी अधिक विद्वान् तथा शास्त्र ज्ञानी नहीं थे। वे भी बहुश्रुत, साधना तथा अनुभवजन्य ज्ञान को प्राप्त किए हुए थे। वे निराकारवादी थे। उन्होंने भी समाज में फैली कुरीतियों का विरोध किया तथा हिन्दू–मुस्लिम एकता का उपदेश दिया। निर्गुण महिमा, सदगुरु की महत्ता, मूर्तिपूजा, अवतारवाद इत्यादि बाह्याचारों का खण्डन, भक्ति, नाम स्मरण तथा परमात्मा के प्रति समर्पण भाव इत्यादि इनकी वाणियों की प्रमुख विशेषताएं हैं। इनकी रचनाएं 'गुरू ग्रंथ साहब' में महला के नाम से संकलित हैं। पदों और दोहों के अतिरिक्त जपुजी, आसा दी वार, रहिरास और सोहिला उनकी अन्य प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इन्होंने आडंबरहीन, सीधी–सादी भाषा में अनुभूतिपूर्ण वाणियों की सृष्टि की है। उपमा, रूपक और अन्योक्ति अलंकारों के प्रयोग में इनको विशेष सफलता मिली है। इनकी वाणियां सिटी, आसा, गूजरी, रामकली इत्यादि उन्नीस रागों में निबद्ध हैं। इनकी वाणी का उदाहरण इस प्रकार है–

1. **गुरू के सबदि तरे मुनि केते, इन्द्रादिक ब्रह्मादि तरे,**
   सनक सनंदन तपसी जन केते, गुरू परसादी पार परे।।
2. **रैण गंवाई सोई कै, दिवसु गवाईया खाई।**
   हीरे जैसा जन्म है, कडड़ी बदले जाइ।।

धर्मदास :– धर्मदास का नाम कबीर के प्रमुख शिष्यों में लिया जाता है। इनकी जन्मकाल के सम्बन्ध में भी निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। उनके बारे में संत संप्रदाय में यह मान्यता प्रसिद्ध है कि वे कबीर की मृत्यु से लगभग पच्चीस वर्ष बाद मृत्यु को प्राप्त हुए।

इन्होंने कबीर के उपदेशों को संवाद शैली में लिखा तथा अनेक ग्रन्थों की रचना की। इनके अनुयायियों की

शाखा 'धर्मदासी शाखा' या 'छतीसगढ़ी शाखा' के नाम से प्रसिद्ध है। कबीर की वाणियों का संकलन इन्होंने ही 'बीजक' नामक संग्रह में किया है। इनका प्रमुख ग्रंथ 'सुख निधान' है। जिसे कबीर के अनुयायियों में विशेष महत्व प्राप्त है। इनकी रचनाओं का संग्रह 'धर्मदास की बानी' नाम से प्रकाशित हो चुका है। इनकी रचनाएँ भाषा और अनुभूति की दृष्टि से आडम्बरहीन, सरल तथा सीधी–सादी भाषा में रचित है जैसे–

1. **सूतल रहली मैं सखियाँ तो विष कर आगर हो।**
   सतगुरू दिहलै जगाइ, पायौ सुख सागर हो।।
2. **मितऊ मड़ैया सूनी करी गैलो।**
   अपना बलम परदेश निकरि गैलो,
   हमरा के किछुवौ न गुन दै गैलो।।

दादू दयाल :– निर्गुण सन्त कवियों में कबीर के बाद दूसरा महत्वपूर्ण नाम दादूदयाल का है। इनका जन्म सन् 1544 ई. में अहमदाबाद (गुजरात) में हुआ था। इनकी जाति के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। बंगाल के 'बाऊल संप्रदाय' में इनका नाम बड़े आदर से लिया जाता है। तथा बाऊलों के वंदना वाक्य 'श्रीयुत दाऊद वन्दि यारे' नाम के आधार पर इन्हें अधिकतर विद्वानों ने जाति से मुसलमान धुनिया माना है।

सम्भवतः ये निरक्षर थे। इन्हें कबीरपंथी बुड्ढन बाबा से दीक्षा मिली थी। ये गृहस्थ थे। इन्हें 'परम ब्रह्म सम्प्रदाय' का प्रवर्त्तक माना जाता है। बाद में जो 'दादू संप्रदाय' के नाम से सम्बोधित किया गया। इनकी आध्यात्मिक अनुभूति बड़ी तीव्र थी। इनकी वाणियों का संग्रह 'हरडेवाणी' के नाम से प्रसिद्ध है। जिसे बाद में इनके प्रमुख शिष्य रज्जब ने इसमें पायी जाने वाली त्रुटियों का सुधार कर इसे 'अंग बधु' नाम से प्रस्तुत किया। इन्होंने भी नाम महिमा, संसार का मिथ्यात्व, गुरू–गोविंद की एकता हिन्दु–मुस्लिम एकता, छुआछूत एवं जाति–प्रथा के निराकरण एवं निर्गुण ब्रह्म के प्रति निष्ठा, मोह–माया का त्याग इत्यादि सिद्धान्तों पर बल दिया। इनकी भाषा राजस्थानी मिश्रित पश्चिमी हिन्दी है। अरबी और फारसी के शब्दों का भी बहुत प्रयोग है। दादू की वाणी का उदाहरण इस प्रकार है जिसमें उनके मत का सार समाहित है–

आपा मेटे हरि भजै, तन मन तजै विकार।
निबैरी सब जीव सों, दादू यहै मत सार।।

प्रिय अर्थात् परमात्मा रूपी प्रियतम के मिलन को व्याकुल तथा उसके वियोग में तड़पती हुई जीवात्मा की विरह व्यथा का बहुत ही मार्मिक चित्रण उन्होंने किया है–

बिरहिणी बधु न सँभारे।
निश दिन तलफे राम कारण, अन्तर एक विचारे।
आतुर भई मिलन के कारण, कहि–कहि राम पुकारे।
श्वास उश्वास निमेष न बिसरे, जिततित पंथ निहारे।
फिरै उदास चहुं दिश चितवत, नैन नीर भर आवे।
राम–वियोग बिरह की जारी, और न कोई भावे।

व्याकुल भई शरीर न समझे, विषम बाण हरि मोर।
दादु दर्शन बिन क्यों जीवे, राम सनेही हमारे।

सुन्दर दास :– दादूदयाल के योग्यतम शिष्यों में सुन्दर दास का नाम लिया जाता है। ये वसुर जाति के खंडेल वाल वैश्य थे। इन्हें शास्त्रीय ज्ञान सम्पन्न माना जाता है। इनका जन्म स. 1653 में जयपुर की प्राचीन राजधानी धौसा नगर में हुआ तथा महा प्रस्थान सांगवेर में स. 1746 ई. में माना जाता है। इन्होंने देशाटन किया था। भ्रमण के समय ये दादू के सिद्धान्तों का प्रचार करते थे और साथ ही काव्य ग्रन्थों की रचना भी करते थे। निर्गुण संत काव्य– धारा में एक प्रकार की अनगढता मिलती है। इस काव्यधारा की कविता में किसी प्रकार का शास्त्रीय विधान उपलब्ध नहीं होता। परन्तु सुन्दर दास की कविता में शास्त्रीय अनुशासन है। काव्य शास्त्र का सम्यक् ज्ञान होने के कारण इनके काव्य में रस–निरूपण तथा अलंकारों की सृष्टि विधिवत् हुई है। समाज की रीति, नीति तथा भक्ति पर इन्होंने हास्य–व्यंग्य तथा विनोदपूर्ण उक्तियां भी कही हैं। लोक जीवन की रूढ़ियों का विरोध और विद्रोह उनके काव्य में नहीं पाया जाता। इनके बयालीस ग्रन्थ कहे जाते हैं, जिनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना 'सुन्दर विलाप' है। निर्गुण भक्त कवि होने पर भी इन्होंने ईश्वर के सगुण स्वरूप को भी मान्यता दी है। इनकी रचनाओं की भाषा राजस्थानी है, जिसमें गुजराती, सिंधी, फारसी तथा पंजाबी के शब्द भी मिलते हैं। उनकी निर्गुण काव्य भक्ति का उदाहरण इस प्रकार है–

'गेह तज्यो अरु नेह तज्यो पुनि खेह लगाइ कै देह संवारी।
मेह सहे सिर सीत सहे तन धूप सभै जो पंचागिनि बारी।
भूख सही रहि रुख तरे पर सुंदर दास सबे दुख भारी।
डासन छाँडि कै कासन ऊपर आसन मारयो तै आस न मारी।।'

मलूक दास :– सन्त मलूक दास का जन्म इलाहाबाद के कड़ा नामक गाँव में स. 1631 में हुआ। और देहाँत स. 1739 में हुआ। जन मानस और समाज पर इनके उपदेशों का इतना प्रभाव पड़ा था कि कड़ा, जयपुर, मुलतान, पटना, नेपाल तथा काबुल में इनकी गद्दियाँ स्थापित की गयीं। सन्त मलूक दास ने सतगुरू को परमात्मा के समान माना है। बाह्याडंबर की अपेक्षा वे सच्चे मन से नित्य स्मरण का महत्व मानते हैं

माला जपो न कर जपो; जिभ्या कहौ न राम।
सुमिरन मेरा हरि कहै, मैं पाया बिसराम।।

मलूक दास की कविता में आख्यानशैली का प्रयोग मिलता है। इन्होंने विविध कथाओं का उदाहरण देकर जन–मानस को अपने उपदेश दिए हैं। अवतारों और चरित्रों से संम्बधित भी इनकी रचनाएं मिलती हैं। आत्मबोध, आत्मज्ञान तथा वैराग्य इनकी कविता में मुख्य रूप से पाया जाता है।

"कहत मलूक जो बिन सिर खेपै सो यह रूप बखानै।
या नैया के अजब कथा, कोई बिरला केवट जानै।
कहत मूलक निरगुन के गुन कोई बड़भागी गावै।।
क्या गिरही और क्या बैरागी जेहि हरि देये सो पावै।।"

इनके प्रमाणिक ग्रन्थ हैं – ज्ञान बोध, ज्ञानपरोछि, राम अवतार लीला, रत्नखान, भक्त वच्छावली, भक्ति विवेक, विभवविभूति, सुख सागर, ब्रजलीला, ध्रवचरित इत्यादि। इन्होंने अवधी और ब्रजभाषा में काव्य रचना की है तथा इनकी भाषा में अरबी, फारसी के शब्दों का प्रयोग किया है।

सन्त परम्परा में उपर्युक्त प्रमुख संतों के अतिरिक्त और भी बहुत से सन्त हुए हैं जिनके नाम उल्लेखनीय हैं– पीपा, धन्ना, सेन, सदना, भवानंद, सुखानंद, आशानंद, सुरसुरानंद, महानंद, श्री आनंद, अनंतानंद, नरहर्यानंद इत्यादि।

11.6. प्रेम मार्गी शाखा :

भक्ति–काव्य की प्रथम शाखा निर्गुण काव्यधारा में ज्ञानमार्गी सन्त काव्यधारा के साथ–साथ ही प्रेम मार्गी शाखा का प्रभुत्व भी छाया रहा। प्रेममार्गी शाखा अथवा प्रेमाश्रयी शाखा वस्तुतः ज्ञानमार्गी काव्यधारा के सन्तों की तरह, सूफी सन्तों पर आधारित थी। हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में निर्गुण सन्त कवियों ने जहाँ सर्वसाधारण के लिए भक्ति के सामान्य मार्ग की प्रतिष्ठा की और ईश्वर को ज्ञानग्मय और प्रेम प्राप्य कह कर अपने उदारवादी मानवता धर्म को स्थापित किया। वहीं पर सूफी सन्तों ने भी उसे विकसित करने में अपना पूर्ण योगदान दिया परन्तु सन्त कवियों के विद्रोही और खण्डनात्मक स्वर की अपेक्षा सूफी कवियों ने अपने प्रेमाख्यानों द्वारा हिन्दु–मुस्लिम दोनों संस्कृतियों को प्रभावित किया। जिसमें वह सन्त कवियों की अपेक्षा अधिक सफल हुए।

सूफी प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा में प्रयुक्त 'सूफी' शब्द के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। इसकी व्युत्पत्ति अनेक शब्दों से मानी गयी है। 'सूफी' शब्द के मूल अर्थ तक पहुंचने के लिए विभिन्न मत प्रचलित हैं। पहला मत 'सुफ़्फा' या सुंफ से इसका सम्बन्ध मानता है। जिसका अर्थ है– 'चबूतरा'। इस मत के मानने वालों का कहना है कि सऊदी अरब के एक पवित्र नगर मदीना की मस्जिद के सामने चबूतरे पर एकत्र हो कर परमात्मा का चिंतन करने वाले संत ही सूफी कहलाए तथा 'सूफी' शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति 'संफ' शब्द से मानी गयी है। इस मत के विचारकों के अनुसार जीवन पर्यन्त संफा अर्थात् स्वच्छ एव पवित्र जीवन व्यतीत करने वाले सन्त ही सूफी है। वस्तुतः सूफी उन्हें ही कहना चाहिए जो सांसारिकता से विरक्त हो खुदा की सेवा में निरत रहते हैं और जो न केवल परमात्मा के प्रति निश्चल भाव रखता है बल्कि सारे प्राणियों के साथ शुद्ध बर्ताव भी रखता है संक्षेप में जो मनसा, वाचा एवं कर्मणा से पवित्र हों, वही सूफी कहलाए जा सकते हैं।

सूफी काव्य अपनी अंतवर्ती विशेषताओं के कारण प्रेमाश्रयी, प्रेममार्गी, प्रेम–काव्य, प्रेमाख्यानक तथा कथा काव्य के नाम से जाना गया। क्योंकि इस काव्यधारा की मूल चेतना प्रेम रही है। इसकी प्राप्ति के लिए ही वे नाना मतों, सिद्धान्तों एवं अवस्थाओं का आश्रय लेते हैं। भारत में सूफी सम्प्रदाय का आगमन एवं विकास मुस्लिम साधकों द्वारा ही हुआ। जिन्हें रहस्यवादी भी कहा जाता था। रहस्यवादियों का जन्म इस्लाम के अंतर्गत बहुत पहले हो गया था। यही रहस्यवादी बाद में सूफी कहलाए। ये कवि विदेशी होते हुए भी भारतीय मानस से जुड़े हैं। भारतीय भूमि पर आकर यहाँ के सूफियों की उदारता, धर्म, प्रेम इत्यादि से प्रभावित हुए। इनमें से अधिकांश महान् भक्त थे। समाज की विषमताओं और इस्लामी साम्राज्य की स्थापना के बाद उत्पन्न नैतिक पतन के कारण ये सूफी भक्त दुखी थे। उनको राज सत्ता से कोई सरोकार नहीं था। उन्होंने मात्र ईश्वर और व्यक्ति के बीच प्रेम सम्बन्ध पर बहुत बल दिया। उनके द्वारा सर्वेश्वरवादी दृष्टिकोण रखने के कारण उनमें और इस्लामिक परम्परावादी तत्वों के बीच कई बार संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हुई। इसके बावजूद उनका रहस्यवादी विचारों का प्रसार बढ़ता रहा। सूफी साधकों द्वारा रचित प्रेमाख्यानों पर भारतीय आख्यान परम्परा के साथ–साथ फारसी की मसनवी शैली का भी पर्याप्त प्रभाव रहा। यह प्रभाव विषय वस्तु एवं शिल्प दोनों स्तरों पर दिखाई देता है। इनमें भारतीय लोक कथाओं एवं भारतीय काव्य की कथानक रूढ़ियों को आधार रूप में ग्रहण किया गया है। परन्तु इसके केन्द्रीय भाव में मनुष्यता के सामान्य–स्वरूप को लेकर अग्रसर होने वाली सूफी काव्य परम्परा अत्यन्त समृद्ध रही। सूफी कवियों की मूल दृष्टि सम्प्रदाय सापेक्ष न होकर मूल्य–सापेक्ष रही। ये मूल्य समय सापेक्ष होने के साथ–साथ सार्वभौम भी थे। इसी कारण सूफी कविता अपने प्रभाव में कालजयी कविता है।

सूफीयों की सम्पूर्ण साधना प्रेमाश्रित रही है। मुसलमान होने के बावजूद इन की दृष्टि मानवतावादी उदार दृष्टि थी। ज्ञान और साधना की उच्चभूमि पर पहुंचने पर भी इनकी दृष्टि में लोक रक्षा और लोकरंजन का प्रभाव बना रहा। भक्तिमार्ग की परम्परा को ग्रहण करते हुए इन्होंने रूढ़ एवं जर्जर तत्वों की जकड़न को स्वीकार नहीं किया। अपनी उदार एवं स्वच्छंद विचारदृष्टि के कारण सूफी कवि हिन्दु–मुसलमान दोनों में एक समान लोकप्रिय हुए क्योंकि उनका दर्शन एवं सिद्धान्त किसी विशेष सम्प्रदाय या पूर्वाग्रह से निर्मित न होकर उनकी उदार मानवीय दृष्टि का ही प्रतिफलन थे। उनका मार्ग उदार प्रेम मार्ग और मनुष्यता रहा

"प्रेम पहार कठिन विधि गढा। सो पैचढे जो सिर सौं चढा।
पंथ सूरि कर उठा अंकूरू। चोर चंढै की चढ मंसूरु।।"

सूफी कवियों ने प्रेम को जीवन के मूल–तत्व के रूप में पहचाना तथा परमात्मा के साथ–साथ प्राणीमात्र के प्रति भी प्रेम का उपदेश दिया। उन्होंने अपनी व्यक्तिगत साधना में लीन रहते हुए भी लोक–पक्ष को अनदेखा नहीं किया तथा सन्त कवियों के समान बाह्य आडम्बरों के स्थान पर भीतरी तत्वों, हृदय की शुद्धता इत्यादि पर बल दिया। जिसका प्रतिपादन वे मनसा, वाचा, कर्मणा द्वारा करते थे। सन्त कवियों की भाँति सूफी कवियों के आध्यात्मिक सिद्धान्तों में भी ईश्वर निर्विकार तथा निर्विकल्प है। तथा उसके साथ तादात्मय स्थापित करने के लिए विरह एवं प्रेम की पीड़ा का होना आवश्यक है। वे ईश्वर और जगत को भिन्न नहीं मानते बल्कि ईश्वर ही जगत का रूप है ऐसा स्वीकार करते हैं।

ज्ञानाश्रयी शाखा के इन सूफी कवियों ने गुरू को भी मान्यता प्रदान की है तथा शैतान की सत्ता को भी स्वीकार किया है तथा माना है कि पीर या गुरू ही साधक को शैतान के शिकंजे से मुक्त करवा कर इसे प्रगति की ओर अग्रसर करता है।

प्रेममार्गी अथवा सूफी काव्य की विशेषताएँ

1. **सांस्कृतिक उदारता :–** सूफी कवियों की विचार दृष्टि सरल, उदार और मानवतावादी थी। उन्होंने सबको एक दृष्टि से देखा और विदेशी होने के बावजूद बिना धर्म, भाषा और देश का ध्यान किये हुए मानवता के सामान्य–स्वरूप को स्थापित किया। समाज में घर कर चुकी कुरीतियों और विसंगतियों को उन्होंने सन्त कवियों की भांति ही दूर करने का प्रयास किया। हिन्दू–मुस्लिम के बीच फैली वैमनस्य की आग को बुझाने तथा उनमें सांस्कृतिक एकता स्थापित करने में उनके समानतावादी स्वर का विशेष योगदान रहा। उनके प्रेमाख्यानों में जितने भी चरित्र मिलते हैं वह हिन्दू और मुसलमान दोनों हैं। उन्होंने दोनों जातियों हिन्दू और मुस्लिम के साथ–साथ समाज की अन्य उपेक्षित कही जाने वाली निम्न जातियों को भी स्वजाति की श्रेष्ठता अथवा हीनता से मुक्त करने का यत्न किया। उनके अनुसार सभी मनुष्य एक ही ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं और जब ईश्वर का ही कोई रूप, रंग, रेखा अथवा आकार नहीं है तथा वह भी धर्म, जाति, वंश, गोत्र से मुक्त है तो जिन प्राणियों की उसने सृष्टि की है वह उससे भिन्न कैसे हो सकता है। इसलिए उनका मानना था कि सभी जीवों में एक ही ईश्वर अथवा अल्लाह का नूर है। उनके अनुसार मानव में ही ईश्वर के पूर्ण रूप की अभिव्यक्ति हुई है। सूफी काव्य में समाज की मानवतावादी प्रवृत्तियों के प्रति विद्रोह नहीं है बल्कि उन्होंने उसे दूर करने के लिए 'प्रेम' के शाश्वत मूल्यों की प्रतिष्ठा की है। उन्होंने उस अव्यक्त सत्ता परम ब्रह्म को भी 'प्रेम' के द्वारा ही गम्य बताया और कहा कि यह प्रेम की साधना हिन्दु–मुस्लिम दोनों के लिए समान है। हिन्दु–मुस्लिम के ब्राह्य भेदों की भीतर तात्त्विक एकता की घोषणा करते हुए कहा – ''विधिना के मार्ग हैं तेते, सागर, नखत तन रोवां जेते''

2. मुसलमान कवि :– प्रेमश्रायी धारा के सभी सूफी कवि मुसलमान थे। सूफी काव्य के रचयिता भले ही मुसलमान हैं परन्तु हिन्दू परिवेश और संस्कारों के वर्णन में वे पूर्णतया भारतीय ही हैं। हिन्दू–मुस्लिम दोनों की संस्कृतियों को मिलाने के इन्होंने जो प्रयास किए वे सराहनीय हैं। मुसलमान होकर भी अपने प्रेमाख्यानों में हिन्दू चरित्रों, रीति–रिवाजों तथा उनके धर्म को अपने काव्य में यथोचित स्थान देते हुए उनके द्वारा अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना की उनकी वैचारिक उदारता और सहृदयता का प्रतीक है। उन्होंने अपने हिन्दू पृष्ठभूमि पर रचे काव्य में हिन्दुओं की सभ्यता और संस्कृति के अन्तर्गत उनके व्रतों, तीज–त्यौहारों, ज्योनार, बंसत, सावन, गौना, गीत, तथा विभिन्न देवी–देवताओं के पूजन सम्बन्धी प्रसंग बड़े विस्तारपूर्वक चित्रित किए हैं। सूफी कवियों की यह हिन्दू धर्म से सम्बन्धित लेखन परम्परा निश्चय ही उनके अद्‌भुत साहस और बहुज्ञता का परिचय देती है कि कैसे उस समय के कट्टर इस्लामी साम्राज्य के हिन्दू–विरोधी वातावरण में उन्होंने मुसलमान होकर भी प्रत्येक प्रकार की संकीर्णता से ऊपर उठ कर मात्र मानव–प्रेम की स्थापना के लक्ष्य को सामने रखा।

यद्यपि सभी सूफी संत मुसलमान थे तथा अपने मत को कुरान से सम्बन्धित मानते थे। परन्तु इस्लाम की मात्र अपने अल्लाह के प्रति एकेश्वरवादी धारणा सूफी कवियों को स्वीकार्य नहीं थी। फारस के सूफी सन्तों ने अल्लाह और इन्सान को एक ही सत्ता होने की घोषणा की जो इस्लाम के मूल सिद्धांतों के विपरीत थी क्योंकि इस धर्म में अल्लाह और इन्सान को पृथक्–पृथक् सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है। इसी कारण सूफी मत कट्टर मुसलमानों द्वारा शरीयत या इस्लामी धर्मशास्त्र के विरुद्ध माना जाता है तथा इन कवियों को भी इसीलिए सूफी अथवा असूफी कवियों के रूप में विभाजित किया जाता है।

3. मसनवी शैली और भारतीय परिवेश के कथानकों का समन्वय :– सूफी कवियों ने अपने काव्य में यद्यपि अरब और फारस की प्रेमकथाओं की अपेक्षा भारतीय प्रेम–कथानकों का चयन किया है परन्तु उन्हें भारतीय चरित–काव्यों की सर्गबद्ध शैली के स्थान पर फारसी की मसनवी शैली का अनुकरण करते हुए प्रस्तुत किया है। इस शैली के अनुसार उन्होंने अपने काव्यों में नायक के रूप में आत्मा को प्रेमिका (परमात्मा) की प्राप्ति के लिए अत्यन्त प्रयत्नशील दिखाया है तो भारतीय पद्धति के अनुसार प्रेमिका (स्त्री) प्रेमी (पुरुष) की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहती है। सूफी कवि जायसी ने अपने प्रेम–काव्य 'पद्‌मावत' में पदमावती के सतीत्व एवं पति–प्रेम के दृश्य चित्रित कर भारतीय पद्धति का निर्वाह किया है। इस विषय में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का भी कहना है, ''कथानक को गति देने के लिए सूफी कवियों ने प्रायः उन सभी कथानक रूढ़ियों का व्यवहार किया है जो परम्परा से भारतीय कथाओं में व्यवहृत होती आई हैं। जैसे चित्र–दर्शन, स्वप्न द्वारा अथवा शुक–सारिका द्वारा नायिका का रूप देखकर या सुनकर उस पर आसक्त होना, पशु–पक्षियों की बातचीत से भावी घटना का संकेत पाना, मन्दिर या चित्रशाला में प्रिय युगल का मिलन होना इत्यादि।''

सूफी कवियों ने मुसलमान होकर भी हिन्दुओं की प्रचलित कहानियों को चुना। भारतीय लोक–साहित्य और परम्परा के निकट आने के प्रयास में सूफी कवियों ने भारतीय साहित्य पद्धति पर बारहमासा, षटऋतु, ज्योतिष, कामशास्त्र, शकुन–विचार लोक विश्वास, जादू–टोना, तीर्थ, व्रत–त्यौहार इत्यादि का भी अपने काव्य में समावेश किया तथा इस माध्यम से हिन्दू–मुस्लिम दोनों संस्कृतियों को मिलाने का भी प्रयास किया।

4. लोक–पक्ष एवं हिन्दू–संस्कृति :– प्रेम मार्गी सूफी कवियों ने अपने काव्य में लोक–पक्ष एवं हिन्दू–संस्कृति का बड़ा सुन्दर समन्वय किया है। अपने काव्य के माध्यम से इन्होंने भारतीय लोक साहित्य और परम्परा के निकट आने का प्रयास किया सन्त कवियों के प्रेम में वैयक्तिकता अधिक है जबकि सूफी कवियों के प्रेम के परिवेश में वैयक्तिकता के साथ–साथ समष्टिगतता तथा और भी बहुत कुछ है। यही कारण है कि इनके प्रेम–काव्यों में लोक जीवन का भी

चित्रण है जैसे इन काव्यों में जिनकी अधिकाँश कथाएँ हिन्दू प्रसंगों पर आधारित हैं, इनमें हिन्दू आचार–विचार रहन–सहन, लोक व्यवहार, लोकोत्सव, तीर्थ, व्रत इत्यादि का चित्रण किया गया है। सूफी कवियों को हिन्दू संस्कृति एवं धर्म का ज्ञान था इसलिए इन्होंने हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों का भी अपने काव्य में प्रतिपादन किया है। हिन्दू पात्रों में हिन्दू तथा मुस्लिम पात्रों में मुस्लिम आदर्शों की प्रतिष्ठा की गयी है जोकि युगानुकूल है। हिन्दू संस्कृति से जुड़े इनके काव्यों में आये प्रसंग और वर्णन भारतीय पद्धति पर ही आधारित हैं। जैसे सूफी कवि जायसी के विख्यात प्रेमाख्यान 'पद्मावत' में आये विभिन्न प्रसंग भारतीय संस्कृति से ही जुड़े हुए हैं। प्रसंगानुसार इन कवियों ने षट–ऋतुओं तथा बारहमासा का वर्णन भी भारतीय पद्धति के अनुसार किया है तथा भारतीय ज्योतिष, रसायन–शास्त्र तथा आयुर्वेद के ज्ञान का भी परिचय दिया है। जिससे सिद्ध होता है कि इन्हें हिन्दू धर्म और संस्कृति का ज्ञान था जिसके सुन्दर चित्रण के साथ–साथ इन्होंने लोक–पक्ष को भी अनदेखा नहीं किया। इनके काव्यों में वर्णित सांस्कृतिक वातावरण से तत्कालीन जीवन को समझने में भी सहायता मिलती है। इनके प्रेमाख्यानों में भारतीय इतिहास और कल्पना का भी सुन्दर समन्वय हुआ है।

5. मंडनात्मकता :– निर्गुण सन्त कवियों ने भक्ति के सामान्य मार्ग की प्रतिष्ठा से हिन्दू–मुस्लिम एकता को स्थापित करने तथा सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए विद्रोही और खण्डनात्मक स्वर का आश्रय लिया। जिससे समाज का कुछ हिन्दू–मुस्लिम मिश्रित वर्ग उनसे चिढ़ भी गया था किन्तु उदार और कोमल स्वभाव के सूफी कवियों ने किसी धर्म, जाति या किसी भी प्रकार का साम्प्रदायिक खण्डन–मण्डन नहीं किया। बल्कि अपनी प्रेम–भावना के बल पर समाज और लोगों के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पहलुओं को सरल सहज स्वाभाविकता के साथ अपने काव्यों में चित्रित कर दिया। जिससे हिन्दू–मुस्लिम दोनों जातियों की एकता का अधिक प्रभाव उभर कर सामने आया, क्योंकि इन्होंने कहीं पर भी सीधा प्रहार करने की अपेक्षा एक मनोवैज्ञानिकता का सहारा लिया, जिसमें इन्हें अधिक सफलता मिली। आचार्य शुक्ल इस विषय में कहते हैं, ''प्रेम स्वरूप ईश्वर को सामने लाकर सूफी कवियों ने हिन्दू और मुसलमान दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया।''

6. चरित्र–चित्रण :– ऐसे प्रेमाख्यानों में विभिन्न प्रकार के पात्र प्राप्त होते हैं। जैसे मानवीय तथा अमानवीय पात्र, मुख्य, गौण तथा अनावश्यक पात्र, ऐतिहासिक, एवं काल्पनिक पात्र। इन प्रेम काव्यों में नायक और नायिकाओं के जीवन के उतने अंशों को ग्रहण किया गया है, जिनसे प्रेम के विविध प्रसंगों और व्यापारों की अभिव्यक्ति सम्भव थी। परिवेश की संदर्भ–सापेक्षता का बोध सूफी कवियों को था। यही कारण है कि उनके मानवीय–चरित्र भारतीय परिवेश की उपज है। इनके मानवीय श्रेणी से सम्बन्धित पात्रों में राजकुमार, राजकुमारी तथा उनसे सम्बन्धित अन्य पात्र आते हैं। मानवीय चरित्र की तमाम विशेषताओं से यह पात्र युक्त दिखाई देते हैं। नायिकाएं ह्रासोन्मुख संस्कृत–साहित्य की नायिकाओं के समान एक ही सांचे में ढली हुई हैं। उनमें जीवन के विविध घात–प्रतिघातों का अभाव है। जैसे जायसी के 'पद्मावत' में नागमती और पद्मावती के विवाद में नारी सुलभ असूदा भाव का, नागमती के विरह में भारत की मध्यकालीन नारी और उसके भावों का प्रकाशन हुआ है। नायक का स्वरूप भी प्रायः पूर्व से ही निश्चित–सा दृष्टिगोचर होता है। इनके काव्यों में नायक के प्रतिद्वंद्वी के रूप में प्रतिनायक का अस्तित्व प्रायः नहीं है– नायक का विरोध प्रायः नायिका के पिता या संरक्षक के द्वारा ही होता है। संस्कृत साहित्य के समान इनके नायक वातावरण से सम्बद्ध हैं। वे राजकुमार होने के नाते पराक्रमशील भी हैं किन्तु उनका यह पक्ष गौण भी है क्योंकि वे सभी साधक के नाते प्रेम के टेढ़े–मेढ़े रास्ते पर भी बढ़ने वाले हैं। मुख्य, गौण अथवा अनावश्यक पात्र ऐतिहासिक एवं काल्पनिक दोनों प्रकार के उपलब्ध हो जाते हैं। ऐतिहासिक पात्रों यथा राघव, चेतन के चित्रण में तो इन्होंने कल्पना का रंग चढ़ा ही दिया है, काल्पनिक पात्रों के अन्तर्गत देवताओं, परियों, परेवा इत्यादि का चित्रण किया है। मानवेतर प्राणियों के वर्ग में राक्षस,

असुर, बैताल, हंस, तोता, अप्सराएँ, परियाँ इत्यादि आते हैं। ये चरित्र स्थिति विशेष को आगे बढ़ाने की सहायक भूमिका में इनके काव्यों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इनके प्रेम–काव्यों का अर्थ और इति प्रेम है और सभी पात्र उसकी साधना एवं सिद्धि में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में लीन रहते हैं।

7. प्रेम–भावना :– सूफी कवियों की प्रेम–भावना अभिनव रूप में फारसी की प्रेम पद्धति से प्रभावित है। सूफी प्रेमाख्यानकारों अथवा कवियों ने भारतीय और विदेशी प्रेम पद्धतियों को मिला कर प्रेम का आदर्श रूप स्थापित किया है। दाम्पत्य प्रेम की चारों पद्धतियों में से चौथी पद्धति जिसमें कि गुण, श्रवण, चित्र, दर्शन, स्वप्न इत्यादि से प्रेम उत्पन्न होता है और नायक या नायिका को संयोग के लिए प्रयत्नवान करता है। सूफी कवियों ने इसी पद्धति को अपनाया है। फारस के प्रेम में नायक के प्रेम का वेग अधिक तीव्र दिखाई देता है और भारत के प्रेम में नायिका के प्रेम का। सूफी कवि जायसी ने आगे चलकर नायक और नायिका दोनों के प्रेम की तीव्रता को समान करके दोनों आदर्शों का एक में मेल कर दिया है। यहीं नहीं इन्होंने फारसी की मसनवियों के ऐकांतिक, लोक बाह्य और आदर्शात्मक प्रेम को भारतीय प्रेम पद्धति के लोकसंबद्ध और व्यवहारात्मक रूप में समन्वित कर दिया है। सूफी कवियों ने भारतीय प्रेमाख्यानों को ही अधिकांशतः अपने काव्य का विषय बनाया है एवं इन काव्यों में लौकिक प्रेम के द्वारा अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना की गई है। सूफी कवियों के अनुसार ईश्वर एक है और आत्मा उसी का अंश है। इन प्रेम कथाओं में चित्रित अलौकिक प्रेम द्वारा जीवात्मा और परमात्मा के प्रति तीव्र प्रेम के साधना मार्ग की कठिनाइयों का चित्रण किया गया है।

8. प्रबन्ध कल्पना :– सूफी कवियों का काव्य प्रबन्ध काव्यों की कोटि में आता है जिसमें अलौकिक प्रेम के माध्यम से लौकिक प्रेम की अभिव्यंजना की गई है तथा मात्र प्रेम कहानी का चित्रण न करते हुए प्रेम तत्व के सार रूप का निरूपण करना भी इन कवियों का उद्देश्य रहा है। जहाँ पर उन्होंने प्रबन्ध संगठन आदि का ध्यान रखा है। अपने उद्देश्य की अनुकूलता के लिए इन्होंने कहानी की घटनाओं में अपनी सुविधानुसार परिवर्तन एव परिवर्द्धन भी किया तथा नये–नये दृश्य, पात्र, प्रसंग, वातावरण एवं घटनाओं का निर्माण भी किया। प्रबन्ध काव्योचित वस्तु एवं घटना–वर्णन में जो प्रवाह और गति अपेक्षित होती है, प्रायः इन काव्यों में उसका अभाव है। परन्तु कथावस्तु के निर्वाह एवं वस्तु–वर्णन में सभी सूफी कवियों ने प्रबन्ध रूढ़ियों की सहायता ली है काव्यों की क्रम योजना में भी प्रायः रूढ़ियों की सहायता ली है। काव्यों की क्रम–योजना भी प्रायः समान ही है। सर्वप्रथम मंगलाचरण में ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का वर्णन, तत्पश्चात हजरत मुहम्मद और उनके सहयोगियों की प्रशंसा कर दी जाती है।

9. भाव–व्यंजना एवं रस निरूपण :– सूफी कवियों का काव्य मूल विषय–वस्तु के रूप में 'प्रेम' से जुड़ा है। काव्यशास्त्र की भाषा में जिसे 'शृंगार' कहा जा सकता है। शृंगार के मुख्य दो पक्ष हैं संयोग तथा वियोग। इन्होंने प्रेम के वियोग पक्ष को अधिक महत्व दिया है। वस्तुतः इस माध्यम से वह ईश्वर से मिलन–संयोग के विविध सोपानों के वर्णन का मार्ग निकाल लेते हैं। यही कारण है कि प्रेमी–प्रेमिका की वियोगावस्था में पाये जाने वाले कष्टों का अन्त करने के लिए जितने विभिन्न प्रकार के प्रयत्न उन्होंने किये हैं उतना संयोगावस्था के अंतिम मिलन पर नहीं। विरहावस्था का वर्णन करते समय उन्होंने भारतीय पद्धति के अनुसार ही बारहमासे का बड़ा मार्मिक और सुन्दर चित्रण किया है। संयोगावस्था का यह कवि कोई उत्कृष्ट परिचय नहीं दे पाये हैं। इसे इन्होंने कभी भोग–विलास का साधन माना है तो कभी उसका रहस्यात्मक अर्थ कर डाला है। इसके अतिरिक्त इन काव्यों में प्रेम भावना के साथ–साथ प्रसंगवश शोक, उत्साह, भय, वीभत्स, हास, ईर्ष्या, उत्सुकता, सहानुभूति, दया, विवशता इत्यादि अन्य जीवन के प्रमुख भावों की भी अभिव्यंजना हुई है।

10. शैतान :– सूफी कवियों ने अपने काव्य में शैतान को माया के रूप में चित्रित किया है जो साधक को प्रेम के

साधना–मार्ग से भटकाने वाला है। तत्पश्चात् साधक की मुक्ति को उन्होंने पीर अथवा गुरू की कृपा से सम्भव माना है। जायसी के 'पद्मावत' में राघवचेतन को शैतान के रूप में ही चित्रित किया गया है। सन्त कवियों ने जहां पर माया को हेय सिद्ध कर त्यागने की बात कही है वहीं पर सूफियों ने शैतान की उपस्थिति को साधक की परम ब्रह्म तक पहुंचने की अवस्था में अग्निपरीक्षा के समान माना है क्योंकि इनके अनुसार उसके द्वारा उत्पन्न किए गये व्यवधानों से ही साधक के प्रेम में दृढ़ता और निश्चलता आती है।

11. सूफी रहस्यवाद :– सूफी कवियों का रहस्यवाद अपनी प्रभावोत्पादकता एवं सरलता के कारण विशेष महत्व रखता है। यद्यपि यह रहस्यवाद प्रेमाख्यानों पर ही आधारित है। जिसमें प्रेमी–प्रेमिका के माध्यम से आत्मा और परमात्मा का मिलन दिखाया जाता है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में, ''सूफियों का रहस्यवाद शुद्ध भावात्मक कोटि में आता है जबकि सन्तों का रहस्यवाद साधनावाद कोटि में, क्योंकि उसमें विविध यौगिक प्रतिक्रियाओं का उल्लेख है।'' सूफी कवियों का रहस्यवाद प्रेम के भावनात्मक रूप पर आधारित है। जिसे प्रेम–कहानियों और नायक–नायिका के वियोग, एक दूसरे को पाने के प्रयत्नों में अनेक प्रकार की विघ्न–बाधाओं तथा अन्त में मिलन इत्यादि स्थितियों के अन्तर्गत इन कवियों ने आध्यात्मिक संकेत भर दिए हैं। लौकिक प्रेम–कथाओं का यह अलौकिक और आध्यात्मिक रूप रहस्यवाद की अवस्था का प्रतीक है। सूफी कवियों का रहस्यवाद भक्त को पुरुष और परमात्मा को स्त्री के रूप में चित्रित करता है। सूफियों का रहस्यवाद श्रृंगारिक वर्णनों से भी युक्त है जहाँ पर संयोग की अपेक्षा वियोग पक्ष का अत्यधिक चित्रण हुआ है। इनका रहस्यवाद सन्त कवियों से भिन्न है क्योंकि उनका रहस्यवाद ज्ञान पर आधारित था और इनका रहस्यवाद सरल और हृदय की विभिन्न अनुभूतियों से जुड़ा हुआ है। सूफियों ने ईश्वर और जगत दोनों को ही सत्य मान कर अपने रहस्यवाद की रचना की है।

12. भाषा शैली, अलंकार एवं छन्द :– सूफियों की भाषा शैली ठेठ अवधी रही है। वस्तुतः जन–साधारण में प्रचलित भाषा का सरल एवं सरस रूप ही इनके यहाँ प्रयोग में लाया गया है। लोक प्रचलित देशज एवं विदेशी शब्द भी इनके यहाँ देखे जा सकते हैं। इनमें अरबी, फारसी, तुर्की, तद्भव, भोजपुरी आदि भाषा के शब्द प्रमुख हैं। सूफी कवियों ने अवधी भाषा के मुहावरों तथा लोकोक्तियों का भी अच्छा प्रयोग किया है। अलंकारों के प्रयोग में परम्परा पालन की प्रवृति ही प्रमुख रही है। विषय की अपेक्षा के अनुरूप ही इन्होंने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, अन्योक्ति तथा अतिशयोक्ति इत्यादि अलंकारों का सुन्दर प्रयोग अपने काव्यों में किया है। इसके अतिरिक्त अन्य अलंकार भी यथोचित रूप में इनके काव्य में उपलब्ध हैं। छन्द प्रयोग की दृष्टि से सूफी कवियों ने फारसी के बहरों को छुट–पुट प्रयोग करते हुए भाषा के अपने छंद विधान को अपनाया है। इनके द्वारा प्रयुक्त मुख्य छंद दोहा–चौपाई छन्द है। कितनी अर्द्धालियों के बाद धता देने के लिए दोहा या अरिल्ल इत्यादि छन्द का प्रयोग किया जाये, इस सम्बन्ध में किसी एक नियम का पालन नहीं किया गया। इनके काव्यों में दोहा–चौपाई के प्रयोग के अतिरिक्त सोरठा, बरवै, कवित्त, सवैया, कुण्डलिया तथा झूलना इत्यादि का प्रयोग भी दिखाई पड़ता है।

11.7. प्रेममार्गी धारा के प्रमुख सूफी कवि :

मुल्ला दाऊद :– सूफी प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा का आरम्भ मुल्ला दाऊद या मौलाना दाऊद की रचना 'चंदायन' से माना जाता है। इसलिए मुल्ला दाऊद को प्रेममार्गी काव्यधारा का प्रथम कवि कहा जा सकता है। ये अलाउद्दीन खिलजी के समकालीन थे। इनकी प्रसिद्ध रचना 'चंदायन' का काल सं. 1375 वि. के लगभग माना जाता है। मिश्रबन्धु इसका रचना काल सं. 1385 वि. के लगभग स्वीकार करते हैं। 'चंदायन' की कथावस्तु में एक प्रचलित

लोक गाथा है। इसके पात्र एवं घटनाएँ निम्न वर्ग के समाज के साथ सम्बद्ध है। यह लोर या लोरिक तथा चन्दा की प्रेमकथा है। विषयवस्तु की दृष्टि से इसमें भारतीय प्रेमाख्यानों की विभिन्न प्रवृत्तियों का निरूपण हुआ है तथा लोक प्रचलित विश्वासों के साथ–साथ परम तत्व से प्रेम की व्यंजना की गई है। 'चंदायन' में से एक दोहा द्रष्टव्य है–

"पियर पात जस बन जर, रहेऊँ काँप कुँभ लाई।
विरह पवन जो डोलेउ, टूट परेउं घहराई।।"

इस काव्य की भाषा अवधी है तथा इसमें दोहा, चौपाई छन्दों का प्रयोग हुआ है।

कुतुबन :– सूफी कवि कुतुबन चिस्ती संप्रदाय के प्रमुख प्रचारक शेख बुरहान के शिष्य थे। ये जौनपुर के मुसलमान सुलतान हुसैनशाह के समकालीन और आश्रित थे। इन्होंने अपने प्रसिद्ध प्रेमाख्यान 'मृगावती' की रचना 99 हिजरी (संवत् 1558) में की। इसमें चंद्रनगर के राजा गणपति देव के राजकुमार और कंचनपुर के राजा रूपमुरारि की कन्या मृगवती की प्रेम कथा का वर्णन है। इस कहानी की नायिका जो उड़ने की विद्या में निपुण बतायी गयी है। नायक का उस पर आसक्त होना, अनेक कष्ट प्राप्त करके उसे हासिल करना, राजकुमारी का उसे छोड़ कर हवा में उड़ जाना, राजकुमार का उसके वियोग में अत्यन्त व्याकुल हो उठना, राजपाट छोड़कर योगी बन जाना इत्यादि घटनाएँ तारतम्यपूर्ण तरीके से पिरोयी गयी हैं। इस कहानी के माध्यम से कवि ने प्रेममार्गी के त्याग और कष्ट का निरूपण करके साधक के भगवत्प्रेम का स्वरूप दिखाया है। बीच–बीच में सूफियों की शैली पर बड़े सुन्दर रहस्यमय आध्यात्मिक संकेत है। प्रेमाख्यान की परिणति शांत रस में दिखाई गई है।

रुकमिनि पुनि वैसहि मरि गई। कुलवंति सत सों सति भई।
बाहर वह भीतर वह होई। घर बाहर को रहै न जोई।।
विधि कर चरित न जानै आनू। जो सिरजा सो जाहिं निआनु।।

मंझन :– मंझन की रचना का नाम 'मधुमालती' है। 'मधुमालती' नाम की अन्य रचनाओं का भी पता चलता है। यद्यपि 'मधुमालती' का उल्लेख जायसी ने अपने पद्मावत में किया हुआ है परन्तु कहा जाता है कि यह मंझन द्वारा रचित नहीं है। कवि के जीवन–वृत्तांत के विषय में अभी तक कुछ पता नहीं चला है। माना जाता है कि मंझन जायसी के समकालीन थे। चुनार उत्तर–प्रदेश के रहने वाले थे तथा सत्तारी संप्रदाय के शेख मुहम्मद गौस के शिष्य थे। 'मधुमालती' का कथानक कल्पना पर आधारित है। महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती और कनेसर के राजकुमार मनोहर की प्रेमकथा इसमें वर्णित है। इन दोनों का प्रेम सम्बन्ध परियों के द्वारा सम्पन्न होता है। परियाँ राजकुमार को सुप्तावस्था में उठा कर ले जाती हैं और मधुमालती की चित्रसारी में पहुँचा देती है और फिर उसे लौटा भी जाती है। बीच में मधुमालती माँ के शाप से चिड़िया बन जाती है और राजकुमार राज्य छोड़ कर जोगी बन जाता है। इस कथानक का वर्णन रोचक एवं चित्ताकर्षक है। इसमें जो संकेत अध्यात्मिक प्रेम के वर्णन के लिए अपनाए गये हैं वे कथा और वर्णन शैली को और भी अधिक सुन्दर बना देते हैं। कथा की रोचकता और वर्णन शैली की उत्कृष्टता के कारण इस काव्य का अपने समय में बहुत प्रचार जान पड़ता है। इसकी भाषा भी अवधी है तथा ये दोहा–चौपाई छन्द में लिखा गया है।

मलिक मुहम्मद जायसी :– सूफी कवियों और साधकों के बीच में जायसी का स्थान सर्वोपरि है। ये अवध में जायस नामक स्थान के निवासी होने के कारण जायसी कहलवाए। परन्तु इनके जीवन परिचय के विषय में मतभेद हैं। विभिन्न विद्वानों के मतानुसार इनका जन्म 1499 ई. तथा मृत्यु 1542 ई. के आसपास अमेठी में हुई मानी जाती है।

जायसी के तीन ग्रन्थ प्रमाणिक माने जाते हैं– आखरी कलाम, अखरावट तथा पद्मावत। आखरी कलाम और अखरावट का महत्व साहित्यिक दृष्टि की अपेक्षा साम्प्रदायिक दृष्टि से माना जाता है। 'आखरी कलाम' में प्रलय, सृष्टि के अन्त तथा मुहम्मद साहब के महत्व का वर्णन है। इसमें यह भी बताया गया है कि सृष्टि के अन्त में क्या व्यवस्था होती है। भूत आत्माओं को पैगम्बर साहब अल्लाह के समक्ष ले जाते हैं और जिब्राइल आदि फरिश्ते उनके कर्मों के अनुसार दण्ड निर्धारित करते हैं। यह एक सूफी सिद्धान्तों का ग्रन्थ है। 'अखरावट' में ईश्वर, जीव, ब्रह्म, सृष्टि–निर्माण, गुरू तथा धर्माचार आदि की सैद्धान्तिक विवेचना की गई है। यह ग्रन्थ भी सूफी सिद्धान्तों से भरा हुआ है। 'पद्मावत' जायसी की अमर रचना है। इसमें रत्नसेन और पद्मावती की लौकिक प्रेम कहानी के द्वारा अलौकिक प्रेम की अभिव्यजंना की गई है। जहाँ दूसरे सूफी कवियों ने अपने प्रेमाख्यानों में काल्पनिक कहानियां अपनाई वहाँ जायसी ने 'पद्मावत' में लोक–प्रचलित कथा में ऐतिहासिकता का भी सुन्दर समन्वय किया है। इस ग्रन्थ की खास विशेषता है कि इसमें प्रेम की साधना और सिद्धि दोनों अवस्थाओं का चित्रण किया गया है। इसकी कथावस्तु चित्तौड़ के राजा रत्न सेन और सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती के प्रेम से संप्रेक्षित है। तोते द्वारा पद्मावती के सौन्दर्य का वर्णन रत्नसेन द्वारा सुनना तथा उस पर मोहित हो कर उसे प्राप्त करने से लिए योगी बन कर सिंहलद्वीप की ओर चल पड़ना, अनेक कष्टों को सह कर उसे प्राप्त करना उसे चित्तौड़ लाना, पद्मावती के सौन्दर्य का वर्णन सुन कर अलाउद्दीन का चित्तौड़ पर आक्रमण करना, राजा का स्वर्गवास होना, पद्मावती का उसके साथ सती होना इत्यादि प्रमुख घटनाओं के साथ–साथ इसमें रत्नसेन की पहली पत्नी नागमती के वियोग वर्णन तथा अन्य कई घटनाओं का भी चित्रण है। जिसमें जायसी ने ऐतिहासिकता का भी प्रयोग किया है। भाषा की दृष्टि से भी यह काव्य उच्च कोटि का है। यह अवधी में लिखा गया है किन्तु इसमें साहित्यिक भाषा का प्रयोग नहीं हुआ है यह लोक–भाषा का काव्य है। कहीं–कहीं मुहावरों और कहावतों का भी प्रयोग हुआ है। परन्तु वे अत्यन्त स्वाभाविक रूप से ही काव्य में चित्रित हुए हैं। इसमें कवि ने दोहा, चौपाई, छन्दों का भी प्रयोग किया है। जायसी ने अपने काव्य में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, स्वाभावोक्ति, अन्योक्ति, रूपकातिशयोक्ति, श्लेष, व्यतिरेक, तदगुण, विभावना, सन्देह, अनुप्रास तथा निदर्शना आदि अलंकारों का भी प्रयोग किया है।

उसमान :– सूफी काव्य परम्परा में उसमान का अत्यधिक महत्व है। ये गाजीपुर के रहने वाले थे तथा बादशाह जहाँगीर के समकालीन थे। ये चिश्ती संप्रदाय के हाजी बाबा के शिष्य थे। इन्होंने 'चित्रावली' की रचना की है। इसका कथानक सर्वथा कल्पित है। पर कवि ने इसे बड़े कौशल से सूफी साधना का अध्यात्मिक रूप दे दिया है। इस काव्य–कृति में भी वही सन्देश दिया गया है जो सभी सूफी सन्तों का जीवन सूत्र रहा है। चित्रावली में घटना विस्तार पर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया गया है। इसका कथानक कल्पनाश्रित है। इस काव्य में नेपाल के राजा धरनीधर पंवार के पुत्र सुजान और कंवलावती तथा चित्रावली के प्रेम और विरह का वर्णन है। राजकुमार सुजान एक साधक है, जो एक लम्बी और अत्यंत कष्टदायक साधना के पश्चात् चित्रावली को प्राप्त करता है। इसमें उसमान ने नगर, समुद्र, यात्रा, ऋतु, विरह इत्यादि का बड़ा सुन्दर और सजीव चित्रण किया है। काव्य कला की दृष्टि से भी चित्रावली का महत्व पद्मावत से किसी भी प्रकार कम नहीं है। सूफी कवियों के अन्य ग्रन्थों की तरह इस काव्य की भाषा भी अवधी है तथा इसमें भी दोहा, चौपाई, छन्दों का प्रयोग किया गया है।

नूर मुहम्मद :– नूरमुहम्मद जौनपुर जिले के सबरहद नामक स्थान के निवासी थे। ये दिल्ली के सुलतान मुहम्मदशाह के समकालीन माने जाते हैं। ये फारसी के विद्वान् थे परन्तु हिन्दी काव्य–रचना में भी रुचि रखते थे। इन्होंने 'इन्द्रावती' और 'अनुराग–बाँसुरी' दो काव्य ग्रन्थ लिखे। इन्द्रावती में कालिंजर के राजकुमार, राजकुंवर और आगमपुर की राजकुमारी इन्द्रावती की प्रेम कथा है। ''अनुराग–बाँसुरी'' में शरीर, जीवात्मा तथा मनोवृत्तियों को लेकर–प्रेम कथा लिखी हुई है। इस कथा में अध्यात्म तो है ही, रूपक का भी बड़े कौशल से निर्वाह किया गया है।

इस काव्य की एक विशेषता है कि इसके पात्र नर–नारी नहीं, वरन् मनोभाव है। ये दोनों ग्रन्थ अवधी भाषा में दोहा–चौपाई में लिखे गये हैं।

शेख निसार :– सूफी कवि शेख निसार ने 'युसुफ जुलेखा' नामक प्रेमाख्यान की रचना की। यह काव्य भक्ति काल की निर्धारित सीमा के बाद का लिखा गया है। इसमें कुरान में वर्णित युसुफ–जुलेखा प्रेमाख्यान कुछ परिवर्तित रूप में ग्रहण किया गया है। कथा का मुख्य आधार जामी की प्रसिद्ध फारसी मसनवी 'युसुफ–जुलेखा' है।

सूफी परम्परा में उपर्युक्त प्रमुख सूफी कवियों के अतिरिक्त और भी बहुत से सूफी कवि हुए हैं। जिनके नाम तथा रचनाएँ इस प्रकार हैं–

कवि	रचना
शेख निजार	प्रेम–दर्पण
जलालुद्दीन	जमाल पच्चीसी
शेख नवी	ज्ञान द्वीप
जान	रत्नावती
कासिम शाह	हंस जवाहर
शाह नफजल अली	प्रेम चिनगारी
ख्वाजा अहमद	नूरजहाँ
शेख रहीम	भाषा प्रेम रस
नसीर	प्रेम दर्पण

11.8. निर्गुण काव्य की विशेषताएं :

भक्तिकाल की निर्गुण शाखा में सन्त काव्य और सूफी काव्य दोनों धाराएँ शामिल होती हैं। इनका विस्तारपूर्वक पृथक्–पृथक् अध्ययन हम कर चुके हैं। यहाँ पर दोनों में पाई जाने वाली समान प्रवृत्तियों की चर्चा की जाएगी। निसन्देह भक्तिकाल में निर्गुण और सगुण दोनों धाराओं के परस्पर भिन्न मत, विश्वास, विचार और मान्यताएँ थीं। परन्तु उनकी मतों, विचारों और मान्यताओं में पाई जाने वाली समान प्रवृत्तियों का परिचय इस प्रकार है

1. **भक्ति की प्रधानता** निर्गुण काव्य में अर्थात् सन्त और सूफी काव्य में ईश्वराराधन के लिए भक्ति पर समान बल दिया गया है। यद्यपि कबीर के ईश्वर निराकार है और वे ज्ञानगम्य हैं किन्तु भक्ति के बिना उसकी प्राप्ति नहीं होती। भक्ति ज्ञान का प्रमुख साधन है : 'हरि भक्ति जाने बिना बुड़ि मुआ संसार' जायसी ने शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत इन चारों साधनों को भगवद्शक्ति के लिए आवश्यक बताया है।

2. **अहंकार का त्याग** निर्गुण काव्य में ईश्वर प्राप्ति के लिए अहं के त्याग को भी आवश्यक माना गया। कबीर का कहना है कि मान और प्रेम परस्पर विरोधी तत्त्व हैं। कबीर के शब्दों में

पिया चाहे प्रेम रस राखा चाहे मान
इक म्यान में दुई खड्ग देखी सुनी न कान।

इसी प्रकार जायसी ने भी अहं को त्यागे बिना ईश्वर प्राप्ति को सम्भव नहीं माना।

3. नाम की महिमा निर्गुण सन्तों, साधकों ने समान कीर्तन, भजन तथा नाम स्मरण को समान रूप से महत्व दिया है। जायसी स्मरण की महत्ता प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि सुमिरो आदि इक करतारु जेहि जिउ दीन्हे कीन्ह संसारु''। कबीर ने नाम के महत्व को अनेकत्र स्वीकार किया है

निर्गुण नाम जपहु रे भाई।

अविगत की गति लखि न जाई।।

4. गुरु की महिमा निर्गुण काव्य में गुरु महिमा का समान रूप से प्रतिपादन किया गया है जहां पर कबीर ने गुरु को गोविन्द से बड़ा बताया है

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागू पाय

बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो दिखाय

वहाँ पर जायसी का कहना है

बिन–गुरु जगत का निरगुन पावा

इन सन्तों, साधकों को गुरु के बिना अपना जीवन अन्धकारमय लगता है। ये मानते हैं कि गुरु के बिना जीव की गति सम्भव नहीं है, गुरु ही है जो मनुष्य को ज्ञान चक्षु खोलकर उसके हृदय के अन्धकार को दूर कर सकता है तथा पग–पग पर उसका मार्गदर्शन कराने वाला प्रत्यक्ष ब्रह्म भी है।

5. बहुजन हिताय निर्गुण काव्य की सर्वप्रमुख विशेषता बहुजन हित संपादन रहा है। भक्ति की शाखाओं में सदाचार तथा नैतिक भावना पर यथेष्ट बल दिया गया। अनु वाश्रयी निर्गुण साहित्य व्यक्तिगत उत्कर्ष के साथ निरन्तर आध्यात्मिक प्रेरणा देता रहा है। निर्गुण काव्य ने सदाचार, नैतिक भावना तथा वैयक्तिक अभ्युत्थान के साथ तत्कालीन जनता के लिए आत्मनिरीक्षण तथा परिस्थिति परीक्षण का अवसर प्रदान किया। निर्गुण काव्य ने बिना किसी वर्ग भेद के जन सामान्य के लिए श्रेय एवं प्रेय का मार्ग उद्घाटित किया। समूचे निर्गुण काव्य ने भेद भाव को कम कर समन्वयात्मकता को अधिकाधिक प्रोत्साहित किया।

6. समन्वयात्मकता निर्गुण काव्य की एक बड़ी प्रवृत्ति समन्वयात्मकता है। सन्तों की वाणी में यद्यपि चुनौती भरी कड़वाहट है किन्तु उनका अन्तिम उद्देश्य वर्गभेद मिटाकर समन्वयात्मकता ही लाना है। सन्तों की इस समन्वयात्मक प्रवृत्ति के समान ही सूफी मत में भी इस प्रवृत्ति को प्रश्रय दिया गया है। सहिष्णु समन्वय का आवश्यक उपबन्ध भारतीय परम्परा के अनुसार सन्त काव्य में जहां इष्ट देव को प्रियतम कहा गया है वहाँ सूफी काव्यों में उस पर प्रियतमा का आरोप किया गया है। इस प्रकार दोनों मतों में धार्मिक सांप्रदायिकता का स्तर उत्तरोत्तर क्षीण प्रायः हो गया। निर्गुण काव्य में बहुधा उनके रचयिताओं का नामोल्लेख समन्वयात्मक सहिष्णुता का उपलक्षक है। भले ही इस के और भी अनेक कारण हों।

7. लोक भाषाओं की प्रधानता निर्गुण काव्य की सर्वमहती विशेषता लोक भाषाओं को प्रश्रय देना भी है। सभी निर्गुण सन्तों ने अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के सक्षम माध्यम के रूप में प्रचलित भाषा के विभिन्न रूपों का सफल प्रयोग किया। कबीर आदि सन्त कवियों ने सधुक्कड़ी भाषा के माध्यम से अपना सन्देश जन सामान्य तक पहुंचाया। जायसी इत्यादि कवियों के प्रेम काव्यों में लोक प्रचलित अवधी का प्रयोग हुआ। वर्ण्य विषय को जन सामान्य तक पहुंचा कर उसे लोकप्रिय बनाने के लिए निर्गुण कवियों द्वारा किया गया जन–भाषाओं का उपयोग अतीव उपयोगी और

हितकर सिद्ध हुआ। उक्त काव्य में लोकगीतों और लोककथाओं को यथेष्ट सम्मान मिला। लोकपरिचित दृष्टान्तों, रूपकों, प्रतीकों तथा लोकोक्तियों का यथायोग्य प्रयोग किया गया। इस प्रकार अपनी–अपनी अनुभूतियों को जनमानस तक पहुंचाने के लिए लोक–प्रचलित भाषा शैली का प्रयोग करना निर्गुण काव्य के प्रणेताओं का प्रमुख उद्देश्य रहा है।

8. नीति काव्य भारतीय साहित्य में नीतिकाव्यों के निर्माण की परम्परा बहुत पुरातन है। वेद, रामायण, महाभारत, पुराणों तथा अन्यत्र नीतिपरक उपदेश मिल जाते हैं। संस्कृत साहित्य में नीति के अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। यह परम्परा पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के काव्यों में भी बराबर मिलती है। निर्गुण काव्य में सिद्धों व नाथों के साहित्य में अनेक नीतिपरक सूक्तियां मिलती हैं। निर्गुण काव्य के अन्तर्गत कबीर, नानक और दादू दयाल आदि सन्तों की वाणियों तथा 'पद्मावत' आदि प्रबन्ध काव्यों में नीति सम्बन्धी उपदेश प्रासंगिक रूप से मिल जाते हैं। निर्गुण कवियों में कुछ ऐसे कवि भी हुए हैं जिन्होंने स्वतन्त्र रूप से नीति ग्रन्थों की रचना की। इन कवियों में बनारसी दास, पद्मना, देवीदास, उत्थैरा, वाजिद राज समुद्र, कुशलबीर तथा जमाल आदि उल्लेखनीय हैं। इन कवियों ने भृतृहरि के नीतिशतक तथा वैराग्य शतक के समान लोकव्यवहार, नैतिकता और अध्यात्मोन्मुख उपदेशों को काव्योचित भाषा में निबद्ध किया।

11.9. सारांश :

इस अध्याय में हमने निर्गुण धारा के अंतर्गत सन्त और सूफी काव्य की विशेषताओं का अध्ययन किया तथा निर्गुण और सगुण मार्गी कवियों का सविस्तार परिचय भी प्राप्त किया।

11.10. प्रश्नावली :

1. निर्गुण काव्य के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

2. ज्ञानमार्गी शाखा अथवा सन्त काव्य की प्रमुख विशेषताएं बताइए।

3. प्रेममार्गी अथवा सूफी काव्य की प्रमुख विशेषताएं बताइए।

4. निर्गुण काव्य की प्रमुख विशेषताएं बताइएं।

5. सन्तमार्गी शाखा के प्रमुख कवियों का परिचय दीजिए।

11.11. पठनीय संदर्भ ग्रन्थ

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – शिव कुमार शर्मा
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास – हुकम चन्द राजपाल
4. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास – डॉ. बच्चन सिंह

.....

सगुण काव्य की विशेषताएं एवं प्रमुख सगुण कवियों का योगदान

12.0. रूपरेखा

12.1. उद्देश्य

12.2. भूमिका

12.3. सगुण शाखा

12.4. राम भक्ति शाखा

12.5. राममार्गी शाखा अथवा काव्य की विशेषताएं

12.6. राममार्गी शाखा अथवा काव्य के प्रमुख कवि

12.7. कृष्ण मार्गी शाखा अथवा काव्य

12.8. कृष्ण मार्गी शाखा अथवा कृष्ण काव्य की प्रमुख विशेषताएं

12.9. कृष्ण मार्गी शाखा के प्रमुख कवि

12.10. सगुण काव्य की विशेषताएं

12.11. सारांश

12.12. प्रश्नावली

12.13. पठनीय संदर्भ ग्रन्थ

12.1. उद्देश्य :

प्रस्तुत अध्याय में भक्तिकाल की सगुण शाखा के काव्य की प्रमुख विशेषताओं एवं प्रमुख सगुण कवियों के योगदान को सामने लाया गया है। सगुण काव्य की राममार्गी धारा के प्रर्वतक तुलसीदास तथा कृष्णमार्गी धारा के प्रर्वतक सूरदास की दार्शनिकता का विवेचन करने के साथ–साथ इन धाराओं की प्रमुख विशेषताओं का भी अध्ययन इस अध्याय में किया गया है। साथ ही इन धाराओं के प्रमुख कवियों ने भक्ति साहित्य में अपना जो योगदान दिया तथा लोगों की ईश्वरीय आस्था, श्रद्धा और भक्ति में समेटने का जो प्रयास किया उस पर इस अध्याय में विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है।

12.2. भूमिका :

'सगुण' शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'गुण सहित' तथा 'गुण' का अर्थ है विशेषण या लक्षण। इसीलिए जिस ब्रह्मा का निरूपण किसी विशेषण या लक्षण द्वारा किया जा सकता है। वह सगुण है भक्तिकाल का श्रेष्ठतम काव्य 'सगुण काव्य' है। जो किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध न होकर स्वतन्त्र रूप से मात्र ईश्वर भक्ति पर ही आधारित है। भक्ति के उद्‌भव और विकास के सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं हैं। इनके मतों में पर्याप्त मतभेद होने पर भी प्रामाणिक रूप से कहा जा सकता है कि ईश्वर के सगुण रूप की उपासना के बीज वैदिक युग में ही विद्यमान थे। सगुण काव्य ने समस्त जन मानस को भक्ति के उस उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित किया। जहां पर वह अपने आराध्य को अपने अति निकट सगुण रूप में देख सके। रूप, गुणशील और सौन्दर्यवान् भगवान को देख पाने की भक्त की यह सहज इच्छा वस्तुतः इसी काव्य के माध्यम से हुई। भक्तिकाल में निर्गुण ईश्वर को आराध्य मानकर चलने वाली धारा से यह धारा बिल्कुल विपरीत थी। वस्तुतः निर्गुण भक्ति एवं सगुण भक्ति के आलम्बन के स्वरूप में स्थूल अन्तर यह है कि निर्गुण भक्ति का आलम्बन निराकार और अगोचर है तथा सगुण भक्ति का आलम्बन साकार एवं गोचर है।

सगुण भक्ति काव्य के प्रबल प्रवाह और विकास को देखकर एक अवधारणा यह भी मानी जाती है कि निर्गुण–निराकार ब्रह्ममोपासना से दूर हटकर सगुणोपासक भक्त कवि तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों से खिन्न और उद्विग्न होकर भगवान की शरण में जाने को लालायित हुए थे। वस्तुतः सगुण भक्ति–साहित्य में अनुरागपरक एवं माधुर्यभाव मण्डित अभिव्यक्तियों के अन्तर्गत प्रेम, राग और श्रृंगार के साथ दैन्य एवं कार्पण्य की उक्तियां भी यह भ्रम उत्पन्न करने में सहायक हुईं। परन्तु वास्तविकता यह थी कि मुगल–शासकों की स्थापना एवं उनकी राजनैतिक व्यवस्था के कुचक्रों में हिन्दू जनता लाचारी और परवशता में घिर गयी थी। निराश होकर ईश्वर की शरण में जाने के अतिरिक्त कोई ऐसा दूसरा उपाय न था जो उनके निस्सम्बल, पीड़ित और त्रस्त हृदय को सांत्वना दे सकता। फलस्वरूप हिन्दू जनता ने ईश्वर के अवतारी और सगुण रूप की एक छवि अपने हृदय में अंकित की, जिसे बाह्य रूप प्रदान कर उन्होंने उसकी स्तुति और उपासना की।

12.3. सगुण शाखा :

सगुणोपासक भक्त कवियों ने भक्तिकाल के निर्गुण पन्थी कवियों का अनुसरण न करते हुए विष्णु भगवान को अपना आराध्य बनाया और उसके अवतारी रूपों के अन्तर्गत उसके रूप, सौन्दर्यशील और गुणों इत्यादि के मनोहारी चित्र अपनी कविता में चित्रित किए। उनके अनुसार निराश और राजनीतिक दासत्व से पीड़ित भक्तों की शांति और आत्मनिर्भरता का उपाय ईश्वर की सगुण भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता जोकि उन्हें मानसिक सम्बल प्रदान कर उन्हें भयमुक्त करती है। सगुण भक्तिकाव्य ने मध्ययुगीन हिन्दू जनता में ईश्वर के प्रति विश्वास और आस्था उत्पन्न की। सगुणोपासक कवियों ने लोकमानस को निराशा और कुण्ठा से बाहर निकालते हुए उन्हें ईश्वर के सगुण

अवतारी रूप में आश्रय लेने के लिए प्रेरित भी किया तथा उन्हें आश्वस्त करने के लिए अपने काव्य के माध्यम से माता–पिता, पिता–पुत्र, पति–पत्नी, भाई–बहिन, राजा–प्रजा, स्वामी–सेवक इत्यादि पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों को भगवान् राम उनके परिवार, राज्य तथा उनके सेवक हनुमान को एक आदर्श के रूप में वर्णित किया। भक्तिकाल के प्रमुख कवि तुलसीदास का ''रामचरितमानस'' ग्रन्थ इस दिशा में सराहनीय है। तुलसीदास के अन्य ग्रन्थों के साथ–साथ अन्य सगुणोपासक कवियों की रचनाएं भी भक्ति, प्रेम और सामाजिक समन्वय की दृष्टि से उच्च कोटि की हैं। सगुणोपासक परम्परा में राम भक्त कवियों के अतिरिक्त कृष्णभक्त कवियों की विशाल परम्परा भी हिन्दी साहित्य में उदय हुई। अष्टछाप के कवियों में सूरदास, नन्ददास और परमानन्ददास ने काव्य–सृजन में अपनी अद्‌भुत प्रतिभा का परिचय दिया। इन कवियों ने साम्प्रदायिक स्तर पर भी कृष्णभक्ति का विविध रूपों में पल्लवन किया। इस काल में वल्लभ–सम्प्रदाय, राधावल्लभ–सम्प्रदाय, निम्बार्क–सम्प्रदाय, हरिदासी सम्प्रदाय, गोड़ीय सम्प्रदाय आदि अनेक सम्प्रदायों का प्रवर्त्तन हुआ। इन सम्प्रदायों के कवियों ने राधा–कृष्ण की विविध लीलाओं का बड़ी मनोहारी शैली में वर्णन प्रस्तुत किया। निर्गुण भक्ति धारा की तरह भक्तिकाल की यह सगुण काव्य धारा भी आगे चलकर दो उपशाखाओं में बंट गईं :– 1. राम भक्ति धारा, 2. कृष्ण भक्ति धारा।

12.4. राम भक्ति शाखा :

राम भक्ति की धारा उत्तर भारत में आने से पूर्व दक्षिण भारत में पूरी तरह फैल चुकी थी। वैदिक धर्म के कर्मकाण्डों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप जिस वैष्णव धर्म की स्थापना हुई उसमें भगवान की भक्ति का सहारा लिया गया। इसी धर्म में बाद में अवतारवाद का प्रारम्भ हुआ और भगवान विष्णु के दो मुख्य अवतारों श्रीराम और श्रीकृष्ण को भक्ति का आधार माना गया। राम के सगुण रूप की उपासना करने वाले कवि राम भक्त कहलवाए। हिन्दी का रामकाव्य एक और तो संस्कृत परम्परा से जुड़ा है तो दूसरी और वैष्णव आन्दोलन से भी प्रभावित है। दक्षिण भारत में रामानुजाचार्य ने श्री वैष्णव सम्प्रदाय की स्थापना की थी जिसमें नारायण के रूप में विष्णु की उपासना का विधान था अतः स्पष्ट रूप से माना जा सकता है कि राम भक्ति का विकास वैष्णव भक्ति से ही हुआ तथा रामावतार राम भक्ति का मूल रहा। मर्यादा–पुरुषोत्तम रामचन्द्र के शील, शक्ति एवं सौन्दर्य से मण्डित अलौकिक व्यक्तित्व के विविध रूपों ने जनमानस को आकृष्ट किया। रामकथा का मूल स्त्रोत वाल्मीकि रामायण को आदिकाव्य मान कर स्वीकार किया जाता है। इस आदिकाव्य में राम का चित्रण उदात्त और असाधारण गुणों से सम्पन्न दिव्य महापुरुष के रूप में हुआ है।

सम्पूर्ण विकासक्रम की दृष्टि से रामकाव्य सर्वप्रथम दक्षिण के आलवार सन्तों की वाणी से प्रस्फुटित हुआ तत्पश्चात् उत्तरी भारत में उसका विकास हुआ। दक्षिण में आलवारों जोकि संख्या में बारह माने जाते हैं इनमें से पांचवे शाठकोप अथवा नम्मालवार थे जोकि राम भक्ति के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। इनकी रचना 'तिरुवायमोलि' में अनन्य राम भक्ति का वर्णन मिलता है। सातवें आलवार केरल के राजा कुलशेखर भी अनन्य राम–भक्त थे। 'प्ररु माल तिरुभोवि में इनके रामभक्ति विषयक सरस गीत संकलित है। शठकोप एवं कुलशेखर के अतिरिक्त अन्य आलवार सन्तों के गीतों में भी ऊंच–नीच के भावों से मुक्त राम भक्ति के विभिन्न रूपों को प्रतिपादित किया गया है। सैद्धान्तिक दृष्टि से श्री, मनक, ब्रह्म और रुद्र–इन चार वैष्णव सम्प्रदायों में से श्री एवं ब्रह्म सम्प्रदाय के आचार्यों ने रामभक्ति को विशेष परिपुष्टि प्रदान की' तथा उत्तरी भारत में रामभक्ति का प्रवर्त्तन आचार्य रामानुज की परम्परा में आचार्य राघवानन्द द्वारा प्रारम्भ हुआ और उनके शिष्य रामानन्द ने उसे युगानुकूल भाव–भूमि प्रदान की। आचार्य रामानन्द ने ही सर्वप्रथम बाह्य आक्रमणों से त्रस्त, राजनीतिक सत्ता की अव्यवस्था, संकुचित धार्मिक रूढ़ियों में आबद्ध हिन्दू समाज को राम भक्ति का अभेद्य कवच प्रदान किया धनुषबाणधारी राम के लोकरक्षक रूप की उपासना प्रारम्भ कर उन्होंने एक और हिन्दू समाज

की पराजित मनोवृत्ति को उद्‌बुद्ध किया और दूसरी और बलपूर्वक मुसलमान बनाये गये हिन्दुओं को रामतारक मंत्र देकर पुनः उन्हें हिन्दू धर्म में दीक्षित भी किया। भक्ति–भावना को ऊंच–नीच एवं बाह्य आडम्बरों से मुक्त करने का श्रेय भी आचार्य रामानन्द को प्राप्त है। इनकी परम्परा में राम के सगुण एवं निर्गुण दोनों रूपों की उपासना करने वाले शिष्य हुए। हिन्दी का भक्तिकालीन रामकाव्य मुख्यतः इन्हीं के सिद्धान्तों से अनुप्रेरित है।

हिन्दी साहित्य में रामभक्ति काव्य के तीन रूप मिलते हैं ऐश्वर्य भक्ति, माधुर्य भक्ति और योगपरक भक्ति, इनमें से ऐश्वर्य परक भक्ति का ही जनमानस में सर्वाधिक प्रसार–प्रचार हो सका। इसका मुख्य कारण है आचार्य रामानुज की परम्परा पर चलते हुए तुलसीदास द्वारा राम के लोकरक्षक और मर्यादा सम्पन्न रूप की प्रतिष्ठापना। सैद्धान्तिक रूप से प्रारंभ से ही माधुर्य भक्ति गुह्य साधना रही है। उसका अधिकारी केवल अनन्तरंग भक्त ही माना जाता है। स्वामी रामानन्द की रचनाओं से पता चलता है कि उन्होंने योगपरक रामभक्ति का भी प्रतिपादन किया था। रामानन्द के शिष्य अनंतानंद भी योगपरक भक्ति को स्वीकारते थे। इस भक्ति का विशेष प्रचार अनंततानंद के शिष्य श्री कृष्णदास पयहारी द्वारा भी हुआ। ऐश्वर्योपासक रामभक्त कवियों में तुलसीदास का स्थान सर्वोपरि है। रामकथा का चरम विकास, परम उत्कर्ष तुलसीदास के काव्य में ही हुआ। अपनी राम–रस से भरी हुई वाणी से तुलसीदास ने जनमानस को अत्यधिक प्रभावित किया। तुलसीदास के साथ–साथ भक्तिकाल के अन्य सगुणोपासक कवियों रामानन्द, अग्रदास, केशवदास, ईश्वरदास इत्यादि ने भी भक्ति को मनुष्य का आश्रय और सम्बल तो माना परन्तु निर्गुण भक्ति के रूप को नहीं। उनके अनुसार निर्गुण भक्ति जो ज्ञान और अनुभव से ही प्राप्त की जा सकती है वहां तक प्रत्येक मनुष्य का पहुंच पाना सम्भव नहीं है अतः साकार एवं गोचर ईश्वर का स्वरूप हर मनुष्य को प्राप्य हो सकता है। इसीलिए इन कवियों ने अपने आराध्य को सगुण रूप में स्थापित किया तथा तत्कालीन पीड़ित और कुंठित जनता की भावनाओं को 'राम' नाम के मधुर रस से आभादित करने का प्रयत्न किया।

12.5. राममार्गी शाखा अथवा काव्य की विशेषताएं :–

1. राम का स्वरूप :– ईश्वर के सगुण रूप के उपासक रामभक्त कवियों के आराध्य राम विष्णु के अवतार हैं और परम ब्रह्म स्वरूप हैं। राम को ईश्वर का अवतार स्वीकार किया गया और ईश्वर की कल्पना आदर्श मनुष्य के रूप में की गई। राम को भी मर्यादा पुरुषोत्तम कहकर सम्बोधित किया गया। उन्हें आदर्श बनाकर ही तुलसीदास ने सामाजिक मर्यादाओं और पुरुष की श्रेष्ठता को अपने 'रामचरितमानस' में प्रतिष्ठापित किया है। तत्कालीन विषम और घोर विकट परिस्थितियों में 'राम' का नाम सहारा देने वाला था। 'राम' का नायकत्व उनके लिए सशक्त अवलंबन बना। अदृश्य अव्यक्त ब्रह्म जन–सामान्य के डगमगाते मन को सहारा नहीं दे पा रहा था अतः धनुर्धारी भगवान् राम का रक्षक रूप लोकमानस को अधिक भाया। राम के चरित्र और उनके गुणों की महत्ता में उनके आंतकित जीवन को एक आश्रय मिला। रामभक्ति को उन्होंने जीवन का सहारा माना। उन्हें विष्णु के अवतार देवाधिदेव तथा लोकरक्षक मानकर उन्होंने अपने आप को उनकी भक्ति में समर्पित कर दिया। उनके अनुसार राम जोकि परम ब्रह्म स्वरूप हैं। वे युगों–युगों से छाये पाप, विनाश और धर्मोद्धार के लिए युग–युग में ही अवतार लेते हैं। रामभक्त कवियों के 'राम' में शील, शक्ति और सौन्दर्य का समन्वय है। अपने शील गुण से वह जनमानस को आचार की शिक्षा देते हैं। शक्ति से वह दुष्टों का संहार करते हैं तथा सौन्दर्य में वह त्रिभुवन को भी पीछे छोड़ देते हैं। अपनी करुणामयता और दया दृष्टि से वह पतितों और अधर्मियों का भी उद्धार करते हैं। रामकाव्यों में वस्तुतः उनका लोक रक्षक रूप ही चित्रित हुआ है।

2. भक्ति का स्वरूप : रामभक्ति शाखा के कवियों ने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को श्रेष्ठ माना है क्योंकि ज्ञान सभी लोगों की पहुंच से बाहर होता है परन्तु भक्ति सबके लिए बोधगम्य होती है। रामभक्त कवियों का भक्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण अपेक्षाकृत

अधिक उदार है। ये भक्त विशिष्टाद्वैतवाद से प्रभावित हैं। इनके लिए ब्रह्म के साथ–साथ जीव भी सत्य है क्योंकि वह भी ब्रह्म का अंश है और जीव और ब्रह्म में अंश–अंशी भाव है। रामभक्त कवियों की भक्ति भावना मुख्यतः दास्य भाव की है। उनका मानना है कि दास्य भाव की भक्ति भक्त को भगवान् के महंत रूप से जोड़कर उसे भगवत स्वरूप बनाती है। रामभक्त कवियों ने अपने और राम के बीच सेवक और सेव्य भाव को स्वीकार किया है। तुलसीदास का कहना है

सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।

परन्तु इसके साथ ही राम काव्य में भक्ति के अन्य अनेक भाव–भेद भी सहज रूप से चित्रित हुए हैं। जैसे नवधा भक्ति के सभी प्रकार, श्रवन, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, बन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन मिल जाते हैं। रामभक्त कवि अपने जीवन का ध्येय अपने जीवन की सफलता भक्ति में ही मानते हैं। अपने काव्य में उन्होंने भक्ति के जो विभिन्न भाव अंकित किए हैं जैसे सीता में माधुर्य भाव की भक्ति है तो राम में दास्य, सुग्रीव में साख्य, दशरथ, कौशल्या इत्यादि में वात्सल्य भाव की।

'वैराग्य संदीपनी' में संतों के शान्त भाव की प्रशंसा करते हुए शांतभाव की रामभक्ति का निरूपण किया गया है। रामभक्त कवियों में राम में एकाकार होने के लिए निर्विकारता आवश्यक है। राममयता अर्जित करते ही भक्त निर्भय, निष्पाप और निर्विघ्न हो जाता है।

3. समन्वय की भावना :– राम काव्य का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक है। उसमें एक विराट समन्वय की भावना है। रामकाव्य वस्तुतः इसी समन्वय भावना के कारण मानवतावादी माना जाता है। सम्पूर्ण रामकाव्य में समन्वय की विराट चेष्टा लक्षित है। जिसमें निर्गुण और सगुण का ज्ञान, भक्ति और कर्म का, ब्राह्मण और शूद्र का, विभिन्न सम्प्रदायों का, दार्शनिक विचारधाराओं का, वेदशास्त्र और व्यवहार का, व्यक्ति, परिवार और समाज का तथा भोग और त्याग का समन्वय करके सम्पूर्ण मानव जाति को तथा उसके चिंतन को एक ही धरातल पर प्रस्तुत कर, सही अर्थों में मानवतावाद को स्थापित करने का प्रयास किया गया है।

रामकाव्य में न केवल राम की उपासना पर ही बल दिया गया है अपितु समन्वय भावना हेतु ही इसमें शिव, शक्ति, गणेश, कृष्ण इत्यादि देवी–देवताओं की भी स्तुति की गई है। तुलसीदास इत्यादि रामभक्त कवियों ने शिव–पूजन को भी पर्याप्त महत्त्व प्रदान किया। उनके राम ने सेतुबन्ध के अवसर पर शिवलिंग की स्थापना की, सीता ने गौरी–पूजन किया। इस अवसर पर तुलसीदास के राम ने शिव की अर्चना करते हुए कहा

शिवद्रोही मम दास कहावा, सो नर सपनेहुँ न सुख पावा।

अपनी धार्मिक उदारता के कारण भी रामकाव्य भारतीय जनमानस में अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। यद्यपि रामभक्ति काव्य में रामभक्ति को ही श्रेष्ठ माना गया है तो भी रामभक्त कवियों की भक्ति भावना अत्यन्त उदार है। रामभक्तों ने भक्ति को सुसाध्य माना है फिर भी उन्होंने ज्ञान, भक्ति और कर्म के बीच समन्वय स्थापित करने का सुन्दर प्रयास किया है। रामकाव्य में निर्गुणता एवं सगुणता इत्यादि में भी एकरूपता के निरूपण का प्रयास किया गया है। रामभक्तों के आराध्य निर्गुण भी हैं और सगुण भी, परन्तु उन्होंने सर्व–सुलभ प्राप्य सगुण भक्ति को ही श्रेष्ठ माना। इस प्रकार रामभक्ति शाखा के कवियों में समाज, भक्ति और साहित्य सभी में एक अदभुत समन्वय की भावना देखने को मिलती है।

4. राम राज्य की संकल्पना समाज को सुचारू रूप से चलाने के लिए रामकाव्य ने जिस रामराज्य की कल्पना भारतीय जनमानस को दी, वह कदाचित भारतीय इतिहास का एकमात्र उदाहरण है। रामकथा हमारे समक्ष पारिवारिक जीवन के आदर्श भी प्रस्तुत करती है। 'रामचरितमानस' में रामराज्य वर्णन के अंतर्गत इस जीवन के जितने भी सम्बन्ध अथवा

नाते हो सकते हैं, उन सबके व्यावहारिक आदर्शों की अभिव्यक्ति विद्यमान है। पारिवारिक जीवन के दृष्टिकोण से राम एक आदर्श मातृ–पितृ भक्त पुत्र, गुरु सेवा परायण शिष्य, एक नारीव्रती पति, अन्यतम स्नेह करने वाले संरक्षक हैं। इसी प्रकार माता–पिता सन्तान सम्बन्ध, पुत्रवधु–सास–श्वुसर सम्बन्ध, पति–पत्नी सम्बन्ध, देवर–भाभी सम्बन्ध, भाई–भाई के सम्बन्ध, बड़े व छोटों के सम्बन्ध आदि सभी सम्बन्ध भारतीय संस्कृति के आदर्शों के अनुरूप हमारे सामने एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इस कथा की प्रस्तुति में थोड़ा बहुत परिवर्तन होता है, पर मूल चेतना आदर्शक है। 'रामचरितमानस' में रामराज्य वर्णन के अंतर्गत एक ओर पुरुषों के एक पत्नीव्रत के आदर्शों पर प्रकाश डाला गया है, तो दूसरी ओर नारियों के मन, वचन और कर्म से पतियों के हितकारी स्वभाव पर। रामकाव्य में नारी के सतीत्व तथा पतिव्रत धर्म को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है।

अपने प्रियजनों, परिजनों, गुरुजनों एवं पुरजनों इत्यादि सभी के प्रति आदर्श व्यवहार करने वाले ऐसे धर्मात्मा राजा के रहते रामराज्य सच्चा धर्म स्वयंमेव बन जाता है। सभी व्यक्ति परस्पर बंधु–बांधवों की तरह जीवन–यापन करते हुए आत्मोद्धार में लगे हुए सर्वत्र सियाराममय जगत के दर्शन करते हैं। ऐसे समाज में मर्यादाएं स्वयंमेव बनती चली जाती हैं। नैतिक गुणों का सर्वत्र विकास होने लगता है और मानव कल्याण की भावना फैलने लगती है। इसीलिए तुलसी की राजनीति को मानवतामूलक स्वीकार किया जाता है। रामकाव्य परम्परा उक्त आदर्शों को प्रस्तुत करते हुए ऐसे समाज के निर्माण की कल्पना भी प्रस्तुत करती है, जिसमें कोई छोटा–बड़ा नहीं होगा, कोई किसी का अपमान नहीं करेगा, सभी परस्पर प्रेम भाव रखते हुए नैतिकताओं व मर्यादाओं का पालन करते हुए जीवन–यापन करेंगे और मानव–मात्र के कल्याण हेतु कर्म–यज्ञ में अपना सहयोग देंगे वही समाज मूलतः राम का समाज होगा। रामराज्य की संकल्पना के मूल में वस्तुतः रामभक्त कवियों का यही आदर्श रहा है जहां सम्बन्धों के साथ–साथ राजा के दायित्व की भी साक्षात् प्रस्तुति हुई है।

5. आदर्श की स्थापना :– रामकाव्य में विभिन्न आदर्शों की कल्पना की गई है और उनकी स्थापना पर बल दिया गया है। इसमें व्यक्ति, परिवार, वर्ग, समुदाय, समाज शासन व्यवस्था, सभी की आदर्श स्थिति का स्पष्टीकरण है। आदर्श पुत्र, भाई, पिता, पत्नी, मित्र, सेवक, राजा इत्यादि का आदर्श भी विद्यमान है। भारतीय समाज में जब आदर्शों और मयार्दाओं की बात कही जाती है तो राम के समाज का उदाहरण दिया जाता है जब शासन की बात होती है तो रामराज्य का उदाहरण दिया जाता है, और जब मन को शुद्ध रखते हुए ईश्वर स्मरण की चर्चा होती है तो भी रामराज्य का उदाहरण सामने रखा जाता है और राम का ही गुणगाण किया जाता है। तत्कालीन स्वार्थ और कपट से भरे अशांत वातावरण में इन आदर्श पात्रों द्वारा श्रद्धा और विश्वास इत्यादि वातावरण का निर्माण करने का प्रयास किया गया है। वस्तुतः आदर्श के रूप में राम राज्य भारतीय समाज व्यवस्था का मानक रहा है। राम काव्य का आदर्श पक्ष अत्यन्त उच्च है। राम आदर्श पुत्र हैं। वे आदर्श राजा भी हैं। सीता आदर्श पत्नी है, कौशल्या आदर्श माता है, लक्ष्मण और भरत आदर्श भाई हैं, हनुमान आदर्श सेवक है और सुग्रीव आदर्श सखा है। इस काव्य में जीवन का मूल्यांकन भी आचार की कसौटी पर किया गया है। राजा–प्रजा, पिता–पुत्र, पति–पत्नी, भाई–भाई, स्वामी सेवक के सम्बन्धों पर आधारित समाज आचार के बल पर ही जी सकता है। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' द्वारा जो आदर्श चरित्र समाज के सामने रखे उनके उदाहरण आज के समाज में भी दिये जाते हैं।

7. लोक मंगल की भावना :– रामराज्य की गणना प्रभाव की दृष्टि से उच्चकोटि के उन काव्यों में होगी जिनका उद्देश्य जन कल्याण या लोकमंगल होता है। ऐसे काव्य मात्र मनोरंजन के लिए नहीं लिखे जाते बल्कि एक कल्याणकारी और लोकमंगल की भावना से भरे उद्देश्य को लेकर लिखे जाते है। राम–काव्य के प्रवर्त्तक तुलसी यद्यपि

यह कहते है कि उन्होंने रामचरितमानस की रचना स्वान्तः सुखाय उद्देश्य को लेकर की, परन्तु वास्तुस्थिति यह है कि उतनी ही लोकहिताय भी हो गई है। अर्थात् उसका उद्देश्य जन–कल्याण या लोक–मंगल की भावना भी हो गया। राम काव्य के नायक का उद्देश्य भी जन–कल्याण अथवा लोकमंगल ही है और उसका उद्देश्य ही इन काव्यों का उद्देश्य भी बन गया।

8. काव्य रूपों की विविधता :– रामकाव्य का काव्य–क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है क्योंकि इसमें काव्य की सभी शैलियों, रूपों और विधियों को अपनाया गया है। तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' महाकाव्य है जिसकी गणना संसार के श्रेष्ठ महाकाव्यों में की गई है। 'जानकी मंगल' अत्यन्त सुन्दर और मनोरम खण्डकाव्य है। 'गीतावली' गीतिकाव्य है जिसमें सरसता और संगीत का अपना स्थान है। 'विनय पत्रिका' स्तुतिपरक काव्यों में गणमान्य है। विद्वानों की दृष्टि में यह रचना तुलसी के सभी काव्यों में उत्कृष्ट है। 'कवितावली' में वीरगाथाकालीन चारण–पद्धति का अनुसरण हुआ है, जिसमें कवित्त, छप्पय, सवैये आदि के माध्यम से रामकाव्य की सरसता को उपस्थित किया गया है। 'रामललानहछू' लोकगीत का अनुपम साहित्यिक उदाहरण है। केशव की 'रामचन्द्रिका' संवादों की दृष्टि से अनुपम है।

9. भाषा–शैली :– रामकाव्य भाषा के क्षेत्र में भी विशेष महत्त्व रखता है। रामकाव्य की रचना प्रायः सभी भाषाओं में हुई है। 'रामचरितमानस' और 'रामललानहछू' में अवधी का प्रयोग हुआ है। 'कवितावली', 'विनयपत्रिका' इत्यादि की रचना ब्रजभाषा में हुई है। 'रामचन्द्रिका' में ब्रजभाषा के अलावा बुन्देलखण्डी शब्दों का प्रयोग हुआ है। इनके अतिरिक्त रामकाव्यों में भोजपुरी, राजस्थानी, संस्कृत, फारसी एवं अरबी के शब्द भी पाये जाते हैं।

10. सभी रसों का समावेश :– रामकथा अत्यन्त व्यापक है। उसमें जीवन की विविधताओं का सहज रूप से चित्रण है। जिसके कारण उसमें सभी रसों का समावेश बड़ी सरलता से हो जाता है। केशव की 'रामचन्द्रिका' में सभी रसों की व्यंजना हुई है। 'रामचरितमानस' में भी सभी रस उपलब्ध होते हैं। राम के विवाह में सौन्दर्य और माधुर्य की भावना निहित है। राम बनवास तथा लक्ष्मण मूर्च्छा के समय करुण रस, नारद मोह तथा लक्ष्मणपरशुराम संवाद में हास्य रस, राम–रावण युद्ध वर्णन में वीर, भयानक, रौद्र और वीभत्स रस के दर्शन होते हैं। परन्तु रामकाव्य में सेवक–सेव्य भाव की भक्ति होने के कारण निर्वेदजन्य शान्त रस की प्रधानता है। राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं और भक्त कवि भी मर्यादावादी हैं, कदाचित यही कारण है कि इस साहित्य में शृंगार रस के संयोग और वियोग पक्षों का सम्यक् चित्रण नहीं हो सका। यह बात अधिकतर तुलसी के साहित्य में चरितार्थ होती है। 18वीं शती की रामभक्ति में माधुर्य भावना बल पकड़ती चली गई ऐसा सम्भवतः कृष्ण–साहित्य के अनुकरण पर हुआ होगा। आगे चलकर रामभक्ति साहित्य परम्परा में रामायत सखी सम्प्रदाय में नखशिख, अष्टयाम आदि रति–उत्तेजक विषयों का वर्णन होने लगा। राम भक्ति के रसिक सम्प्रदाय में भी शृंगार रस का यथेष्ट चित्रण हुआ है।

11. विविध छन्दों और अलंकारों का प्रयोग :– रामकाव्य सभी शैलियों में अवधी और ब्रजभाषा में लिखा गया है। इसलिए उसमें छन्दों और अलंकारों की दृष्टि से बड़ी विविधता है। प्रबन्ध–काव्यों में प्रायः दोहे–चौपाइयों का प्रयोग हुआ है। तुलसीदास ने रामचरितमानस में इसी शैली को अपनाया है तो केशव की रामचन्द्रिका में छंद–विविधता का भण्डार मिलता है। मुक्तक काव्यों में दोहा, कवित्त और सवैया छन्दों का बहुत प्रयोग मिलता है। इनके अतिरिक्त रोला, सोरठा, छप्प्य, कुंडलियाँ इत्यादि अनेक छन्दों को रामकाव्य के प्रबन्ध और मुक्तक काव्यों में देखा जा सकता है। विविध छन्दों के प्रयोग के साथ–साथ रामकाव्य में अलंकारों के प्रयोग में भी बड़ी विविधता है। सभी शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों से जड़ित इस काव्य में सौन्दर्य आ गया है। अनुप्रास, उपमा, यमक, श्लेष, रूपक, प्रतीक, इत्यादि

सभी प्रचलित अलंकार इन काव्यों में यथोचित प्रयुक्त हुए हैं।

12.6. राममार्गी शाखा अथवा काव्य के प्रमुख कवि :

रामानन्द स्वामी रामानन्द के रामवत–सम्प्रदाय में रामभक्ति को जो गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है, वह किसी अन्य सम्प्रदाय में नहीं है। रामकाव्य परम्परा का विकास भी यदि स्वामी रामानन्द से स्वीकार किया जाये तो कोई अनौचित्य नहीं है क्योंकि स्वामी रामानन्द ने भक्ति के क्षेत्र में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन किये और राम की मर्यादा–भक्ति को आदर्श और आचरण की पवित्रता से सुशोभित करते हुए जन–साधारण के लिए सुगम बनाया। निर्गुण राम की भक्ति, रामानन्द की भक्ति पद्धति में ही सगुण रूप में परिणत हुई।

रामानन्द का जन्म काशी में हुआ था और श्री वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य राघवानन्द से इन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी। इन्होंने सभी को समान–भाव से भक्ति का अधिकारी माना। 'वैष्णव मताब्द भास्कर' तथा श्री रामार्जुन–पद्धति इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं तथा ध्यान के लिए इन्होंने रामचन्द्र, सीता तथा लक्ष्मण को ध्यान की बात कही है। इनके अनुसार सीता प्रकृति स्थानीय, लक्ष्मण जीव–स्थानीय तथा श्री रामचन्द्र जी ईश्वर–तत्त्व के द्योतक हैं। रामानन्द जी की भक्ति का प्रभाव राम–भक्ति परम्परा पर प्रत्यक्षतः दृष्टिगोचर होता है। तुलसीदास भी इनकी विचारधारा से पूर्णतया प्रभावित थे।

अग्रदास :– स्वामी रामानन्द की शिष्य–परम्परा में ही रामभक्त कवि अग्रदास हुए। अग्रदास यद्यपि अष्टछाप के कृष्ण–भक्त कवि कृष्णदास जी के शिष्य थे तथापि ये राम के उपासक भी थे। इनके मुख्य ग्रन्थों में ध्यान मंजरी, अष्टधाम, राम जनमंजरी, उपासना बावनी और पदावली हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने ''हितोपदेश उपाख्यान बावनी'' की भी रचना की है। अष्टधाम इनकी सर्वप्रमुख रचना है जिसमें भगवान् राम के आठों पहर के कार्यों का तथा सीता–राम के दाम्पत्य प्रेम का शृंगार पूर्ण चित्रण है। 'ध्यानमंजरी' में राम और उनके भाईयों के सौन्दर्य एवं अयोध्या और सरयू की शोभा का विशेष वर्णन किया गया है। अग्रदास ने 'अग्रअली' नाम से स्वयं को जानकी जी की सखी मानकर भी काव्य–रचना की है। रामभक्ति–परम्परा में रसिक–भावना के समावेश का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। इनकी भाषा ब्रजभाषा है और उसमें प्रवाह के साथ परिष्कार भी है। इनको शास्त्रीय साहित्य का भी ज्ञान था। सुन्दर पद–रचनाओं तथा अलंकारों के प्रयोग से यह बात स्पष्ट हो जाती है जैसे

कुंडल ललित कपोल जुगल अस परम सुदेसा,
तिनको निरखि प्रकास लजत राकेस दिनेसा।
मेचक कुटिल विसाल सरोरूह नैन सुहाये,
मुख पंकज के निकट मनौ अलि छौन छाये।।

ईश्वरदास : ईश्वरदास ने 'सत्यवती कथा की रचना की है' परन्तु रामकथा से सम्बन्ध उनकी रचना 'भरत–मिलाप' है, जिसका उल्लेख काशी नागरी– प्रचारिणी सभा के खोज विवरण में हुआ है। इस काव्य ग्रंथ की कथावस्तु में उस समय का प्रसंग लिया गया है जब राम–वनवास के समय भरत अयोध्या में नहीं थे। अपनी ननिहाल से वापिस आने पर राम के वनगमन के समाचार से खिन्न और दुखी होकर भरत ने जो विलाप किया तथा सारी प्रजा भी उनके साथ दुखी हो उठी, तथा भरत के साथ राम को मिलने वन में जाती है, इसी करुण प्रसंग को इस काव्य–कृति में पद्यबद्ध किया गया है। ईश्वर दास की एक अन्य रचना 'अंगदपैंज' भी प्राप्त होती है, जिसमें रावण की सभा में अंगद के पैर जमाने का वीररसपूर्ण विवरण मिलता है। इन रचनाओं के कारण ही ईश्वरदास को रामभक्ति

परम्परा में स्थान दिया जाता है।

नाभादास :– रामभक्ति शाखा के रामभक्त कवियों में तुलसीदास के समकालीन नाभादास का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने हिन्दी में 'भक्तमाल परम्परा' का सूत्रपात ही नहीं किया वरन् सभी भक्तमालों में सर्वश्रेष्ठ 'भक्तमाल' हिन्दी को दिया। इसके आधार पर उनका जन्मकाल 1570 ई. के लगभग ठहरता है। इनके गुरु स्वामी अग्रदास थे। इनके 'भक्तमाल' से स्पष्ट विदित होता है कि इनको संस्कृत काव्यशास्त्र तथा छन्द शास्त्र का अच्छा ज्ञान था। ये राम के उपासक थे तथा इन्होंने राम–सम्बन्धी पदों की रचना भी की है, जिनके आधार पर इन्हें रामभक्त कवि स्वीकार किया जाता है। 'अष्टयाम' की रचना श्रृंगार–भक्ति अथवा रसिक–भावना को लेकर की गयी है।

केशवदास :– हिन्दी साहित्य में महाकवि केशव को एक विशेष और महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। ओरछा नरेश इन्द्रजीतसिंह के दरबार में इन्हें बहुत सम्मान प्राप्त था। इनके द्वारा रचित सात ग्रंथ प्राप्त होते हैं कविप्रिया, रसिक प्रिया, वीरसिंह चरित, रामचन्द्रिका, विज्ञान गीता, रतनबावनी और जहांगीरजस चन्द्रिका। इनमें से रामचन्द्रिका हिन्दी रामकाव्य–परम्परा के अन्तर्गत एक विशिष्ट कृति है। रामचन्द्रिका के कथानक का मुख्य आधार वाल्मीकि रामायण है, किन्तु इस पर संस्कृत के 'प्रसन्नराघव' और हनुमन्नाटक का प्रभाव भी यत्र–तत्र दिखाई दे जाता है। इसमें अनेक प्रकार के वार्णिक एवं मात्रिक छन्दों का प्रयोग हुआ है किन्तु पद–पद पर छन्द परिवर्तन कथा के प्रवाह में व्याघात डालता है। 'रामचन्द्रिका' में किसी भी दार्शनिक सिद्धान्त या लोक शिक्षा का प्रतिपादन नहीं हुआ है। केशव स्वयं राजदरबार से सम्बन्ध रखते थे, इसलिए दरबारी वातावरण, आचार–व्यवहार तथा संवादों से सुपरिचित थे, जिसका प्रयोग उन्होंने रामचन्द्रिका में किया है। इसीलिए नाटकीय संवादों की दृष्टि से रामचन्द्रिका महत्त्वपूर्ण है। ये संवाद संजीवता और वाक्चार्तुय से परिपूर्ण है। रामचन्द्रिका की भाषा बुन्देलखण्डी मिश्रित ब्रजभाषा है। केशव की सरस भाषा का उदाहरण इस प्रकार हैः–

हाथी न साथी न घोरे न चेरे न गाऊं न ठाऊं कुठाउं बिलैहैं।
तात न मात न पुत्र न मित्र न वित्त न तीय कहूं सग रैहैं।।
केशव काम के राम विसारत, और निकाम रे काम न ऐहैं।
चीत रे चेति अजौं चित अन्दर, अंतक लोक अकेलोई जैहैं।।

गोस्वामी तुलसीदास :– हिन्दी में रामकाव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास माने जाते हैं। इनके जीवन–वृत के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। माता–पिता के स्वर्ग सिधार जाने के कारण इनका बाल्यकाल बहुत विषम परिस्थितियों में गुजरा। गुरु नरहरिदास के आश्रय में इनका पालन–पोषण हुआ तथा वही इनके गुरु भी थे जिन्होंने इन्हें ज्ञान–भक्ति की शिक्षा भी दी। विवाहोपरांत पत्नी रत्नावली से इनका अत्यधिक प्रेम उसकी एक फटकार सुनने पर ही अचानक भगवत्प्रेम में परिणत हो गया।

इनके द्वारा रचित 37 ग्रन्थ पाये जाते हैं परन्तु इनमें सभी को प्रामाणिक नहीं माना गया है। रामचरितमानस, दोहावली, कवितावली, रामायण, गीतावली, रामाज्ञाप्रश्नावली, विनयपत्रिका, रामललानहछु, पार्वतीमंगल, जानकी मंगल, बरवै रामायण, वैराग्य संदीपनी और कृष्ण गीतावली इत्यादि इनके ग्रन्थ ही प्रामाणिक माने जाते हैं। इन सभी रचनाओं में भाव–वैविध्य तुलसीदास की सबसे बड़ी विशेषता है। उन्होंने अपने काव्य द्वारा एक और तो नाथपन्थियों के प्रभाव से नष्ट होती हुई जनमानस की आस्थाओं एवं विश्वासमयी वृत्तियों को रामभक्ति के माध्यम से पुनः जागृत किया तथा दूसरी और रामकथा के विविध प्रसंगों के माध्यम से सामाजिक, पारिवारिक जीवन एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं के समुचित पोषण का आदर्श जन–मानस के सम्मुख प्रस्तुत कर विश्रंखलित हिन्दू समाज को एकत्रित किया। उनकी भक्ति

भावना कबीर आदि निर्गुण भक्तों की ज्ञानयोगमयी भावना की भांति रहस्यमयी नहीं है अपितु वह तो सरल, सीधी एवं सहज प्राप्य है। उनके राम सृष्टि के कण–कण में व्याप्त है। वे सभी के लिए अन्न और जल की भांति ही सुलभ हैं यथा

निगम अगम, साहब सुगम राम सांचिली चाह।
अंबु असन अवलोकियत सुलभ सबहि जंग माह।।

सेनापति : सेनापति का जन्म संवत् 1643 (1586) में माना जाता है। इनके पिता का नाम परशुराम था। इनके गुरु हीरामणि दीक्षित थे। 'कवित्त रत्नाकार' इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिसका रचनाकाल संवत् 1706 (1649 ई.) माना जाता है। भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था। इनकी कविता सरस और प्रवाहमयी है। 'कवित्त रत्नाकार' में पांच तरंगें हैं जिनमें क्रमशः श्लेष, श्रृंगार, ऋतु, रामायण और राम–रसायन का वर्णन है। चौथी और पांचवी तरंगों रामायण और राम–रसायन के विविध मधुर प्रसंगों का वर्णन सुसंस्कृत अर्थगर्भित भाषा में किया गया है। अनुप्रास और यमक अलंकारों का इनकी भाषा में अत्यधिक प्राचर्य है। हिन्दी में भावानुकूल ऋतु–वर्णन के लिए भी ये प्रसिद्ध हैं।

हृदयराम :– हृदयराम ने संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' के आधार पर कवित्त–सवैया छन्दों में 'हनुमन्नाटक' नामक पद्यात्मक हिन्दी नाटक की रचना की। इसका रचनाकाल संवत् 1662 (1575 ई.) माना जाता है। रामकाव्यों में 'हनुमन्नाटक' का विशेष स्थान है। इसमें रामभक्ति की चर्चा सुचारू रूप से हुई है। इसमें सीता–स्वयंवर से लेकर राज्याभिषेक तक की कथा संवाद–शैली में वर्णित है।

प्राणचन्द चौहान :– प्राणचंद चौहान जहांगीर के समकालीन थे। इन्होंने 1610 ई. में 'रामायण महानाटक' की रचना की थी, जो शैली के दृष्टि से नाटक न होकर वस्तुतः संवादात्मक प्रबंधकाव्य है। दोहा–चौपाई की शैली का इसमें प्राधान्य है और वर्णनात्मकता का प्राचुर्य है।

माधवदास चारण :– माधवदास चारण ने दो रचनाओं की रचना की रामरासो तथा अध्यात्म रामायण। रामरासो में रामकथा के सम्पूर्ण विस्तार में न जाकर कवि द्वारा मुख्य घटनाओं, जीवन–प्रसंगों और चारित्रिक विशेषताओं का चित्रण किया गया है तो अध्यात्म रामायण संस्कृत की अध्यात्म रामायण से प्रभावित रचना है।

नरहरि बारहट :– नरहरि बारहट ने 'पौरुषेय रामायण' ग्रन्थ की रचना की। जिसका रचनाकाल 'रामचरितमानस' के समय के कुछ ही देर बाद का है 'पौरुषेय रामायण' वस्तुतः नरहरिकृत 'चतुर्विंशति अवतार चरित्र' नामक विशाल ग्रन्थ का एक अंश है, जिसमें इक्कीसवें अवतार के रूप में रामचरित्र का वर्णन है। प्रमुखतः दोहा–चौपाई पद्धति का अनुसरण करते हुए कवि ने कवित्त, सवैया, छप्पय, पद्धरि, भुजंगप्रयात आदि अनेक छन्द अपनाये हैं। भाषा राजस्थानी और ब्रज–मिश्रित अवधी है।

12.7. कृष्णमार्गी शाखा अथवा काव्य :

भक्तिकाल की कृष्णमार्गी शाखा के अर्न्तगत भारतीय धर्म साधना और साहित्य में कृष्ण भक्ति काव्य का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। मध्यकालीन सगुण भक्ति के आराध्य देवताओं में भगवान् श्री कृष्ण का स्थान सर्वोपरि है। इनके महिमामंडित स्वरूप को आधार बना कर विपुल साहित्य की रचना हुई है। कृष्ण भक्त कवियों की अपनी दृष्टि के अनुसार आग्रहों में आंशिक परिवर्तन देखे जा सकते हैं परन्तु इनमें समानता के सूत्र अधिक पाये जाते हैं। इस युग में कृष्ण भक्ति साहित्य ने भी जनता का हित–चिंतन किया। निर्गुण संतों की ज्ञानमार्गी साधना को अपनाना जन सामान्य के लिए आसान नहीं था। संतों और सूफियों की रहस्यमय वाणी जनता के दग्ध और विक्षुब्ध हृदय को शांति नहीं दे सकी। रामभक्ति काव्य की तरह कृष्ण भक्ति काव्य भी तत्कालीन सामंती समाज की भूमिका पर विकास की

और अग्रसर हुआ। रामभक्ति काव्य की तरह कृष्ण भक्ति काव्य में भी सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक विषमताओं से जूझने के लिए वह स्वर नहीं है जिसके लिए प्रायः निर्गुणी सन्तों–कबीर इत्यादि का उल्लेख किया जाता है। रामकाव्य का उद्भव अवश्य इस क्षेत्र में अपना महत्त्व रखता है, परन्तु तुलसी के आदर्शवादी, मर्यादावादी और नैतिक मार्ग का अनुकरण करना भी आसान नहीं था। कृष्णकाव्य में निरूपित भक्तिमार्ग जन सामान्य की मनोवृत्ति के अनुरूप था, फलतः मध्यकाल में कृष्णकाव्य का व्यापक स्तर पर प्रसार हुआ। निराकार की तुलना में साकार प्रभु के स्वरूप की आराधना करना अधिक आसान और मनमोहक होता है। इसमें ईश्वर के भक्त को इस लोक से परलोक तक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए ज्ञान और अनुभव के कठिन मार्ग से नहीं गुजरना होता। कृष्णमार्गी कवियों के अनुसार प्रभु स्वयं अवतार धारण करके इहलौकिक बनकर अपने और भक्त के मधुर सम्बन्धों की स्थापना में सहयोग देते हैं। उनके अनुसार प्रभु के साकार रूप की आराधना में देवभोग, शृंगार, आरती, पूजा और कीर्तन इत्यादि में इन्द्रिय सुख भी प्राप्त होता है। कृष्ण के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विभिन्न रूपों को इन कृष्ण भक्त कवियों ने भक्तिभाव से व्यंजित किया है।

कृष्ण काव्य की एक दीर्घ परम्परा है जिसके प्रेरणा स्त्रोत संस्कृत साहित्य में मिलते हैं। कृष्ण का वर्णन भारतीय साहित्य, इतिहास पुराणों आदि में पर्याप्त मात्रा में हुआ। मध्यकाल में कृष्ण–भक्ति साहित्य के प्रधान आधारभूत ग्रन्थ महाभारत, हरिवंश पुराण श्रीमद्भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण रहे हैं। कृष्ण भक्त कवियों ने उन ग्रन्थों से पर्याप्त सामग्री ली है। इन ग्रन्थों में कृष्ण जीवन की विभिन्न लीलाओं का वर्णन है। इनमें से भागवत में कृष्ण–भक्ति का पूर्ण विकास देखने को मिलता है। इसके बाद के सभी काव्यों पर भागवत का प्रभाव देखा जा सकता है। कृष्ण–लीलाओं का संस्कृत काव्यों में सबसे पहले उल्लेख अश्वघोष के 'ब्रह्मचरित' काव्य में प्राप्त होता है। इसके बाद हाल–रचित 'गाहा सतसई' में कृष्ण, राधा, गोपी, यशोदा आदि का उल्लेख है। कृष्णविषयक काव्य का प्राचुर्य हमें बारहवीं शताब्दी के बाद देखने को मिलता है। आधुनिक भारतीय भाषाओं में कृष्ण–काव्य का प्रारम्भ मैथिल–कोकिल विद्यापति से 14 शताब्दी से स्वीकार किया जाता है। राधाकृष्ण की प्रेम–लीलाओं का वर्णन करने के लिए विद्यापति ने 'पदावली' की रचना की। हिन्दी के कृष्णभक्ति आंदोलन के मुख्य सूत्रधार वल्लभाचार्य ने शंकर के वेदांत को शुद्ध करके शुद्धाद्वैत की संज्ञा को सार्थकता प्रदान की। इसी सिद्धांत के कारण भक्ति को ज्ञान और कर्म से उत्तम माना गया। उन्होंने साधना और व्यवहार क्षेत्र में शुद्धाद्वैत दर्शन के साथ जिस भक्ति को स्थान दिया, उसका आधार उन्होंने पुष्टिमार्ग को बनाया तथा भगवान् के अनुग्रह या कृपा को ही पुष्टि कहा। **पुष्टिमार्गीय भक्ति** रागानुगा भक्ति है। इस भक्ति में किसी प्रकार के साधन या कर्मकाण्ड की अपेक्षा नहीं होती। पुष्टिमार्गीय भक्त के प्रारब्ध और संचित कर्मों का शमन ईश्वर कृपा से स्वयं हो जाता है : पुष्टि भक्ति का लाभ यह है कि इसके द्वारा सद्योमुक्ति प्राप्त होती है। पुष्टिमार्गीय भक्ति के तीन फल हैं रसरूप पुरुषोत्तम के स्वरूपानन्द की शक्ति प्राप्त कर उसकी लीला में प्रविष्ट होना; दूसरा, पूर्ण पुरुषोत्तम के श्रीअंग अथवा आभूषणादि का अंग बनना और तीसरा, प्राकृत देहेन्द्रियादि से मुक्त होकर अप्राकृत शरीर में भगवान के वैकुण्ठ आदि लोकों में आनन्द–भोग की स्थिति प्राप्त करना। इस प्रकार मोक्ष की दृष्टि से भी पुष्टिमार्ग को अधिक सुखद बताया गया है। पुष्टिमार्गीय कृष्णभक्त हिन्दी–कवियों ने इसी आधार को ग्रहण कर कृष्ण के रूप–सौन्दर्य को शृंगारमण्डित किया और उस भगवान के अनुग्रह की प्राप्ति के लिए काव्य–रचना की। कृष्ण की विविध लीलाओं का वर्णन भी इसी पुष्टिभक्ति को ध्यान में रखकर किया गया है।

श्री वल्लभाचार्य ने जिस पुष्टिमार्गीय भक्ति–सम्प्रदाय की स्थापना की थी, उसका जिन हिन्दी–भक्त–कवियों द्वारा पल्लवन किया गया, उन्हें **अष्टछाप** के कवि कहा जाता है। यों तो पुष्टिमार्ग को स्वीकार करने वाले अनेक भक्त उस समय विद्यमान थे, किन्तु जिन आठ भक्त कवियों पर गोस्वामी विट्ठलनाथ ने अपने आशीर्वाद की छाप लगायी थी वे 'अष्टसखा' या 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

हिन्दी में कृष्ण–काव्य का बहुत कुछ श्रेय श्री वल्लभाचार्य को है क्योंकि इन्हीं के चलाये हुए पुष्टिमार्ग में दीक्षित होकर सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने अत्यन्त मूल्यवान् कृष्ण–साहित्य की रचना की। वल्लभ–संप्रदाय के अन्तर्गत अष्टछाप के सूरदास आदि आठ कवियों की मंडली अष्टसखा के नाम से भी अभिहित की जाती है। सम्प्रदाय की दृष्टि से ये आठों कवि गवान् कृष्ण के सखा हैं। गुसाई विट्ठलनाथ ने सं. 1602 के लगभग अपने पिता वल्लभ के 84 शिष्यों में से चार तथा अपने 252 शिष्यों में से चार को लेकर संप्रदाय के इन आठ प्रसिद्ध भक्त कवि तथा संगीतज्ञों की मंडली की स्थापना की। अष्टछाप में महाप्रभु वल्लभ के चार प्रसिद्ध शिष्य थे कुम्भनदास, परमानन्ददास, सूरदास तथा कृष्णदास अधिकारी और गुसाई विट्ठलनाथ के प्रसिद्ध शिष्य थे। गोविन्द स्वामी, छीत स्वामी, चतुर्भुजदास तथा नन्ददास। इन अष्टछाप के कवियों में सबसे ज्येष्ठ कुम्भनदास थे तथा सबसे कनिष्ठ नन्ददास थे। काव्य–सौष्ठव की दृष्टि से इनमें सर्वप्रथम स्थान सूरदास का है तथा द्वितीय स्थान नन्ददास का। पद–रचना की दृष्टि से परमानन्द दास का है। गोविन्द स्वामी संगीत–मर्मज्ञ हैं। कृष्णदास अधिकारी का साहित्यिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है पर ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है। कृष्ण भक्तों में साम्प्रदायिकता, लीलाओं में आध्यात्मिकता के स्थान पर ऐहलौकिकता, श्रीनाथ के मन्दिर में विलास प्रधान ऐश्वर्य, कृष्ण–भक्ति साहित्य में नख–शिख तथा नायिका–भेद के वर्णन का बहुत कुछ दायित्व इन्हीं पर है। इस बात के सम्यक् ज्ञान के लिए दौ सौ बावन वैष्णवन की वार्ता का अध्ययन उपयोगी रहेगा। अष्टछाप के शेष कवियों की प्रतिभा साधारण कोटि की है।

अष्टछाप के ये आठों भक्त समकालीन थे। ये पुष्टि सम्प्रदाय के श्रेष्ठ कलाकार, संगीतज्ञ और कीर्तनकार थे। ये सभी भक्त अपनी–अपनी पारी पर श्रीनाथ के मन्दिर में कीर्तन, सेवा तथा प्रभुलीला सम्बन्धी पद रचना करते थे। गुसाई विट्ठलनाथ ने इन अष्ट सखाओं पर अपने आशीर्वाद की छाप लगाई अतः इनका नाम अष्टछाप पड़ा।

हिन्दी का कृष्ण–भक्ति साहित्य शुद्ध धार्मिक वातावरण में रचा गया है। यद्यपि उस पर भक्ति–दर्शन के सम्प्रदायों का भी पूरा–पूरा नियन्त्रण रहा। यही कारण है कि कृष्ण–भक्ति के सभी सम्प्रदायों के अनुरूप रचे जाने वाले साहित्य को हम दो प्रमुख भागों में बांट सकते हैं, एक वह जिसका प्रधान लक्ष्य भक्ति–सिद्धान्त और भक्ति–दर्शन का निरुपण था तथा दूसरा वह जिसका लक्ष्य था कृष्ण की लीलाओं तथा भक्ति–रस के अवगाहन के द्वारा साहित्यिक आनन्द प्रदान करना। कृष्ण–भक्त कवियों का मन मुख्यतः कृष्ण की मधुर लीलाओं में ही रचा है। रामकाव्य की तरह जीवन की सम्पूर्ण दशाओं के विस्तार एवं उनके क्रमिक वर्णन में इन कृष्ण भक्त कवियों का मन उतना नहीं रम पाया। कृष्ण–चरित्र की समग्रता या विविधता का चित्रण इन भक्तों का उद्देश्य नहीं था, वे कृष्ण की लीलाओं में आनन्दमगन होना चाहते थे। यही कारण है कि कृष्ण भक्ति साहित्य प्रधानतः मुक्तक और गेय पदों की शैली में रचा गया। लीला के आनन्द में रमने के लिए गेय पदों का माध्यम ही सबसे उपयुक्त था। संगीत और भाव–माधुर्य के सहज समन्वय के साथ इन पदों में भक्त कवियों की पूर्ण तन्मयता के भी दर्शन होते हैं। वस्तुतः इन कृष्ण भक्तों के लिए भगवान का सम्पूर्ण जीवन ही लीला है। प्रायः सभी कृष्ण भक्त कवि भागवत अथवा अन्य किसी पुराण में वर्णित कृष्ण–सम्बन्धी प्रसंगों का अवलम्बन करके ही चले हैं। घटनाओं के क्रम पर भी इन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया है। इन कृष्ण–भक्त कवियों ने साधारणतः बालकृष्ण से लेकर किशोर या यौवन में प्रवेश करने वाले कृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया है। इनके काव्य के गेय पदों में गीति, मुक्तक और प्रबन्ध तीनों प्रकार के काव्यों के सौन्दर्य का सहज मिश्रण हो गया है। फिर भी उनके काव्य में प्रधान सौन्दर्य गीति का ही है। कृष्ण–भक्ति के इन पदों में गीतिकाव्य की सहज स्फूर्ति, आडम्बरहीनता तथा निश्चलता के दर्शन होते हैं। इन कवियों ने श्रीकृष्ण के लोकरंजक रूप को आत्मसात करते हुए अपने आराध्य श्री कृष्ण की लीलाओं की तन्मयता में अपनी अभिव्यक्ति का आधार बनाया। रामभक्ति शाखा की अपेक्षा

कृष्ण भक्तिशाखा का अधिक विस्तार हुआ है। इस परम्परा के कवियों की संख्या काफी अधिक है। अष्टछाप के कवियों के साथ अन्य अनेक भक्तिकालीन पूर्ववर्ती एवं परवर्ती कवि भी इसमें सम्मिलित हैं।

12.8. कृष्णमार्गी शाखा अथवा कृष्ण काव्य की प्रमुख विशेषताएं :

1. श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन :– कृष्ण भक्ति काव्य में कृष्ण का लीला रूप प्रधान है। मध्यकालीन कृष्ण भक्त कवियों में लोकनिरंजनकारी कृष्ण की लीलाओं का उन्मुक्त गान किया। उनकी लीला का प्रयोजन लीलानन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं। लीला का उद्देश्य अखण्ड आनन्द में जीवन की आध्यात्मिक परिपूर्णता की अभिव्यजंना करना है। इस लीला के उन्होंने अनेक रूप कल्पित किये। श्री कृष्ण के बाल गोपाल रूप की लीलाएं, माखन चोरी, वृंदावन लीला, रासलीला, सख्य रूप में लीलाएं तथा माधुर्य भावपूर्ण लीलाएं ही समस्त मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य में व्याप्त है जहां पर वह मानुष–रूप में संचरित हैं। इन कवियों को श्रीकृष्ण का यह रुप अधिक आनंददायक तथा मनमोहक प्रतीत होता है। ग्राम जीवन की सभी विशेषताओं और संस्कारों से घिरे कृष्ण का रूप उन्हें अधिक भाया है। इसीलिए इन कवियों ने श्रीकृष्ण के बाल और किशोर रूप को अधिक पसन्द किया है। वे गोपियों के बीच जैसे स्वयं भी गोप–गोपी हो जाते हैं। उन्होंने कृष्ण से जो भी अलौकिक कृत्य करवाए हैं, वे जैसे सहज ही हो गए हैं, कृष्ण ने जान बूझ कर नहीं किए है। कृष्ण की विभिन्न लीलाएं, बालसुलभ क्रीडाएं आकर्षित करती हैं। सख्य और दास्यभाव वाली इस भक्ति का आधार कृष्ण की लीलाएं ही हैं। कृष्ण की लीला भूमि ब्रज मंडल में कृष्ण भक्तों ने लीलागान करके कृष्ण काव्य को आकार दिया है। सगुण भक्त के लिए ईश्वर का अवतार लीला करने के लिए होता है। ईश्वर सामान्यजन की तरह जन्म लेता है, लीलाएं दिखाता है और खलजनों का नाश करके तिरोहित हो जाता है। रामकाव्य में राम की लीला भारत के पार तक जाती है पर कृष्ण काव्य में कृष्णलीला का क्षेत्र, वर्ण्य विषय की परिधि बड़ी सीमित है। मथुरा के कारागर से बाहर आने के बाद कृष्ण यमुना पार करते हैं, तो फिर युवा होकर ही मथुरा में प्रवेश करते हैं। इस पार और प्रवेश के बीच का समय वे नदगांव, बरसाना, गोकुल, गोवर्धन और वृंदावन में बाल और किशोर जीवन की लीलाएं करते हुए बिताते हैं। कृष्णभक्त कवियों को कृष्ण का यही क्षेत्र और यही रूप भाया है। इसी को अधिक विस्तार दिया गया है। निम्बार्क चैतन्य हरिवंश और हरिदास इन सभी कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में माधुर्य भाव का सर्वाधिक महत्व है। गोपी–कृष्ण और राधाकृष्ण की प्रेम लीलाओं का श्रवण, स्मरण, चिन्तन एवं गायन ही कवियों का उद्देश्य बन गया है। इस प्रकार समूचा कृष्ण–भक्ति काव्य माधुर्य भाव में ही केन्द्रीभूत हो गया और वल्लभ सम्प्रदाय भी इनसे अप्रभावित नहीं रह सका। सूर काव्य में कृष्ण की प्रेम–लीलाओं का सबसे अधिक चित्रण है। राधा वल्लभी चैतन्य के गौड़ीय और हरिदास के सखी सम्प्रदाय के सभी कवि कृष्ण की प्रणय लीलागान में ही लीन रहे। सूरदास ने कृष्ण की प्रणय लीला के वर्णन में जहां पर एक निश्चित विवेक, एक निश्चित एवं सूक्ष्म आध्यात्म भावना तथा संयम से काम लिया है वहीं पर बाद के कृष्ण भक्तों ने इन चीजों को भुला सा दिया। इन कवियों के प्रेम–लीला वर्णन कुछ चुने हुए प्रसंगों तक ही सीमित रह गये। कृष्ण का क्रीडास्थल केवल यमुना–कुंजलता–निकुंज और अन्तःपुर प्रकोष्ठ ही रह गये। उसमें सूक्ष्मता के स्थान पर स्थूलता और आध्यात्मिकता के स्थान पर ऐहलौकिकता आ गई है। कृष्ण की यह प्रणय लीलाएं आगे चलकर रीतिकाल में घोर लौकिक शृंगारिकता में परिणत हो गई। जो भी हो इन कवियों का मूल उद्देश्य श्रीकृष्ण का लीलागान ही रहा है।

2. श्रीकृष्ण का लोकरंजक रूप :– पुष्टिमार्ग के प्रर्वत्तक आचार्य वल्लभ ने कृष्ण भक्तों को भागवत के दशम स्कंध के आधार पर लीला–वर्णन करने का उपदेश दिया था। इसलिए कृष्ण भक्त कवियों ने कृष्ण के बाल और किशोर रूप का ही अत्यधिक चित्रण किया है। कृष्णमार्गी शाखा के सूरदास, नन्ददास इत्यादि प्रमुख तथा अन्य गौण कृष्णभक्त

कवियों ने भी कृष्ण के विभिन्न रूपों के विविध आयामों को सरस ढंग से चित्रित किया है। श्रीकृष्ण की बाल–लीलाओं तथा प्रसंगों का स्वाभाविक क्रमिक विकास इन कवियों के काव्य में उनके लोकरंजक रूप को भी प्रस्तुत करने में सफल हुआ है। वस्तुतः भागवत धर्म का आधार रहा, कृष्ण का यह लोकरंजक रूप जनमानस में अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। इन कवियों ने कृष्ण के किशोर रूप के चित्रण में एक साथ इक्ट्ठे रहने पर उपजने वाले प्रेम को भी व्यक्त किया है। कंदुक क्रीड़ा से रासलीला तथा कृष्ण के जीवन से जुड़े अन्य प्रसंगों में भी इन कवियों ने उनके लोकरंजक रूप को ही व्यक्त किया है।

3. विषय वस्तु में मौलिक उद्‌भावना :– कृष्ण सम्बन्धी काव्य की सृष्टि संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश में हिन्दी कृष्ण भक्ति साहित्य की रचना से पूर्व हो चुकी थी। इसके साथ ही विविध कृष्ण–भक्ति संप्रदायों की भी प्रतिष्ठा हो चुकी थी। कृष्ण काव्य का प्रेरणा स्त्रोत 'भागवत' का आधार लेकर चला है अतः मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण–भक्ति काव्य भी वैष्णव धर्म के इस अक्षय स्त्रोत 'भागवत' के आधार पर ही सृजित हुआ है। परन्तु इस काव्य में पर्याप्त मौलिक उद्‌भावना के दर्शन होते हैं। उदाहरणार्थ भागवतकार के कृष्ण निर्लिप्त हैं। वे गोपियों की प्रार्थना पर लीला में शरीक होते हैं जबकि हिन्दी कवियों के कृष्ण गोपियों की ओर स्वयं आकर्षित होते हैं। 'भागवत' में आदि से अन्त तक कृष्ण का ब्रह्मत्व और उनके चरित्र का अलौकिकत्व बने रहते हैं जबकि हिन्दी कवियों के कृष्ण में बहुत कम स्थानों पर अलौकिकता है वे बाल रूप में बाललीलाएं और युवा रूप में प्रणय लीलाएं करते हैं। 'भागवत' में कृष्ण के साथ प्रेम करने वाली एक गोपी का वर्णन है। उसमें राधा का वर्णन नहीं है जबकि सूरदास इत्यादि कवियों ने राधा की कल्पना द्वारा प्रणय चित्रण में एक अलौकिक भव्यता ला दी है, हिन्दी कवियों ने जयदेव तथा विद्यापति का आधार लेते हुए भी यथेष्ट कल्पना शक्ति से काम लिया है। विद्यापति के राधा–कृष्ण प्रणय चित्रण में जहां स्थूलता और उद्दामत्ता है वहां इन कवियों ने इन चित्रणों में नवीन रूप रंग भर कर उसे निखार दिया है। इन कवियों ने लोक–प्रचलित कृष्ण लीलाओं का सदुपयोग करके कृष्ण भक्ति की अभिवृद्धि में एक नवीन योगदान दिया है तथा अपने युग तथा समाज के वातावरण के अनुसार अनेक नवीन प्रसंगों की उद्भावना भी की है।

4. भक्ति–भावना भक्ति के क्षेत्र में कृष्णभक्त कवियों ने नये आयाम उद्‌घाटित किए हैं। भक्ति के पांच भाव भेद शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य माने गए हैं। कृष्ण भक्तों ने सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव को ही विशेष महत्व प्रदान किया है। वस्तुतः ये तीनों भाव ही भक्ति और प्रेम के विविध रूपों के प्रतीक हैं। कृष्ण–भक्ति काव्य की यह प्रेमलक्षणा भक्ति वैधी भक्ति से भिन्न है। कृष्ण–प्रेम के सामने सामाजिक विधि–निषेध लोक, वेद और शास्त्र की मर्यादा सभी नगण्य है। कृष्ण भक्ति के सभी सम्प्रदायों में कान्ताभाव की भक्ति को अधिक महत्व दिया गया है। निम्बार्क सम्प्रदाय में स्वकीया भाव पर बल दिया गया है और चैतन्य सम्प्रदाय में परकीया प्रेम में माधुर्य भाव की चरम परिणति मानी गयी है। आगे चलकर वल्लभ सम्प्रदाय में परकीया भाव की भक्ति का प्रचलन हो गया। राधावल्लभ सम्प्रदाय में परकीया भाव की अस्वीकृति है। कृष्ण–भक्तों के इस परकीया भाव में किसी प्रकार की अश्लीलता तथा अनैतिकता की शंका करना व्यर्थ है। वस्तुतः परकीया भाव आदर्श प्रेम का प्रतीक मात्र है। भक्ति की इन विधाओं के अतिरिक्त कृष्ण–भक्ति काव्य में दास्य भाव की भक्ति तथा नवधा भक्ति के अन्य अंगों का भी चित्रण मिलता है किन्तु प्रधानता रागानुराग भक्ति को ही दी गई है।

5. पात्र एवं चरित्र चित्रणः– राम काव्य में पात्रों के चरित्र के जैसे विविध पक्ष हैं वैसे कृष्ण भक्ति काव्य में नहीं। तुलसी ने राम के समूचे जीवन को प्रबन्ध काव्य का विषय बनाया है जबकि कृष्ण भक्त कवियों ने कृष्ण जीवन के कोमलतम अंशों को अपने काव्य का विषय बनाया है। इन भक्तों के कृष्ण महाभारत के नीति कुशल, व्यवहारवादी योद्धा

कृष्ण नहीं है वे हैं बाल गोपाल तथा सांवले–सलोने छलिया कृष्ण। कृष्ण के साथ सम्बन्ध पात्र हैं नन्द–यशोदा, गोपी–गोप तथा ब्रजवासी जोकि कृष्ण के प्रति वात्सल्य और सख्य रूप में प्रेम को दर्शाते हैं। कृष्णावतार का उद्देश्य है लीला और इन पात्रों का उद्देश्य है लीला में शामिल होना। राधा रस रुपिणी है। जिसके चरित्र के दो पक्ष हैं वास्तव में वह कृष्ण से अभिन्न है, किन्तु व्यवहार में उसे कृष्ण–प्रेम को उत्तरोत्तर विकसित करने के लिए चित्रित किया गया है। कृष्ण के सखाओं में उद्धव का चरित्र महत्वपूर्ण है। इन कृष्ण भक्त कवियों ने उद्धव के माध्यम से बुद्धि और तर्क पर भाव की, मस्तिष्क पर हृदय की, ज्ञान पर भक्ति की और निर्गुण पर सगुण की विजय दिखलाई है। इन पात्रों के चित्रण की एक विशेषता है प्रतीकात्मकता राधा माधुर्य–भाव की भक्ति का उच्चतम प्रतीक है। वह आनन्द स्वरूप कृष्ण से अभिन्न और उन्हीं की शक्ति है माधुर्य भाव से प्रेम करने वाली गोपियां भी कृष्ण से अभिन्न हैं। श्रीकृष्ण ने अपने आनन्दमय रूप का परिचय देने के लिए नित्य वृन्दावन का एक दृश्य दिखाया है और भविष्य में गोपिका बनकर उस लीला में भाग लेने का वरदान दिया। श्री कृष्ण परमात्मा है तथा गोपियाँ जीवात्मायें। वे निरन्तर प्रेम से व्याकुल होकर परम आनन्दधाम कृष्ण में लीन होने के लिए व्याकुल रहती हैं किन्तु स्मरण रखना होगा कि समस्त कृष्ण काव्य की व्याख्या प्रतीकात्मकता के आधार पर सम्भव है क्योंकि उसका आधार लोक–विश्रुत कथायें तथा पुराण है।

6. प्रेम की अलौकिकता एवं सौन्दर्य निरुपण :– कृष्ण काव्य में चित्रित रति को चिदुन्मुख कहकर विद्वानों ने इसे शृंगार रस से भिन्न मधुर रस की श्रेणी में रखा है तथा इसके प्रेम की अलौकिकता घोषित की है परन्तु ज्ञातव्य है कि मधुर या उज्जवल रस शृंगार रस से भिन्न नहीं है। इसीलिए इस काव्य में सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव के अर्न्तगत संयोग पक्ष की मादक लीलाओं की उद्भावना की गई है तथा वियोग पक्ष का भी बड़ा मार्मिक और आकुलता से भरा हुआ चित्रण किया गया है। प्रेम के अलौकिक रूप के चित्रण में संयोग पक्ष के अन्तर्गत राधा–कृष्ण के प्रेम के भव्य चित्र अंकित किए गये हैं तो कृष्ण के वियोग पक्ष के अन्तर्गत नंद और यशोदा के रुदन के साथ गायों, ग्वाल–बालों तथा गोपियों की विरहावस्था का चित्रण किया गया है, प्रेम की अलौकिकता अथवा प्रेमाभक्ति का आधार सौन्दर्य निरुपण है। सारा कृष्णकाव्य सौन्दर्य से आप्लावित है। सौन्दर्य निरुपण है। सौन्दर्य निरुपण के अंतर्गत कृष्ण की माधुर्य भाव की लीलाओं–पनघट लीला, गोदोहन लीला, चीरहरण लीला, दान लीला, मान लीला आदि का सौन्दर्य तो मनमोहक और आकर्षक है ही, असुर संहारक लीलाओं में भी कृष्ण का सौन्दर्य चित्रित किया गया है।

7. सामाजिक पक्ष :– यद्यपि कृष्ण भक्ति काव्य लीलावादी काव्य है और लीला लीला के लिए होती है जिसमें लोक मंगल की भावना अथवा समाज से कोई सरोकार नहीं होता, परन्तु फिर भी इस काव्य में तत्कालीन समाज की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का चित्रण मिलता है। सूरदास के पदों में जहां वे सांस्कृतिक विषय–वासना से अभिभूत चित्रण करते हैं वहां परोक्ष रूप से समाज की झलक भी है। सूरदास ने परीक्षित के पश्चाताप तथा भागवत के कुछ अन्य प्रसंगों को चुनकर तत्कालीन जीवन की उद्देश्यहीनता एवं इन्द्रिय परायणता की आलोचना की। उद्धव–गोपी संवाद में अलखवादी निर्गुणिया सन्तों, पांड़ित्याभिमानी, अद्वैत–वेदान्तियों, निष्फल कायाकष्ट में निरत हठयोगियों इत्यादि की अप्रत्यक्ष भर्त्सना की है। कलियुग के प्रभाव का वर्णन करते हुए इन कवियों ने वर्णाश्रम धर्म–पतन, सामाजिक, विषमताओं, कुरीतियों और धार्मिक विडम्बनाओं के चित्र भी प्रस्तुत किए हैं।

8. प्रकृति–चित्रण :– अनुभव और ज्ञान की साधना से दूर कृष्ण४ भक्ति साहित्य भावात्मक काव्य है। बाह्म प्रकृति का चित्रण इसमें या तो भाव की पृष्ठभूमि में हुआ है या उद्दीपन भाव के लिए अथवा अलंकारों के अप्रस्तुत विधान के रूप में। प्रकृति के स्वतन्त्र रूप का चित्रण प्रायः न के बराबर है। परन्तु कहा जा सकता है कि प्रकृति के मनोरम और अनुकूल, भयानक और प्रतिकूल रूपों के चित्रण में कृष्ण भक्त कवियों ने अपने अद्भुत कौशल और प्रतिभा का परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त जितने प्राकृतिक रूपों, रंगों, गतियों, ध्वनियों, रसों, स्पर्शों के प्रकृतिजन्य रूप

का कृष्ण काव्य में समावेश हुआ है उतना कहीं अन्यत्र नहीं। इन कवियों ने ब्रजभूमि की परिचित प्रकृति का भी बड़ी अद्‌भुतता से चित्रण किया है। इन कवियों का ऐंद्रिय बोध अत्यन्त सम्पन्न है। इसीलिए प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से यह काव्य परम्परा अपनी विशिष्टता बनाए हुए है।

9. काव्य रूप :– कृष्ण कवियों का साहित्य प्रमुख रूप से गेय मुक्तक रूप में लिखा गया है। इन कवियों ने कृष्ण के जीवन के जिस अंश को अपने काव्य के लिए चुना वह सर्वथा मुक्तक के उपयुक्त था। सम्पूर्ण कृष्ण–काव्य में प्रबन्ध रचना बहुत कम पाई जाती है। फिर भी कृष्ण–भक्त कवियों में कृष्ण जीवन के किसी विशेष अंश की क्रमबद्ध कल्पना अवश्य मिल जाती है उस कथा का प्रत्येक पद अपने आप में स्वतन्त्र भी है। सूरदास के काव्य में ब्रजवासी कृष्ण की सम्पूर्ण कथा देने का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। कृष्ण की सम्पूर्ण कथा देने का प्रयास ब्रजरत्नदास ने अपने ब्रजविलास में किया है। नन्ददास के भंवरगीत, रुक्मिणी मंगल और रास पंचाध्यायी आदि में कथात्मकता की मनोवृत्ति देखी जा सकती है। इस दिशा में हित वृन्दावनदास का 'लाड़ सागर' भी उल्लेखनीय है। सम्पूर्ण कृष्ण–काव्य पर दृष्टिपात करने के अनन्तर हमें उसमें इन कथात्मक सूत्रों कृष्ण–जन्म, गोकुल आगमन, शिशु लीला, नामकरण, अन्न–प्रश्न, वर्षगांठ इत्यादि संस्कारों तथा जागने, कलेऊ करने, खेलने, हठ करने, भोजन करने, सोने आदि का पता चलता है।

10. शैली :– कृष्ण–भक्ति काव्य में मुख्य रूप से गीतिशैली का व्यवहार किया गया है। इन कवियों के साहित्य में गीति शैली के सभी तत्त्व भावात्मकता, संगीतात्मकता, वैयक्तिकता, संक्षिप्तता तथा भाषा की कोमलता आदि पूर्ण रूप में मिलते हैं। राधा–कृष्ण की प्रेम कहानी के चित्रण में यद्यपि इन कवियों के लिए वैयक्तितकता, अभिव्यंजना के लिए कोई विशेष क्षेत्र नहीं था फिर भी इन्होंने गोपियों की अनुभूतियों के माध्यम से वैयक्तिकता का कलात्मक रूप से समावेश कर लिया है। कृष्ण भक्त कवियों में अनेक अभिव्यंजना शैलियों के दर्शन होते हैं।

11. छन्दों तथा अलंकारों का प्रयोग :–इस काव्य में छन्द की दृष्टि से अधिकतर पदों का ही प्रयोग हुआ है परन्तु कलात्मक प्रसंगों में चौपाई, दोहा, सार तथा सरसी छन्दों का प्रयोग किया गया है। दोहा–रोला और रोला–दोहा का मिश्रित रूप भी इस काव्य में प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त कृष्ण–भक्ति काव्य में कवित्त, सवैया, छप्पय, कुण्डलिया, गीतिका, हरिगीतिका, अरिल्ल तथा कुछ और छन्दों का भी प्रयोग मिलता है। इस काव्य में यथोचित अनुप्रास, यमक, श्लेष इत्यादि शब्दालंकारों तथा उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, व्यतिरेक, विभावना, अतिशयोक्ति इत्यादि अनेक अर्थालंकारों को भी देखा जा सकता है।

12. भाषा :– इस शाखा के कवियों ने मुख्य रूप से ब्रज की लोक–प्रचलित भाषा ब्रज भाषा का प्रयोग किया है परन्तु इन कवियों ने भाषा के परिमार्जन, रूप–निर्धारण, स्थिरीकरण और व्याकरण व्यवस्था की और ध्यान नहीं दिया इसलिए ब्रजभाषा के अच्छे से अच्छे कवि में भी शब्दों की तोड़–मोड़, लिंग–सम्बन्धी अव्यवस्था, अर्थभेद, अप्रयुक्त एवं ग्राम्य प्रयोग आदि मिल जाते हैं, भले ही नन्ददास आदि एक दो कवि इसके अपवाद हों।

12.9. कृष्णमार्गी शाखा के प्रमुख कवि :

हिन्दी के कृष्णभक्त कवि वल्लभ संप्रदाय के प्रवर्त्तक वल्लभाचार्य से सबसे अधिक प्रभावित थे। अतः कृष्ण भक्त कवियों के साथ इनका भी संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है

वल्लभाचार्य वल्लभाचार्य का जन्म सं. 1535 (सन 1478 ई.) में मध्य प्रदेश के चम्पारण्य में हुआ था। पिता का देहान्त बाल्यावस्था में ही हो जाने के पश्चात् माता ने उनकी देखभाल की। 13 वर्ष की अवस्था तक उन्होंने काशी में रहकर शास्त्र, पुराण और साधना पद्धतियों का ज्ञान प्राप्त किया। वे ब्रजप्रदेश भी गए और वहां श्रीनाथ जी की मूर्ति की स्थापना

की। सं. 1587 (सन् 1530) में काशी में उनका देहान्त हो गया। उनके द्वारा लिखित दो ग्रन्थ महत्वपूर्ण हैं ब्रह्मसूत्रों का 'अनुभाष्य' तथा श्रीमद्भागवदगीता की टीका 'श्री सुबोधनी'। श्री वल्लभाचार्य ने ब्रजमण्डल में जिस कृष्णभक्ति को प्रतिष्ठित किया, उसका दार्शनिक आधार शुद्धाद्वैत–दर्शन है। साधना और व्यवहार क्षेत्र में शुद्धाद्वैत के साथ जिस भक्ति को स्थान दिया गया, उसका आधार उन्होंने पुष्टिमार्ग को बनाया। श्री वल्लभाचार्य ने जिस पुष्टिमार्गीय भक्ति–सम्प्रदाय की स्थापना की, उसका जिन हिन्दी–भक्त–कवियों द्वारा पल्लवन किया गया, उन्हें अष्टछाप के कवि कहा जाता है जिनमें से चार उनके अपने शिष्य थे। कुम्भनदास, सूरदास, परमानन्ददास और कृष्णदास तथा चार अन्य उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे गोविन्द स्वामी, नन्ददास, छीत स्वामी और चतुर्भुजदास। ये आठों भक्त श्रीनाथ जी की नित्य लीला में अन्तरंग सखाओं के रूप में सदैव उनके साथ रहते थे। इसलिए इन्हें अष्टसखा भी कहा जाता है।

अष्टछाप के इन कवियों अथवा कृष्ण भक्त कवियों का परिचय इस प्रकार है :–

सूरदास :– हिन्दी साहित्य में कृष्ण भक्ति की अजस्र धारा को प्रवाहित करने वाले भक्त कवियों में सूरदास का सर्वोपरि स्थान है। उनके जीवन काल के विषय में पर्याप्त मतभेद है। उनका जीवन–वृत्त उनकी अपनी कृतियों से आंशिक रूप में और बाह्य साक्ष्य के आधार पर अधिक उपलब्ध होता है। जिसके अनुसार सूरदास के शोधकर्ता विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि सं. 1535 में वल्लभगढ़ (गुड़गांव के निकटवर्ती सीही नामक गांव में हुआ। सूरदास नेत्र–विहिन थे। किन्तु वे जन्मांध थे अथवा बाद में अन्धे हुए, यह विवादाग्रस्त है क्योंकि नेत्रविहीन होते हुए भी इन्होंने दृश्य–जगत का ऐसा यथार्थ वर्णन किया है कि इनकी जन्मान्धता पर सन्देह होता है।

सूरदास रचित बहुत सारे ग्रन्थों का उल्लेख किया जाता है परन्तु अधिकांशतः साहित्य इतिहासकारों ने सूरसारावली, साहित्यलहरी तथा सूरसागर को ही सूरदास की प्रामाणिक रचनाएं स्वीकार किया है। 'सूरसागर' श्रीनाथ जी के मन्दिर में अनवरत रूप से गाये गये कीर्तन के पदों का संग्रह काव्य है। ये ग्रंथ भागवत को आधार बना कर लिखा गया है। 'सूर सारावली' में 'सूर सागर' का सार एवं उनके पदों की अनुक्रमणिका है 'साहित्य लहरी' को भी 'सूरसागर' का अंश बताया गया है। इसमें सूरदास के वे पद हैं जिनमें नायिका भेद, अलंकार एवं रस निरुपण है। इसमें अनेक दृष्टिकूट के पद भी संकलित हैं।

सूर की दृष्टि अपने आराध्य कृष्ण के लोकरंजक रूप पर ही अधिक रही है। लीला–वर्णन में भी उनका ध्यान मुख्यतः भाव–चित्रण पर ही रहा है। उनके श्री कृष्ण के बाल–भाव और वात्सल्य से भरे मातृहृदय के चित्रण अत्यन्त मनोहर एवं हृदयस्पर्शी बन पड़े हैं। उनके काव्य में प्रकृति–सौन्दर्य, जीवन के विविध पक्षों, बालचरित्र के विविध प्रसंगों, क्रीडाओं, गोचारण, रास, राधा कृष्ण तथा कृष्ण–गोपियों के प्रेम का चित्रण भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है। उन्होंने अपने काव्य में ब्रज भाषा का ही प्रयोग किया तथा उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ–साथ अरबी, फारसी, अवधी तथा पूरबी हिन्दी के शब्द भी उनकी भाषा में उपलब्ध होते हैं। भाषा की सजीवता के लिए उन्होंने मुहावरों और लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है।

कुम्भनदास :– कुम्भनदास को ही सर्वप्रथम श्री वल्लभाचार्य ने दीक्षित किया था। इनका जीवनकाल 1468–1583 स्वीकार किया जाता है। गृहस्थ होते हुए भी वे अनासक्त थे और कृष्ण भजन में लीन रहने वाले साधु–वृत्ति के पुरुष थे। उनकी शिक्षा के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता। उनकी रचनाओं में भी पाण्डित्य की झलक नहीं है। सांप्रदायिक सिद्धान्तों का बोध उन्होंने वल्लभाचार्य की संगति में रहकर प्राप्त कर लिया था क्योंकि सिद्धान्तों के ज्ञान के बिना पद–रचना कठिन थी। उनके द्वारा रचित किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ का उल्लेख नहीं मिलता। विभिन्न संग्रहों में उनके पद संकलित हैं। इनकी पद रचना में साहित्यिक सौष्ठव उतना नही हैं, जितना संगीत और

लय का सौन्दर्य है। उनकी भाषा साधारण ब्रजभाषा है। संस्कृत तथा अन्य भाषाओं का प्रभाव भी न्यून मात्रा में है।

परमानन्ददास :– परमानन्ददास अष्टछाप के कवियों में प्रमुख स्थान रखते हैं। इनका जन्म कन्नौज (उत्तरप्रेदश) में एक निर्धन ब्राह्मण–परिवार में हुआ। साम्प्रदायिक अनुश्रुतियों के आधार पर इन्हें वल्लभाचार्य से पन्द्रह वर्ष छोटा कहा जाता है अतः इनका जन्म–काल 1493 ई. स्थिर होता है। काव्य रचना में इनकी बाल्यावस्था से ही रूचि थी तथा इन्हें संगीत का भी ज्ञान था।

परमानन्द की रचनाओं का प्रकाशन, 'परमानन्द सागर', 'परमानन्द के पद' और 'वल्लभ सम्प्रदायी कीर्तन पद–संग्रह' के नाम से हुआ है। इसके अतिरिक्त 'दानलीला' तथा ध्रुवचरित भी इनके द्वारा लिखे बताये जाते हैं परन्तु इस विषय में कोई प्रामाणिक जानकारी नहीं मिलती। परमानन्द जी के सर्वाधिक पद बाललीला विषयक हैं। लीला–वर्णन में रसवती भावात्मक लीलाओं पर इनका ध्यान अधिक रहा है। इनके पदों में प्रबन्धात्मकता नहीं है, युद्ध मुक्तक की भांति उनका रसास्वादन किया जा सकता है। कृष्ण के ईश्वरीय पक्ष का वर्णन न करते हुए इन्होंने केवल माधुर्य–भाव की लीलाओं का वर्णन किया है। इनके पदों में 'सूरसागर' की भांति 'भागवत' की कथा का वर्णन नहीं है। अपितु इन्होंने कृष्ण के मथुरा–गमन से भंवरगीत तक के प्रसंग का ही मुख्यतः वर्णन किया है। इनकी प्रेमानुभूति लौकिक न होकर कृष्णविषयक है। बाल–मनोविज्ञान के सुन्दर चित्र इनके काव्य में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। पूर्वराग अवस्था की वियोग–वेदना और मिलन की उत्कट कामना की व्यंजना की इनके पदों में अत्यन्त प्रभावपूर्ण है। प्रेम–पीर से व्यथित एक गोपी की उक्ति द्रष्टव्य है :–

'जब ते प्रीति श्याम ते कीनी।
ता दिन ते मेरे इन नैननि नेंकहु नींद न लीनी।।
सदा रहत चितचाक चख्यो सो और कछु न सुहाय।
मन में रहे उपाय मिलन को हहै विचारत जाय।।
परमानन्द पीर प्रेम की काहू सो न कहिए।
जैसे विथा मूक बालक की अपने तन–मन सहिए।।

इन्होंने ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। चित्रात्मकता, आलंकारिकता और प्राजंलता इनकी भाषा के विशेष गुण हैं। गेय पदों में रचना के साथ–साथ इन्होंने दोहा–चौपाई का भी प्रयोग किया है।

कृष्णदास :– कृष्णदास अधिकारी के नाम से विख्यात कृष्णदास के विषय में कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं होती। डॉ. दीनदयाल गुप्त ने 'अष्टछाप और वल्लभ–सम्प्रदाय' ग्रन्थ में इनका परिचय लिखते हुए 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता'' को ही प्रमाण माना है। उनके लेखानुसार कृष्णदास 'कुननी' जाति के थे, जो शूद्र जातियों में परिगणित की जाती है। इनका जन्म गुजरात में राजनगर राज्य (अहमदाबाद) के चिलोतरा गांव में 1475 ई. में माना गया तथा मृत्यु 1575 ई. में मानी गयी। कृष्णदास बाल्यावस्था में ही घर छोड़ कर ब्रज में आ गये थे। अपनी बुद्धि और भक्ति के कारण ये श्रीनाथ जी के मन्दिर में 'अधिकारी' पद पर आसीन हुए। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी इनकी कुशाग्र बुद्धि और प्रतिभा के बड़े प्रशंसक थे। इनकी प्रबन्धपटुता के कारण इन्हें मन्दिर के प्रबन्ध का दायित्व ही सौंपा गया था, सेवा और कीर्तन से इनका प्रारम्भ में कोई सम्बन्ध नहीं था। धीरे–धीरे ब्रजभाषा का इन्होंने अभ्यास किया और उसमें काव्य रचना भी करने लगे। कृष्णदास काव्य और संगीत के मर्मज्ञ होने के साथ–साथ सुकवि और गायक भी थे। इन्होंने बाल लीला, राधाकृष्ण–प्रेम–प्रसंग, रूप–सौन्दर्य इत्यादि का बड़ा ही मनोहारी चित्रण किया है। परन्तु इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता अपितु शताधिक फुटकर पद ही उपलब्ध हैं। इनके पदों की भाषा शुद्ध ब्रज भाषा है।

यद्यपि इनकी मातृभाषा गुजराती थी। इनके श्रृंगारपूर्ण पदों में भाषा की प्रांजलता द्रष्टव्य है।

नन्ददास :– नन्ददास का स्थान कृष्ण भक्त अष्टछाप कवियों में काव्यसौष्ठव और भाषा की प्राजंलता की दृष्टि से सूरदास के बाद समझा जाता है। इनके जीवनवृत के विषय में भी बहुत अधिक मतभेद पाया जाता है। इन्हें तुलसीदास का भाई भी माना गया है। इनका जन्म 1533 ई. में उत्तरप्रदेश के सूकर क्षेत्र (सोरों) के रामपुर गांव में हुआ था। ये धनाढय ब्राह्मण थे नन्ददास जी ने विधिवत शास्त्रानुशीलन किया था। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उनके द्वारा रचित पन्द्रह ग्रन्थों को देखकर उनका रचना वैविध्य स्पष्ट हो जाता है। इनके ग्रन्थ निम्नलिखित हैं।

रसमंजरी, मानमंजरी, अनेकार्थमंजरी, रूपमंजरी, विरहमंजरी, प्रेम बारहखड़ी, श्यामसगाई, सुदामाचरित, रुक्मिणी मंगल, भंवरगीत, रासपंचाध्यायी, सिद्धान्त–पंचाध्यायी, गोवर्धन लीला, दशमस्कन्धभाषा, नन्ददास पदावली इत्यादि।

नन्ददास के सम्पूर्ण ग्रन्थ परिमार्जित ब्रज भाषा में है। मधुर और परिचित शब्दों का चयन कवि की विशेषता है। नन्ददास को 'जड़िया' कहा जाता है, जिसका कारण उनका सुन्दर एवं उपयुक्त शब्दों का चयन करना ही है। लोकोक्ति–मुहावरों पर भी इनका पूर्ण अधिकार था। संगीत–प्रवीन होने के कारण शब्दों के चयन में लय, स्वर आदि का ध्यान रखने से उनके काव्य में प्रांजलता और प्रवाह की सृष्टि हुई है। सरस, एवं मार्मिक प्रसंगों की उद्भावना में उन्होंने ललित एवं मोहक पदावली की सृष्टि की है।

गोविन्द स्वामी :– इनका जन्म राजस्थान के भरतपुर राज्य के अन्तर्गत आंतरी गांव में 1505 ई. में हुआ था। ये गृहस्थ थे परन्तु संसार से वैराग्य ले लेने के पश्चात् ब्रजमण्डल के महावन नामक स्थान पर आकर बस गये और वहीं पर रहकर भजन–कीर्तन में लीन रहते थे। वार्ता–ग्रन्थों से विदित होता है कि ये शिक्षित थे और संगीत शास्त्र का भी इन्हें ज्ञान था। पद रचना करके ये स्वयं उन्हें गाते थे और अन्य भक्तों को भी पद–गायन सिखाते थे। किसी गायक के मुख से इनका बनाया पद सुनकर गोस्वामी विट्ठलनाथ जी बहुत प्रभावित हुए थे। 1535 ई. में इन्होंने गोस्वामी विट्ठलनाथ जी से विधिवत पुष्टिमार्ग की दीक्षा ग्रहण की और अष्टछाप में सम्मिलित हो गये। पुष्टि सम्प्रदाय की दीक्षा के उपरान्त ये महावन छोड़कर गोवर्धन चले आये और वहीं पर स्थायी रूप से बस गये। जहां ये रहते थे, वह स्थान गोविन्दस्वामी की भकदमखंडी के नाम से आज भी प्रसद्धि है। यह भी किंवदन्ती है कि अकबर के दरबार का प्रसिद्ध गायक तानसेन इनके पास पद–गायन की शिक्षा ग्रहण करने आता था। गोवर्धन में रहते हुए ही इनका 1585 ई. में देहावसान हो गया।

गोविन्द स्वामी ने भी किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना नहीं की। भजन–कीर्तन के लिए जो पद यह समय–समय पर सृजित किया करते ते, उन्हीं का संकलन 'गोविन्दस्वामी के पद' नाम से प्रसिद्ध है। इनके द्वारा रचित 600 पद बताये जाते हैं किंतु 252 पद पुष्टि सम्प्रदाय में अधिक प्रसिद्ध हैं। मुख्यतः इन्होंने राधा–कृष्ण की श्रृंगार लीला–विषयक पद–रचना की है, किन्तु कुछ बाललीला के भी पद लिखे हैं। इनके काव्य की भाषा ब्रजभाषा ही है परन्तु उसमें लालित्य एवं सौष्ठव का अभाव है परन्तु पदों के संगीत के लय–स्वर का इन्होंने अवश्य ध्यान रखा है।

छीतस्वामी :– छीतस्वामी (1515–1585) मथुरा के चतुर्वेदी ब्राह्मण थे, घर में जजमानी और पंडागिरी होती थी। प्रसिद्ध है कि ये बीरबल के पुरोहित थे। यौवनावस्था में उद्दंड प्रकृति के कारण ये लड़ाई–झगड़े के लिए बदनाम थे और छीतू चौबे के नाम से मथुरा के उद्दंड लोगों में इनका स्थान अग्रणी था। कहते हैं कि गोस्वामी विट्ठलनाथ को चिढ़ाने के लिए एक दिन ये खोटा रुपया और थोथा नारियल लेकर भेंट करने पहुंचे। गोस्वामी जी ने अपनी दिव्य–शक्ति से खोटे रुपये और थोथे नारियल को शुद्ध तथा परिपूर्ण बनाकर छीतू चौबे को चमत्कृत कर दिया। फलतः चौबे जी को अपनी शरारत पर आत्मग्लानि का अनुभव हुआ और उन्होंने गोस्वामी जी के पैर पकड़कर क्षमा–याचना

की तथा तत्काल पुष्टिमार्ग में दीक्षित हो गये। कालान्तर में इनकी पद–रचना को देखकर इन्हें अष्टछाप में सम्मिलित कर लिया गया। यौवनावस्था में छीत स्वामी जितने उद्दंड और वाचाल थे, प्रौढ़ावस्था प्राप्त होने पर उतने ही गम्भीर और विरक्त हो गये। पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के बाद ये गोवर्धन के निकट पूंछरी नामक स्थान में एक तमाल वृक्ष की छाया में रहने लगे थे। काव्य और संगीत में इनकी विशेष रूचि थी, अतः सारा समय इन्हीं कार्यों में व्यतीत करते थे। छीतस्वामी का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता। कीर्तन के लिए इन्होंने जो स्फुट पद–रचना की, वही 'पदावली' के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें लगभग 200 पद संकलित हैं। इनके पदों और कवित्तों में ब्रजभाषा का पर्याप्त लालित्य है। यद्यपि इनकी कविता साधारण कोटि की है, फिर भी भक्ति–भाव से परिपूर्ण है। उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित पद में ब्रजधाम के प्रति आस्था द्रष्टव्य है :

अहो विघना! तो पै अंचरा पसार मांगौं
जनम–जनम दीजो मोहि याही ब्रज वसिनौ।

चतुर्भुजदास : चतुर्भुजदास नाम से चार भक्त कवियों का उल्लेख हिन्दी–साहित्य के इतिहास–ग्रन्थों में मिलता है। कहीं–कहीं इनके जीवन–चरित्र और काव्यविषयक विवेचन में उलट–फेर और भ्रम भी उत्पन्न हो गया है, किन्तु अष्टछापी चतुर्भुजदास को अन्य व्यक्तियों से पृथक करने के लिए पुष्कल प्रमाण उपलब्ध हैं। अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि कुम्भनदास के ये सबसे छोटे पुत्र थे, अतः इनका चरित प्रामाणिक रूप से जाना जा सकता है। इनका जन्म 1530 ई. में गोवर्धन के समीप यमुनादेवी गांव में हुआ था तथा इनका देहावसान 1585 ई. में हुआ। वंश–परम्परागत खेती–बाड़ी से विमुख रहकर इनका ध्यान भजन–कीर्तन की ओर अधिक रहता था। अतः इनके पिता कुम्भदास इनसे बहुत प्रसन्न रहते थे। उन्होंने इन्हें स्वयं गानविद्या की शिक्षा देकर पुष्टिमार्ग की दीक्षा दिलायी थी। शैशव–काल में ही चतुर्भुजदास काव्य–रचना करने लगे थे। इनका कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, स्फुट पदों को ही 'चतुर्भुज–कीर्तन–संग्रह', 'कीर्तनावली' और 'दानलीला' शीर्षकों से प्रकाशित किया गया है। 'द्वादशयश', 'मधुमालती' और 'भक्तिप्रताप' नाम से इनके जो अन्य ग्रन्थ बताये जाते हैं, वे इनके न होकर राघावल्लभीय तथा अन्य चतुर्भुजदास के हैं। अष्टछाप के कवि चतुर्भुजदास की रचना में श्रृंगार की छटा विद्यमान है। कृष्ण–जन्म से लेकर गोपी–विरह तक ब्रजलीला–गान इन्होंने किया है, किन्तु किसी मौलिक प्रसंग की उद्‌भावना इनके पदों में नहीं मिलती। साधारण ब्रजभाषा को ही इन्होंने अपनाया है। श्रीनाथ जी के मन्दिर में जिस प्रकार के पद गाये जाते थे, उन्हीं के अनुकरण पर इन्होंने पद लिखे हैं।

अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त अन्य कृष्णभक्त कवि इस प्रकार हैं

मीराबाई :– मीरा का जन्म राठौरों की मेड़तिया शाखा के अंतर्गत राव दूदा जी के चतुर्थ पुत्र रत्नसिंह के घर में कुड़की गांव में संवत 1555 के आसपास हुआ। बचपन में ही माता का देहांत हो जाने के कारण इनका पालन–पोषण पितामह दादू के द्वारा हुआ जोकि परम वैष्णव भक्त थे। इन्हीं के संसर्ग से मीरा के हृदय में कृष्ण–भक्ति के संस्कार पड़े थे जोकि बाद में मार्धुय भाव की भक्ति में विकसित हुए। 12 वर्ष की अवस्था में इनका विवाह चितौड़ के महाराजा सांगा के बड़े पुत्र भोजराज से हुआ परन्तु कुछ समय पश्चात ही पति का देहान्त हो जाने के कारण मीरा कृष्ण की अनन्य अनुरागिनी हो गई। वह तो बाल्यकाल से ही कृष्ण को अपना पति समझती थी। इसलिए अब वह साधु संगति, भजन एवं कीर्तन में मग्न रहने लगी। इनके लिए इन्होंने राजमर्यादा और लोक–लाज भी छोड़ दी और राजकुल का अत्यन्त कठोर विरोध भी सहन किया। सं. 1603 में इनकी द्वारिका में मृत्यु हुई।

मीरा के गुरु के सम्बन्ध में इतना जान लेना आवश्यक है कि मीरा पर सन्त समुदाय तथा चैतन्य मतानुयायी

दोनों का प्रभाव पड़ा था निम्नांकित रचनाएं इनके नाम से सम्बद्ध बताई जाती हैं नरसीजी का माहरा, गीत गोविन्द की टीका, मीरानी गरबी, मीरा के पद, राग सोरठ के पद, रास गोविन्द। नरसी जी का माहरो में नरसी मेहता के भात भरने की कथा है। गीत–गोविन्द की टीका अभी तक अप्राप्य है तथा रास गोविन्द के सम्बन्ध में अनुमान है कि उन्होंने रचा होगा। राग सोरठ के पद में मीरा, कबीर और नामदेव के पदों का संग्रह है। मीरानी गरबी के गीत रास मंडली के गीतों के समान गाये जाते हैं। मीरा के फुटकर पद कोई 100 के करीब मिलते हैं। मीरा के पद गुजराती, राजस्थानी, पंजाबी, खड़ी बोली आदि में मिलते हैं। मीरा के अन्य ग्रन्थ या तो मिलते ही नहीं और जो मिलते हैं वे भी अपूर्ण हैं। अतः मीरा के साहित्य के लिए इनके उपलब्ध ग्रन्थों पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

रसखान :– रसखान दिल्ली के एक पठान सरदार थे जिन्होंने मुसलमान होकर भी कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य भक्ति भावना और श्रद्धा प्रकट की है। ये न तो विट्ठलनाथ के शिष्य थे और न ही इनका कृष्ण काव्य पुष्टि मार्गीय भक्ति पद्धति पर लिखा गया है। इनके काव्य ने तो सूफियों के प्रेम पीर की प्रधानता पायी है। रसखान ने इस प्रेम पीर का कृष्ण को मूर्त अवलंबन बना दिया है। इनकी दो रचनाएं 'प्रेमवाटिका' और 'सुजान रसखान' उपलब्ध होती हैं। अपने काव्य की पृष्ठभूमि में रसखान ने ब्रजलीला को उतना महत्व नहीं दिया जितना विलोकन और मुस्कान को दिया है। इन्होंने श्रृंगार के दोनों पक्षों संयोग और वियोग का समुचित वर्णन किया है। रसखान का मन जितना किशोर लीला में रमा है उतना बाल लीला में नहीं। इनके ब्रजभूमि सम्बन्धी पद काफी सरस बन पड़े हैं। अन्य कृष्णभक्त कवियों की तरह इन्होंने भी अपने काव्य में ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है। भाषा से जुड़ा अन्य कोई प्रयोग उनके काव्य में उपलब्ध नहीं होता।

12.10. सगुण काव्य की विशेषताएं :

भक्तिकाल की सगुण शाखा में राम काव्य और कृष्ण काव्य दोनों धाराएं शामिल होती हैं। इनका भी विस्तारपूर्वक पृथक्–पृथक् अध्ययन हम कर चुके हैं। यहाँ पर दोनों में पाई जाने वाली समान प्रवृत्तियों की चर्चा की जाएगी। निर्गुण सन्तों में भक्ति की अपेक्षा ज्ञान की प्रधानता है। जबकि सूफी कवियों में प्रेम का अत्यधिक महत्व है। पर दोनों के यहाँ ईश्वर निर्गुण है। मध्यकालीन सगुण सम्प्रदाय वैष्णव धर्म से पोषण प्राप्त करता है। इस सम्प्रदाय की दोनों धाराओं राम काव्य और कृष्ण काव्य में ईश्वर सगुण है। इन्होंने ज्ञान, कर्म और भक्ति में से भक्ति को ही अपने उपजीव्य के रूप में ग्रहण किया। सगुण शाखा की पृष्ठभूमि में वैष्णव धर्म और शक्ति का समृद्ध साहित्य है। संक्षेप में सगुण काव्य के अन्तर्गत राम और कृष्ण काव्य धाराओं में समान रूप से पाई जाने वाली प्रवृत्तियों का परिचय इस प्रकार है

1. ईश्वर का सगुण रूप सगुण कवियों का उपास्य सगुण है। राम और कृष्ण दोनों धाराओं के कवियों ने ज्ञान और निर्गुण ईश्वर की उपासना के स्थान पर ईश्वर के सगुण रूप की उपासना पर बल दिया। इनका विचार था कि इससे भक्त अपने आराध्य को अपने हृदय के अधिक निकट अनुभव करता है। सगुण कवियों ने सगुण और निर्गुण के समन्वयवाद पर भी बल दिया। इन्हें उपासना–क्षेत्र में ईश्वर का सगुण रूप मान्य है अन्यथा इनके यहाँ भी निर्गुण ईश्वर की स्वीकृति है। इनके लिए भगवान चल भी है और अचल भी, मूर्त भी है और अमूर्त भी, वामन भी है और विराट भी, सगुण भी है और निर्गुण भी। वस्तुतः वह अनिवर्चनीय है और कालातीत भी, परन्तु उसका अपनी समग्रता में किसी काल में अवतरित होना असम्भव नहीं। सगुणवादियों के अनुसार मनुष्य वस्तुतः ब्रह्म है, नर और नारायण एक है, अवतारी तथा अवतार सर्वथा अभिन्न है। 'नरो नारायणश्चैव तत्त्वमेकम् द्विधा कृतम्' नर नारायण वस्तुतः एक तत्त्व है, उनका

द्वैधीकरण व्यावहारिक बुद्धि का भ्रम मात्र है। सगुण कवियों के अनुसार सगुण के गुण अप्राकृतिक हैं। लौकिक गुण परिवर्तनशील, अस्थिर और कारण कार्य जन्य होते हैं, किन्तु प्रभु के दिव्य गुण ह्रास–विकास रहित हैं। भगवान का यह स्वरूप हृदय और बुद्धि की पहुंच से परे है। यह सगुण भगवान स्रष्टा, पालक और संहारक है अन्त में विष्णु के रूपों में इन रूपों का संहार हो जाता है।

2. अवतार भावना सगुण काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति अवतारवाद की भावना है। सगुण भक्त कवियों का विश्वास है कि प्रभु असीम सीमा को स्वीकार करके अपनी इच्छा से लीला के लिए अवतरित होते हैं। वैसे तो सारा संसार उस भगवान का अवतार है किन्तु इन वैष्णवों की अवतार–भावना के मूल में गीता की विभूति एवं ऐश्वर्य कार्य कर रहा है। ज्ञान, कर्म, ऐश्वर्य, प्रेम भगवान की विभूतियाँ हैं।

3. गुरु की महत्ता सगुण काव्य में भी निर्गुण काव्य के समान गुरु का अत्यन्त महत्त्व है। इस काव्य में गुरु ब्रह्म का प्रतिनिधि और अंश है। सगुण कवियों ने भी संसार की सब वस्तुओं से गुरु को उच्चतम माना है और उसकी महत्ता को स्वीकार करते हुए उसकी प्रशंसा की है। सूर और तुलसी का काव्य इस कथ्य का सुन्दर निदर्शन है। नन्ददास ने वल्लभ को ब्रह्मा के रूप में ग्रहण किया है। इनका विश्वास है कि गुरु के बिना ज्ञान असम्भव है और ज्ञानाभाव में मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। ज्ञान से भक्ति और भक्ति से उसका सायुज्य प्राप्त होता है। गुरु ही ज्ञान और भक्ति का मार्ग दिखलाता है तथा मनुष्य को अज्ञानी से ज्ञानी, विवेकवान और उसके ज्ञान चक्षु खोलकर उसे अन्धेरे से प्रकाश की तरफ भी ले जाता है।

4. भक्ति भावना हिन्दी के मध्यकालीन उपासकों के लिए भगवान सगुण है और भक्ति का एकमात्र आधार हैं। उसकी भक्ति और प्रेम का उद्देश्य है उसकी निकटता प्राप्त करके उसमें रमण करना तथा उसकी लीलाओं में अपने आपको लीन करना। सगुण भक्त कवियों ने नवधा भक्ति को अत्यन्त महत्व दिया है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद–सेवन, अर्चन, वन्दन, सख्य, दास्य, आत्मनिवेदन भक्ति की ये नव विधाएं इन्द्रिय, मन और हृदय को भगवान के प्रति निवेदत करती है जिससे भक्त अपने आपको रामार्पण तथा कृष्णार्पण कर देता है। ऐसी स्थिति में भक्त कवि के लिए प्राकृत जन गुणगाण का प्रश्न ही नहीं उठता।

विष्णु मूलतः ऐश्वर्य–सम्पन्न देव हैं, अतः सगुण उपासकों में रामानुज सम्प्रदाय में भगवान की ऐश्वर्य–उपासना भक्ति पर अत्यधिक बल है। वल्लभ और निम्बार्क संप्रदाय में भगवान के ऐश्वर्य की अपेक्षा उसकी माधुरी को अधिक महत्व दिया गया है। चैतन्य मत में कांताभाव की भक्ति का पूर्ण परिपाक हुआ है। वल्लभ सम्प्रदाय में शांत, सख्य और वात्सल्य भावों की भक्ति का विशिष्ट स्थान है जबकि चैतन्य सम्प्रदाय कांताभाव की भक्ति को आग्रहपूर्वक पकड़े हुए है। युगल लीला की प्रतिष्ठा वल्लभ, चैतन्य और निम्बार्क सम्प्रदाओं में हुई है। परवर्ती सगुण सम्प्रदायों राधा–वल्लभी और हरिदासी युगल–लीला के आधार पर ही अपनी पृथक् सत्ता को स्थिर रख सके हैं। इसके अतिरिक्त सगुण उपासकों में जहां पर रामकाव्य के प्रर्वत्तक तुलसीदास दास्य–भाव के भक्त हैं वहाँ पर सूर सख्यभाव, माधुर्य भाव तथा दैन्य भाव के भक्त हैं। भक्ति का भाव कोई भी हो, इसके माध्यम से सगुण काव्य में वस्तुतः मानवतावाद की ही व्याख्या हुई है।

5. लीला रहस्य सगुण काव्य में लीलावाद का अत्यन्त महत्व है। चाहे तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम हों और चाहे सूर के ब्रजराज कृष्ण हों, दोनों लीलाकारी हैं। उनके अवतार का लक्ष्य लीला है और लीला का उद्देश्य कुछ नहीं, लीला लीला होती है। तुलसी के लोकरक्षक राम, रावण का संहार लीलार्थ करते हैं। तुलसी के लिए समस्त रामचरित

लीलामय है और सूरदास के कृष्ण तो हैं ही लीला–रमण और आनन्दसन्दोह। एक ओर तो वे जहाँ पर विभिन्न लीलाएं करते हुए सम्पूर्ण ब्रजवासियों को मोहित करते हैं वहाँ दूसरी ओर दुष्टों का संहार भी लीला ही लीला में कर देते हैं। सगुण कवियों के अनुसार ईश्वर सर्वत्र विद्यमान हैं। उसने किसी इच्छा से संसार की सृष्टि नहीं की बल्कि यह तो उसकी लीला का ही परिणाम है। उनके अनुसार जीवन और दर्शन की चरम सीमा भी लीलावाद में ही निहित है। इसीलिए इन कवियों का काव्य प्रभु लीलाओं का श्रवण, स्मरण, चिन्तन, कीर्तन एवं गायन रूप में सृजन करता है जिसके लिए उन्होंने लीला के अनेक रूप कल्पित भी कर लिये।

6. रूपोपासना सगुण काव्य में रूपोपासना का भी विशिष्ट स्थान है। शंकर ने नाम और रूप को मायाजन्य माना है। शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्म को अनाम और अरूप कहा गया है, परन्तु सगुण साधना में भगवान का नाम और रूप आनन्द का अक्षय कोष है। नाम और रूप से ही वैधी भक्ति का आरम्भ होता है। सगुण भक्त को भगवान का नाम और रूप इतना विमुग्ध कर लेता है कि लौकिक छवि उसके पथ में बाधक नहीं बन सकती। आरम्भ में सगुणोपासक नाम रूप–युक्त अर्चावतार अथवा मूर्ति के समक्ष आकर उपासना करता है। परन्तु निरन्तर भावना, चिन्तन एवं गुण–कीर्तन से वह अपने आराध्य में ऐसा सन्निविष्ट हो जाता है कि उसे किसी भौतिक उपकरण की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। रूप ही शृंगार रस को जगाता है। ब्रजेश कृष्ण रस–राज शृंगार के अधिष्ठाता देवता हैं। यही कारण है कि कृष्ण भक्ति शाखा में कृष्णाश्रित शृंगार का सांगोपांग वर्णन है। पुष्टिमार्गी कवि के लिए लौकिक शृंगार के सभी उपकरण मोहन के मादन–भाव के सामने फीके हैं। उनके कृष्ण भूमा सौन्दर्य की अतुल राशि हैं। यद्यपि तुलसी के राम में शील, शक्ति, सौन्दर्य का समन्वय है और तुलसी का काव्य समविभक्तांग है फिर भी उनके राम अपनी अप्रतिम छवि से त्रिभुवन को लजाने वाले हैं। सगुण काव्य में भक्ति के गृहीत स्वरूपों दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य में रूपोपासना के साथ–साथ रस का भी विलक्षण महत्त्व है।

7. शंकर के अद्वैतवाद का विरोध – भागवत के अतिरिक्त हिन्दी के सगुण काव्य पर रामानुज, निम्बार्क, मध्वाचार्य तथा वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ा है। इन सभी आचार्यों ने शंकर के ज्ञानमूलक अद्वैतवाद का, जो भक्ति को परम सत्य नहीं मानता, खण्डन किया और भक्ति–तत्त्व का समाधान करते हुए भगवद् प्राप्ति में उसकी अनिवार्यता सिद्ध की। रामानुज के विशिष्टताद्वैतवाद में ब्रह्म प्रकारी हैं और जीव तथा प्रकृति उसके प्रकार हैं। जीव की कृतकृत्यता इसी में है कि वह अपने आपको भगवान का विशेषण माने। आत्मसमर्पण के द्वारा जीव को यह स्थिति प्राप्त हो सकती है। परमात्मा अंशी है और जीव उसका अंश है।

8. विविध स्रोत – मध्यकालीन भक्ति काव्य के उपजीव्य ग्रन्थ है रामायण और भागवत। रामायण की अपेक्षा भागवत की छाप इस काव्य पर अत्यन्त गहरी है। समस्त कृष्ण सहित्य तो इससे अनुप्राणित है ही, राम काव्य भी इससे कम प्रभावित नहीं है। रामभक्त तुलसी के काव्य पर भी इस अलौकिक ग्रन्थ का प्रभाव यत्र–तत्र देखा जा सकता है। हिन्दी के भक्ति–काव्य पर प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्यों का कोई प्रभाव नहीं, बल्कि इस पर साक्षात् रूप से संस्कृत साहित्य का प्रभाव पड़ा। संस्कृत के भगवद्गीता, विष्णु पुराण, पांचरात्र संहिताओं, नारद भक्ति सूत्र, शांडिल्य–भक्तिसूत्र तथा अन्य काव्यों और नाटक ग्रन्थों का प्रभाव पड़ा है। रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ, मध्व, विष्णु स्वामी और चैतन्य आदि आचार्यों ने जिन सिद्धान्तों को प्रदिपादित किया वे सगुण काव्य के दार्शनिक मेरुदण्ड हैं। भक्तिकाल की रागानुमा भक्ति में दक्षिण के आलवार सन्तों का महत्वपूर्ण योगदान है।

9. भक्ति क्षेत्र में जाति–भेद की अमान्यता – सगुण भक्ति कवियों तथा आचार्यों ने भक्ति के क्षेत्र में जाति–पांति का बन्धन स्वीकार नहीं किया। यद्यपि कर्म–क्षेत्र में इन सबने वर्णाश्रम व्यवस्था पर बल दिया है, परन्तु भगवद्भक्ति

क्षेत्र में किसी के शूद्र होने के नाते उसे भक्ति के अधिकार से वंचित नहीं किया। सगुण भक्ति–साहित्य में भक्ति क्षेत्र में कबीर का निम्नांकित कथन मान्य रहा –

जाति–पांति पूछे नहि कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।

10. **लोक जीवन –** कृष्णकाव्य और राम काव्य में अपने–अपने दृष्टिकोणों के अनुसार लोक–जीवन का सम्यक् चित्रण हुआ है। अष्टछाप के कवियों में भारतीय ग्राम्य जीवन का मनोरम अंकन है। कृष्ण की बाल लीलाओं का सन्निवेश जिस प्राकृतिक परिवेश और दृश्यों में हुआ है, उसकी भावना द्वारा मन में विलक्षण आनन्द का संचार होता है। अष्टछाप में तत्कालीन भारतीय जीवन की एक सुन्दर सांस्कृतिक झाँकी प्रस्तुत की गई है। तुलसी के राम असत् से संघर्ष करते हुए सत् का उद्धार करते हैं। वे अपने व्रत के लिए नाना कष्टों को सहते हैं। उनमें हम उस प्रयत्न को देखते हैं जिसके कारण लोक सत्ता विकीर्ण न होने पाये। धर्मोद्वार, पाप नाश, साधुरक्षण, दुष्टदलन तथा भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए भगवान युग–युग में अवतार लेते हैं। राम और कृष्ण में शील, शक्ति, सौन्दर्य का अमित भण्डार है। वे दोनों असुरनिकन्दन हैं और लीलाकार हैं। यह दूसरी बात है कि इनमें उक्त गुणों का आनुपातिक भेद है। एक मर्यादा पुरुषोत्तम है तो दूसरा ब्रजेश रसेश। भगवान के ये दोनों रूप लोक–संग्रह की दृष्टि से अभिलषणीय एवं अभिनन्दनीय हैं।

12.11. सारांश :

इस अध्याय में हमने सगुण भक्ति के अंतर्गत राम और कृष्ण काव्य की विशेषताओं का विस्तृत अध्ययन तथा सभी सगुण भक्त कवियों का परिचय प्राप्त किया।

12.12. प्रश्नावली :

1. सगुण काव्य के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

2. राममार्गी शाखा की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।

_____

_____

_____

_____

_____

3. कृष्णमार्गी शाखा की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।

4. सगुणमार्गी शाखी की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।

5. कृष्णमार्गी शाखा के प्रमुख कवियों का परिचय दीजिए।

12.13. पठनीय सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – शिव कुमार शर्मा
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – हुकुम चन्द राजपाल
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ० नगेन्द्र

.....

भक्तिकालीन भक्तित्तर साहित्य : सामान्य परिचय

13.0. रूपरेखा

13.1. उद्देश्य

13.2. भूमिका

13.3. भक्तिकालीन भक्तितर साहित्य सामान्य परिचय

13.4. सारांश

13.5. प्रश्नावली

13.6. पठनीय सन्दर्भ ग्रंथ

13.1. उद्देश्य :

भक्तिकाल में सिर्फ निर्गुण और सगुण भक्ति का साहित्य ही नहीं रचा गया अपितु इस काल में अन्य भक्तित्तर साहित्य भी सृजित होता रहा। यह काव्य वीर काव्य, प्रबन्धात्मक काव्य, नीतिकाव्य, अकबरी दरबार का काव्य तथा रीतिकाव्य के रूप में उपलब्ध हुआ। प्रस्तुत अध्याय में इस भक्तित्तर साहित्य के सभी रूपों का विस्तृत अध्ययन किया गया है।

13.2. भूमिका :

भक्तिकालीन साहित्य का अपना विशेष महत्व है। परन्तु भक्तिकाल में ही निर्गुण–सगुण भक्ति के साहित्य सृजन के अतिरिक्त कुछ और साहित्य भी रचा गया। इस साहित्य को ही भक्तित्तर साहित्य कहा जाता है। भक्तिकालीन साहित्य में यह साहित्य भी समान प्रतिष्ठा रखता है।

13.3. भक्तिकालीन भक्तित्तर साहित्य सामान्य परिचय :

भक्तिकाल का साहित्य अपने पूर्ववर्ती तथा परवर्ती कालों के साहित्य से निश्चित रूप से उत्तम है। अनुभूति की गहनता और भाव प्रवणता के क्षेत्र में भी यह साहित्य उत्तम है। यह साहित्य विचारों की उत्तमता, काव्य सम्बन्धी उद्देश्य और दृष्टिकोण की उदारता, कलापक्ष और भावपक्ष की उच्चता, संगीत की आस्वादनीयता, काव्यात्मक रूपों की शैलियों तथा भाषाओं की विविधता, सहज रसनीयता, भारतीय संस्कृति और सभ्यता, लोकमंगल तथा मनोरंजन तथा भाषा

इत्यादि सभी दृष्टियों से सर्वोत्तम है। भक्तिकाल के कवियों को न तो सीकरी से कोई सरोकार है और न ही किसी राजा की प्रशंसा अथवा उसके आग्रह पर साहित्य रचने की दिलचस्पी। यश, धन अथवा पद पाने की अभिलाषा भी इन भक्त कवियों के मन में नहीं थी शायद इसीलिए इस समय का काव्य उत्कृष्ट बन पड़ा है और साहित्य सृजन की दृष्टि से हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग कहलाता है। यह साहित्य गुणवता और परिमाण दोनों दृष्टियों से समृद्ध है। समस्त भारतीय वाङमय में यह एक अपनी कोटि का साहित्य है। इसकी आत्मा भक्ति है, इसका जीवन स्रोत रस है और इस का उद्देश्य सर्वोच्च मानवतावाद की प्रतिष्ठा है। इसमें, हृदय, मन और आत्मा तीनों को तृप्त करने की अपार शक्ति है। तत्कालीन समाज की विसंगतियों, अव्यवस्थाओं तथा कुरीतियों के साथ–साथ जन जीवन के समस्त विषाद, नैराश्य तथा कुंठाओं का विगलन इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है। सदियों पूर्व इस साहित्य में चर्चित समन्वयवादिता, भावनात्मक एकता तथा सांस्कृतिक अभिन्नता अभिनन्दनीय तथा अनुकरणीय है।

भक्ति काव्य का साहित्य निश्चय रूप से अनुपम व विलक्षण है। आदिकाल तथा रीतिकाल का साहित्य इसकी समकक्षता में नहीं ठहर सकते। निर्गुण धारा के सन्त व प्रेमाख्यानक काव्यों तथा सगुण धारा के राम और कृष्ण भक्ति के काव्यों ने इस काल के साहित्य को इतिहास की मूल्यवान सामग्री बना दिया है। भक्तिकाल के साहित्य में वैचारिक क्रान्ति तथा परम्परागत रूढिवादिता पर प्रहार था। सामाजिक स्तर पर भी पाखण्डों, कुरीतियों एवं अन्धविश्वासों का पूरी दृढ़ता से खण्डन किया गया। आचरण की शुचिता तथा सत्यनिष्ठा के कारण इस का प्रभाव समाज के उच्च व निम्न दोनों वर्गों पर समान रूप से पड़ा। इस में धर्म, दर्शन भक्ति और चरित्र–निर्माण के लिए आंतरिक क्षमता थी। इस में ईश्वर की सत्ता और सर्वशक्तिमत्ता में भी अटूट विश्वास प्रकट किया गया। इस युग के कवि अत्यन्त निर्भीक, स्पष्टवादी, साहसी और सत्यवादी थे जिनमें समन्य–दृष्टि का स्वस्थ रूप से विकास हुआ था। कबीर, नानक, दादू, जायसी, सूरदास, तुलसीदास इत्यदि ने जिस रूप में अपने विचार व्यक्त किये उनका आधार कोई एक विचारधारा या मतवाद नहीं है। इस साहित्य में पांडित्य अथवा शास्त्र–वचनों को प्रमाण नहीं माना गया बल्कि उसके स्थान पर मानव को ही परम्परागत रुढ शास्त्र परम्परा एवं सामाजिक परम्परागत परम्पराओं से मुक्त किया गया। सन्तों, सूफियों तथा सगुण साधकों के अपने साहित्य में कीर्तन, भजन तथा नाम स्मरण के समान रूप से महत्व दिया। कबीर ने नाम के महत्व को अनेकत्र स्वीकार किया, जायसी ने स्मरण की महिमा की महत्ता व्यक्त करते हुए कहा, ''सुमिरों आदि इक करतारु जेहि जिउ दीन्हे कीन्ह संसारु'', तुलसी का कहना है, ''अलखहिं का लखे, रामनाथ जप नीच'' तथा सूर की सगुणात्मक प्रेमा भक्ति में भी कीर्तन, जप एवं स्मरण को पूरा महत्व मिला है।

इस युग का साहित्य भक्त कवियों द्वारा सुसज्जित होने के कारण अपने 'भक्तिकाल' नाम के प्रतिपाद्य को भी स्पष्ट करने वाला है। इसमें कोई संशय नहीं है कि भक्तिकाल का साहित्य बहुत ही समृद्ध है तथा यह भी ठीक है कि भक्त होने के कारण इस युग के कवियों की मूल प्ररेणा का स्रोत भक्ति–भाव ही था क्योंकि इनके अनुसार भक्ति ही भक्त को भगवान के महत् रूप से जोड़ कर भगवत्स्वरूप बनाती है, भक्ति का आश्रय प्राप्त करते ही वह निर्भय, निष्पाप और निर्विघ्न हो जाता है, अपनी अंतर्निहित महत्ता का साक्षात्कार भी सहज ही कर लेता है। इसलिए भक्तिकालीन साहित्य में भक्त कवियों ने विभिन्न रूपों में अपनी भक्ति–भावना को व्यक्त किया है। इनमें दास्य, दाम्पत्य अथवा सखा भाव की भक्ति–भावना प्रमुख है। इस साहित्य की सभी शाखाओं अर्थात सन्त, प्रेम, राम तथा कृष्ण धारा के साहित्य में ईश्वराराधन के लिए भक्ति पर समान बल दिया गया है यद्यपि कबीर के ईश्वर निराकार हैं और वे ज्ञानग्मय हैं किन्तु भक्ति के बिना उसकी प्राप्ति नहीं होती। भक्ति ज्ञान का प्रमुख साधन है। इसीलिए कबीर ने कहा, ''हरि भक्ति जाने बिना बूड़ि भुआ संसार।'' जायसी ने शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत इन चारों साधनों को भगवद् भक्ति के लिए आवश्यक बताया तथा राम एवं कृष्ण साहित्य में वैधी तथा प्रेमा भक्ति का विशद चित्रण मिलता है। इसलिए स्पष्ट

रूप से कहा जा सकता है कि इस काल में भक्तिपरक रचनाओं की ही प्रधानता रही है परन्तु इसके साथ–साथ ही भक्तिकाल में निर्गुण–सगुण भक्ति के साहित्य सृजन के अतिरिक्त अन्य भक्तित्तर साहित्य भी सृजित होता रहा इसे भक्तित्तर साहित्य इसलिए कहा गया क्योंकि इसमें भक्तिकाल की मुख्य प्रवृत्ति भक्ति की अपेक्षा अन्य प्रवृतियों का चित्रण हुआ। जिन्हें भक्तिकालीन निर्गुण–सगुण साहित्य की प्रमुख प्रवृतियों की अपेक्षा इसकी कुछ गौण काव्य–प्रवृत्तियाँ के रूप में लक्षित किया जाता है। परन्तु भक्तिकालीन साहित्य में भक्तित्तर साहित्य के रूप में जिनका महत्व उपेक्षित नहीं किया जा सकता। इसका सृजन करने वाले कवि भी मुख्यतः भक्तिकाल के ही हैं। जिनमें से कुछ रीतिकालीन भी कहलाए। भक्ति साहित्य का सृजन करना तो उनकी प्रमुख विशेषता है परन्तु इसके साथ–साथ इन्होंने समाज की अन्य चितवृतियों का अंकन भी अपने साहित्य में किया है। यह सत्य है कि समाज की विभिन्न परिस्थितियों का प्रभाव उसके साहित्य पर अवश्य पड़ता है इसलिए तत्कालीन समाज में जो भक्ति की लहर चल रही थी उसका प्रभाव तो इस काल के साहित्य में दृष्टिगोचर होता ही है। इसके साथ–साथ कवियों ने वीरता, नीतिपरक, रीतिपूर्ण तथा अन्य प्रवृतियों के साहित्य का सृजन भी इस काल में किया। जोकि भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य में गुण और परिमाण की दृष्टि से पर्याप्त प्रतिष्ठा रखता है। भक्ति के साथ–साथ अन्य अनुभूतियां की भी समान अभिव्यक्ति के लिए ही वस्तुतः इस साहित्य का सृजन हुआ होगा। भक्तित्तर साहित्य सृजन के लिए जो सम्भावनाएं और वातावरण उपलब्ध था उसके हिसाब से इसके महत्व को स्वीकार करना न्यायपूर्ण और उचित है। भक्तिकालीन साहित्य के इतिहास में यथेष्ट रूप से भक्तित्तर साहित्य के जो रूप उपलब्ध होते हैं वह हैं वीर काव्य, प्रबन्धात्मक काव्य, नीतिकाव्य, अकबरी दरबार का काव्य तथा रीतिकाव्य जिनका परिचय इस प्रकार है –

वीर काव्य

धार्मिक काव्य की प्रमुखता के कारण भक्तिकाल में वीरकाव्य–धारा अपेक्षाकृत कृश हो गयी, फिर भी उसका नैरन्तर्य चलता रहा। वैसे तो 'रामचरितमानस', 'रामचन्द्रिका' जैसी प्रसिद्ध रचनाओं में भी वीर रस का प्रसंगवश समावेश हुआ है, किन्तु आदिकाल की भांति इस युग में वीर काव्यों की स्वतन्त्र रचना भी हुई यहां उन्हीं का अध्ययन अपेक्षित है। ऐसे काव्य प्रायः राजाश्रय में लिखे गये। इनमें प्रमुखतः आश्रयदाताओं की यशोगाथा, युद्ध–सज्जा, अतिशयोक्तिपूर्ण विरुदावली, दान एवं शौर्य सम्बन्धी स्तुति, शत्रु के उपहास, युद्धों की भयानकता आदि को स्थान प्राप्त हुआ है। इस काल में वीरकाव्य की रचना करने वाले प्रमुख कवि निम्नलिखित हैं **श्रीधर, नल्हसिंह, राउ जैतसी रासोकार, दुरसा जी आढा, दयाराम (दयाल) कुम्भकर्ण, न्यामत खां जान।**

1. **श्रीधर** कवि श्रीधर ने ईडर के राजा रणमल्ल राठौर के आश्रय में रहकर 1400 ई. के लगभग 'रणमल्ल' छन्द की रचना की थी। सम्प्रति इस काव्य के 70 छन्द उपलब्ध हैं, जो डॉ. दशरथ शर्मा द्वारा सम्पादित 'रास और रासान्वयी काव्य' में संकलित हैं। रणमल्ल ने 1390 ई. में पाटण के सूबेदार जंफर खां को युद्ध में पराजित किया था। 'रणमल्ल–छन्द' की भाषा–शैली ओजपूर्ण है और इसमें वीर रस का सुन्दर परिपाक मिलता है।

2. नल्हसिंह द्वारा रचित **विजयपाल रासो** प्रसिद्ध तो है, किन्तु इसका रचना काल संदिग्ध है। मिश्रबन्धुओं के अनुसार इसकी रचना 1298 ई. में हुई थी, किन्तु परवर्ती विद्वान् इसका रचना–काल 1543 ई. मानते हैं। इस काव्य के केवल 42 छन्द ही उपलब्ध हैं। इसमें विजयगढ़ (करौली राज्य) के राजा विजयपाल और पंग राजा के युद्ध का वर्णन है। इसकी भाषा पर उत्तरकालीन भाषा–प्रभाव पड़ते रहे हैं, अतः जब तक इनकी पूर्ण और प्रामाणिक प्रति न मिल जाये तब तक इसके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत सन्दर्भ में तीसरी उल्लेखनीय कृति है।

3. 'राउ जैतसी रासो' जिसके रचयिता और रचना–काल के विषय में कोई सूचना उपलब्ध नहीं है। इसमें बीकानेर–नरेश राव जैतसी तथा सम्राट हुमायूं के भाई कामरान के युद्ध का वर्णन है, जिसमें राव जैतसी की विजय हुई थी। यह घटना 1543 ई. के लगभग की है, अतः इस ग्रन्थ का रचना काल भी इसी के आसपास माना जाता है। डिंगल भाषा में रचित प्रस्तुत कृति में सानुप्रासिक शब्दावली का प्रयोग हुआ है। इसमें दोहा, मोतियदाम और छप्पय नामक छन्द प्रयुक्त हैं, और कुल छन्द संख्या 90 हैं। इस धारा के चौथे उल्लेखनीय कवि हैं –

4. दुरसाजी आढ़ा– इनका जन्म मारवाड़ के घूंदला गांव में एक निर्धन चारण–कुल में 1535 ई. में हुआ था। ये डिंगल भाषा के बड़े प्रतिभावान् कवि थे। अकबर के अतिरिक्त बीकानेर, जयपुर तथा सिरोही के राजवंशों की ओर से भी इनका सम्मान हुआ था। इनकी रचनाओं में 'विरुद छिहत्तरी' सर्वप्रसिद्ध है। इसमें महाराणा प्रताप का यशोगान हुआ है। इसकी रचना दोहा छन्द में हुई है और शैलीगत उद्‌बोधन की दृष्टि से यह रचना अप्रतिम है।

5. दयाराम – भक्तिकाल के एक अन्य वीरगाथाकार **दयाराम (अथवा दयाल कवि)** ने सीसोदिया वंश के राणा कर्णसिंह के आश्रम में रहकर 1618 ई. के लगभग 'राणा रासो' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें सीसोदिया कुल के प्रमुख राजाओंकुम्भा, उदयसिंह, प्रतापसिंह और अमरसिंह के युद्धों और वीरतापूर्ण क्रिया–कलापों का वर्णन है। डिंगल भाषा में रचित इस कृति में 875 छन्द हैं और भाषा–प्रवाह के साथ छन्द–वैविध्य की ओर भी कवि का ध्यान रहा है।

6. कुम्भकर्ण – कृत 'रत्न रासो' में रतलाम के महाराज रतनसिंह का प्रशस्ति–वर्णन है। इसकी रचना अनुमानतः 1618–1627 ई. के मध्य हुई थी। इसकी रचना प्रवाहपूर्ण डिंगल भाषा में हुई है। इस धारा की अन्तिम उल्लेखनीय कृति 'क्याम खां रासो' (1634) है।

7. न्यामत खां जान – जिसके फतेहपुर (शेखावटी) के शासक अलिफ खां के पुत्र थे। इस ग्रन्थ में क्याम खां चौहान तथा उनके वंशजों के युद्धादि का वर्णन है। क्याम खां के वंश में अलिफ खां अधिक प्रसिद्ध हुए थे। इन्हीं का प्रमुख वर्णन इस ग्रन्थ में मिलता है। इस वंश के पूर्वजों ने धर्म–परिवर्तन करने पर भी अपनी 'चौहान' पदवी नहीं बदली। इसी प्रकार इस वंश के राजाओं में क्षत्रियों की संस्कृति भी अक्षुण्ण बनी रही। यह ग्रन्थ ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। वर्णन–शैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ इतिवृत्तात्मक है और ब्रजभाषा का सरल स्वरूप इसकी अन्य उल्लेखनीय विशेषता है।

प्रबन्धात्मक चरितकाव्य

भक्तिकाल में **सधारु अग्रवाल, शालिभट्ट सूरि, गौतमरासकार, जाखू मणियार, देवप्रभ**और **पद्‌मनाभ** ने कुछ ऐसे चरितमूलक प्रबन्धकाव्यों की रचना की थी, जो या तो आदिकाल के जैन–काव्य की परम्परा में विचरित हैं या पौराणिक सन्दर्भ विशेष पर आधारित हैं अथवा जैन–काव्य–प्रवृत्तियों एवं रासो–काव्य–शैली की मध्यवर्ती कड़ी के रूप में ध्यान आकृष्ट करते हैं। प्रथम वर्ग की रचनाओं में **सधास अग्रवाल** का 'प्रद्युम्नचरित' (1354) ब्रजभाषा के आद्यवधि प्राप्त ग्रन्थों में सबसे प्राचीन माना गया है। इसमें चौबीस तीर्थंकरों की वन्दना के पश्चात् प्रद्युम्न की कथा का वर्णन किया गया है नारद का सत्यभामा पर क्रोध, कृष्ण–रुक्मिणी का विवाह, प्रद्युम्न का दैत्य द्वारा अपहरण, शिला के नीचे कालसंवर को उसकी प्राप्ति प्रद्युम्न के लिए रुक्मिणी का विलाप, जितेन्द्र पद्‌मनाभ के पास नारद का गमन, प्रद्युम्न द्वारा कालसंवर के शत्रुओं का विनाश, द्वारका–आगमन, विवाह आदि घटनाएं इस काव्य की विषय–वस्तु का निर्माण करती हैं। अन्त में प्रद्युम्न जिनेन्द्र से दीक्षा लेता है और कठिन तपस्या करके मोक्ष पाता है। इस प्रकार यह काव्य जैन–कथा–ग्रन्थों की श्रेणी में आता है। काव्य–तत्त्व की दृष्टि से इसमें विभिन्न रसों के सरस चित्र मिलते हैं।

प्रद्युम्न–वियोग का एक चित्र देखिये :

नित–नित सीजइ विलखी खरी, काहे दुखी विधाता करी।
इकु धाजइ अरु रोवइ वयण, आंसू बहन न थाके नयण।
की मइ पुरषि बिछोही नारि, की दव घाली वणह मझारि।
की मइ लोग तेल धृत हरउं, पूत सन्ताप कवण गुण परउं।।

शालिभद्र सूरि कृत 'पंचपाण्डवचरितरास' पाण्डवों की पौराणिक कथा पर आधारित जैन–काव्य है इसका प्रणयन ईसा की चौदहवीं शताब्दी के अंत में किया गया था। पन्द्रह सर्गों में विभाजित इस काव्य में पाण्डवों की कथा को अहिंसा पर आधारित रखा गया है। युद्ध और अहिंसा में से अहिंसा का चयन ही कथा का मुख्य लक्ष्य है। इस काव्य की भाषा अपभ्रंश से प्रभावित राजस्थानी हिन्दी है। चौदहवीं शताब्दी के अन्त में किसी **अज्ञात जैन कवि** ने 'गौतमरास' की रचना की थी। इसके रचयिता का नाम कुछ विद्वानों ने भूल से उदयवन्त या विजयभद्र समझ लिया, किन्तु श्री अगरचन्द नाहटा इस मत से सहमत नहीं हैं। जैन तीर्थंकर महावीर के प्रथम गणधर गौतम इस काव्य के चरितनायक हैं। घटना और भाव के समन्वय से युक्त यह एक सरस खण्डकाव्य है, जिसकी भाषा अपभ्रंश–प्रभावित राजस्थानी हिन्दी है।

जैन–काव्य–परम्परा से भिन्न रचनाओं में **जाखू मणियार कृत** 'हरिचन्द पुराण' (1396) ब्रजभाषा की महत्त्वपूर्ण काव्य–कृति है। इसमें राजा हरिश्चन्द्र की पौराणिक कथा का चित्रण है। घटनाओं का नियोजन प्रबन्धकाव्य की शैली में किया गया है तथा समस्त वर्णनों में भावों की मार्मिकता मिलती है। इसकी भाषा पर अपभ्रंश के प्रभाव की एक हल्की झलक शेष है। कथ्य, अभिव्यंजना तथा भाव–गाम्भीर्य की दृष्टि से यह काव्य भक्तिकाल में रचित ब्रजभाषा–काव्य का आरम्भिक निदर्शन कराता है।

चौदहवीं शताब्दी के अन्त में देवप्रभ द्वारा रचित **'कुमारपाल रासो'** भिन्न शैली की रचना है। यह कृति जैन–रास–काव्यों तथा वीर–प्रशस्तिपरक 'रासो' काव्यों की प्रवृत्तियों का समन्वय प्रस्तुत करती है। इसमें राजा कुमारपाल की वीरता, उदारता, अहिंसा–प्रेम तथा नैतिकता–प्रचार का वर्णन है। एक ओर तो यह काव्य जैन धर्म की प्रवृत्तियों का काव्य की सरस भाव–भूमि पर अप्रत्यक्ष रूप में प्रसार करता है और दूसरी ओर राजा के व्यक्तित्व तथा लोकमंगलकारी प्रभाव को भी व्यापक बनाता है। समस्त रचना में धार्मिकता कहीं पर भी उभर कर काव्य की सरसता में बाधक नहीं बनी। कुमारपाल के राज्य का तपोवनानुकूल प्रभाव काव्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इसकी भाषा सरल राजस्थानी हिन्दी है। इसी प्रकार की एक रचना **'कान्हड़ दे प्रबन्ध'** है, जिसे **पद्मनाभ** ने ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में लिखा था। इसकी रचना–पद्धति रासो–काव्यों की शैली से भिन्न है। इसमें **महाराजा कान्हड़ दे का** चरित वर्णित है। कवि ने आलंकारिक शैली में घटनाओं का सुनियोजित चित्रण किया है। सभी वर्णनों में काव्य–कला का पूर्ण विकास पाया जाता है। पद्य के साथ इसमें गद्य का प्रयोग भी मिलता है।

नीति–काव्य

भक्तिकाल में नीतिकाव्य के तीन रूप प्राप्त होते हैं–(अ) कबीर, नानक, दादू आदि सन्तों की रचनाओं में नीति सम्बन्धी पद धर्मोपदेशों के अंग–रूप में कहे गये थे (आ) 'रामचरितमानस', 'पद्मावत' प्रभृति प्रबन्धकाव्यों में यत्र–तत्र नीति सम्बन्धी उपदेश कथा–क्रम में आनुषंगिक रूप में मिलते हैं, (इ) कुछ कवि ऐसे भी हैं जिन्होंने नीतिकाव्य की ही रचना की है। यहां इनमें से तृतीय वर्ग के कवियों का विवेचन अभीष्ट है। इस वर्ग के प्रमुख कवि जैन मतावलम्बी हैं;

यद्यपि छीहल, रत्नावली, जमाल प्रभृति अनेक अन्य कवियों ने भी नीतिकाव्य की रचना की है। इस धारा की प्रथम उल्लेखनीय रचना जैन कवि **पद्मनाभ** की 'डूंगर–बावनी' (1486) है, जिसका नामकरण कवि ने अपने आश्रयदाता डूंगर सेठ के नाम पर किया है। इसमें 53 छप्पय हैं जिनमें दया, दान, कर्म–फल, नम्रता आदि में ही जीवन–साफल्य माना गया है तथा सप्त व्यसन (जुआ, मांस–भक्षण, सुखपान, वेश्यागमन, आखेट, चोरी, परनारी–रमण) से बचने का परामर्श दिया गया है। जैन कवि **ठाकुर सी** (रचनाकाल 1523–1526) की रचनाओं–कृपण–चरित्र और पंचेन्द्रीवेलि–की हस्तलिखित प्रतियां बम्बई के दिगम्बर मन्दिर और जयपुर के वधीचन्द मन्दिर में सुरक्षित हैं। 'कृष्ण–चरित्र' में एक कृपण सेठ और उसकी उदार पत्नी की कथा है तथा 'पंचेन्द्रीवेलि' में इन्द्रिय–निग्रह सम्बन्धी छप्पय हैं जिनमें गज, मीन, भ्रमर, पतंग, मृग आदि के माध्यम से स्पर्श, रस, रूप, गन्ध आदि से बचने के सुझाव हैं। कवित्व की दृष्टि से ये दोनों कृतियां साधारण स्तर की हैं।

अग्रवाल कुल में समुत्पन्न **छीहल** कवि की 'छीहल बावनी' (1527) भक्तिकालीन नीतिकाव्यों में विशेष प्रसिद्ध हैं। इसमें 53 छप्पय हैं, जिनमें अनेक व्यावहारिक विषयों पर सुन्दर कथन मिलते हैं। वैसे इन्होंने 'पंच सहेली की बात', 'पंथी गीत' आदि कुछ अन्य कृतियों की भी रचना की है। इनके समकालीनों में गोस्वामी तुलसीदास की पत्नी **रत्नावली** ने भी उद्‌बोधनात्मक नीतिकाव्य की रचना की है। इन्हीं के प्रभाव से गोस्वामी तुलसीदास विरक्त होकर चले गये थे। 'रत्नावली–दोहा–संग्रह' में 111 दोहे हैं, जिनमें विविध विषयों का प्रतिपादन हुआ है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

घी को घट है कामिनी, पुरुष तपत अंगार।
रत्नावलि घी अगिन को, उचित न संग विचार।।

सोलहवीं शती के मध्य में विद्यमान कवि **देवीदास** कृत 'राजनीति के कवित्त' की हस्तलिखित प्रति नागरीप्रचारिणी सभा, काशी में सुरक्षित है। ये शेखावटी के राव लूणकरण के मन्त्री थे और जाति के वैश्य थे। इनके कवित्तों की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। विषय–प्रतिपादन की दृष्टि से भी इनके कवित्त सुन्दर बन पड़े हैं उनमें राजनीति के अतिरिक्त अन्य सामान्य विषयों का भी प्रभावशाली निरूपण मिलता है। इनके समकालिक कवि जमाल की गणना भी राजस्थान के लोकप्रिय नीतिकारों में की जाती है। 1570 ई. के लगभग रचित 'जमाल दोहावली' के कुछ दोहे पठनीय हैं :

रंगभज चोल मजीठ का, संत बचन प्रतिपाल।
पाहण रेख रुभकरम गत, ए किमि मिटे जमाल।।
पूनम चांद कुसुं रंग, नदी–तीर द्रुम–डाल।
रेत भीत भुस लीपणो, ए थिर नहीं जमाल।।

बीकानेर नरेश महाराज राजसिंह के राजकवि **उदैराज** की 'उदैराज को दूहा' (1603) और 'गुणबावनी' शीर्षक रचनाएं बीकानेर के अभय जैन ग्रन्थालय में सुरक्षित हैं। इनकी भाषा राजस्थानी है तथा इन्होंने नीति सम्बन्धी विविध विषयों का अनूठा कथन किया है। इनके समसामयिक कवि **बांन** का 'कलिचरित्र' अनूप पुस्तकालय, बीकानेर में हस्तलिखित रूप में उपलब्ध है। ये मथुरा–निवासी रमई पाठक के पुत्र थे और महाराज महासिंह के यहां प्रतिष्ठित थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ में जहांगीर की प्रशंसा भी की है। 'कलिचरित्र' में 45 पद्य हैं, जिनमें प्रवाहपूर्ण ब्रजभाषा तथा हास्यरसपूर्ण व्यंग्यात्मक शैली में कलिकाल की विडम्बनाओं का वर्णन किया गया है। इस अवधि के अन्य कवियों में दादूदयाल के शिष्य **वाजिद** भी प्रसिद्ध नीतिकार हुए हैं। एक बार ये शिकार के लिए गये थे। वहीं पर हिरणी का शिकार करते हुए इनमें विराग–भाव जगा और ये साधु हो गये। इनकी पूरी 'वाणी' प्राप्त नहीं होती, केवल 14 ग्रन्थों का उल्लेख मिलता

है, जिनमें प्रमुख हैं–ग्रन्थ गुण उत्पत्तिनामा, ग्रन्थ प्रेमनामा, ग्रन्थ गरजनामा, साखी वाजिद। इन्होंने दोहा, चौपाई और अरिल्ल छन्दों का प्रयोग किया है तथा इनकी रचनाओं में दया, दान, साधु–संगति, इन्द्रिय–निग्रह, मनोयोग आदि विषयों की प्रधानता मिलती है।

भक्तिकालीन नीतिकवियों में जैन कवि **बनारसीदास** का मुख्य स्थान है। इनका जन्म 1586 ई. में जौनपुर में हुआ था। ये सम्राट अकबर के प्रशंसक थे, जहांगीर के दरबार में भी गये थे और शाहजहां के दरबार में तो इन्हें विशेष मान प्राप्त था। 'नवरस पद्यावलि', 'समयसार नाटक', 'बनारसी विलास', 'अर्द्ध कथानक', 'भाषा सूक्तिमुक्तावली' आदि इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इनमें कंचन और कामिनी के त्याग तथा सत्य, क्षमा, शील, अपरिग्रह, नम्रता, निर्लोभ, अहिंसा आदि गुणों के निर्वाह पर बल दिया गया है। नीतिकाव्य के साथ ही इन्होंने अध्यात्मपरक काव्य की भी रचना की है। ये समस्त प्राणियों में एक ही परमेश्वर का अंश मानते थे, अतः हिन्दू–मुसलमान, हिन्दू–जैन, ब्राह्मण–शूद्र आदि में भेद इन्हें स्वीकार नहीं था। इनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :

माया छाया एक है, घटै बढ़ै छिन मांहिं
इनकी संगत जे लगें, तिनहिं कहीं सुख नाहिं।।
एक रूप हिन्दू तुरुक, दूजी दशा न कोय।
मन की द्विविधा मान कर, भए एक सौं दोय।।

जैन नीतिकारों में **राजसमुद्र** और **कुशलबीर** भी उल्लेखनीय हैं। **राजसमुद्र** का जन्म 1590 ई. में बीकानेर में हुआ था। इनका बचपन का नाम खेतसी था, 1599 ई. में जिनसिंह सूरि से दीक्षा लेने पर इनका नाम राजसमुद्र हो गया। इनकी रचनाओं का मुख्य विषय नीति है और भाषा राजस्थानी है। 'शालिभद्र चौपाई', 'गजसुकमाल चौपाई', 'प्रश्नोत्तर रत्नमाला', 'कर्मबत्तीसी', 'शीलबत्तीसी' और 'बालावबोध' इनकी प्रमुख रचनाएं हैं। **कुशलबीर** सोजत नगर के निवासी थे। ये कल्याणलाभ के शिष्य थे और इनका रचना–काल 1637 से 1672 ई. है। इनके नीति–ग्रन्थ है भोज चौपाई, सीलवती रास, कर्म चौपाई, वर्णन संपुट तथा उद्दिम–कर्म–संवाद। इनकी भाषा राजस्थानी है और शैली उपदेशात्मक है।

अकबरी दरबार का काव्य

सम्राट अकबर को हिन्दी भाषा से अनुराग था। राजभाषा यद्यपि फारसी थी, तथापि नित्य के व्यवहार में हिन्दी ही प्रयुक्त होती थी। वे न केवल हिन्दी–कवियों का अपने दरबार में सम्मान करते थे, वरन् स्वयं भी हिन्दी और फारसी में काव्य–रचना करते थे। अकबरी दरबार में जिन हिन्दी–कवियों को विशेष सम्मान प्राप्त था, वे हैं चतुर्भुजदास, आसकरण, पृथ्वीराज, मनोहर, टोडरमल, नरहरि, बीरबल 'ब्रह्म', गंग, तानसेन और रहीम। **चतुर्भुजदास** विद्वान और विद्यानुरागी थे तथा बीरबल के माध्यम से अकबरी दरबार में सम्मानित हुए थे। बाद में ये राधावल्लभ–सम्प्रदाय में दीक्षित हुए और जीवनपर्यन्त वृन्दावन में रहे। 'द्वादश यश' (1503) इनकी कृष्ण–भक्ति सम्बन्धी प्रसिद्ध रचना है। राजा **आसकरण** नरवरगढ़ के राजा भीमसिंह के पुत्र थे। 'आईने अकबरी' में इनका उल्लेख हुआ है। कालान्तर में ये गुसाईं विट्ठलनाथ जी के सेवक हो गये और सेवा–विधि सीखकर कृष्ण–लीला–गान में निरत रहने लगे। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' और 'कीर्तन–संग्रह' में इनके पद मिलते हैं। **कवि पृथ्वीराज** बीकानेर राज्य के संस्थापक राव बीका जी के वंशज थे। इनका जन्म 1549 ई. में हुआ था। ये दर्शन ज्योतिष और संगीत के ज्ञाता तथा अच्छे कवि थे। 'वेलि क्रिसन रुक्मिणी री पृथीराज कथी', 'श्यामलता', 'दशरथ रावउत', 'वसुदेव रावउत' और 'गंगालहरी' के अतिरिक्त इनके

स्फुट गीत भी उपलब्ध हैं। 'वेलि क्रिसन रुक्मिणी री' भक्ति–शृंगार का अनुपम ग्रन्थ है। इसकी भाषा सरस और अलंकृत डिंगल है। कवि पृथ्वीराज जी वल्लभ–सम्प्रदाय में दीक्षित थे। इनके हृदय में भगवान् कृष्ण और ब्रजभूमि के प्रति बड़ी आस्था थी। राजभक्ति, देशभक्ति और ईश्वरभक्ति तीनों इनमें विद्यमान थीं। ये कृष्णभक्त तो थे ही, अकबर के प्रति इनमें राजभक्ति थी और देशभक्ति के कारण ये महाराणा प्रतापसिंह के प्रति अपार श्रद्धा–भाव रखते थे। अकबर के दरबारी कवि होते हुए भी इन्होंने महाराणा प्रताप का यशोगान किया है यथाः

अकबर समद अथाह, सूरापण भरियो सजल।
मेवाड़ो तिण मांह, पोयण फूल प्रतापसी।।
बाही राण प्रतापसी, बगतर में बच्छीह।
जावण भीतर जाल में मुंह काढ़यो मच्छीह।।

मनोहर कवि फारसी, संस्कृत और हिन्दी में काव्य–रचना करते थे। मिश्रबन्धुओं ने इसका रचना–काल 1563 ई. माना है। ये युवावस्था में अकबरी दरबार में थे और वृद्धावस्था में जहांगीरी दरबार में। अकबर ने इन्हें 'राय' की उपाधि दी थी। इनके द्वारा रचित 'शत प्रश्नोत्तरी' ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। इसमें नीति और शृंगार के दोहे थे। इनके काव्य–गुणों की प्रशंसा शिवसिंह सेंगर, मिश्रबन्धु तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने की है। फारसी के कवि होने के कारण इनकी भाषा और काव्य–कला में फारसी का पुट हुआ करता था। अकबरी दरबार में भूमिकर–विभाग के मन्त्री **राजा टोडरमल** भी काव्यानुरागी थे। नीति सम्बन्धी उपदेशों के अतिरिक्त इन्होंने कुछ छन्दों में आत्माभिव्यक्ति भी की है। हुंडी, व्यापारी, आढ़तिया, साहूकार, सरांफा और बहीखाता–जैसे विषयों पर भी इन्होंने दोहे लिखे थे।

महापात्र **नरहरि** (1505–1607) अकबर के राजकवि थे। ये संस्कृत, फारसी और हिन्दी के विद्वान थे। 'मिश्रबन्धु–विनोद' में इनके तीन ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है–रुक्मिणी मंगल, छप्पय–नीति और कवित्त–संग्रह। वर्ण्य विषय की दृष्टि से इन्होंने भक्ति, नीति और राजप्रशस्तिपरक रचनाएं लिखी हैं। इन्होंने वैष्णव और शैव सम्प्रदायों के भेद–भाव से विरत रहकर दोनों के प्रति समान श्रद्धा रखी है। साथ ही इन्होंने कृष्णभक्ति सम्बन्धी पद भी लिखे हैं। नीति सम्बन्धी तथ्यों का प्रतिपादन भी इनकी उल्लेखनीय प्रवृत्ति है। हुमायूं, अकबर, रीवा–नरेश वीरभान, उनके पुत्र रामचन्द्र, शेरशाह और जगन्नाथपुरी के राजा मुकुन्ददेव की प्रशस्ति में भी इन्होंने कवित्त–रचना की है। इन कविताओं में ऐतिहासिक तथ्यों का उद्घाटन तो है, किन्तु अन्य गुणों की दृष्टि से ये साधारण हैं।

बीरबल 'ब्रह्म' (1528–1583) सम्राट् अकबर के दरबार में विनोदी और कवि के रूप में समादृत थे। इनका मूल नाम महेशदास भट्ट था और ये तिकवांपुर, जिला कानपुर में उत्पन्न हुए थे। 'राजा बीरबल' उपाधि इन्हें अकबर से प्राप्त हुई थी। अकबरी दरबार में आने से पूर्व ये कालपी, कालिंजर और रीवा के राजाओं के यहां रह चुके थे। अकबर ने इनको नगरकोट (जिला कांगड़ा) की तहसील दी थी और न्यायधीश भी बनाया था। कविताओं से अधिक इनके चुटकले लोकप्रिय हैं, किन्तु ये इनके द्वारा रचित नहीं हैं। इनके लगभग दो सौ स्फुट पद्य प्राप्त होते हैं जिनमें शृंगारप्रधान कृष्ण–लीलाओं, भक्ति और नीति का समावेश है। इनकी भाषा सरस और अनुप्रासयुक्त है।

अकबरी दरबार के कवियों में **गंग** (1538–1617) का विशेष सम्मान था। इनका पूरा नाम गंगाप्रसाद था। इनके छन्दों में जिस कोटि का काव्य–चमत्कार, वाग्वैदग्ध्य और भाषा–सौष्ठव मिलता है, उसके फलस्वरूप इनके विषय में यह कथन प्रसिद्ध है : ''तुलसी गंग दुऔभ ये सुकश्नि के सरदार।'' ये बीरबल के बालसखा थे। आगे चलकर ये मानसिंह, टोडरमल और अब्दुल रहीम खानखाना के सम्पर्क में आये। अकबर के दरबार में कविगण समस्यापूर्ति करते थे। गंग की रचनाएं विशेष सम्मानित होती थीं। कहा जाता है कि रहीम ने इनके एक छप्पय पर छत्तीस लाख रुपये

पारितोषिक में दिये थे। गंग स्वयं भी दानी थे। दैववश वृद्धावस्था में जहांगीर के शासन–काल में इनकी आर्थिक स्थिति दयनीय हो गयी। उन दिनों शासन नूरजहां के हाथ में था। गंग ने शहज़ादा खुर्रम (भावी शाहजहां) की प्रशंसा में छ़न्द लिखा। यह जानकर नूरजहां इनकी जानी दुश्मन बन गयी और अवसर पाकर उसने इन्हें हाथी से कुचलवा डाला। मरने से पूर्व गंग ने यह दोहा कहा :

कबहुं न भड़ुआ रन चढ़ै, कबहुं न बाजी बंब।
सरस समाहि प्रनाम करि, विदा होत कवि गंग।।

गंग की तीन रचनाएं प्रसिद्ध हैं गंग पदावली, गंग पच्चीसी और गंग रत्नावली। ये कृतियां सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं हैं। अभी तक इनके प्रायः 400 छन्द उपलब्ध हुए हैं, जो 'गंग–कवित' शीर्षक से प्रकाशित हुए हैं। इनमें मुख्य रूप से श्रृंगार और भक्ति को तथा गौण रूप से नीति और राज–प्रशस्ति को स्थान प्राप्त हुआ है।

अकबरी दरबार के कवियों में संगीतज्ञ **तानसेन** (1531–1583) विशेष गणनीय हैं। इनका जन्म ग्वालियर–निवासी मकरन्द पाण्डे के यहां हुआ था और इनका बचपन का नाम 'तन्नू' था। पहले ये रीवा–नरेश रामचन्द्र के दरबार में थे। मुसलमान होने पर ये प्रसिद्ध सूफी गौस मुहम्मद के शिष्य हुए। किंवदन्ती के अनुसार इन्होंने किसी शहज़ादी के प्रेम के कारण धर्म–परिवर्तन किया था। मुसलमान होने के उपरान्त भी ये गोसाईं विट्ठलनाथ, सूरदास, हरिदास और गोविन्द स्वामी के प्रभाव में रहकर वैष्णव भक्त बने रहे। 'मिश्रबन्धु–विनोद' के अनुसार इन्होंने 'संगीत सार', 'रागमाला' और 'गणेशस्तोत्र' की रचना की थी। इनके स्फुट पद भी प्राप्त हैं। आरम्भ में इन्होंने रीवा–नरेश रामचन्द्र, अकबर और मानसिंह का यशोगान किया था, पर इनका परवर्ती काव्य भक्त–हृदय की अनुभूतियों से सम्पन्न है। ईश्वर की व्यापकता; अल्लाह और मुहम्मद का गुणगान; सरस्वती, गणेश, महादेव और सूर्य की स्तुति तथा मनःप्रबोध इनके प्रमुख वर्ण्य विषय हैं। वल्लभ–सम्प्रदाय के सम्पर्क में आने पर ये पूर्ण कृष्णभक्त हो गये। इन्होंने कृष्ण की बाललीला, मुरलीलीला, राधा के रूप–सौन्दर्य, गोपी–विरह आदि का मार्मिक वर्णन किया है। इनकी ब्रजभाषा में फारसी–शब्द भी प्रयुक्त हैं। भाषा आलंकारिक, सरस और संगीतमयी है। तानसेन ध्रुपद शैली के श्रेष्ठ गायक थे, फलस्वरूप इनके पदों में काव्य और संगीत की गंगा–यमुना का प्रवाह मिलता है।

अकबरी दरबार के कवियों में **रहीम** (1556–1638) का मूर्द्धन्य स्थान है। ये बैरम खां खानंखाना के पुत्र थे और इनकी मां हुमायूं की पत्नी की छोटी बहन थीं। अल्पायु में ही पिता की मृत्यु हो जाने के कारण अकबर ने ही इनका पालन–पोषण और शिक्षा–दीक्षा अपनी देखरेख में करवायी थी। बड़े होने पर पहले इन्हें पाटन की जागीर दी गयी और फिर अजमेर की सूबेदारी और रणथम्भौर का किला दिया गया। अंकबर ने इन्हें अपने नवरत्नों में स्थान दिया था। जहांगीर के शासन–काल में भी इनका सम्मान बना रहा किन्तु अन्तिम दिनों में शहजादा खुर्रम का समर्थन करने के कारण इन्हें नूराहां का कोपभाजन बनना पड़ा। वह अपने दामाद शहजादा शहरयार को भावी शासक बनाने का स्वप्न देख रही थी। उसके आदेश से इन्हें कैद कर लिया गया। बाद में जहांगीर ने इन्हें क्षमा कर दिया। फिर भी, इनके जीवन के अन्तिम दिन कुशलता के साथ व्यतीत नहीं हुए।

रहीम अरबी, फारसी और संस्कृत के अच्छे ज्ञाता और हिन्दी के सुकवि थे। इन्होंने ग्यारह वर्ष की अवस्था में ही काव्य–रचना आरम्भ कर दी थी। इनकी रचनाओं में दोहावली, नगरशोभा, बरवै नायिकाभेद और मदनाष्टक प्रमुख हैं। कहा जाता है कि इन्होंने सतसई की रचना की थी, किन्तु सम्प्रति इनके नीति सम्बन्धी प्रायः तीन सौ दोहे ही मिलते हैं। एक अनुमान के अनुसार कदाचित् इन्होंने श्रृंगार रस के दोहे भी लिखे होंगे, जिनके योग से

'सतसई' बनती। जो भी हो, इनके नीति सम्बन्धी दोहे सर्वप्रसिद्ध हैं और उनमें जीवन की विविध अनुभूतियों का मार्मिक चित्रण हुआ है।

रीति काव्य

इस काल के अन्तिम चरण में कविता का प्रवेश राजदरबारों में भी दृष्टिगत होता है, जहां इसे साहित्य से ऊपर उठकर कला के रूप में ग्रहण किया गया। अतएव अब कवियों का कर्म कविता करने की अपेक्षा आश्रयदाताओं और उनके सामन्तों आदि के लिए अभिव्यक्ति के सौन्दर्यवर्द्धक उपकरणों का ज्ञान उपलब्ध कराना अधिक आवश्यक हो गया; जिससे कि वे लोग दरबारों में होने वाली काव्य–गोष्ठियों में पढ़ी जाने वाली कविताओं के गुण–दोषों की चर्चा कर अपने काव्यकला ज्ञान का अथवा कतिपय छन्दों की रचना कर अपनी सहृदयता का, परिचय दे सकें।

रीति–निरूपण की प्रवृत्ति यद्यपि भक्ति के प्रखर प्रवाह की तुलना में अत्यन्त क्षीण रही भक्ति की पूरक होकर ही आविर्भूत हुई और उसके सहारे से ही आगे बढ़ती रही, तथापि शनैः–शनै राजदरबारों में प्रवेश करते ही यह भक्ति के अवलम्बन को छोड़कर स्वतन्त्र प्रवृत्ति का रूप धारण कर उत्तरोत्तर पुष्ट होती गयी। रीतिकाल में इसी का पुष्ट रूप दृष्टिगत होता है। यहां हम भक्तिकाल के कतिपय कवियों के रीति–निरूपण–कर्म की चर्चा करते हैं, जिससे सहज ही इस प्रवृत्ति के विकास का आभास मिल सकेगा।

कृपाराम : हिन्दी–रीति–परम्परा के आदि आचार्यों में कृपाराम का नाम सम्मान के साथ लिया जाता है। इनके विषय में, सिवाय इसके कि इन्होंने 1541 ई. में 'हिततरंगिनी' नामक ग्रन्थ लिखा था, और कोई भी तथ्य उपलब्ध नहीं है। कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि ये ओड़छा में रहने वाले पंजाबी वैष्णव ब्राह्मण रहे होंगे, किन्तु इसकी पुष्टि के लिए सबल प्रमाणों की अपेक्षा है। 'हिततरंगिनी' कुल मिलाकर 400 छन्दों का ग्रन्थ है तथा पांच तरंगों में विभक्त हैं। प्रथम तरंग में शृंगार के आलम्बन नायिका और नायक के विभिन्न भेदोपभेदों का उल्लेखमात्र है। द्वितीय तरंग में सखी और उसके कर्मों तथा दूती, उसके उत्तमादि भेदों एवं कर्मों के उपरांत स्वकीया के सामान्य भेदों का लक्षण उदाहरण–सहित निरूपण है जबकि तृतीय और चतुर्थ तरंगों में क्रमशः परकीया और सामान्या के भेदों का वर्णन किया गया है। अन्तिम तरंग में व्यवहार के आधार पर उत्तमादि का तथा मान और गर्व के आधार पर क्रमशः धीरादि और रूपगर्वितादि भेदों के उपरान्त अवस्थानुसार दश नायिकाओं का वर्णन किया गया है।

सूरदास : कृपाराम के बाद इस काल के दूसरे महत्त्वपूर्ण रीतिकवि सूरदास कहे जा सकते हैं। इन्होंने कृपाराम अथवा अपने परवर्तियों के समान लक्षणों की रचना न कर सीधे लक्ष्य–पदों की रचना द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से यह प्रमाणित कर दिया है कि इस युग में भी रीतिकाल के समान रीतिबद्ध काव्य की रचना हुई। इनके 'सूरसागर' के अनेक पद जहां नायिका भेद और शृंगार रस की सामग्री के शास्त्रीय परिवेश में लिखे हुए प्रतीत होते हैं, वहां इनकी 'साहित्यलहरी' के पद इन विषयों के अतिरिक्त विविध अलंकारों के उदाहरणों के रूप में प्रत्यक्ष रूप से लिखे हुए कहे जा सकते हैं। रस–सामग्री और अलंकार के साथ–साथ निरूपण की शैली का सर्वप्रथम प्रयोग इसी ग्रन्थ में हुआ है रीति काल में याकूब खां और राय शिवप्रसाद ने अपने 'रसभूषण' नामक ग्रन्थों की इस प्रकार की संक्षेप शैली के लिए इसी से संकेत ग्रहण किया होगा। अन्तर केवल इतना ही है कि इनमें जहां विवेच्य रस–सामग्री और अलंकार के लक्षण भी लक्षणपरक छन्दों में एक साथ तथा कठिन स्थलों की गद्य में व्याख्या करके विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, वहां इसमें पद के अन्तिम चरण में उनके नाम–निर्देश के द्वारा अपने कर्म की इतिश्री समझ ली गयी है। वैसे, इतना अवश्य है कि लक्षणों के न होते हुए भी निर्दिष्ट रसांग और अलंकार विशेष का इसमें अन्वेषण किया जा सकता है। लक्षणों के न होने के कारण यह पता लगाना कठिन है कि सूर पर किसका प्रभाव रहा है पर अलंकारों के विवेचन–क्रम को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानन्द' में गृहीत एतद्विषयक क्रम को ही

इसका आधार बनाया गया है। कवित्व की दृष्टि से यदि इस ग्रन्थ की परीक्षा की जाये, तो कहना होगा कि दृष्टकूट–शैली का प्रयोग होने के कारण यह चित्रकाव्य की कोटि की रचना है। किन्तु, संस्कृत की तत्सम शब्दावली का प्रयोग करते हुए भी कवि ने ब्रजभाषा के सहज माधुर्य तथा शृंगार और भक्ति का जिस सफलता के साथ सहज निर्वाह किया है, वह निश्चय ही इसके रचयिता की प्रतिभा और भाषा पर उसके सहज अधिकार का परिचायक है।

नन्ददास : हिन्दी–साहित्य के अन्तर्गत नन्ददास यद्यपि भक्त कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं, तथापि इस काल में रीति–निरूपण की जो धारा कृपाराम से आरम्भ हुई थी उसको आगे बढ़ाने वालों में इनका महत्त्व भी असन्दिग्ध है। रीति–निरूपण सम्बन्धी इनके एकमात्र ग्रन्थ 'रसमंजरी' की रचना 155. ई. के आसपास हुई थी। इसमें दोहा–चौपाई की शैली में नायक नायिकाओं तथा भाव, हाव, हेला और रतिभाव का परिचय दिया गया है। भानुदत्त की 'रसमंजरी' के आधार पर इसमें स्वकीया और परकीया के भेदोपभेदों तथा आवश्कतानुसार नायिकाओं के नौ भेदों के साथ धृष्ट, शठ, दक्षिण और अनुकूल नामक नायक के चार भेदों एवं हावादिक के स्वरूप को समझाया गया है सामान्य का मात्र उल्लेख किया गया है तथा शेष विषयों को छोड़ दिया है, अतएव विवेचन–क्षेत्र और मौलिकता की दृष्टि से इसका कोई महत्त्व नहीं है। इसकी विशेषता इसी बात में निहित है कि लक्षण–उदाहरणों का चक्कर छोड़कर विभिन्न नायिकाओं के गुण, स्वभाव, चेष्टा आदि के द्वारा उनके स्वरूप को सहज बोधगम्य बना दिया गया है

केशवदास : भक्तिकाल के इतर रीति–निरूपकों की तुलना में व्यापक विवेचन–क्षेत्र को ग्रहण करते हुए प्रखर पाण्डित्य, आचार्यत्व के गाम्भीर्य, स्वतन्त्र चिन्तन एवं असाधारण प्रतिभा द्वारा परवर्ती कवियों को प्रभावित करने तथा उनसे उचित सम्मान प्राप्त करने के कारण आचार्य केशव 'रीतिकाल का प्रर्वतक' कहलाने के सहज अधिकारी कहे जा सकते हैं। इनके विषय में ज्ञातव्य है कि ये राजा प्रतापरुद्र के आश्रित सनाढ्य ब्राह्मण पं. कृष्णदत्त के पौत्र और राजा मधुकरशाह से सम्मानित पं. काशीनाथ मिश्र के पुत्र थे तथा ओरछा–नरेश महाराज इन्द्रजीत सिंह इन्हें अपने गुरु के रूप में सम्मान देते थे इन्द्रजीत के बड़े भाई महाराज रामसिंह इन्हें मन्त्री और मित्र के रूप में मानते थे। विद्वानों का अनुमान है कि इनका जन्म 1560 ई. के आसपास और मृत्यु 1601 ई. के लगभग हुई थी। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ हैं–रसिकप्रिया (1591), रामचन्द्रिका (16.1), कविप्रिया (16.1), रतन बावनी (16.7 ई. के लगभग), वीरसिंहदेवचरित (16. 7), विज्ञानगीता (1610), जहांगीर जसचन्द्रिका (1612), नखशिख और छन्दमाला। इनमें 'रसिकप्रिया', 'कविप्रिया' और 'छन्दमाला' रीतिग्रन्थ हैं, जिनमें क्रमशः नवरस, अलंकारों और छन्दों का निरूपण किया गया है। 'रामचन्द्रिका' में राम–कथा का प्रबन्धात्मक वर्णन है; 'रतनबावनी', 'वीरसिंहदेवचरित' और 'जहांगीरजसचन्द्रिका' आश्रयदाताओं की प्रशस्तिविषयक हैं; 'विज्ञानगीता' में प्रतीक–शैली में आध्यात्मिक विषय को प्रस्तुत किया गया है तथा 'नखशिख' में परम्परागत उपमानों की सहायता से राधा के विभिन्न अंगों का वर्णन हुआ है।

रहीम : हिन्दी में केशव के बाद रीति–निरूपण–कर्म में रीतिकाल के अनेक कवियों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने के बाद अब्दुर्रहीम ख़ानंखाना को भक्तिकाल और रीतिकाल को जोड़ने वाले कवियों की श्रेणी में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जा सकता है। रीतिकवि के रूप में इनकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं'नायिकाभेद' और 'नगरशोभा'। नायिकाभेद में नायक–नायिकाभेद का तथा 'नगरशोभा' में विभिन्न वर्णों के अनुसार विभिन्न नायिकाओं का वर्णन किया गया है। 'नायिकाभेद' की रचना भानुदत्त की 'रसमंजरी' के आधार पर की गयी है और इसमें नायक–नायिका के अतिरिक्त सखी और उसके कर्मों तथा चतुर्विध दर्शन का वर्णन बरवै छन्द में किया गया है। इस ग्रन्थ में एक–दो लक्षणापरक छन्दों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें संकलित जो बरवै छन्द आज मिलते हैं, वे मूल ग्रन्थ के उदाहरणमात्र हैं लक्षणपरक छन्दों में से अधिकांश लुप्त हो गये हैं। जो हो, इस ग्रन्थ के आधार पर यह सहज ही कहा जा सकता है कि ग्रन्थकार ने अत्यन्त मनोयोग के साथ अपने विषय का विवेचन किया है। मौलिकता की दृष्टि से इसका भले ही

महत्त्व न हो, किन्तु स्वच्छ, सुबोध, सरस एवं संक्षिप्त विवेचन की दृष्टि से यह अपने–आप में अद्वितीय रचना है। अवधी भाषा में लिखे गये रीति–निरूपण सम्बन्धी ग्रन्थों में सम्भवतः यह प्रथम है।

सुन्दर कविराय : लक्षण–उदाहरण की रीति–निरूपण–शैली में शृंगार रस को रसराज मानकर उसके आलम्बन नायक–नायिकाभेद का विशेष तथा इतर अंगों का सामान्य विवेचन कर सुन्दर कविराय ने इस युग के केशव, सेनापति आदि रीतिकारों और रीतिकाल के इन विषयों के विवेचक कवियों के बीच की कड़ी को जोड़ने का कार्य किया है। ये जाति के ब्राह्मण और ग्वालियर के रहने वाले थे तथा इन्हें शाहजहां का आश्रय प्राप्त था। 'सुन्दर शृंगार' (1631) इनका नायक–नायिकाभेद और शृंगार–रस–निरूपण सम्बन्धी प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इनके साथ ही इसमें सखी–कर्म और दूती–भेद, नायक–भेद और नर्मसचिव, दर्शन–भेद, संयोग शृंगार और हाव–भाव, विप्रलम्भ शृंगार और दश कामदशाओं तथा उद्दीपन विभावों का वर्णन किया गया है। लक्षण सामान्यतः दोहों में हैं और उदाहरण कवित, सवैया, दोहा आदि छन्दों में। विवेचन का आधार मुख्य रूप से भानुदत्त की 'रसमंजरी' प्रतीत होती है–अन्तर केवल इतना ही है कि नायिकाभेद में मध्या के अतिविश्रब्ध नवोढ़ा, परकीया के कन्यका तथा नायक के प्रोषितपति और प्रोषितवैशिक भेदों को जहां इन्होंने स्वीकार नहीं किया है, वहां रूप और प्रेम के आधार पर मानी नायक के दो उपभेदों की उद्भावना की है तथा कामशास्त्र के आधार पर पद्मिनी आदि चार प्रकार की नायिकाओं का सन्निवेश केशव के समान किया है। कहने का अभिप्राय यह है कि मौलिकता की दृष्टि से इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व नहीं है, पर सुबोध लक्षणों और तदनुरूप उदाहरणों ने इसे अत्यन्त उपयोगी बना दिया है। इसके अतिरिक्त भाव, भाषा आदि की दृष्टि से भी यह अपने–आपमें पर्याप्त कवित्वपूर्ण है स्वच्छ, गम्भीर भावों की प्रसादगुण–सम्पन्न स्वच्छ भाषा में अभिव्यक्ति से इनकी कविता सामान्यतः सरस बन गयी है।

न्यामत खां जान : केशव और चिन्तामणि के बीच विविधांग–निरूपण–शृंखला की कड़ी के रूप में न्यामत खां जान का नाम भी लिया जा सकता है। अधिकांशतः प्रेममार्गी ग्रन्थों की रचना करने के कारण ये यद्यपि मुख्य रूप से प्रेममार्गी कवि के रूप में ही प्रसिद्ध हैं, तथापि काव्यांग–निरूपण सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना में मनोयोग प्रदर्शित करने के कारण इन्हें भक्तिकाल के अन्तिम चरण के उन रीतिनिरूपकों की श्रेणी में भी सहज ही परिगणित किया जा सकता है जिन्होंने रीतिनिरूपण की प्रवृत्ति के प्रसार के लिए उपयुक्त वातावरण उपस्थित किया। सम्प्रति इनके रीतिनिरूपण सम्बन्धी चार ग्रन्थरसकोश (1619), कविवल्लभ (1647), सिंगारतिलक (1652) तथा रसमंजरी (1652) ही उपलब्ध हैं। इनमें 'रसकोश' जहां नवरस और नायक–नायिकाभेद–विवेचन सम्बन्धी हैं, वहां 'कविवल्लभ' में दोष, गुण, अलंकार और छन्द का विवेचन किया गया है शेष दो क्रमशः रुद्रभट्ट के 'शृंगारतिलक' और भानुदत्त की 'रसमंजरी' के अनुवाद हैं। इन ग्रन्थों में इन्होंने यद्यपि अपने विवेचन के आधार को स्पष्ट नहीं किया, तथापि लक्षणों को देखने से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि ग्रन्थकार ने भानुदत्त, रुद्रभट्ट और दण्डी के ग्रन्थों का आश्रय ग्रहण किया है छन्दोविवेचन के लिए 'प्राकृतपैंगलम्' और भट्ट केदार के 'वृत्तरत्नाकर' जैसे प्रचलित आधार–ग्रन्थों के स्थान पर ब्रजभाषा के किसी छन्दोविवेचन विषयक ग्रन्थ को आधार बनाया गया है।

अन्य रीतिकार : रीति निरूपण में प्रत्यक्ष रूप में भाग लेने वाले कवियों के साथ ही भक्तिकाल के अन्त में कुछ ऐसे कवि भी हुए जिन्होंने रीति–प्रभावित काव्य की रचना कर रीतिकाल के लिए उस क्षेत्र में भी पृष्ठभूमि का निर्माण किया। इनमें प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं बलभद्र मिश्र और मुबारक। ओरछा–निवासी कवि बलभद्र (रचना काल=1580 ई.) हिन्दी के ख्यातनामा कवि केशवदास के अग्रज थे। इनके द्वारा लिखित पांच ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है शिखनख बलभद्री व्याकरण, गोवर्द्धन सतसई टीका, हनुमन्नाटक तथा दूषण विचार। इस समय इनमें से प्रथम कृति ही उपलब्ध है।

इसमें नायिका की अंग–छवि का नखशिख–पर्यन्त स्वच्छ आलंकारिक वर्णन मिलता है। रूप–वर्णन में तन्मयता के साथ ही कवि ने भाषा पर अपने अधिकार का भी असन्दिग्ध प्रमाण दिया है। इनके परवर्ती कवियों में **मोहनलाल मिश्र** (रचना काल=1589 ई.) के 'शृंगारसागर' का भी उल्लेख किया जाता है, किन्तु यह कृति सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। **मुबारक** (रचना काल=1623 ई.) की 'तिल शतक' और 'अलक शतक' नखशिख–वर्णन सम्बन्धी संक्षिप्त कृतियां हैं जिनमें उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के माध्यम से सरस कल्पनामूलक रूप–चित्रण मिलता है। भक्तिकालीन रीतिकाव्य में ये अपने ढंग की एकमात्र कृतियां हैं जिन्हें निर्विवाद रूप से भक्तिर साहित्य की श्रेणी में रखा जा सकता है।

13.4. सारांश :

इस अध्याय में हमने भक्तिकालीन भक्तित्तर साहित्य के सभी रूपों का तथा उन्हें रचने वाले मुख्य कवियों का परिचय प्राप्त किया।

13.5. प्रश्नावली :

1. भक्तिकालीन भक्तित्तर साहित्य का परिचय दीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

2. नीति काव्य का सामान्य परिचय दीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

3. अकबरी दरबार के काव्य पर प्रकाश डालिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

13.6. पठनीय सन्दर्भ ग्रंथ

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – शिव कुमार शर्मा
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ० नगेन्द्र

.....

[redacted]

14.0. रूपरेखा

14.1. उद्देश्य

14.2. भूमिका

14.3. रीतिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

14.4. सारांश

14.5. प्रश्नावली

14.6. पठनीय संदर्भ ग्रन्थ

14.1. उद्देश्य :

प्रस्तुत अध्याय में रीतिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला गया है। इस पाठ का उद्देश्य विद्यार्थियों को रीतिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ–साथ उसकी तत्कालीन परिस्थितियों से परिचित करवाना भी है। इसलिए इस पाठ में रीतिकाल की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, कलात्मक तथा साहित्यिक परिस्थितियों का भी अध्ययन किया गया है।

14.2. भूमिका :

संस्कृत साहित्य में 'रीति' शब्द का विशेष महत्व है और हिन्दी साहित्य में 'रीति' शब्द का प्रयोग 'लक्षणों के साथ अथवा अकेले उनके आधार पर लिखे गये काव्य के रूप में होता है। रीतिकालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के पीछे ऐसे बहुत से तथ्य है जो रीति शब्द की विभिन्न व्याख्याओं से उत्पन्न हुए हैं। जिनका विस्तृत अध्ययन इस अध्याय में किया गया है साथ ही उन परिस्थितियों का वर्णन भी इस अध्याय में है जो इस काल में विद्यमान थी।

14.3.रीतिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

'रीति' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम आचार्य वामन (9वीं शती) ने संस्कृत काव्य शास्त्र में किया। उनके अनुसार 'विशिष्टा पद–रचना' रीति है। उन्होंने इसे काव्य की आत्मा स्वीकार कर इसके तीन भेद माने – वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली। आचार्य

भामह ने माना कि यह गौड़ी प्रवृति है, या यह वैदर्भी है, ऐसा सोचना–समझना या करना एकदम ठीक नही। उनकी बात का अनुकरण करते हुए आचार्य दण्डी ने भी अपने 'काव्यादर्श' में स्वीकार किया कि वाणी के तो अनेक मार्ग हैं और उनमें सूक्ष्म भेद भी हैं फिर रचनाकार के लिए बंधन और क्यों ? उसकी इच्छा है चाहे वह जैसा और जिस तरह लिखे। आचार्य दण्डी ने गौड़ीय और वैदर्भीय मार्गों के लिए श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थ अभिव्यक्ति, उदारता, ओज, कांति और समाधि नाम से दस गुणों को ग्रहण करने की आवश्यकता बतलाते हुए वैदर्भ मार्ग के लिए तो यही दस गुण निर्धारित किए और इनके उलट अर्थात इनका अभाव गौड़िय मार्ग के लिए स्थिर कर दिया। इससे स्पष्ट हो गया कि प्रत्येक रचनाकार की लेखन–रीति व्यक्तिगत होती है और वह सदा रहेगी भी। आचार्य दण्डी ने 'रीति' शब्द का अर्थ एक विशेष शैली ही ग्रहण किया। आचार्य वामन ने इस दो मार्गों (शैलियों) में एक नाम पांचाली और जोड़ दिया और तीन प्रकार की शैलियाँ स्वीकृत कीं। इन तीन शैलियों के लिए विशेष गुण भी स्थिर कर दिए।

यह भी मान्य हुआ कि वैदर्भी रीति सर्वगुणसम्पन्ना है और रचनाकार के लिए वैदर्भी रीति ही अधिकतर श्रेष्ठ है, क्योंकि गौड़ी और पांचाली में गुण अल्पमात्रा में हैं।

इन सब को स्वीकार कर लेने के बाद जिस सिद्धांत को आचार्य भामह ने स्वीकार किया वह यह था कि रचनाकार स्वतन्त्र है और वह चाहे किसी भी रीति को स्वीकार करे तथा आचार्य दण्डी के सिद्धान्त के अनुसार इन गुणों की आवश्यकता को प्रत्येक रीति के लिए उचित ठहरा कर, फिर से रचनाकार के लिए किसी एक शैली को अपनाने पर बल दिया लेकिन इतना अवश्य कह दिया कि जो रीति सर्वगुण सम्पन्न हो, उसे अपनाना अधिक अच्छा है। आचार्य रुद्रट ने एक अन्य रीति का नाम अपनी और से जोड़कर तीन से चार रीतियाँ स्वीकार कर डालीं। वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली के साथ उन्होंने 'लाटिया' एक नई रीति मानने का आग्रह किया। इस तरह लाटिया भी अस्तित्व में आ गई। आचार्य रूद्रट ने 'रीति' को शब्दालंकार अनुप्रास के अंतर्गत ही माना है लेकिन साथ ही आचार्य भामह की तरह भौगोलिक सीमाओं से मुक्त स्वीकार करते हुए इन रीतियों का सम्बन्ध विशेष–विशेष रसों से अवश्य मानने का परामर्श दिया है। वक्रोक्ति जीवितम् के लेखक आचार्य कुंतक ने 'रीति' को एकदम शैली के समीप लाने का प्रयास करते हुए यह स्पष्ट किया कि 'रीति' का सम्बन्ध देश–भेद से नहीं अपितु कवि स्वभाव से है, क्योंकि किसी भी रचनाकार को अपनी बात कहने के लिए कोई न कोई ढंग अपनाना ही पड़ेगा। फिर चाहे वह ढंग सीधे–सीधे शब्दों में कहने का हो या समास प्रधान हो अथवा व्याख्या प्रधान हो। आचार्य मम्मट ने 'रीति' को वृत्ति शब्द से व्यवहृत किया है। उन्होंने उपनागरिका, पुरषा और कोमल; यह भिन्न नाम देकर भी रीति में ही गणना की है। आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' ग्रन्थ में इसी वृति (रीति) को पद–संघटना मानते हुए रस आदि को उपकारक बताया है। इस प्रकार संस्कृत साहित्य में एक तरह की विशिष्ट पदरचना के अर्थ में 'रीति' शब्द को ग्रहण किया गया और फिर उसमें अपने–अपने विचार और तर्क देकर उसे शैली के रूप में भी अपना लिया गया। परन्तु आगे चलकर आनन्दवर्धन के समय में ध्वनि–संप्रदाय की काव्य जगत में विशेष प्रतिष्ठा हुई। काव्य के अन्य संप्रदायों–अलंकार, वक्रोक्ति – के समान रीति–सम्प्रदाय की महत्ता भी नष्ट हो गई। अब 'रीति' रस की उपकारक मात्र ही रह गई। हिन्दी में रीति शब्द का अर्थ विद्यापति के समय से एक अन्य अर्थ में होने लगा, वह है काव्य रचना–पद्धति तथा उसका निदर्शक शास्त्र। रीतिकालीन, आचार्य कवियों ने इसी अर्थ में पंथ शब्द का भी प्रयोग किया है। रीतिकाल में इस अर्थ में अन्य भी बहुत से शब्द प्रयुक्त हुए जैसे कवित्त–रीति, कवि–रीति, काव्य–रीति, छन्द–रीति, अलंकार–रीति, मुक्तक रीति, वर्णन–रीति, कविपंथ और कविता–पंथ। अतः रीतिकाल तक आते–आते रीति शब्द का अर्थ रस, अलंकार, शब्द–शक्ति, छन्द आदि काव्यांगों का निरूपण ही रह गया और वामन द्वारा गृहीत अर्थ से इसका व्यापक रूप हो गया। अतः रीति कवि या रीति ग्रन्थ में प्रयुक्त 'रीति' शब्द का सम्बन्ध काव्य–शास्त्र से समझना चाहिए। निः सन्देह संस्कृत साहित्य में रीति–शब्द

का व्यवहार विशिष्ट पद–रचना के अर्थ में हुआ है परन्तु जब हम हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत रीति शब्द का व्यवहार करते हैं, तब हमारा तात्पर्य इस प्रकार की विशिष्ट पद रचना से नहीं होता वरन उर्पयुक्त सभी काव्य–सिद्धान्तों के आधार पर काव्य–अंगों के लक्षण–सहित या उनके आधार पर लिखे गये उदाहरणों के आधार पर होता है। अतः हिन्दी में रीति–काव्य का अपना एक विशिष्ट अर्थ है – लक्षणों के साथ अथवा अकेले उनके आधार पर लिखा गया काव्य।

आधुनिक काल में आलोचकों ने 'रीति' को रचना–विशिष्ट पद्धति के रूप में आत्मसात कर विवेचित किया है। अतः रीति का अर्थ संस्कृत से कुछ अधिक विस्तृत और अपनी कुछ अधिक सीमा में हिन्दी में प्रयुक्त है। हिन्दी में केवल विशेष पदरचना ही नहीं अपितु इसके साथ–साथ शब्द शक्ति, अलंकार, रस, ध्वनि आदि सभी सिद्धांतों को भी रीति के अन्तर्गत ही स्वीकार किया गया। हिन्दी में रीति का अर्थ काव्यशास्त्र से सम्बन्धित माना गया अर्थात्–रस, अलंकार आदि काव्य के सिद्धान्तों के आधार पर काव्य अंगों का लक्षणों सहित अथवा उन लक्षणों के आधार पर लिखे गए उदाहरण के रूप में काव्यशास्त्र या काव्य की रचना।

इस काल के साहित्य के लिए रीति शब्द का प्रयोग आचार्य शुक्ल का कोई नवीन आविष्कार नहीं है, परन्तु उसके कवि ने ही इसी अर्थ में 'रीति' शब्द का प्रयोग कर दिया था 'मिश्र बन्धु विनोद' में भी रीति शब्द की इसी अर्थ में व्याख्या की गई है। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल की इतनी देन अवश्य स्वीकारणीय है कि उनके पूर्व रीति शब्द का स्वरूप निश्चित और व्यवस्थित नहीं था। ऐसे ग्रन्थों में जिनमें रीति–कथन तो नहीं था, परन्तु रीति बन्ध अवश्य था, आचार्य शुक्ल ने उन्हें भी रीति के अन्तर्गत परिगणित किया। शुक्ल जी का मन्तव्य था कि जिसने लक्षण–ग्रन्थ रचा हो केवल वह ही रीति कवि नहीं है, बल्कि जिसका काव्य के प्रति दृष्टिकोण रीतिबद्ध हो वह भी रीति कवि है।

इस प्रकार 'रीति' शब्द का विस्तारपूर्वक विवेचन करने के पश्चात यह जानना आवश्यक है कि 'रीति' शब्द पर आधारित इस काल में 'रीति' का क्या अर्थ है तथा इस काल का नाम रीतिकाल क्यों रखा गया। वस्तुतः 'रीति' का सामान्य अर्थ है – कोई नियम, रिवाज, ढंग या पद्धति या किसी भी कार्य को करने का ढंग ही रीति है। साहित्य के क्षेत्र में भी कुछ ऐसे ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें कविता लिखने का ढंग बताया गया है– इन ग्रन्थों को 'काव्य शास्त्र' कहते हैं। काव्य शास्त्र में काव्य या साहित्य के नियमों और पद्धतियों का विवेचन होता है। इस काल के कवियों ने कविता लिखते समय काव्यशास्त्र के नियमों को ध्यान में रखा है – इतना ही नहीं, बहुत से कवियों ने तो अपनी कविता में उनका उल्लेख और वर्णन भी किया है। वस्तुतः इस काल में काव्य–शास्त्र के नियमों, पद्धतियों या रीतियों का अधिक प्रयोग होने के कारण ही इसे 'रीतिकाल' नाम दिया गया है। यह शुक्ल द्वारा अभिहित है। जिन्होंने हिन्दी साहित्य के मध्यकाल का विस्तार स. 1375 –1900 वि. तक माना है तथा इसे पुनः दो खण्ड़ों में विभाजित किया है। पूर्व मध्यकाल अर्थात भक्तिकाल (स. 1375 से 1700 वि.) और उत्तर मध्यकाल अर्थात रीतिकाल (स. 1700 से 1900 वि.)

साहित्य में किसी प्रवृति का न तो आविर्भाव है न पूर्णतः तिरोभाव। उसमें एक प्रवृत्ति प्रारम्भ होती है, उसका उत्थान होता है फिर धीरे–धीरे अवसान। जैसे सम्पूर्ण मध्यकाल की साहित्यिक प्रवृति भक्ति और शृंगारपरक रही है। वस्तुतः पहले भक्ति प्रमुख थी और शृंगार गौण, बाद में शृंगार प्रमुख हो गया और भक्ति गौण। उत्तर मध्यकाल अर्थात रीतिकाल का साहित्य हिन्दी साहित्य में एक नवीन प्रकार का साहित्य है। वैसे कोई भी साहित्यिक प्रवृत्ति अचानक जन्म लेकर पुष्ट नहीं हो जाती इसके लिए अनुकूल परिस्थितियों और पुष्ट परम्परा का होना अनिवार्य है। रीतिकाल में रीतिकाव्य के लिए अनुकूल परिस्थितियां तो थीं ही–इसके लिए अपेक्षित आधार–रूप परम्पराओं को भी संस्कृत के काव्यशास्त्र और साहित्य की दीर्घ सारणि में देखा जा सकता है। भक्तिकाल में पारलौकिकता की प्रधानता रही, जबकि रीतिकाल के साहित्य में परलोक तथा मोक्षादि की चिन्ता नहीं है। इस काल की कविता में भावुकता, कलात्मकता और

शृंगार भावना का समन्वय हुआ। वास्तव में हिन्दी वाङ्मय के इतिहास में रीतिकालीन कवि ने ही काव्य को शुद्ध कला के रूप में ग्रहण किया। इस काल की रचनाओं में काव्य–रचना की रीतियों पर बहुत लिखा गया जो मुगलकाल में अपनी सभी विशेषताओं और दुर्बलताओं के साथ उभरा क्योंकि मुगल शासकों, सामन्तों तथा अन्य राजाओं के आश्रय में इसे अत्यधिक प्रश्रय मिला। रीतिकालीन कविता अपना साध्य स्वयं थी अपने शुद्ध रूप में रीति कविता न तो धार्मिक प्रचार अथवा भक्ति का माध्यम थी और न ही सामाजिक सुधार अथवा राजनीतिक सुधार की प्रचारिका थी। इस काल के साहित्य का अपना महत्व है। इस काल के साहित्य में ऐहिकतामूलक सरस कवित्व है। इस काल के हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का विशेष प्रभाव पड़ा था। पाण्डित्य प्रदर्शन–प्रवृत्ति का भी सभी क्षेत्रों में साम्राज्य स्थापित हो चुका था। साहित्यिक क्षेत्र में भी उसी प्रदर्शन–प्रवृत्ति का बोलबाला रहा। पाण्डित्य–प्रदर्शन की इस प्रवृति के परिणामस्वरूप रीति–साहित्य में कवि कर्म तथा आचार्य कर्म का एक साथ निर्वाह होता रहा। बहुत सारे कवि 'आचार्य' और कवि दोनों बनना चाहते थे और आश्रयदाता राजा की प्रशंसा में अपने पांडित्य का प्रदर्शन करना चाहते थे। रीतिकालीन साहित्य के जीवन तथा काव्य के प्रति इस नवीन दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण डॉ. भगीरथ मिश्र के इन शब्दों से भली–भाँति ''रीति–काव्य की परम्परा ने शुद्ध–काव्य के लिए एक नया मार्ग खोल दिया। इसके बिना प्रबन्ध–काव्यों में या तो इतिहास ग्रन्थ थे और वे राजा महाराजाओं अथवा वीरों की अतिशय गुण–गाथा से ओत–प्रोत थे अथवा वे धार्मिक और आध्यात्मिक ग्रन्थ थे जिनमें धर्म गाथा कही गई। ऐसे ही मुक्तक काव्य नीति–उपदेश भरे अथवा स्तोत्र और कीर्तन के रूपों में ही सीमित था। रीति–परम्परा ने एक नवीन मार्ग कवि–प्रतिभा के विकास के लिए खोल दिया जिसका अवलम्बन करके अपनी प्रवृति और अभिरूचि के अनुसार कुछ भी लिखा जा सकता था। लौकिक जीवन से अनुराग रखने वाले राज्याश्रित कवियों के लिए यह मार्ग विशेष रूप से सहायक हुआ, क्योंकि उन्हें चारण–कवियों के समान केवल यशोगान के स्थान में रीति–पद्धति पर लिख कर आश्रयदाता को चमत्कृत करने तथा रिझाने का अवसर मिला।''

इस काल में रचित काव्य का प्रधान वर्ण्य–विषय (कथ्य) शृंगार ही रहा है भले ही इस काल के कवियों ने लक्षण–ग्रन्थों के रूप में हिन्दी काव्य शास्त्र–परम्परा को पल्लवित किया हो। इन कवियों का मूल उद्देश्य काव्य के अंगों–उपांगों का विवेचन करना भी रहा था अलंकार, शब्द–शक्ति, रस, नायिका–भेद आदि का विवेचन करने में भी इनकी काव्य–प्रतिभा का प्रचुर उपयोग हुआ था। इस काल में लक्षण ग्रन्थों की ही रचना नहीं हुई बल्कि रीतियुक्त स्वतन्त्र काव्य का भी प्रणयन हुआ। इस रीति–परम्परा का अपने युग के लिए ऐतिहासिक महत्व है। हिन्दी के रीतिकाल का साहित्य जनपथ का साहित्य न होकर राजपथ का साहित्य है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश–भाषाओं के साहित्य में यह परम्परा पहले से ही विद्यमान थीं। रीतिकालीन साहित्य में पुरानी परम्परा से हटकर कुछ नवीनता का समावेश हुआ। संस्कृत और प्राकृत आदि भाषाओं के साहित्य में कलात्मक विलासिता थी, किन्तु हिन्दी के रीति–साहित्य में क्रमशः विलासिता का प्राधान्य होने लगा। भक्ति युग के राधा–कृष्ण रीतिकाल में विलासी नायक और नायिका मात्र रह गये। रीतिकालीन कविता सामान्य जन से कट कर राजदरबारों में आ गई। परिणामतः वह अब साहित्य न रहकर गोष्ठी साहित्य हो गई। इस युग के राज दरबारों में विलासिता का वातावरण प्रधान था इसीलिए राजाओं की प्रसन्नता के लिए रचा जाने वाला साहित्य शृंगार एवं विलास से पूर्णतः अविष्ठित है, तथापि भक्ति, नीति, धर्म एवं सामान्य रूपों आदि में काव्य की एक क्षीण धारा भी शृंगार के साथ–साथ बहती रही।

किसी भी काल के भाषा साहित्य के निर्माण में युगीन वातावरण का विशेष योग हुआ करता है क्योंकि युगीन वातावरण राजनीति, समाज, संस्कृति, साहित्य और कला के मूल्यों द्वारा निर्मित होता है। वैसे भी किसी काल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को जानने के लिए उस समय के साहित्य को तत्कालीन बाह्य परिस्थितियों अथवा पृष्ठभूमियों के आलोक में देखना अनिवार्य सा हो जाता है। इस दृष्टि से रीतिकालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक,

कलात्मक और साहित्यिक परिस्थितियों का अध्ययन इस प्रकार है–

14.3.1 राजनीतिक परिस्थिति :– राजनीतिक दृष्टि से रीतिकाल को मुगलों के शासन के वैभव के चरमोत्कर्ष तथा उत्तरोत्तर ह्रास का युग कहा जा सकता है। हिन्दी साहित्य में रीतिकाल स. 1700 से 1900 तक स्वीकार किया जाता है। इस समूचे समय में व्यक्तिवादी, निरंकुश राजतन्त्र का बोलबाला रहा। रीतिकाल के पूर्व सम्राट अकबर ने अपनी सहिष्णुता की नीति के द्वारा हिन्दू तथा मुस्लिम, दोनों जातियों के पारस्परिक सांस्कृतिक समन्वय के द्वारा विशाल मुगल–साम्राज्य की प्रतिष्ठा की। अकबर के पश्चात जहाँगीर जैसा विलासी शासक अपने राज्य के सम्बन्ध में कुछ भी योगदान नहीं दे सका। वह सुरा और सुन्दरी के सेवन में व्यस्त रहा। राज्य से उसका कुछ भी लेना–देना नहीं था फलताः उसकी बेगम नूरजहाँ ही राज्य का सम्पूर्ण कामकाज देखती थी। ऐसे राजा के राज्य में साहित्य सृजन मात्र महफिलों को रंगीन बनाने के लिए ही रचा जाता है। फलतः कुछ ऐसा ही साहित्य रचा जाने लगा। ऐसी राजनीति में बदलाव आया जब जहाँगीर के बाद शाहजहाँ गद्दी पर बैठा। उसमें एक ओर तो धार्मिक सहिष्णुता थी तो दूसरी और सांस्कृतिक कला से प्रेम भी था। उसके काल में देश में कही क्रांति नहीं हुई, युद्ध नहीं हुआ अपितु लोगों की रूचि संगीत साहित्य और कला के प्रति अधिक बढ़ी। शाहजहाँ के शासनकाल में साहित्य के साथ–साथ संगीत और दूसरी कलाओं को भी उन्नत होने का अवसर मिला। यह समय प्रायः सुख–शान्ति तथा समृद्धि का काल था। उसके पश्चात् उस के उत्तराधिकारियों में से औरंगजेब ने षडयंत्र रच कर शासन संभाला। उसने पिता को कैद करवाया तथा दूसरे भाईयों में से दारा को मरवा दिया तथा बाकियों को भागने के लिए विवश कर दिया। उसकी धर्मान्ध, पक्षपातपूर्ण नीति और साम्राज्य–विस्तार–लिप्सा ने देश की शान्ति को भंग कर विद्रोहों और निरन्तर चलने वाले युद्धों को जन्म दे दिया। उसकी अतीव धार्मिक कट्टरता की नीति तथा अमानुषिक व्यवहारों से अनेक देशी नरेश बौखला उठे तथा हिन्दू जनता विक्षुब्ध हो उठी। इसी नीति के परिणामस्वरूप उसे मराठों और सिक्खों से चिरकाल तक लोहा लेना पड़ा। औरंगजेब का व्यक्तित्व रागात्मक तत्त्वों से सर्वथा विहीन था। साहित्य, संगीत, कला, सौन्दर्य के प्रति उसे घोर चिढ़ थी। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात राजनीतिक स्थिति अत्यन्त विकट तथा शोचनीय हो गयी। राजनीति की दृष्टि से इस काल को घोर निराशा और अन्धकार का युग समझना चाहिए। औरंगजेब के उत्तराधिकारी एकदम अयोग्य, असमर्थ एवं विलासी सिद्ध हुए। केन्द्रीय शासन के जीर्ण हो जाने से अनेक प्रदेशों के शासक स्वतन्त्र हो गये। आगरा में जाटों, राजस्थान में राजपूतों तथा पंजाब में बन्दा बैरागी ने बहादुरशाह और फर्रूखसियर को बुरी तरह तंग कर रखा था। बहुत से प्रदेशों के शासक स्वतन्त्र हो कर स्वतः ही सत्ताधारी बन बैठे। ऐसे ही समय का लाभ उठा कर नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली ने आक्रमण करने आरम्भ कर दिए और मुगल साम्राज्य के नाश की रही–सही कसर भी पूरी कर डाली। एक और देश में ऐसी परिस्थिति थी दूसरी और व्यापार के लिए आई ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारी अंग्रेजों ने अपने पंजे फैलाने आरम्भ कर दिए थे और उन्हीं मुगल वंशज, सामन्तों, नवाबों से मित्रता गाँठ कर, उनमें एक दूसरे के प्रति घृणा और विद्वेष फैला कर कुछ रियासतों पर अपना अधिकार जमा लिया। अपनी चतुर व कुटिल नीति की योजना के अनुसार ही अंग्रेजों ने बक्सर के युद्ध में शाहआलम को पराजित करके मुगल साम्राज्य की इति श्री ही कर दी और मुगल वंश के नाम–शेष सम्राट अंग्रेजों के हाथों में कठपुतलियां बनकर रह गये। अंग्रेजी कंपनी सरकार ने जान–बूझकर अपनी योजना के अधीन सामंती नवाबों–अमीरों को खुलकर विलासपूर्ण जीवन बिताने के लिए उकसाया। औरंगजेब ने साहित्य, संगीत, कला और सौन्दर्य के उपयोग के प्रति जो–जो निषेधाज्ञाएँ प्रचलित की थीं, वे सभी एकदम स्वतन्त्र होकर अपने विकृत रूप में सामने आ गई। महलों में सुरा–सुंदरियों के साथ–साथ हिजड़ों की भी भरमार होने लगी। राज्य के शासकों के आश्रित कवियों और कलाकारों ने भी मनमाने ढंग से साहित्य सृजन आरम्भ कर दिया, जिसका उद्देश्य केवल अपने आश्रयदाता को ही प्रसन्न करना रह गया। इसीलिए इस युग को घोर नैतिक

पतन की पराकाष्ठा का काल भी कहा जाता है।

14.3.2 सामाजिक परिस्थिति :– मुगल साम्राज्य के राजनीतिक विघटन ने सामाजिक स्थिति को भी प्रभावित किया था। सामाजिक दृष्टि से यह युग आदि से अंत तक घोर अधः पतन का मानना चाहिए। ''यथा राजा तथा प्रजा'' की उक्ति इस काल पर पूर्णतया चरितार्थ होती है। कुल मिलाकर इस युग को विलास–प्रधान युग कहा जा सकता है। यों तो मुगल वंश के ऐश्वर्य और वैभव में विलासिता की प्रधानता आरम्भ से ही चली आ रही थी फिर भी बाबर, हुमायुँ तथा अकबर ने अपने आपको बहुत कुछ नियंत्रित रखा था। शराब के नशे में चूर रहने वाले तथा नूरजहाँ पर कुर्बान होने वाले जहाँगीर के व्यक्तित्व में विलासिता उग्र रूप में प्रकट हुई। शाहजहाँ की वैभवप्रियता, विलासलिप्सा और प्रदर्शन प्रवृति का तत्कालीन सामन्तीय जीवन पर प्रभाव पड़ा और सामन्तशाही के जितने भी दोष हुआ करते हैं, उनका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव जन सामान्य के जीवन पर पड़ा। अभिजात्य संस्कृति के नाम पर केवल विलास और प्रदर्शन की प्रवृत्ति शेष रह गई। मनोबल की कमी के साथ समाज का बौद्धिक और नैतिक स्तर पर नीचा हो गया। महलों में लगने वाले रूप–बाजारों का प्रभाव जन–सामान्य पर भी पड़ा। फलस्वरूप पौरुष का ह्रास हुआ। मुगल शासकों के साथ–साथ छोटे–मोटे सामन्तों के पास भी रखैलों की भरमार थी। एक पत्नी व्रत का अनादर पहले से ही मुगल शासकों द्वारा हो चुका था। अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ की अनेक पत्नियाँ थीं। उनके महलों में रखैलों और परिचारिकाओं की भी कमी नहीं थी। इस युग में नारी को केवल मनोरंजन और विलास की सामग्री समझा गया। इसीलिए इस युग के कवियों में भी नारी के शारीरिक सौन्दर्य और श्रृंगार भावना के चित्रण की प्रवृति पाई जाती है।

जन–सामान्य में अन्ध–विश्वास तथा रूढ़ियां घर कर गई थीं। ज्योतिषियों की वाणी, शकुन–शास्त्र पर लोगों का अगाध विश्वास था। जनता में विलास की प्रधानता के कारण भक्ति की भावना मन्द पड़ गयी थी। जनता प्रायः अशिक्षित थी। समाज में बाल–विवाह और बहु–विवाह की प्रथाएँ प्रचलित थीं। जनता में नागरिकता का पूर्ण अभाव था। स्वार्थान्ध होकर विलास के साधन इकट्ठे करने की प्रवृत्ति उसमें बढ़ रही थी। प्रशासनिक अव्यवस्थाओं तथा सामन्तों, मनसबदारों तथा जमींदारों के अत्याचारों से श्रमिक और कृषक वर्ग पीड़ित था। जन–साधारण की चिकित्सा, शिक्षा, सम्पत्ति–रक्षा आदि का भी इस काल में कोई प्रबन्ध न था। कला–कौशल और व्यापार को भी शासकों की और से उपेक्षित होने पर हानि पहुँची। इस समय के युग को कई महामारियों का प्रकोप भी सहना पड़ा तथा आर्थिक संकट से भी गुजरना पड़ा। सामाजिक स्थिति के सन्दर्भ में एक तथ्य यह भी उल्लेखनीय है कि इस युग के काव्य में युग का सामाजिक जीवन प्रतिबिम्बित होता हुआ नहीं मिलता। इसका कारण था। दरबारी कवियों की काव्य साधना दरबारी जीवन, उसकी आशा–आकांक्षाओं और रुचियों तक ही सीमित हो कर रह गई थी। वीर रस के कवि अपने आश्रयदाता वीर नरेशों के प्रशस्ति–गायन में डूबे रहते थे। घनानन्द आदि स्वच्छन्द प्रेम–भावना वाले कवि अपनी एकान्त प्रेम साधना में मग्न रहते थे और इस युग के सगुण–निर्गुण ब्रह्म के दोनों रूपों के उपासक भक्त कवियों को अपने आराध्यों से ही फुर्सत नहीं मिलती थी। केवल नीति–काव्य की रचना करने वाले कुछ कवियों के नीति–वाक्यों में सामाजिक जीवन की थोड़ी– सी झलक मिल जाती है, मगर वह भी प्राचीन नीति–वाक्यों का अनुसरण मात्र है। इस प्रकार इस युग का काव्य सामाजिक अर्थ में लोक जीवन से कटा हुआ दिखाई पड़ता है।

14.3.3 साहित्यिक परिस्थिति :– किसी भी काल का साहित्य तत्कालीन परिस्थितयों की उपज हुआ करता है इसलिए रीतिकालीन साहित्य के श्रृंगारिक अथवा रसिकता प्रधान होने का कारण मुगल शासन काल के विलासमयी तथा भोगमयी वातावरण को भी कहा जा सकता है। रीतिकाल का आरम्भ शाहजहाँ के शासन काल के उतरार्ध से होता है। उस युग में प्रदर्शन और अलंकरण की प्रवृतियों की प्रधानता थी। प्रदर्शन–प्रधान रीतिबद्ध काव्य–शैली तथा काव्य

में रसिकता–प्रधान शृंगार की अभिव्यक्ति का बहुत कुछ श्रेय उस युग की उक्त प्रवृतियों को है। देशव्यापी समृद्धि एवं शान्ति शाहजहाँ की रंगीन–मिजाजी, साहित्य और कला की और उसकी रूचि, साहित्य के विकासप्रदायी है। प्रतिभावान कलावन्तों के लिए शाह का दरबार सदा खुला था। इस युग में कलाकारों में भी प्रतियोगिताएँ और प्रतिस्पर्धा की भावनाएँ चलती रहती थीं। सामन्तों की भी यही दशा थी। वह निज गुण–गाण के लिए उत्तम कलाकार की सदा ताक में रहता था।

मुगल दरबार की भाषा फारसी थी। उस समय फारसी में दो शैलियाँ प्रचलित थीं– एक भारतीय–ईरानी शैली और दूसरी शुद्ध ईरानी। प्रथम शैली के प्रतिनिधि लेखक अबुल फजल थे। उनकी शैली में अलंकरण की एकमात्र प्रधानता थी। उस समय फारसी शैली में लैला–मजनूं आदि की रोमानी कहानियाँ थी निबद्ध हो रही थीं, जिनका प्रभाव रीतिकालीन हिन्दी काव्य पर भी स्पष्ट देखा जा सकता है। शाहजहाँ आत्मप्रशंसा सुनने का अत्यन्त प्रेमी था। अतः उसके दरबार में कसीदे (प्रशस्ति–गान) बड़ी शानौशौकत के साथ पढ़े जाते थे। तत्कालीन नवाबों, सामन्तों और छोटे–छोटे नरेशों में भी यह प्रवृत्ति अत्यन्त ज़ोरों पर थी। फलस्वरूप दरबारी कवि–प्रतिस्पर्धाओं में तत्कालीन कवियों द्वारा 'बख्त बुलन्द महाराज तेरे चाहिए' के नारे बुलन्द होने लगे।

शाहजहाँ के समय से ही कवियों ने राजाओं के दरबारों में आश्रय लेना आरम्भ कर दिया था। भले ही उसके द्वारा हिन्दी और संस्कृत को कुछ संरक्षण भी मिला परन्तु प्रभुत्व फारसी का ही रहा। औरंगजेब की कट्टर नीति से मुगल दरबार से हिन्दी का तो बहिष्कार हो ही गया अतः रीतिकालीन कविता को सामन्ती छत्रछाया में पोषण मिला। राजस्थान के नरेशों तथा सामन्तों की छत्रछाया में हिन्दी कविता का दरबारी रूप पनपा। रीतिकाव्य में नवीन उद्भावनाओं और मौलिकता के अभाव का मूल कारण कदाचित् उनका महलों के घेरे में बन्द रहना है। जीवन के प्रति इनका दृष्टिकोण सर्वथा ऐहिक और सामन्तीय रह गया। परन्तु ऐहिकता और सामन्तवाद की शक्ति अब उनमें नहीं रही थी, केवल भोगवाद ही शेष था। संरक्षण में पनपने के कारण उसमें गम्भीर प्रेरक तत्वों का अभाव रहा। प्रदर्शन–प्रधान और शृंगार–परक जीवन–दर्शन की अभिव्यक्ति में काव्यधारा चलती रही और उसका स्तर ऊपर नहीं उठ पाया। उस समय का सामन्ती जीवन अपेक्षाकृत कम जटिल और कम समस्यामय था, अतः रीति काव्य में जीवन–संघर्षों का स्वर उभर न सका, वह नायिका के शारीरिक सौन्दर्य की संकीर्ण परिधि में ही चलता रहा। शृंगार इस युग के काव्य का प्रधान स्वर माना जा सकता है। परन्तु शृंगार के चित्रण में अनुभूति की वह गहनता, विरह की वह हृदय–स्पर्शी तड़प और तन्मय कर देने वाली उस स्वस्थ मांसलता का रूप नहीं मिलता जो कृष्ण भक्ति काव्य की विशेषता रही थी। यह अन्तर केवल परिमाण का ही माना जा सकता है। इस युग के वीरता की भावना से सम्बन्धित साहित्य में भी हमें बाह्य–प्रदर्शन और अतिशयोक्ति पूर्ण कथनों की ही प्रधानता मिलती है। इस युग का भक्ति साहित्य भी आन्तरिक अनुभूतियों के स्थान पर बाह्य–प्रदर्शन का ही अधिक प्रेमी रहा। यह सब कुछ होते हुए भी इस युग का काव्य भाव और कला दोनों ही पक्षों की दृष्टि से समृद्धि की ओर अग्रसर होता रहा। काव्य और भाषा का नियमन और परिष्कार करने के लिए काव्य–शास्त्र का विवेचन किया गया। यह प्रवृति इस युग की एक प्रधान प्रवृत्ति थी। यह सिद्ध करती है कि इस युग के अनेक कवियों का ध्यान काव्य को एक सुव्यवस्थित, शुद्ध, कलात्मक रूप प्रदान करने की और गया था। जन–समुदाय में ऐसे कवि भी विद्यमान थे जो दरबारों पर आश्रित होने की अपेक्षा स्वतन्त्र रूप से काव्य की रचना कर रहे थे। चूंकि वे राजकीय वातावरण से सर्वथा मुक्त और सर्जन–व्यापार में स्वतन्त्र थे, अतएव उनकी रचनाएँ काव्यशास्त्रीय उपकरणों के इस समावेश से सर्वथा अछूती रहीं। यही कारण है कि इनका काव्य उक्त कवियों के काव्य की तुलना में अधिक प्रभावी है। कुल मिलाकर इस युग में राजाश्रित कवियों और जन–कवियों द्वारा रचित साहित्य

गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से इतना विशद है कि हिन्दी भाषा उस पर सहज ही गर्व कर सकती है। यह मानना भी न्यायसंगत है कि इस युग में कवियों, कलाकारों को यथोचित सम्मान भी प्राप्त हुआ तथा कला और साहित्य की दृष्टि से यह युग समृद्धि और विकास का ही रहा।

14.3.4 कलात्मक परिस्थिति :– रीतिकालीन कविता जिस संस्कृति से उत्पन्न हुयी थी उसका पोषण दरबारों में हुआ था। अतः दरबारों में ही संगीत कला, चित्रकला और स्थापत्यकला का पोषण हो रहा था। दरबार चाहे मुगल बादशाहों, नवाबों का हो या राजा–महाराजाओं का, कलाकारों को वहीं प्रश्रय मिलता था। जीवन के अन्य क्षेत्रों के समान कलाक्षेत्र में भी प्रदर्शन की प्रवृति की ही प्रधानता रही। सामन्ती वातावरण में फलने–फूलने वाली कला में वासनात्मकता का आ जाना नैसर्गिक था। रीतिकाल में परम्पराबद्ध दृष्टिकोण का निर्वाह होता रहा, उसमें मौलिक प्रतिभा और सप्राणता का नितान्त अभाव है। 'स्वामिनः सुखायः' उद्‌भूत कला में सात्विकता की अपेक्षा बाजारुपन अधिक होता है। उस समय की चित्रकला की नायक–नायिकाओं की बंधी–बधाई प्रतिकृतियाँ तैयार होती रहीं। पौराणिक कथाओं पर आधृत चित्र तथा राग–रागनियों के प्रतीक चित्रों का बाहुल्य है। इन चित्रों में कलाकार की आत्मा की निश्चल अभिव्यक्ति नहीं हो पाई। युग–रुचि के अनुसार उनमें रुग्ण शृंगारिकता का आधिक्य है। कृष्ण और राधा इत्यादि देवी–देवताओं के भी अश्लील चित्र बनाये गये। तत्कालीन कला में आत्म–प्रेरणा के तत्त्व के अभाव के कारण उसमें प्रशस्ति–तत्त्व ही अधिक विद्यमान रहा। रीतिकाल की मूर्ति–निर्माण कला की भी यही दशा रही। उसमें रीतियुगीन सभी प्रवृतियाँ परिलक्षित होती हैं। परम्परा–बद्ध–शैली अलंकरण की अतिशयता, चमत्कार–वृति रोमानी वातावरण की सृष्टि–दरबारी अदब कायदों की जकड़–बन्दी ये सभी प्रवृतियाँ साहित्य के समान कला–क्षेत्र में भी दृष्टिगोचर होती हैं। संगीत कला की स्थिति भी अन्य कलाओं के समान ही थी। भारतीय संगीत भी फारसी प्रभाव से सम्पन्न होकर विलासवृति प्रधान हो गया। वास्तव में रीतिकालीन में सभी कलाकारों की दशा एक जैसी ही थी। सभी आश्रयदाताओं की रुचि पर ही पल रहे थे, अतएव उनकी प्रसन्नता के लिए दोनों को ही शृंगारपरक प्रतिपाद्य और कला–प्रधान चमत्कारवादिता को अपनाना पड़ा।

14.3.5 धार्मिक परिस्थिति :– धार्मिक स्थिति की दृष्टि से भी रीतिकाल को सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से पतन का काल माना जा सकता है। धर्म के किसी भी उदात्त स्वरूप की प्रवृति विद्यमान नहीं रह गयी थी। इस काल में रूढ़ियों, अन्धविश्वासों और बाह्यांडबरों ने धर्म का स्थान ग्रहण कर लिया था। पंडित और मुल्ला इस क्षेत्र में सर्वेसर्वा समझे गये। उस समय की जनता के लिए उनके कथन तथा फरमान वेद वाक्य और कुरान के समान थे।

भक्तिकाल में सगुण भक्ति का विशेष प्रचार हुआ। राम लोक–रक्षक के रूप में पूजे गए और कृष्ण का लोकरंजक रूप सर्वाधिक प्रिय रहा। लोकरंजता के कारण कृष्ण–लीला भक्तों का आकर्षण केन्द्र बनी। राधा–कृष्ण तथा गोपियों के राग, विहार, क्रीड़ाएँ इत्यादि कृष्ण भक्त कवियों के काव्य में आध्यात्मिक धरातल पर प्रकट हुए परन्तु रीतिकाल तक पहुंचते–पहुंचते राधा–कृष्ण और गोपियों ने अपना आध्यात्मिक अर्थ खो दिया और वे लौकिक अर्थों में नायक–नायिका, सखी, दूती आदि बन कर रह गए। सूरदास आदि के द्वारा प्रतिपादित राधा और कृष्ण की सात्विकता मधुर भक्ति में सूक्ष्मता के स्थान पर स्थूल ऐन्द्रियता और पवित्रता के स्थान पर लोलुपता और कामुकता की भावनाएँ आ गईं। कृष्ण–भक्तों की रागात्मिका भक्ति के रहस्य को समझने की शक्ति न तो रीतिकाल के अनाधिकारी कवियों में थी और न ही उस समय की अपरिष्कृत–मस्तिष्क जनता में राम–भक्ति में विभिन्न सम्प्रदायों की भी यही गति थी। शक्ति के प्रतीक, लोक रक्षक, मर्यादा पुरूषोतम राम अब एक छैल–छबीले नायक के समान सरयू के किनारे काम–क्रीड़ा करने

लगे। आदर्श की मूर्ति सती सीता अब एक विलासप्रिय सामान्य रमणी के रूप में चित्रित होने लगी। रामभक्ति वालों ने एक नया सम्प्रदाय बना डाला – रसिक सम्प्रदाय। इसके अनुयायी स्वयं को राम की सखी मानकर श्रीराम और सीता के संयोग शृंगार वाले रूप का आनंद लेने लगे। राम भक्ति में पौरुष के स्थान पर स्त्रैण भावना आ गई।

मन्दिरों और मठों के पुजारियों तथा महन्तों के जीवन में दिव्य पुण्य–प्रेम के स्थान पर वासना ने घर कर लिया चैतन्य और वल्लभ सम्प्रदाय की गद्दियां तक सस्ती रसिकता में निमग्न हो गई। इस युग में निर्गुण भक्ति–सम्प्रदायों में भी अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे। इनका आचार–व्यवहार भक्ति के सगुण सम्प्रदायों की अपेक्षा उन्नत था, किन्तु इन पर भी युग की विलासपरक दृष्टि का प्रभाव अवश्य पड़ा। तत्कालीन सूफियों के अनेक सम्प्रदायों में स्थूल शृंगार, नख शिख वर्णन एवं नायिका–भेद का समावेश होने लगा।

14.3.6 सांस्कृतिक परिस्थिति :– सामाजिक अवस्था के समान इस युग में देश की सांस्कृतिक अवस्था भी अत्यन्त शोचनीय थी। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ की उदारवादी नीति तथा सन्तों और सूफियों के उपदेशों के परिणामस्वरूप हिन्दू और इस्लाम संस्कृतियों के निकट आने का जो प्रयास हुआ था, वह औरंगजेब की कट्टरता के कारण एक प्रकार से समाप्त हो चला था। किन्तु विलास वैभव के खुले प्रदर्शन के कारण अपनी–अपनी धार्मिक अवस्थाओं का दृढ़तापूर्वक पालन भी इनके लिए एक प्रकार से कठिन हो गया था हिन्दी–भाषी क्षेत्रों में जिन वैष्णव सम्प्रदायों का प्रभाव था, उनके पीठाधीश लोभवश राजाओं और श्रामानों को गुरू–दीक्षा देने लगे थे। फलतः उनका सम्बन्ध तत्वचिन्तन से छूटकर भौतिकता के साथ हो गया था–मन्दिरों में भी अब ऐश्वर्य और विलास की लीला होने लगी थी। यह स्थिति यहाँ तक पहुंच गयी थी कि हिन्दू अपने आराध्य राम–कृष्ण का अतिशय शृंगार ही नहीं करने लगे थे, उनकी लीलाओं में अपने विलासी जीवन की संगति भी खोजने लगे थे। अहिन्दी प्रान्तों में यद्यपि ऐसे सन्तों का प्रभाव था जो इस धारा से अब भी दूर थे, किन्तु इनका प्रभाव हिन्दी प्रान्तों तक न आ सका। दूसरी ओर इस्लाम धर्म पर इस विलास–वैभव का सीधा प्रभाव तो नहीं था ; पर रूढिवादिता के अत्यधिक बढ़ जाने के कारण यह जीवन की वास्तविकता से हट गया था – कुरान को हिफ्ज करने अथवा नमाज–रोजा आदि के यथाविध पालन को ही धर्म समझने के कारण वह आध्यात्मिक प्रभाव नहीं पड़ रहा था, जिससे व्यक्ति के संस्कारों में उदारता आती है। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों से दूर पड़ गये थे – केवल बाह्याचरण ही धर्म पालन रह गया था। ऐसी दशा में धर्म के साथ नैतिकता का जो सम्बन्ध जुड़ा हुआ था, उससे सम्पन्न वर्ग एकदम दूर हो गया था और विलासिता के लिए खुली छूट मिल गयी थी। इधर विलास के साधनों से हीन वर्ग के बीच स्थिति यह हो चली थी कि कर्म और आचार के स्थान पर अन्धविश्वास ने उसके भीतर इतना घर कर लिया था कि हिन्दू मन्दिरों में तथा मुसलमान पीरों के तकियों पर जाकर मनोरथ सिद्ध करने लगे थे। जनता के इस अन्धविश्वास का अनुचित लाभ पुजारी और मुल्ला उठाते थे और ये धर्म–स्थान भ्रष्टाचार तथा पापाचार के केन्द्र बन गये थे। यह ठीक है कि इस युग में पुरानी परम्परा के सूफी तथा सन्त अब भी विद्यमान थे, परन्तु किसी में भी कबीर, नानक अथवा जायसी जैसा व्यक्तित्व और प्रतिभा नहीं थी, जो जन–जीवन को प्रभावित कर सकती है। ये लोग पूर्ववर्तियों की वाणी के मात्र प्रचारक थे और प्रचारकों का जैसा प्रभाव पड़ सकता है, वैसा ही इनका पड़ रहा था – कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने में ये असमर्थ थे। उधर 'रामचरितमानस' तथा रामलीलाओं के पाठ का प्रभाव भी मनोविनोद तक ही सीमित रह गया था। जिस कारण नैतिक प्रभाव के काव्य सृजन की सम्भावना नहीं की जा सकती थी।

14.4. सारांश :

इस अध्याय में हमने रीतिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ उसकी तत्कालीन परिस्थितियों का भी विस्तृत

अध्ययन किया।

14.5. प्रश्नावली :

1. रीतिकालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

2. रीतिकालीन परिस्थितियों का परिचय दीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

14.6. पठनीय सन्दर्भ ग्रंथ :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – हुकुम चंद राजपाल
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – शिव कुमार शर्मा

रीतिकाल का नामकरण

15.0. रूपरेखा

15.1. उद्देश्य

15.2. भूमिका

15.3. रीतिकाल का नामकरण

15.4. सारांश

15.5. प्रश्नावली

15.6. पठनीय संदर्भ ग्रन्थ

15.1. उद्देश्य :

प्रस्तुत पाठ का उद्देश्य विद्यार्थियों को रीतिकाल के नामकरण की पृष्ठभूमि से परिचित करवाना है। कौन–कौन सी प्रवृत्तियाँ इस काल में प्रचलित थीं जिनके आधार पर इस काल का नामकरण निर्धारित हुआ। इस अध्याय में उन पर चर्चा की जाएगी।

15.2. भूमिका :

किसी भी काल की पहचान उनके नाम से होती है। भक्तिकाल के पश्चात जो प्रवृतियाँ प्रकट हुई वे अधिकतर श्रृंगारिक थी अतः इस काल का नामकरण भी वांछित हो गया तो विभिन्न मतभेदों के बाद इस काल का मुख्य नामकरण रीतिकाल हुआ। जिसका विस्तृत परिचय विद्यार्थी इस पाठ में प्राप्त करेंगे।

15.3. रीतिकाल का नामकरण :

किसी भी काल के नामकरण का विषय विद्वानों के लिए विचारणीय हो जाता है। सामान्यतः स. 1700–1900 तक के काल को हिन्दी साहित्य में रीतिकाल के नाम से अभिहित किया जाता है जिसमें सामान्य रूप से श्रृंगारपरक लक्षण ग्रन्थों की रचना हुई। परन्तु हिन्दी साहित्य के आदिकाल के समान रीतिकाल के नामकरण के सम्बन्ध में भी मतभेद हैं। विद्वानों ने अपने–अपने तर्कों के आधार पर इस काल को अलग–अलग नाम दिए हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

के 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' से पूर्व 'मिश्र बन्धु विनोद' लिखा जा चुका था। जिसमें मिश्र–बंधुओं ने अपने 'मिश्र बन्धु विनोद' नामक ग्रन्थ में इस काल को 'अलंकृत काल' की संज्ञा दी है। अपने तर्क देते हुए उनका कथन है कि क्योंकि इस काल में अधिकतर अलंकारों के सम्बन्ध में ही लक्षण–उदाहरण आदि प्रस्तुत किए गए, इसलिए इसे 'अलंकृत काल' कहना ही ठीक है। डॉ. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' इस काल को 'कला काल' कहना ठीक समझते हैं इसमें उनका तर्क है कि क्योंकि इस काल में कला पक्ष की ही अधिक प्रधानता रही और काव्य के कला पक्ष का जितना उत्कर्ष इस काल में हुआ, उतना पहले कभी नहीं हुआ था। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस काल को 'श्रृंगार काल' के नाम से अभिहित करते हुए कहा है कि रीतिकाल के अधिकतर कवियों और आचार्यों ने चाहे वे रीतिबद्ध ही रहे या रीतिसिद्ध, उन्होंने श्रृंगार रस पर ही दृष्टि केन्द्रित रखी है, इसलिए 'श्रृंगार काल' नाम ही उचित है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे 'रीतिकाल' कहा है। यह नाम युग की सार्थकता को लक्षित करता है अतः इसे ही अधिक मान्य माना जाता है क्योंकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के नामकरण के सिवाय अन्य नामकरणों के लिए जहाँ पर रचना–पद्धति का आधार ग्रहण किया गया है वहाँ पर रामचन्द्र शुक्ल के नामकरण के लिए उस युग की रचनाओं के आधार को ग्रहण किया गया है।

मिश्र बधुओं द्वारा संगृहीत 'अलंकृत काल' नाम को विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया क्योंकि इस युग के लिए 'अलंकृत' विशेषण अधिक समीचीन प्रतीत नहीं होता। मिश्र बन्धुओं ने अपने इस नामकरण के पक्ष में यह तर्क दिया है कि इस युग की कविता को अंलकृत करने की परिपाटी अधिक थी, वह इसलिए मान्य नहीं हो सकता क्योंकि यह कविता केवल अंलकृत ही नहीं है, इतर काव्यांगों को भी इस में यथोचित स्थान प्राप्त रहा है, कवियों की प्रवृति भी केवल अलंकार युक्त रचनाएं करने की नहीं थी – उन्होंने इसकी अपेक्षा रस पर अधिक बल दिया है, यह ठीक है कि संस्कृत–काव्यशास्त्र में 'अलंकार' शब्द विविध काव्यांगों का बोधक अवश्य रहा है। अतः इस अर्थ में यदि 'अलंकार' विशेषण इस युग की काव्यांग–निरूपण–प्रवृत्ति के लिए ग्रहण किया जाये, वो असंगत नहीं। पर चूंकि 'अलंकृत' शब्द (क्त प्रत्यय के कारण) इस युग की कविता का ही विशेषण हो सकता है – लक्षण–ग्रन्थों का नहीं, जो प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होते हैं, इसलिए इस युग को किसी सीमा तक 'अलंकार काल' कहना युक्त नहीं हो सकता है। इधर हिन्दी में 'अलंकार' शब्द काव्यांग विशेष के लिए ही रूढ है – काव्यशास्त्र के लिए गृहीत नहीं होता; अतः व्यवहार–और इसलिए अव्याप्ति के कारण इसको स्वीकार करना भी संगत प्रतीत नहीं होता। विद्वानों ने इस नामकरण को अस्वीकार करने के पीछे यह मत भी दिया हैं कि यदि इसे उक्त नाम से अभिहित किया जाएगा, तो इस काल की जो प्रमुख प्रवृति रीति है, उसमें अंतर्विरोध होगा। अगर यह मान लें कि इस काल में अलंकारों के लक्षण–उदाहरण ही अधिक प्रस्तुत किए गए तो यह भी नहीं, क्योंकि काव्य के दूसरे अंगों–शब्द–शक्ति, रस, भाव, ध्वनि और वक्रोक्ति आदि के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ लिखा गया है। केवल केशवदास को छोड़कर मतिराम, बिहारी और देव का काव्य रस, भाव और ध्वनि की दृष्टि से भी बहुत समृद्ध है। इसलिए यह 'अलंकृत काल' नाम सार्थक नहीं माना जा सकता क्योंकि पूरे युग की विशिष्ट प्रवृतियों का बोध इस नाम से नहीं हो पाता।

डॉ. रमा शंकर 'रसाल' द्वारा अभिहित 'कला काल' नाम भी इस युग के लिए स्वीकार नहीं किया गया। विद्वानों के अनुसार रीतिकालीन साहित्य में कला–पक्ष की प्रधानता को देखकर इसे कला–काल कहना भी असमीचीन है। तथ्य तो यह है कि साहित्य के भाव–पक्ष और कला–पक्ष परस्पर इस प्रकार संपृक्त होते हैं कि उसमें विभाजक रेखा खींच पाना अत्यन्त कठिन काम है। और इस काल में काव्य के केवल बाह्य पक्ष पर ही बल नहीं दिया गया अपितु उसका आंतरिक पक्ष भी बहुत अच्छी तरह से प्रस्तुत किया गया है। अगर केवल कला–पक्ष पर ही ध्यान केन्द्रित माना जाए, तब तो 'वीरगाथा काल' और 'भक्तिकाल' को भी उन–उन कालों से न मानकर 'कला–काल' के नाम से ही अभिहित

करना पड़ेगा, क्योंकि, उन–उन कालों में भी तो काव्य के कला पक्ष को बहुलता मिलती है। इसलिए माना जा सकता है कि साहित्य में भाव–पक्ष और कला–पक्ष दोनों का ही महत्वपूर्ण योगदान होता है दोनों में विभाजन नहीं किया जा सकता, इसलिए इस काल का 'कला काल' नाम स्वीकार करने में एकांगिता आ जाएगी अतएव यह नाम भी उचित नहीं है।

इस काल के लिए आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने शृंगार रस की प्रमुखता को लक्ष्य में रखकर ही इसे 'शृंगार काल' नाम प्रदान किया है परन्तु उनका यह नामकरण भी एकांगिता के दोष से मुक्त नहीं है क्योंकि न तो उस काल के कवियों ने शृंगार रस के सम्पूर्ण अंगों का विवेचन ही किया है और न ही उनके द्वारा शृंगार अपने वास्तविक एवं शुद्ध रूप को अक्षुण्ण बनाए रख सका है। कहीं–कहीं तो ऐसा लगता है कि यह शृंगार रस न होकर मात्र शृंगाराभास हो या उससे भी आगे बढ़कर कहीं–कहीं अश्लीलता को ग्रहण कर गया हो। यह ठीक है कि इस काल अर्थात रीतिकाल में शृंगार रस की प्रधानता है परन्तु वह स्वतन्त्र रूप में नहीं अपितु रीति पर आश्रित है। अर्थात चाहे रीतिबद्ध कवि हो या रीतिसिद्ध अथवा रीतिमुक्त, सभी पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से रीति परम्परा का ही प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसलिए शृंगारकाल उस काल की आंतरिक और प्रमुख प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। इसके साथ ही यह कहना भी उचित है कि शृंगार के अतिरिक्त इस काल में वीर रस का काव्य और नीति काव्य भी लिखा गया, जिसके जीवंत प्रमाण भूषण, ग्वाल, सूदन, जोधराज और गुरू गोविदसिंह वीररस के तथा वृंद और गिरधर इत्यादि नीति के सूक्तिकार कहे जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में शृंगार की प्रधानता और प्रमुखता का प्रश्न ही नहीं उठता और न ही 'शृंगार काल' नाम का क्योंकि 'शृंगार काल' नाम की संज्ञा रीतिकाल की आन्तरिक प्रवृति का ठीक तरह से प्रतिनिधित्व नहीं करती। यही कारण है कि हिन्दी–साहित्य में 'शृंगार काल' के नाम का अनुकरण नहीं किया गया और न ही यह नाम उपयुक्त कहा जा सकता है क्योंकि इस प्रसंग में यह कहना कि प्रस्तुत काल में रीतिबद्ध और रीतिमुक्त धारा के कवियों में शृंगार की प्रधानता रही है अतः इस काल का नाम 'श्रृंगार काल' उपयुक्त है उचित नहीं है। जहां तक दो विशेषणों रीति और शृंगार का प्रश्न है, शृंगार इस काल में रीति के परिवेष्टन के रूप में आया है परन्तु प्रमुखता रीति प्रवृत्ति की है इसलिए दोनों ही अपने–अपने स्थानों पर महत्वपूर्ण हैं। इस युग के लिए 'रीति' विशेषण का प्रयोग करने वाले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यद्यपि इस काल को 'शृंगार काल' कहे जाने में अपत्ति प्रकट नहीं की। इस विषय में उन्होंने स्वयं कहा है, ''वास्तव में शृंगार और वीर इन दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता शृंगार रस की ही रही, इससे इस काल को रस के विचार से कोई शृंगार काल कहे तो कह सकता है'' किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि इस युग को 'शृंगार काल' कहना सर्वथा समीचीन है। इस नाम के पक्ष में जो यह तर्क दिया जाता है कि इस युग के कवियों की व्यापक प्रवृत्ति शृंगार वर्णन की थी, उसके स्वीकार किये जाने में आपत्ति की जा सकती है यदि यह स्वीकार कर भी लिया जाये। इस युग के कवियों की व्यापक प्रवृति शृंगारिक ही थी तो भी इसे 'शृंगार काल' कहने में अव्याप्ति दोष होगा क्योंकि इस दशा में वीर, भक्त आदि शृंगारत्तेर रसों में ही रचे गये तथा काव्यांग–विवेचन की दृष्टि से लिखित अनेक महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध लक्षण ग्रन्थ इसकी परिसीमा में न आ सकेंगे। इस सम्बन्ध में यद्यपि यह तर्क दिया जा सकता है कि चूंकि इनके रचयितों ने थोड़े–बहुत शृंगाररिक छन्द लिखे हैं, इसलिए ये भी शृंगार काल की परिधि के भीतर आ ही जाते हैं; किन्तु इसे इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि विशिष्ट परिस्थितियों में लिखे गये कतिपय छन्द अथवा रचनाएं न तो उनकी शृंगारिक प्रवृति की ही द्योतक हो सकती है और न इन ग्रन्थों की विषय–भिन्नता के तथ्य से दृष्टि ही फेरी जा सकती है। अतः कह सकते हैं कि इस युग की मूल प्रवृत्ति शृंगारिक नहीं, और इसलिए इसे 'शृंगार काल' कहना भी अपने–आपमें युक्ति–युक्त नहीं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल को 'रीतिकाल' कहना उचित माना है। इस नामकरण के सम्बन्ध में जो

युक्तियां और जो तर्क दिए जा सकते हैं, वे सभी अपना ठोस धरातल रखते हैं। पहली बात तो यह है कि यह काल अपने नामकरण के लिए एक पद्धति विशेष को आधार बनाए हुए है, जो इस काल की धुरी है अर्थात रीति–पद्धति, क्योंकि इस काल के प्रत्येक कवि ने इसी पद्धति अर्थात परम्परा में अपनी रचनाएँ कीं। इसलिए आचार्य शुक्ल का पद्धति–विशेष पर किया गया इस युग का नामकरण नितान्त समीचीन है, क्योंकि इस काल में रीति–पद्धति पर लिखने की प्रवृत्ति का बोलबाला रहा। उस समय का वातावरण ही कुछ ऐसा था। उस युग के प्रत्येक कवि ने रीति–परम्परा के सांचे में ढलकर ही लिखा, क्योंकि तभी उसे समुचित प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती थी। डॉ. भगीरथ के शब्दों में, 'उसे रस, अलंकार, नायिका भेद, ध्वनि आदि के वर्णन के सहारे ही अपनी कवित्व–प्रतिभा दिखाना आवश्यक था। इस युग में उदाहरणों पर विवाद होते थे। इस बात पर कि उसके भीतर कौन सा अलंकार है? कौन सी शब्द–शक्ति है? कौन सा रस या भाव है? उसमें वर्णित नायिका किस भेद के अन्तर्गत है। काव्यों की टीकाओं और व्याख्याओं से काव्य–सौन्दर्य को स्पष्ट करने के लिए भी उसके भीतर अलंकार, रस, नायिका भेद को भी स्पष्ट किया जाता था। काव्य–गोष्ठियों में भी यही प्रवृति थी। अतः यह युग रीति–पद्धति का ही युग था। और इसमें इससे संबंधित असंख्य ग्रन्थ लिखे गये''। इस सन्दर्भ में यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि रीतिकालीन साहित्य के रसास्वादन के लिए रस, अलंकार, नायिका भेद आदि के ज्ञान के बिना काम नहीं चल सकता। रीतिबद्ध कवियों के साहित्य को समझने का रहस्य तो नायिका आदि भेद में निहित है ही साथ–साथ रीतिबद्ध और रीतिमुक्त कवियों के ग्रन्थों की पार्श्वभूमि में भी नायिका भेद, रस और अलंकारादि का प्रौढ ज्ञान काम करता हुआ सा दिखाई देता है। इस दृष्टि से इनका मूल वर्ण्य–विषय काव्यशास्त्र माना जा सकता है। और तब 'रीतिकाल' नामकरण को स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए, क्योंकि 'रीति' शब्द काव्यशास्त्र का ही पर्याय माना जाता है। दूसरी बात यह भी है कि इस युग को रीतिकाल कहने से इसकी सीमा बहुत विस्तृत हो जाती है जिसमें वीर रस अथवा सूक्ति काव्य की गणना भी हो सकती है। तीसरी बात यह भी है कि यह नाम स्वीकार कर लेने से उस काल की बाह्य और आंतरिक प्रवृति अर्थात भाव और कला पक्ष का सम्बन्ध नहीं टूटता और न ही किसी महत्वपूर्ण वस्तुगत विशेषता की उपेक्षा होती है। इसलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का नाम रीतिकाल अपने नामकरण की दृष्टि से सार्थक उचित और तर्क संगत है। डॉ. महेंद्र कुमार ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का उत्तर मध्यकालः रीतिकाल' में विद्वानों द्वारा प्रस्तुत सभी नामों की सविस्तार चर्चा करते हुए इस काल को रीतिकाल मानना युक्तिसंगत कहा है।

जहां तक इस युग को 'रीति' विशेषण–सहित प्रयोग में लाने का प्रश्न है, उसके विषय में यह सहज ही कहा जा सकता है कि 'श्रृंगारकाल' की अपेक्षा यह अधिक वैज्ञानिक और संगत है; कारण, इनमें रीति सम्बन्धी ग्रन्थ ही अधिकांशतः नहीं लिखे गये अपितु इस युग के कवियों की प्रवृत्ति भी ऐसे ही ग्रन्थ रचने की थी। इन कवियों ने यदि श्रृंगारिक छन्द रचे भी तो वे सामान्यतः स्वतन्त्र रूप से रचित न होकर श्रृंगार रस की सामग्री के लक्षणों के उदाहरण होने के कारण रीतिबद्ध ही थे। इतना ही नहीं, रीति–निरूपण की यह प्रवृत्ति अपनी विशिष्ट पृष्ठभूमि और परम्परा के साथ आयी थी। भक्तिकाल में ही काव्यशास्त्र लोगों की चर्चा का विषय बन चुका था। नन्ददास द्वारा 'रसमंजरी' जैसा नायिका भेद सम्बन्धी ग्रन्थ लिखा जाना तथा तुलसी द्वारा 'धुनि अवरेष कवित गुन जाती, मीन मनोहर ते बहु भांती' आदि कहा जाना इसकी पुष्टि के लिए पर्याप्त है। इसके साथ–ही–साथ केशव, रहीम, सुन्दर आदि अनेक कवियों ने कवि–चर्चा के इस विषय को अग्रसर किया जो आगे चलकर साधारण कवियों तक का वर्ण्य विषय होने के कारण इस युग की प्रवृत्ति का द्योतक हो गया। दूसरे, इस अभिधान को स्वीकार कर लेने में सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसकी परिधि के भीतर केवल वे लक्षण और लक्ष्य ग्रन्थ ही नहीं आ जाते जो 'श्रृंगारिक रचनाओं से युक्त हैं, अपितु वे ग्रन्थ

भी इसकी परिसीमा के बाहर नहीं पड़ते जो अन्य रसों में काव्यांग–विवेचन के निमित्त रचे गये।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि 'रीतिकाल' संज्ञा भी अपने–आपमें व्यापक नहीं, क्योंकि घनानन्द, आलम, बोधा, ठाकुर, सूदन आदि वे कवि भी तो इसके अन्तर्गत नहीं आ पाते जिन्होंने अपने काव्य–ग्रन्थों की रचना न तो काव्यांगों के विवेचन के लिए की और न उन पर काव्यशास्त्र का प्रभाव ही रहा; किन्तु इसके उत्तर में यह स्पष्ट कर देना असंगत न होगा कि इन कवियों में सूदन, जोधराज प्रभृति गिने–चुने वीर–कवि वीरगाथा काल (आदिकाल) की परम्परा में भी रखे जाने चाहिए; कारण इनकी रचना–शैली उस युग के ग्रन्थों की शैली से दूर नहीं है। वर्तमान युग में ब्रजभाषा–काव्य तथा काव्यशास्त्र के अनेक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है और अब भी हो रहा है, तो उनके सन्निविष्ट न हो सकने का कारण क्या 'आधुनिक काल' अथवा 'गद्यकाल' अभिधान को अमान्य ठहराया जा सकता है? पुरानी परम्परा के ग्रन्थ तो प्रत्येक युग में मिल ही जाते हैं। इसी प्रकार इस युग में वृन्द आदि नीति–कवियों की रचनाएं भी भक्तिकाल की मर्यादावादी विचारधारा की परम्परा की द्योतक हैं। उनसे भी 'रीतिकाल' संज्ञा पर कोई विपरीत प्रभाव न पड़ना चाहिए। ऐसे ही घनानन्द, बोधा आदि कतिपय उत्कृष्ट कोटि के कवियों के विषय में भी कहा जा सकता है कि इन इने–गिने कवियों की पृथक् प्रवृत्ति को 'रीतिमुक्त' नाम दे देने में कोई हर्ज न होगा। यदि इनके वर्ण्य विषय को श्रृंगार कहते हुए इन्हें फुटकल खाते में न डाले जाने की दुहाई देकर इनको उचित स्थान दिलाने के लिए ही 'श्रृंगारकाल' संज्ञा पर बल दिया जाता है, तो इनके विषय में भी यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि इन कवियों का काव्य संस्कृत–काव्यशास्त्र की दृष्टि से विशुद्ध श्रृंगार की कोटि में नहीं रखा जा सकता; कारण, यह फारसी की प्रेमाभिव्यक्ति की पद्धति का एक प्रकार से भारतीय रूप है जिसे पृथक् स्थान ही मिलना चाहिए–न इसे 'श्रृंगारकाल' की परिसीमा में लिया जा सकता है और न 'रीतिकाल' की ही में। इनका अपना पृथक् वर्ग था; और चूंकि इनकी काव्य–पद्धति का अधिक प्रचलन नहीं हो सका, इसलिए इस काल का नामकरण करने के लिए इन्हें फुटकल खाते में डाल देने से कोई हानि न होगी। यदि किसी आग्रह के कारण इन्हें सम्मिलित करने के लिए इस युग को 'श्रृंगारकाल' संज्ञा दे भी दें, तो भी भूषण–जैसे राजप्रशस्तियों के रचयिता उत्कृष्ट कवि तथा जसवन्तसिंह–जैसे प्रसिद्ध कवि–शिक्षक आचार्य फुटकल खाते में डालने पड़ेंगे; और यह उतना ही बड़ा अन्याय होगा, जितना कि घनानन्द आदि को फुटकल खाते में डाले जाने की दुहाई देकर कहा जाता है।

विषय–चयन के आधार पर भी इस काल को 'रीतिकाल' कहने में किसी प्रकार का अव्याप्ति–दोष न होगा, क्योंकि प्रत्येक कवि द्वारा इसमें श्रृंगार को न्यूनाधिक रूप से ग्रहण किया जाना भी तो एक विशेष प्रकार की 'रीति' (पद्धति) ही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने दबे स्वर में इसको 'श्रृंगारकाल' कहे जाने में जो आपत्ति प्रकट नहीं की, उसका कारण यही हो सकता है कि उनके समय तक सामान्य रूप से इस युग का श्रृंगारपरक साहित्य ही अधिक प्रकाश में आया था। इस प्रसंग में यह स्पष्ट कर देना असंगत न होगा कि अनेक रीति–आचार्यों ने ऐसे भी ग्रन्थ लिखे हैं, जो रीति–निरूपण सम्बन्धी नहीं हैं। पर क्योंकि काव्यांग–निरूपण में उनका मनोयोग परिलक्षित होता है तथा लक्ष्य ग्रन्थों में उनके काव्यशास्त्रीय संस्कार मुखर होकर आये हैं, इसलिए उनकी सभी विषयों की रचनाएं इसी कोटि की मानी जायेंगी एवं उनको भी 'रीतिकवि' कहना ही अधिक युक्ति–युक्त होगा–भले ही वे एक या एक से अधिक ग्रन्थ ऐसे लिख गये हों, जिन पर काव्यशास्त्र की छाप स्पष्टतः परिलक्षित नहीं होती।

इस प्रकार रीतिकालीन काव्य के सभी पक्षों, और गतिविधियों का अध्ययन–निरीक्षण करने के उपरांत निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि उस काल की व्यापक और प्रमुख प्रवृत्ति 'रीति' है। अतः हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल को 'रीतिकाल' के नाम से अभिहित करना अधिक उपयुक्त है। अलंकृत काल, कला काल अथवा श्रृंगार काल नाम उसकी आन्तरिक प्रवृति

का ठीक तरह से प्रतिनिधित्व नहीं करते। इस विषय में डॉ. भागीरथ मिश्र के निष्कर्ष को उपन्यस्त करना अधिक संगत प्रतीत होता है, ''कला काल कहने से कवियों की रसिकता की उपेक्षा होती है, शृंगार काल कहने से वीर रस और राज–प्रशंसा की। रीतिकाल कहने से प्रायः कोई भी महत्वपूर्ण वस्तुगत विशेषता उपेक्षित नहीं होती और प्रमुख प्रवृति सामने आ जाती है। यह युग रीति–पद्धति का युग था। यह धारणा वास्तविक रूप से सही है।'' जिसके आधार पर आचार्य शुक्ल का 'रीतिकाल' नामकरण तर्क सम्मत तथा स्वीकरणीय है।

15.4. सारांश :

इस अध्याय में हमने रीतिकाल के नामकरण यह विचार किया तथा रीतिकाल का नामकरण करने वाले सभी विद्वानों का परिचय भी प्राप्त किया।

15.5. प्रश्नावली :

1. रीतिकाल के नामकरण पर प्रकाश डालिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

2. रीतिकाल का नामकरण किन आधारों पर किया गया।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

15.6. पठनीय सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ० नगेन्द्र
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

.....

रीतिकालीन साहित्य की विभिन्न धाराएं
रीतिबद्ध, रीति सिद्ध और रीतिमुक्त

16.0. रूपरेखा

16.1. उद्देश्य

16.2. भूमिका

16.3. रीतिकालीन प्रमुख कवि तथा रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ

16.4. रीतिकाल के प्रमुख कवि

16.5. रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ

16.6. सारांश

16.7. प्रश्नावली

16.8. पठनीय सन्दर्भ ग्रन्थ

16.1. उद्देश्य :

रीतिकाल में जो साहित्य रचा गया वह विभिन्न धाराओं में बटा हुआ था जो इस प्रकार थी, रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त। काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों को अपनाता और नकारता हुआ यह साहित्य प्राचीन साहित्य की परिपाटी को तोड़ता हुआ प्रकट हुआ जिसका सम्पूर्ण परिचय विद्यार्थी इस अध्याय में प्राप्त करेंगे।

16.2. भूमिका :

हिन्दी साहित्य के इतिहास के महत्त्वपूर्ण काल रीतिकाल के साहित्य का अपना विशिष्ट महत्व है। यह साहित्य इस काल के कवियों की अपनी निजी शैली के आधार पर सामने आया। इसलिए इसे रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध व रीतिमुक्त धाराओं में बाँटा गया और कवियों को भी इनके साथ जोड़ दिया गया जिस पर इस अध्याय में सम्पूर्ण प्रकाश डाला गया है।

16.3. रीतिकालीन प्रमुख कवि तथा रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ :

हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल एक कालखण्ड है। इस काल में रचित साहित्य पारम्परिक धारा से हटकर एक नवीन दृष्टिकोण को लेकर सामने आया। रीतिकालीन साहित्य का प्रमुख आधार काव्यशास्त्रीय है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी प्रवृत्ति के आधार पर उत्तर मध्ययुग को रीतिकाल की संज्ञा प्रदान की है। रीतिकालीन साहित्य का अपना महत्त्व है। सम्पूर्ण रीतिकालीन साहित्य को मुख्य रूप से तीन भागों में बांटा गया है रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त। संक्षेप में जिनका परिचय इस प्रकार है

रीतिबद्ध – रीतिबद्ध काव्य मुख्यतः काव्यशास्त्रीय स्वरूप के आधार पर टिका हुआ है। रीतिबद्ध काव्य के रचयिताओं ने प्रायः संस्कृत में लिखे हुए काव्य–शास्त्र अथवा रीति–शास्त्र के ग्रन्थों के अनुसार काव्य रचना की। उन्होंने मुख्यतः चार विषयों का वर्णन किया–एक तो उन्होंने कविता की परिभाषा और लक्षणों की चर्चा करते हुए काव्य के पुराने सिद्धान्तों–रस, अलंकार, ध्वनि आदि का विवेचन किया। दूसरे, उन्होंने श्रृंगार–रस की व्याख्या करते हुए नारी (नायिका के नख–शिख, रूप सौन्दर्य, हाव–भाव और उसके भेदों का वर्णन किया। तीसरे, उन्होंने षड्ऋतु–वर्णन (छह ऋतुओं का वर्णन) करते हुए उसके प्रभाव की व्यंजना की। चौथे, उन्होंने अपने आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा के लिए उनका गुण–गान भी किया। वस्तुतः रीतिबद्ध कविता में शास्त्रीयता और श्रृंगारिकता का अद्‌भुत संयोग देखने को मिलता है यद्यपि मुख्य रूप से इस काव्य की प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि में दरबारी मानसिकता कार्यरत थी जिसकी रुचि श्रृंगार रस से पूर्णछन्द में तथा सामान्य शास्त्रीय जानकारी तक सीमित थी। इसलिए रीतिबद्ध काव्य में चमत्कार की प्रमुखता हो गई जिससे आश्रयदाताओं को चौंकाया जा सके। इस चमत्कार के फलस्वरूप रीतिबद्ध काव्य में वाग्वैदग्धता, सघनता, लघुता और श्रृंगारिक उत्तेजना का प्रसार मिलता है।

रीतिबद्ध साहित्य के लेखकों ने शास्त्र स्थित–सम्पादन किया है। इन्होंने संस्कृत के काव्य–शास्त्र के आधार पर काव्यांगों के लक्षण देते हुए उनके सुन्दर उदाहरण जुटाये हैं। इन्हें शास्त्र कवि भी कह सकते हैं। इन आचार्य कवियों ने अपने आपको कवि 'शिक्षक' के पद से भी अभिहित किया है। इन्होंने तत्कालीन नवाबों, सामन्तों, राजाओं तथा रसिक जनों के लिए काव्यांगों का निरूपण किया है। इनका उद्देश्य था संस्कृत साहित्यशास्त्र का हिन्दी में अनुवाद भर प्रस्तुत कर देना, किसी काव्य सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करना नहीं। अतः हिन्दी के लक्षण–ग्रन्थों में कोई विशेष गहराई नहीं आ पाई जैसी कि संस्कृत के काव्य शास्त्र में इन कवियों पर संस्कृत साहित्य के रस, अलंकार तथा ध्वनि सम्प्रदायों का प्रभाव पड़ा है। ये एक बंधी–बधाई परिपाटी पर चलते रहे, किसी नवीन मौलिक उदभावना को जन्म नहीं दे सके। इन्होंने विषय–सामग्री में भी सरल मार्ग को अपनाया। प्रायः ये नायक–नायिका भेद तथा अलंकार निरूपण में लगे रहे। काव्यशास्त्र की किसी जटिल विषय वस्तु के साथ नहीं उलझे और जहां कहीं ऐसा प्रयास किया भी वहां असफल रहे। इन आचार्य कवियों ने काव्यांग–निरूपण में पद्यात्मक शैली को अपनाया और इसीलिए उनमें यत्र–तत्र अस्पष्टता आ गई।

रीतिबद्ध आचार्यकवियों में कवित्व और आचार्यत्व का एक अद्‌भुत एकीकरण मिलता है। एक और तो इन्होंने विशुद्ध लक्षण ग्रन्थ लिखे जिनमें पद्यात्मक लक्षण के उपरान्त सरस उदाहरण जुटाये, पर दूसरी और इन्होंने लक्षणों के भार से मुक्त श्रृंगार–रस संवलित काव्य–ग्रन्थ भी लिखे। इन ग्रन्थों में भी राज दरबारी आचार्य कवि का उद्देश्य पांडित्य और काव्य–कौशल का प्रदर्शन रहा है। सर्वत्र उसके अहं की प्रधानता है और उसने आलंकारिक शैली में पहेलियां बुझाई है। इस वर्ग में दो प्रकार के कलाकार हुए। एक तो वे जिन्होंने लक्षण–ग्रन्थ भी लिखे और साथ में लक्ष्य ग्रन्थ भी। इस श्रेणी में मतिराम, चिन्तामणि, केशव, पदमाकर आदि आते हैं। इनके दोनों प्रकार के काव्यों में

रूढ़िबद्धता लक्षित होती है। दूसरे वर्ग में वे कवि आते हैं। जिन्होंने केवल लक्ष्य–ग्रन्थ लिखे। वे काव्यशास्त्राभ्यासी पंडित थे, जैसे श्रीपति आदि।

रीतिसिद्ध – रीतिसिद्ध साहित्य में काव्य शास्त्रीयता इतनी अधिक है कि लगता है कवि रस, अलंकार, ध्वनि, नायक–नायिका भेद आदि के उदाहरण स्वरूप काव्य–रचना कर रहा हो। इस वर्ग के कवि 'शास्त्रों काव्यों य कवि' माने गए जो रीति से बन्धे भी थे और उससे कुछ स्वच्छन्द होकर भी चलते थे। वास्तव में रीतिसिद्ध कवियों को आचार्य या कवि–शिक्षक बनने की अभिलाषा नहीं थी। इन्होंने अपने काव्य–कौशल के प्रदर्शन पर विशेष ध्यान दिया। इन काव्य–कवियों की एक और विशेषता है कि वे कवित्व के लोभ में चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ बाँधने में लीन रहते थे। उन्हें अपनी कविता को लक्षण–विशेष के सांचे में ढालने के लिए विशेष चिन्ता नहीं रहती थी। इन्होंने स्वानुभूति के आधार पर मौलिक काव्य की रचना की। स्वतन्त्र उद्‌भावना के लिए जितनी पर्याप्त पृष्ठभूमि इन कवियों के पास थी उतनी रीतिबद्ध आचार्य कवि के पास नहीं थी। यही कारण है कि इन कवियों की वैयक्तिकता अपेक्षाकृत अधिक उभरी है। इस साहित्य में भावपक्ष और कलापक्ष को समान रूप में महत्त्व दिया गया है। इस साहित्य के प्रेणताओं की आत्मा 'रीति' के भार से अधिक आक्रान्त नहीं हुई क्योंकि इन्होंने स्वतन्त्र रूप से लक्षण ग्रन्थों की रचना नहीं की, भले ही कविता की पृष्ठभूमि में कहीं–कहीं रीति परम्परा काम कर रही थी। भावाभिव्यक्ति के लिए इन्होंने भी आलंकारिक शैली का अवलम्बन लिया। बिहारी–रीति–कवियों के इसी वर्ग मे आते हैं। रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों में स्पष्ट रूप से विभाजक–रेखा नहीं खींची जा सकी है क्योंकि इन दोनों के उद्देश्य में पर्याप्त अन्तर है।

यों तो सम्पूर्ण रीतिकाव्य मुक्तक शैली में निर्मित हुआ है किन्तु रीतिसिद्ध कवियों ने संस्कृत, प्राकृतादि की मुक्तक परम्परा से भी सीधे प्रभाव ग्रहण किया है। ये कवि विद्यापति, चंड़ीदास, सूरदास, रहीम, तुलसीदास आदि भाषा कवियों से भी प्रेरित हुए हैं। इनकी काव्य–दृष्टि तत्कालीन सामंती परिवेश से ही निर्मित है। इसलिए इन पर फारसी काव्य का भी प्रभाव पाया जाता है। रीतिसिद्ध काव्य यद्यपि विलास प्रधान है, उसके केन्द्र में नारी का रूपाकर्षण प्रमुख है फिर भी उसका क्षेत्र रीतिबद्ध की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। इनमें शृंगार के साथ–साथ भक्ति, प्रशस्ति, रीति ज्ञान–वैराग्य और प्रकृति के आलम्बन–उद्‌दीपन रूपों का वर्णन भी प्राप्त होता है।

रीतिमुक्त – रीतिकाल में एक ऐसा वर्ग भी मिलता है जिसे 'रीतिमुक्त' कह सकते हैं। इन कवियों ने काव्यशास्त्र को पढ़कर कविता नहीं लिखी बल्कि अपने हृदय की प्रेरणा से कविता लिखी। इसीलिए ये रीति के बन्धन में नहीं बन्धे। रीतिमुक्त या स्वच्छन्द धारा के ये कवि अपने समकालीन रीतिबद्ध अथवा रीतिसिद्ध कवियों से वर्ण्य विषय और वर्णन प्रणाली में भी भिन्न थे। रीतिबद्ध कवि शास्त्रीय बन्धनों में बन्ध कर कविता रचते थे। उन्होंने प्राचीन काव्य प्रणाली को अपना प्रेरणास्रोत माना था जबकि रीति मुक्त साहित्य काव्य शास्त्र को पढ़कर नहीं रचा गया। इन कवियों ने अपने हृदय की प्रेरणा से कविता लिखी। रीतिमुक्त कवि कभी भी किसी प्रकार के बन्धन में नहीं बन्धे। इनकी रचनाओं में वैयक्तिकता की प्रधानता थी जबकि अन्य कवि निर्वैयक्तिक अथवा काव्य शास्त्रीय लक्षणों के उदाहरण प्रस्तुत किया करते थे। रीतिमुक्त कवियों ने सामाजिक या दरबारी मर्यादा में बन्ध कर काव्य रचना नहीं की। रीतिकाल में कुछ ऐसे कवि हुए जिन्होंने केशव, मतिराम और चिन्तामणि के समान न तो कोई लक्षण ग्रन्थ लिखा और न ही बिहारी की भांति कोई रीतिबद्ध रचना लिखी। ऐसे कवियों की संख्या पचास के लगभग है। इनमें कुछ कवि ऐसे हैं जिन्होंने लक्षणबद्ध रचना नहीं की और अपनी प्रेम–भावना की व्यंजना स्वच्छन्द, रूप में की है। इनमें घनानन्द, बोधा आलम और ठाकुर इत्यादि कवि आते हैं। दूसरा वर्ग उन कवियों का है जिन्होंने कथा प्रबन्ध–काव्य लिखे, जैसे लाल कवि का 'प्रकाश', सूदन का 'सुजान चरित्र' इत्यादि। तीसरे वर्ग में दान लीला, मान लीला आदि पर वर्णनात्मक प्रबन्ध काव्य लिखने वाले कवि

आते हैं चौथे वर्ग में रीति सम्बन्धी पद्य और सूक्तियाँ लिखने वाले कवि आते हैं जैसे वृन्द, गिरिधरदास इत्यादि। पांचवें वर्ग में ब्रह्मज्ञान, वैराग्य और भक्ति पर लिखने वाले कवि आते हैं छठे वर्ग में वीररस के फुटकर पद्य लिखने वाले कवि आते हैं इनमें भूषण का नाम सर्वोपरि है। इन कवियों की विशेषता यही रही कि इन्होंने न तो कोई लक्षण ग्रन्थ लिखा और न लक्षण–ग्रन्थों से प्रभावित होकर अथवा बन्धकर काव्य–रचना की। इनके काव्यों में भावपक्ष की प्रधानता है। इनकी शैली अनावश्यक आलंकारिकता में नहीं उलझी। इन कवियों ने सामाजिक पक्ष का भी ध्यान रखा है तथा अश्लील शृंगारिक वर्णन भी नहीं किया है। इन कवियों ने शृंगार के संयोग की अपेक्षा वियोग पक्ष का अत्यधिक चित्रण किया है।

16.4. रीतिकाल के प्रमुख कवि :

केशवदास – केशवदास रीतिकाल के प्रवर्त्तक थे यद्यपि भक्तिकाल में भी इनको स्थान दिया जाता है परन्तु इनमें रीतिकालीन कवि की सारी प्रवृत्तियां पाई जाती हैं अतः इन्हें इसी काल का कवि माना जाता है। केशवदास का परिचय भक्तिकाल के कवियों में दिया जा चुका है।

बिहारी – बिहारी रीतिकाल के बहुत लोकप्रिय कवि हैं इनका जन्म भी ग्वालियर में हुआ था। बचपन बुन्देलखण्ड में व्यतीत हुआ था तथा इनके पिता का नाम केशव था। इन सब बातों को देखते हुए इन्हें प्रसिद्ध कवि केशवदास का पुत्र भी माना जाता है। बिहारी की एक ही रचना 'बिहारी–सतसई' मिलती है। सतसई का अर्थ है–सात सौ। बिहारी सतसई में लगभग सात सौ दोहे मिलते हैं इसीलिए इसका नाम सतसई रखा गया। बिहारी ने अपनी सतसई में प्रकृति और नारी के सौन्दर्य, प्रेम, विरह, भक्ति भाव, दर्शन आदि का प्रतिपादन किया है। सौन्दर्य और प्रेम के निरूपण में बिहारी को सफलता मिली है। शृंगार के संयोग पक्ष का उन्होंने बड़ा सुन्दर और सजीव चित्रण किया है। संयोग पक्ष में वे जितने रमे हैं उतने वियोग पक्ष में नहीं। वियोग पक्ष में उन्होंने इतना बढ़ा–चढ़ा कर और अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है कि वहां पर भावों की प्रेषणीयता के स्थान पर हास्यास्पदता आ जाती है। बिहारी का एक ही काव्यग्रन्थ उपलब्ध है किन्तु उसके द्वारा इन्होंने जो कीर्ति अर्जित की वह किसी अन्य हिन्दी कवि को नहीं मिली। इनकी 'बिहारी सतसई' मुक्तक काव्य परम्परा की एक प्रतिनिधि रचना है। बिहारी ने मुक्तक काव्य की प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए अपने दोहों में शृंगार, भक्ति, नीति–वैराग्य, प्रशस्ति, हास्य–व्यंग्य सबका समावेश किया है परन्तु उसमें युगानुकूल शृंगार के विविध रूपों, नायक–नायिका भेद, नखशिख, षड़ऋतु और बारहमासे का वर्णन अधिक है। उनके दोहों में दार्शनिक विचार भी प्राप्त होते हैं किन्तु वे किसी दार्शनिक मतवाद से कोसों दूर थे। बिहारी मुख्यतः शृंगार के कवि हैं परन्तु उनके काव्य में रीति और भक्तिपरक दोहों का भी स्थान है।

पद्माकर–इनका जन्म 1810 में बांदा में हुआ था। ये रीतिकाल के लोकप्रिय कवि हैं। इनका काव्य रमणीयता की दृष्टि से अधिक प्रसिद्ध है। ये रीतिकाल के विशिष्टांग निरूपक आचार्य के रूप में जाने जाते हैं। ये पंडित और महाकवि भी कहलाये जाते थे। इनका अनेक जगहों पर बहुत सम्मान हुआ था। जयपुर नरेश जगतसिंह के आश्रय में इन्होंने 'जगद्विनोद' नामक नवरस–निरूपक ग्रन्थ की रचना की। इन्होंने मुक्तक तथा प्रबन्ध दोनों शैलियों में रचना की। इनकी भाषा में प्रवाहमयता है तथा वह सरस एवं व्याकरण सम्मत है। इनका अलंकार ग्रन्थ 'पद्मा रण' लक्षणों की स्पष्टता और उदाहरणों की सरसता के कारण अधिक प्रसिद्ध हुआ। 'गंगालहरी' और 'प्रबोध पचासा' काव्य सौष्ठव की दृष्टि से सामान्य है। 'गंगालहरी' में गंगा का अलंकारों से अद्वितीय अलंकरण किया। अन्य रीतिकालीन कवियों की अपेक्षा पद्माकर में चमत्कार उत्पन्न करने की अपेक्षा ज्ञान–वैराग्य की भावना प्रमुख है।

पद्माकर की सात रचनाएं उपलब्ध होती हैं–हिम्मत बहादुर विरुदावली, पद्मा रण, जगद्विनोद, प्रबोध

पचासा, गंगा लहरी, प्रतापसिंह विरूदावली और कलि पच्चीसी। इनके अतिरिक्त पद्माकर द्वारा रचित स्फुट छन्द भी मिलते हैं। उपर्युक्त सात रचनाओं में पदमाभरण और जगद्विनोद ही रीतिग्रन्थ हैं, शेष राजप्रशस्ति अथवा भक्ति सम्बन्धी रचनाएं हैं।

घनानन्द–रीतिमुक्त अथवा स्वच्छन्द काव्यधारा के अग्रणी कवियों में घनानन्द का नाम सर्वोपरि है इनका जन्म संवत् 1746 के लगभग तथा देहावसान सवत् 1796 माना जाता है। इनकी रचनाओं का परिचय इस प्रकार है–सुजान सागर, विरह लीला, कोकसार, रसकेलि वल्ली और कृपा कांड। घनानन्द की रचनाओं में 'सुजान' शब्द का प्रयोग विशेष रूप से किया गया है। इसमें कवि की विशेष आसक्ति का उल्लेख इतिहासकारों ने किया है। इस सन्दर्भ से इस कवि की पहचान भी सही रूप से की जा सकती है। ये दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के पास पीर मुन्शी थे कहते हैं एक बार ईर्ष्यावश दरबारियों द्वारा की गई शिकायत पर इन्होंने बादशाह द्वारा कहने पर नहीं गाया। परन्तु अपनी प्रेमिका सुजान वेश्या के कहने पर गा दिया। गाना न जानने पर भी इन्होंने सुजान की तरफ मुंह करके और बादशाह की तरफ पीठ करके बहुत सुन्दर गाया। बादशाह और सभाजन प्रसन्न हुए परन्तु बादशाह ने अपनी तरफ पीठ करके इनका गाना अपना अपमान समझा और इन्हें शहर से निकल जाने की आज्ञा दे डाली। चलते समय इन्होंने अपनी प्रेयसी सुजान से अपने साथ चलने का आग्रह किया परन्तु उसने इन्कार कर दिया। निराश होकर मृत्युपर्यन्त यह वृन्दावन में रहे और 'सुजान' छाप देकर निरन्तर प्रेम और भक्ति के गीत गाते रहे। 'सुजान' के रूप में इन्होंने कहीं सीधे अपनी प्रेमिका को भी 'सुजान' कहा है तथा कहीं पर अपने आराध्य श्रीकृष्ण को भी 'सुजान' कहा है।

घनानन्द मुख्य रूप से शृंगार के कवि रहे हैं, फिर भी संयोग की अपेक्षा वियोग शृंगार में उनकी प्रस्तुति उत्तम रही है। इनकी विरह–वेदना की व्यंजना अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। कवि की अधिकांश उक्तियों में प्रणय की सच्ची अनुभूति, वेदना की आकुलता तथा तीव्र भावात्मकता विशेष द्रष्टव्य है। इनके 400 के लगभग फुटकल कवित्त और सवैये भी मिलते हैं। वस्तुतः अपनी काव्य–सरसता तथा प्रेम के उच्च आदर्श के लिए ये बहुत प्रसिद्ध रहे हैं।

चिन्तामणि – इनका जन्म 1610 ई. में हुआ था। ये कानपुर के निकट तिकवापुर के रहने वाले थे। कहा जाता है कि मतिराम तथा वीररस के कवि भूषण इनके ही भाई थे। ये शाहजी भोंसला, शाहजहां और दारा शिकोह के आश्रय में रहे। चिंतामणि की प्रसिद्ध रचनाएं इस प्रकार हैं–काव्य विवेक, कविकुल कल्पतरू, काव्य प्रकाश, रसविलास, छन्द विचार पिंगल और रामायण इत्यादि।

'कवि कुल कल्पतरु' में इन्होंने काव्य के सभी अंगों पर प्रकाश डाला है। काव्य का स्वरूप, शब्द उक्तियाँ, रस, ध्वनि, गुण और दोष आदि सबकी चर्चा की है। आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश और विश्वनाथ के साहित्य दर्पण का प्रभाव इन पर अधिक पड़ा। जहां तक अलंकारों का सम्बन्ध है, रसवादी कवि होने के कारण इन्होंने अलंकारों का प्रयोग रसोत्कर्ष के लिए किया है। नायिका भेद की चर्चा में 'साहित्य दर्पण' और भानु दत्त की 'रस मंजरी' और 'रस तरंगिणी' से प्रभाव ग्रहण किया है। इस प्रकार चिंतामणि ने एक प्रकार से समन्वयवाद दृष्टिकोण अपनाकर ग्रन्थों की रचना की है चिंतामणि के काव्य और दूसरे अंगों के लक्षण छंदोबद्ध रूप में दिए हैं। लक्षणों के लिए दोहा या सोरठा छंद लिया है, परन्तु उदाहरण देते समय सवैया और कवित्त छन्दों को अपनाया है। चिंतामणि ने परिष्कृत ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। इनकी छन्द योजना अत्यन्त सुन्दर कही जाती है।

भूषण–रीतिकालीन कवियों में कविवर भूषण स्वच्छन्द काव्यधारा में वीररस के चर्चित कवि हैं। इनके जीवनवृत्त, विशेष रूप से जन्म–मरण तिथियों के विषय में प्रामाणिक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता तथापि इनका जन्म स. 1670 ई. में स्वीकार किया जाता है। इनके पिता रत्नाकर थे और यमुना किनारे स्थित तिकवांपुर के वासी थे। चित्रकूट के राजा रुद्रराज ने इन्हें कवि भूषण की उपाधि से सम्मानित किया था, तब से ये इसी नाम से जाने जाते है।

भूषण कवि के विषय मे कुछ बातें विशेष रूप से प्रचलित हैं। ये स्वभाव से स्वाभिमानी और उग्र थे और युवावस्था से वृद्धावस्था तक किसी एक स्थान और व्यक्ति से बंधकर नहीं रहे। केवल शिवाजी के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर अधिक समय तक उन्हीं के पास रुके थे। बाद में अनेक राजाओं के यहां रहकर पुनः साहू के पास पहुंच गए थे। इनका मृत्युकाल अनुमानतः स. 1772 माना जाता है।

भूषण की तीन रचनाएं उपलब्ध हैं–शिवराज भूषण, शिवा बावनी और छत्रसाल दशक। इनमें से पहले दो काव्य उन्होंने मराठा वीर छत्रपति शिवाजी और तीसरा काव्य बुंदेला नरेश छत्रसाल, जो कि रानी सारंध्रा व महाराजा चंपतराय के सुपुत्र थे, उनकी प्रशंसा में लिखे है। भूषण ने अपने काव्यों में वीर के जीवन और कार्यों का आख्यान किया है। अतः स्वभावतः उनमें वीर रस प्रधान है। वीर रस के सहायक रौद्र, भयानक और वीभत्स रस शिवाजी के प्रसंग में शृंगार और करुण रस के सन्दर्भ में आए हैं। शिवाजी की वीरता का रूपांकन करने वाले अनेक उदाहरण भूषण ने अपने काव्य में प्रस्तुत किए हैं। घोर शृंगारिकता के युग में इस कवि ने वीर रस को अपनी सृजनधर्मिता का आधार बनाया यही कारण है कि इनके काव्य नायक की तरह काव्य रचना का उद्देश्य भी महान् है। अपने काव्य वाचक के साथ–साथ उन्होंने उसके सहायकों और उसकी सेवाओं का वर्णन भी किया है। यही कारण है कि इस कवि को राष्ट्रीय पक्षधरता का कवि भी स्वीकार किया जाता है। भाषा प्रस्तुति के धरातल पर भी इस कवि का महत्त्व निर्विवाद है। इन्होंने अपनी कविताएं ब्रजभाषा में लिखी हैं। वीररस के समान ही उनकी भाषा भी ओजस्वी है। अतः रीतिकालीन कवियों में निष्पक्ष रूप से भूषण को राष्ट्रीय चेतना का सशक्त कवि स्वीकार किया जाना न्यायसंगत ही है।

16.5. रीतिकालीन प्रवृत्तियां :

रीतिकाल में मुख्य रूप से संस्कृत काव्य शास्त्र को हिन्दी में रूपान्तरित करने की प्रवृत्ति विशेष थी। प्रायः सभी कवियों ने अपने स्तर के अनुरूप अपने काव्य शास्त्रीय ज्ञान का परिचय दिया है। यह भी सत्य है कि रीतिकालीन साहित्य की रचना अधिकतर सामन्तीय वातावरण में हुई। परन्तु यह तथ्य भी विचारणीय है कि रीतिकाव्य को किसी एक विषय में आबद्ध नहीं किया जा सकता। यह काव्य विषय विविधता का है। जिसके कारण इसकी काव्यगत विशेषताएं अथवा प्रवृत्तियां भी विभिन्न प्रकार से उभर कर सामने आती हैं। रीतिकाल की मुख्य प्रवृत्तियों का परिचय इस प्रकार है –

1. **राज्याश्रय की प्रवृत्ति –** रीतिकाल की पृष्ठभूमि का अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह काल सामन्तों का काल था और उस काल का अधिकांश साहित्य सामंतों के संरक्षण में तथा सामंतों की प्रसन्नता और आत्मतुष्टि के लिए लिखा गया था। अपनी जीविका का साधन काव्य सृजन को बनाने वाले तथा साहित्य सृजन से पुरस्कार पाने की अभिलाषा से प्रेरित कविगण कभी तो एक ही राजा के आश्रय में सारा जीवन बिता देते थे और कभी मनोनुकूल पुरस्कार न प्राप्त होने की स्थिति में आश्रयदाता बदलते रहते थे। यह प्रवृत्ति प्रायः इस युग के सभी कवियों में रही। पहले प्रकार के कवियों ने जो मिला उसी से संतोष प्राप्त कर काव्य रचना की तो दूसरे प्रकार के कवि जीवन भर एक राजा के आश्रय से दूसरे राजा के आश्रय में भटकते रहे। इन कवियों को पुरस्कार और सम्मान का मोह था। इस कारण उन्हें स्वतन्त्र रूप से काव्य सृजन का अधिकार प्राप्त नहीं हुआ क्योंकि इन्हें वही सृजन करना पड़ा जो इनके आश्रयदाताओं को रुचिकर था। उदाहरण स्वरूप केशवदास इतने प्रतिभाशाली पंडित व्यक्ति थे परन्तु फिर भी उन्हें रतनसिंह और जहांगीर जैसे राजद्रोहियों की प्रशंसा में काव्य लिखने पड़े ताकि उनके आश्रयदाता का राजनीतिक स्वार्थ सिद्ध हो सके। कवि देव ने भी आश्रयदाता बदले। मनोवांछित पुरस्कार प्राप्त करने के लिए सब कुछ किया। परन्तु फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इन रीतिकालीन आचार्य कवियों ने हिन्दी काव्यशास्त्र के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यदि राज्याश्रय का उचित और निश्चित वातावरण न मिलता तो ये आचार्य कवि केवल शृंगारिक और

वीर रसात्मक छन्द लिखकर रह जाते। आश्रयदाताओं की कृपा से इनमें से अधिकांश कवि निश्चित हो लेखन कार्य में व्यस्त रहे और कुछ उल्लेख्य ग्रन्थ प्रकाश में आ सके। अतः राज्याश्रय को वृत्ति मानना उचित है–शेष सभी प्रवृत्तियों के मूल में भी यह प्रवृत्ति अवश्य रही है।

2. शृंगारिकता की प्रमुखता – शृंगारिकता की प्रवृत्ति रीतिकाल में सर्वत्र प्रचुरता के साथ दृष्टिगोचर होती है। जिसके फलस्वरूप कई विद्वानों ने इसे 'शृंगार काल' के नाम से भी अभिहित करना चाहा है। वस्तुतः भक्ति काव्य परम्परा से ही रीतिकालीन कवियों को कुछ ऐसी सामग्री प्राप्त हो गई थी। जिससे शृंगारिक और कभी–कभी घोर शृंगारिक कविता लिखने के लिए उस काल के कवि का द्वार खुल गया। रीतिकालीन कवियों पर अश्लीलता का आरोप लगाया जाता है, उन्हें अमर्यादित तक मानते हैं। ऐसा सभी कवियों के विषय में नहीं कहा जा सकता। यह काल विषय–विविधता का होते हुए भी शृंगारिकता प्रधान है। इसलिए रसों में शृंगार रस, उसके दोनों रूप संयोग–वियोग और इसी रस के अंतर्गत नायिका भेद वर्णन में इन कवियों की रूचि विशेष रही जिसे सभी ने अपने–अपने ढंग से समझाने का प्रयास किया है। यह भी मान्यता है कि शृंगार वर्णन के लिए रीति ग्रन्थकारों को प्रेम या रति भाव की स्वीकृति निर्गुण संतों की वाणी, सूफियों के प्रेम की पीर और कृष्ण भक्ति काव्य से प्राप्त हो चुकी थी निर्गुण उपासक सन्त कवि 'रति इक तन में संचरे' कहकर प्रेम को जीवन का सार कह चुके थे। प्रेम–पीर के साधक सूफी कवि लौकिक प्रेम के द्वारा अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना कर चुके थे, कृष्ण भक्ति में जीवन के मृदुल अंश प्रेम–भाव का व्यापक वर्णन हो चुका था, साथ–साथ राम भक्ति काव्य में भी रसिक भाव की प्रतिष्ठा हो चुकी थी अतः रति को या प्रेम भाव को प्रधान मानकर शृंगार की रसराज के रूप में प्रतिष्ठा उस युग के लिए स्वाभाविक सी बात थी। यद्यपि संतों या सूफियों की वाणी और राम या कृष्णभक्ति में प्रेम–भावना का रीतिकालीन अर्थ या रूप ग्रहण नहीं किया गया था परन्तु रीतिग्रन्थकारों का उद्देश्य ही दूसरा था। इस सन्दर्भ में भिखारीदास का निम्न दोहा उल्लेखनीय है –

आगे के सुकवि रीझि हैं तो कविताई न तो,
राधिका कन्हाई सुमरिन के बहानो है।।

अभिप्राय यह है कि सांचा चाहे कोई भी अपनाया गया हो मगर उसमें शृंगारिकता ही ढाली गई। शृंगारिकता भी ऐसी, जिसमें आध्यात्मिकता और प्रेम की सूक्ष्मता की जरूरत ही नहीं समझी गई, बल्कि एकदम मुक्त स्वच्छंद और लौकिक शृंगार का महत्त्व स्वीकार किया गया। इस काल का भौतिक वातावरण भी रीतिकालीन शृंगारिक मनोवृत्ति के सर्वथा अनुकूल था। इसको शास्त्रीय आधार–भूमि संस्कृत काव्य शास्त्र के रस–नायिका भेद और अलंकार ग्रन्थों से प्राप्त हो चुकी थी। अपभ्रंश और प्राकृत के लोक शृंगार परक काव्यों से भी इस प्रवृत्ति को पर्याप्त प्रेरणा मिली। राजनैतिक अनुमति उसे काव्य–शास्त्रीय ग्रन्थों से प्राप्त हो चुकी थी। भक्तिकाल में राजनैतिक दासता के शिकार होकर भी जन–सामान्य की आध्यात्मिक ज्योति मलिन नहीं पड़ी थी, जीवन के प्रति उनकी आस्था का दीप नहीं बुझा था किन्तु रीतिकाल के वैभव–विलास के उन्मादक वातावरण में उस समय के कवि की समूची वृत्तियां छिछले शृंगार के चित्रण में रम गई। किन्तु इस बात का सारा दोष रीतिकालीन कवि पर नहीं मढ़ा जा सकता, इसका बहुत कुछ दायित्व इस युग के सामन्तों की मनोवृत्ति को है।

शृंगार–वर्णन रीति–काव्य का प्रमुख प्रतिपाद्य है यद्यपि रीतिकालीन कवियों का प्रमुख वर्ण्य–विषय नायिका–भेद, नख–शिख, अलंकार आदि का लक्षण प्रस्तुत करना है, फिर भी उनके माध्यम से शृंगार का प्रतिपादन किया गया है। शृंगार–रस के अन्तर्गत नायिका–भेद प्रमुखता रखता है। कवियों ने नायिका वर्णन में तो अपनी इतनी अधिक रुचि दिखाई है कि देश भेद से, वातावरण भेद से और इसी प्रकार जाति, गुण, कर्म, स्वभाव और अवस्था भेद से जाने कितने

प्रकार की नायिका मानी गई हैं और उनमें प्रत्येक में क्या–क्या विशेषताएं या न्यूनताएं हो सकती हैं, यह भी ध्यान रखा गया है। संयोग पक्ष के अंतर्गत नख–शिख वर्णन का उदाहरण द्रष्टव्य है –

झलके अति सुन्दर आनन और, छके दृग राजत काननि छवै।

हसि बोलन में छवि, फूलन की बरषा उर ऊपर बावति है।

अथवा

लट लाल कपोल कलोल करै कलंक ठनि बनी जलजावली है।

अंग–अंग तरंग उठे दुति की परिहे मनो रूप अबै घर च्वै।

श्रृंगार को संयोग पक्ष में जहां नख–शिख तक का वर्णन किया गया है वहां श्रृंगार के दूसरे पक्ष वियोग के अंतर्गत दसों दशाएँ पूर्वराग मान, प्रवास, करुण आदि के भी अच्छे चित्र प्रस्तुत किए गये हैं। बिहारी का एक उदाहरण इस प्रकार है–

लाल तुम्हारे विरह की अगनि अनूप अपार।

सरसै वरसै नीर हूं, झरहूं मिठे न झार।

वियोग की दसों दशाओं में स्मृति गुणकथन और प्रलाप के द्वारा प्रियतम के हृदय का विश्लेषण भी किया गया है। देव ने नायक और नायिका के स्मृति–चित्रों का अच्छा वर्णन किया है। पदमाकर की नायिका अपने नायक के गुण का कथन करती हुई कहती है:–

छलिया छबोलो छैल छाती छूवै चलो गयो

प्रलाप दशा में प्रिय के मिलन, परिम्ण आदि के सुख का बखान किया जाता है। इन दशाओं का वर्णन करते समय इन्होंने खंडित, मानवती आदि नायिकाओं का उपयोग किया है। बिहारी, देव, मतिराम, पदमाकर इत्यादि सभी ने ऐसी नायिकाओं के वियोग श्रृंगार का वर्णन किया है। इस सन्दर्भ में देव ने नायिका के मानसिक अवसाद का अत्यन्त बारीकी से चित्रण किया है –

साथ में राखिये नाथ उन्हें,

हम हाथ में चाहती चार चुरी है।

इस दोहे में कितना दैन्य, विषाद और विवशता भरी हुई है इन कवियों ने वियोग वर्णन में परम्परागत रूप में ऋतु वर्णन भी किया है। वस्तुतः इन सौन्दर्योपासक प्रेमी कवियों का श्रृंगार वर्णन अत्यन्त मनोरम है जिसके लिए आलोचना का शिकार बनते हुए भी रीतिकाल में इन कवियों का स्थान अमर है।

3. आलंकारिकता – रीतिकाल काव्यशास्त्रियों ने अपने अलंकार शास्त्रों में हिन्दी कविता में प्रयुक्त सभी अलंकारों का विवेचन किया है और उनके उदाहरण भी दिए हैं किन्तु प्रबन्ध और मुक्तक काव्यों में उन सब अलंकारों का प्रयोग नहीं हुआ है। सामान्यतः अनुप्रास, यमक, श्लेष, रूपक, उपमा आदि अलंकारों से अपनी कविता को सजाने की प्रवृत्ति मिलती है। वीर और श्रृंगार के प्रसंगों में अतिशयोक्ति अलंकार भी प्रयुक्त हुआ है।

प्रदर्शन, चमत्कार और रसिकता–प्रधान युग में इस प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक भी था। वैसे तो साहित्य में जनव्यवहृत भाषा की अपेक्षा प्रभावाष्णुता तथा ग्रहणशीलता की मात्रा अधिक होती है, किन्तु, उक्ति चमत्कार के द्वारा पाठक और श्रोता के मन को आकृष्ट कर लेना इस युग के कवियों का लक्ष्य और सफलता का मापदंड बन गया था।

एक तो उस समय का विलासी राजदरबारी वातावरण था, दूसरा जन–सामान्य की मनोवृत्ति भी कुछ इस प्रकार की बन चुकी थी कि राजदरबारी कवि को अपने काव्य को कृत्रिम भड़कीले रंगों में रंगना पड़ा। इस आलंकारिता का एक अन्य कारण था अलंकार शास्त्र के अनुसार अपनी कविता–कामिनी को सांचों में ढालना। बहुत सारे कवियों ने अलंकारों के लक्षण और उदाहरण रचे। परन्तु जिन्होंने केवल उदाहरण रचे, उनके मन में भी अलंकारों के लक्षण और स्वरूप काम कर रहे थे। अलंकारशास्त्र के ज्ञान के बिना उस समय के कवि को सम्मान मिलना कठिन था, इसलिए आलंकारिकता इस युग में खूब फलीफूली और यहां तक कि अलंकार साधन से साध्य बन गए और कविता–कामिनी की शोभा बढ़ाने की अपेक्षा उसके सौन्दर्य के विघातक बन गए। उसके फलस्वरूप काव्य का आंतरिक पक्ष निर्बल पड़ गया।

काव्य में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का विधान, भावप्रेषणीयता और गहनता तथा तरलता लाने के लिए जरूरी हुआ करता है, किन्तु इन दोनों का रम्यविधान वही कवि कर सकता है, जिसे जीवन और जगत् का विस्तृत अनुभव हो। किन्तु सीमित कठघरे में बन्द रीतिकालीन कवि के पास यह वस्तु थी ही कब। वह तो पिटी राह का राही था। वह संस्कृत के अलंकार शास्त्र के रूढ़िगत उपमानों को लेकर उनका ही पिष्ट–पेषण करता रहा। इस सम्बन्ध में उसने किसी नवीन मौलिक उद्‌भावना से काम नहीं लिया। परिणामतः उसके नख–शिख वर्णन रूढ़िबद्ध और अवैयक्तिक ही बने रहे। रूप–सादृश्य–मूलक अप्रस्तुत विधान की अपेक्षा धर्म–सादृश्य विधान सूक्ष्मतर होता है। रीतिबद्ध कवियों में इस प्रकार के अप्रस्तुतों के विधान की कमी है। घनानन्द में भले ही इस विधान की प्रचुरता है। रीतिबद्ध कवियों में देव ने धर्म–सादृश्य मूलक विधान का अधिक प्रयोग किया है। प्रभाव सादृश्य का प्रयोग रीति साहित्य में अत्यन्त विरल है क्योंकि इसमें धर्म सादृश्य की अपेक्षा और भी अधिक सूक्ष्मता वांछनीय होती है। संभावनामूलक उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग इस काल के कवि ने खूब किया है। इसका कारण यह है कि इसमें कल्पना की उड़ान और चमत्कार–प्रदर्शन की काफी छूट रहती है। चमत्कार प्रिय होने के नाते यह अलंकार रीति कवि को खूब रचा। चमत्कारमूलक अलंकारों में से श्लेष, यमक और अनुप्रास का अधिक प्रयोग हुआ। बिहारी ने ऐसे चमत्कारमूलक अलंकारों का अधिक प्रयोग किया है, जिन्हें देखकर पाठक आश्चर्यचकित होकर दाद देने पर भी कभी–कभी बाध्य हो जाता है, किन्तु स्मरण रखना होगा कि कोरे शाब्दिक चमत्कार प्रदर्शन में रसोद्रेक की क्षमता बहुत कुछ समाप्त सी हो जाती है। प्रभावउत्पादन के लिए यदि सीमा के अन्तर्गत अतिशयमूलक अलंकारों का प्रयोग किया जाए तो निश्चित रूप से काव्य सौन्दर्य में अभिवृद्धि होती है, किन्तु जब कवि सीमा का अतिक्रमण करके दूर की कौड़ी पकड़ने लगता है तो वहां हास्यास्पदता आ जाती है। बिहारी और केशव ने चमत्कार की अतिस्पृहा से ऐसे ऊहात्मक प्रयोग किए है कि शोभासृष्टि के स्थान पर अशोभनता आने लगी है। शुक्ल जी ने कदाचित् बिहारी की इसी अतिरंजना को देखकर उसकी सांसों के हिंडोले में झूलने वाली नायिका को घड़ी के पैंडुलम की उपमा दे दी। केशव तो अलंकारों के मोह में इतने ग्रस्त थे कि उन्होंने रामचन्द्र को उल्लू की उपमा दे डाली और ग्रामीण बालाओं से श्लेष अलंकार में वार्तालाप कराने लगे। इस रीतिकालीन अलंकारिकता के विवेचन के पश्चात् हम कह सकते हैं कि प्रायः उन कवियों ने परम्परा–मुक्त अलंकारों का प्रयोग किया है। इससे काव्य–सौन्दर्य में कोई विशेष अभिवृद्धि नहीं हुई। निःसंदेह कहीं–कहीं तो अलंकारों से बोझिल पंक्तियां भी मिलती हैं, परन्तु कहीं–कहीं अलंकारों के रूप में सुन्दर अप्रस्तुत–विधान की योजना भी की गई है। जहां कवि एकमात्र अलंकार के चमत्कार के पीछे दौड़ा है वहां तो काव्य–रूप की विकृति हो गई है। अन्ततः अधिकांश प्रसंगों में अलंकार अनुभूति को तीव्र करने के लिए आये हैं। प्रतिनिधि रीति काव्यों में बिहारी सतसई को छोड़कर शेष में चमत्कार–प्रदर्शन की प्रवृत्ति की बहुलता नहीं मिलेगी।

4. भक्ति भावना – रीतिकाल का अधिकांश काव्य श्रृंगारिक है। प्रमुख प्रवृत्ति श्रृंगारिकता रहते हुए भी इस काल के कवियों ने अपने–अपने इष्ट देव के प्रति भक्ति भावना को व्यक्त किया है। इसके साथ ही रीतिकाल का भक्ति काव्य विविधतामय है। श्री कृष्ण की बाल और किशोर लीलाओं से अधिकांश रीतिकालीन भक्त कवि मुग्ध हैं। गुजरात से लेकर असम तक और पंजाब से लेकर हैदराबाद तक कृष्ण कथा काव्य की प्रेरक रही। इसका मुख्य केन्द्र वृंदावन रहा। वैष्णव धर्म की दो पीठ रही – कृष्ण भक्ति के लिए वृंदावन और रामभक्ति के लिए अयोध्या। वृंदावन में नागरीदास और घनानंद जैसे भक्त कवियों ने काव्य रचे। इसके अतिरिक्त रीतिकाल में अन्य भक्ति सम्बन्धी सूक्तियां भी यत्र–तत्र बिखरी हुई मिल जाती हैं। परन्तु इनके आधार पर रीति कवि को न तो अनन्य भक्त कह सकते हैं और न उसे राजनीति निष्णात। भक्ति के बारे में उसने सुकविताई के प्रख्यापन की बात सोची थी इस बात का निम्नलिखित पंक्तियों में स्पष्ट संकेत है–

रीझि है सुकवि जो तो जानो कविताई,
न तो राधिका–सुमिरन को बहानो है।।

राम–सीता अथवा राधा–कृष्ण के नामोल्लेख से रीति कवि को भक्त परम्परा में बिठाना नितांत भ्रांत होगा। रीतिकालीन कवि का मुख्य प्रयोजन था किसी न किसी आश्रयदाता या रसिक को रिझाना। उनके रीझने पर ही कवि अपनी रचना को सफल काव्य मानने को तैयार है नहीं तो अगर वह न रीझे तो बाद में वह सन्तोष कर लेगा कि कविता न सही परन्तु इस बहाने से राधा–कृष्ण का सुमिरन तो हो गया। इसी कारण कृष्ण भक्त सखी संप्रदाय की नकल में तथा अयोध्या के राम रसिकों द्वारा लिखे गये कुछ काव्य लोकप्रिय नहीं हो पाये क्योंकि इनमें कृष्ण और राम का मर्यादित और पारम्परिक रूप छिछोरे और अश्लील चित्रण पर उतर आया। इसके बावजूद इस काल के भी कवियों ने श्रीराम से लेकर कृष्ण, शिव, गंगा, दुर्गा और गणेश इत्यादि देवी–देवताओं की स्तुति में कुछ न कुछ अवश्य लिखा है। बिहारी यद्यपि श्रृंगारी कवि हैं परन्तु उनके कुछ दोहे निश्चित रूप से भक्ति–भावना के ही है यथा–

कोऊ कोटिक संग्रहो कोऊ लाख हजार।
मो सम्पति जदुपति सदा विपति विदारनहार।।

भूषण तथा गुरु गोविंद सिंह ने यद्यपि रीतिकाल में वीर रस की रचनाएं रची परन्तु भक्ति भावना के प्रति भी वे सजग रहे। भूषण ने गणपति गणेश के प्रति अपनी भावना व्यंजित की तो गुरु गोविन्द सिंह ने भगवान के भजन की महिमा का वर्णन करते हुए कहा कि तीर्थ स्थान, संयम का पालन और शास्त्र आदि पढ़ना तब तक व्यर्थ है जब तक सच्चे मन से भगवान की भक्ति नहीं की जाती–

श्री भगवान भजे बिनु भूपति एक रत्ती बिनु एक न लेखे।

रीतिकालीन भक्ति के संबन्ध में डॉ. नगेन्द्र के विचार विशेष दृष्टव्य हैं–"यह भक्ति भी उनकी श्रृंगारकिता का अंग थी। जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबरा उठते होंगे तो राधा–कृष्ण का यही अनुराग उनके धर्मधीरू मन को आश्वासन देता होगा। इसी प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक और सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरण–भूमि के रूप में इनकी रक्षा करती थी। तभी तो ये किसी तरह उसका आंचल पकड़े हुए थे। रीतिकाल का कोई भी कवि भक्ति भावना से हीन नहीं है–हो भी नहीं सकता था, क्योंकि भक्ति उसके लिए एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। भौतिक रस की उपासना करते हुए उसके विलासजर्जर मन में इतना नैतिक बल नहीं था कि भक्ति रस में अनास्था प्रकट करते या उसका सैद्धान्तिक निषेध करते। इसलिए रीतिकाल के सामाजिक जीवन और काव्य में भक्ति का आभास अनिवार्यतः वर्तमान है और नायक–नायिका के लिए बार–बार हरि–हरि और राधिका शब्दों का प्रयोग किया है।

सच तो यह है कि नीति और भक्ति उनके जीवन के अवसान और थकान की द्योतक है, राग की अतिशयता से ऊबकर मनुष्य भक्ति और वैराग्य की साधना करता है। रीतिकाव्यों के रचयिता इस बात के अपवाद नहीं थे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रीतिकाल में रचित रीति–आश्रित काव्यों में यत्र–तत्र उपलब्ध भक्ति के कविता खंडों में उसके किसी उदात्त रूप की कल्पना नहीं की गई है किन्तु आधुनिक अनुसंधानों से प्रकाश में आये उत्तर मध्य काल में रचित शुद्ध भक्ति संवलित असंख्य ग्रन्थओं से यह स्पष्ट प्रकट है कि उक्त काल में भक्ति की धारा इतनी क्षीण नहीं थी जितनी कि प्रायः उसे समझा जाता है। निःसंदेह देव, मतिराम तथा बिहारी आदि रीति कवियों के भक्ति संबन्धी छन्दों पर ''राधा कन्हाई सुमिरन को बहानो है'' की उक्ति चरितार्थ होती है किन्तु इसी समय में गुजरात, राजस्थान, पंजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश तथा मिथिला आदि में सैंकड़ों भक्त, संत, सूफी तथा जैन कवियों ने शताधिक भक्ति सबन्धी ग्रन्थों का प्रणयन किया जो कि अद्यावधि उपेक्षित रहा है। राम और कृष्ण भक्ति से संबद्ध रचनाओं की प्रक्रिया भक्ति काल तक ही सीमित अथवा अवरुद्ध नहीं हो गई बल्कि यह परम्परा रीतिकाल में भी अखंड रूप से गतिशील रही। इस काल में विशुद्ध रूप से ब्रज भाषा में प्रणीत तथा गुरुमुखी लिपि में लिखित ब्रज भाषा संबन्धी राम–भक्ति काव्यों की संख्या बहुत अधिक है। कृष्ण–भक्ति से सम्बद्ध नाना संप्रदायों–राधा वल्लभ, सखी, निम्बार्क चैतन्य, वल्लभ तथा ललित संप्रदाय के कवियों तथा पंजाब और हरियाणा में गुरुमुखी लिपि में निबद्ध कृष्ण–भक्ति काव्यों की संख्या सौ से भी ऊपर है। इस युग में रचित जैन और सन्त कवियों की रचनाएँ अध्यात्म और भक्ति की दृष्टि से पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं। इनकी संख्या हजार से भी ऊपर चली जाती है। इनमें प्रतिपादित धर्म, नीति, भक्ति और आध्यात्मिकता से जनता के नैतिक स्तर को काफी ऊंचा उठाया गया है। रीतिकाल में उपलब्ध भक्ति काव्य परिमाण और साहित्यकता की दृष्टि से पर्याप्त महत्वपूर्ण है।

5. नीति और मनोवैज्ञानिकता – रीतिकालीन काव्य में भक्ति–सम्बन्धी उक्तियों के साथ–साथ नीति सम्बन्धी उक्तियां भी शतक ग्रन्थों में प्राप्त हो जाती हैं। नीति सम्बन्धी उक्तियों के चित्रण में गिरिधर कविराय, वृंद वैताल, घाघ इत्यादि कवि उल्लेखनीय हैं।

रीतिकालीन कवियों के काव्य में जहां तक मनोविज्ञान का अंश है, वे उस पर पूर्ण रूप से खरे उतरे हैं। उन्होंने तत्कालीन वातावरण तथा अपने आश्रयदाताओं की रुचि को मनोवैज्ञानिक ढंग से पहचाना और अधिकांशत उसी के अनुरूप अपना काव्य–वर्णन किया। यह वर्णन कहीं गहरे उतर कर पाठक तथा श्रोता के समक्ष एक साकार चित्र प्रस्तुत कर देने की क्षमता रखता था। ऐसी ही मनोवृति और ऐसे चित्र प्रस्तुत करने में कवियों को अच्छी सफलता मिली है। इसी प्रकार नीतिपरक सूक्तियों और व्यंग्यात्मक अन्योक्तियों के माध्यम से जो कुछ कहने का प्रयास किया गया है, उसमें भी मनोवैज्ञानिकता का अच्छा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

6. काव्य रूप – रीति कवि के काव्य की सृष्टि का उद्देश्य उस युग के राजाओं और रईसों की रसिकता की वृत्ति को संतुष्ट करना था। वह सर्वतः राजदरबारी वातावरण से घिरा हुआ था। ऐसी स्थिति में चमत्कार उत्पादनार्थ तथा वाहवाही–प्राप्ति के लिए मुक्तक काव्य शैली उसके अधिक अनुकूल पड़ी। यह समय प्रबन्ध काव्य निर्माण के लिए सर्वथा अनुपयुक्त था। जिन राजदरबारों में कविपुंगवों के दंगल लगते हों और जहां पर एक–दूसरे से बाजी मार जाने की होड़ चलती हो, वहां प्रबन्ध काव्य का प्रश्न कहीं नहीं उठता और फिर इस दिशा में जो थोड़ा बहुत साहस किया भी गया हो तो वह विशेष फलीभूत भी नहीं हुआ। प्रबन्ध काव्यों के लिए निरन्तर एकरसता और धैर्य की आवश्यकता होती है, ये दोनों वस्तुएं न तो उस समय के कवि के पास थी और न ही श्रोता के पास।

हिन्दी–साहित्य के इतिहास में मुक्तक के संबन्ध में आचार्य शुक्ल लिखते हैं – ''मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस

की धारा नहीं रहती जिसमें कथा प्रसंग की परिस्थिति में अपने आपको भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें रस के छींटें पड़ते हैं जिनसे हृदयकलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध काव्य विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से वह सभा–समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, कोई एक रमणीय खण्ड दृश्य इस प्रकार सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिए मन्त्र–मुग्ध सा हो जाता है। इसके लिए कवि को मनोरम वस्तुओं या व्यापारों का एक छोटा सा स्तवक कल्पित करके उन्हें अत्यन्त संक्षिप्त और सशक्त भाषा में प्रदर्शित करना पड़ता है।'' उपर्युक्त कथन से स्पष्ट ध्वनित है कि आचार्य शुक्ल ने रसमग्नता की दिशा में मुक्तकों को उपेक्षणीय दृष्टि से देखा है। परन्तु स्मरण रखना होगा कि भले ही मुक्तकों में अविच्छिन्न रसधारा के दर्शन नहीं होते किन्तु उनमें गहराई अवश्य पाई जाती है। संस्कृत साहित्य में कवि अमरूक के एक–एक मुक्तक पद्य को शत–शत प्रबन्ध काव्यों की क्षमता रखने वाला कहा गया है। हिन्दी के विद्यापति, सूरदास, घनानन्द के मुक्तक पद्यों के संबन्ध में भी उक्त तथ्य पूर्णतः चरितार्थ होता है। बिहारी के कुछ दोहों में पूरी गहराई और रसोद्रेक क्षमता के दर्शन होते हैं। देव में भी रसोद्बोधन पर्याप्त मात्रा में है। रीतिकाव्य के संबन्ध में समष्टि रूप से यह कहा जा सकता है कि उनकी मुख्य विशेषता रसोद्रेक में न होकर चमत्कार–प्रदर्शन में है।

रीति काव्य में, अधिकांशतः कवित्त, सवैया और दोहा जैसे छन्दों का प्रयोग किया गया है। यद्यपि बीच–बीच में छप्पय, बरवै, हरिपद आदि छन्दों का भी प्रयोग किया गया है किन्तु रीति–कवियों की प्रवृत्ति अधिकतर दोहा, सवैया और कवित्त में ही रमी है। कारण कि ये छन्द ब्रजभाषा की प्रकृति के विशेष अनुकूल पड़ते थे और जिन भावों का वर्णन इनमें किया उनमें भी ये उपयुक्त पड़ते थे। अवधी भाषा का बरवै छन्द भी लालित्य में इनके समान बैठता है अतः उसका प्रयोग भी इस काल में किया गया। रीतिकालीन कवि चमत्कारप्रिय थे। इस चमत्कार प्रदर्शन के लिए जिन शब्दालंकारों – यमक, अनुप्रास आदि का आश्रय लिया है तथा अर्थालंकारों को ग्रहण किया है, उनके द्योतन के लिए भी उपर्युक्त छन्द अनुकूल पड़ते थे। दूसरे रीति कवि को ये छन्द अपने पूर्ववर्ती साहित्य से परम्परारूप में भी प्राप्त हुए थे फिर इन्हें निज युगानुकूल पाकर उन लोगों का सारा ध्यान इन्हीं छन्दों पर ही केन्द्रित हो गया। रीतिकाल में शृंगार रस का अधिक उपयोग हुआ है। ये छन्द उसकी प्रकृति के भी सर्वथा अनुकूल थे। नीति और सूक्तियों को भी दोहा जैसे छोटे छन्द से सफलतापूर्वक लिखा जा सकता है। कवित्त और सैवया, वीर रस की अभिव्यक्ति के लिए बड़े सफल सिद्ध हुए।

वैसे तो इस युग में कुछ प्रबन्ध काव्य भी लिखे गये परन्तु वे मुक्तक काव्यों की अजस्रधारा के सामने विशेष प्रसिद्धि को प्राप्त नहीं हो सके।

7. ब्रजभाषा की प्रधानता – ब्रजभाषा इस युग की प्रमुख साहित्यिक भाषा है। आलंकारिता–प्रधान युग में भाषा की सजीवता और शृंगार के संबन्ध में कवि को विशेष सतर्कता और जागरूकता से काम लेना पड़ता है। भारतीय–साहित्य में लालित्य के क्षेत्र में संस्कृत भाषा के पश्चात् ब्रजभाषा का स्थान आता है। एक तो यह मध्यदेशीय भाषा थी, दूसरी यह प्रकृति से मधुर थी और साथ ही कोमल रसों की सुन्दर अभिव्यक्ति की इसमें अपार क्षमता थी। यही कारण है कि रामचरित मानस तथा पद्मावत जैसे अवधी में लिखे हुए काव्यों के होने पर भी रीति–कवि ब्रजभाषा के प्रति आकर्षित हुआ, उसे सजाया, संवारा और निखारा। डॉ. नगेन्द्र इस काल के कवि की भाषा के सम्बन्ध में लिखते हैं। ''भाषा के प्रयोग में इन कवियों ने एक खास नाजुक मिजाजी बरती है। इनके काव्य में किसी भी ऐसे शब्द की गुंजाइश नहीं, जिसमें माधुर्य नहीं है, जो माधुर्य गुण के अनुकूल न हो। अक्षरों के गुम्फन में इन्होंने कभी भी त्रुटि नहीं की। संगीत के रेशमी तारों में इनके शब्द मणिक्य मोती की तरह गुंथे हुए हैं। नागरिकता और मसृणता इस काल की

भाषा के मुख्य तत्त्व हैं। ऐसी रंगाोज्जवल शब्दावली अन्यत्र दुर्लभ है।''

वर्ण–मैत्री, अनुप्रासत्व, ध्वन्यात्मकता, शब्द गति, शब्द–शोधन, अनेकार्थता, व्यंग्य आदि की विशेषता इस काव्य में प्रचुर मात्रा में मिलती है। यह काल ब्रजभाषा की चरमोन्नति का काल है। इस समय ब्रजभाषा में विशेष निखार, माधुर्य और प्रांजलता का समावेश हुआ और भाषा में इतनी प्रौढ़ता आई कि भारतेन्दु–काल तक कविता–क्षेत्र में इनका एकमात्र आधिपत्य रहा और आगे के समय में भी इसके प्रति मोह बना रहा। यह ब्रजभाषा के माधुर्य का परिणाम था कि हिन्दी में मुसलमान कवियों ने भी इसी भाषा का प्रयोग किया और बंगाल के कुछ वैष्णव भक्त–कवियों ने भी इसका प्रयोग किया। दास ने तो ब्रजभाषा की सीमा ही बढ़ा दी। वे केवल ब्रजमंडल में बोली जाने वाली भाषा को ही ब्रजभाषा कहने को तैयार नहीं वरन् ब्रजभाषा तो मधुर रूप में कवियों की रचनाओं में ही मिलती है परिणामतः उसमें अवधी, राजस्थानी और बुन्देलखंडी के शब्दों का भी समावेश हुआ। पूर्वी और छत्तीसगढ़ी आदि अनेक बोलियां के कोमल तथा व्यंजक शब्द इनमें समाविष्ट हुए। अपनी उदार प्रवृत्ति के कारण इसने अरबी और फारसी जैसी विदेशी भाषाओं से शब्दों का चयन किया। एक ओर तो ब्रजभाषा में बोलियों के सम्मिश्रण की प्रक्रिया चलती रही दूसरी ओर कवियों ने उनके शुद्ध व्याकरण–सम्मत रूप के प्रयोग पर विशेष ध्यान नहीं दिया बल्कि स्वेच्छानुसार उसे तोड़ा–मरोड़ा भी। ऐसे कवियों में भूषण और देव का नाम खास तौर पर बदनाम है। भूषण ने ब्रजभाषा के शब्दों के साथ–साथ अरबी, फारसी के शब्दों की तोड़–मरोड़ की है। देव ने तुक, अनुप्रास तथा यमक के आग्रह से शब्दों की तोड़–मरोड़ में मनमाना व्यवहार किया है। पद्माकर की भाषा भी उक्त दोष से रहित नहीं है। बिहारी की भाषा में अवधी, बुन्देलखण्डी, राजस्थानी आदि प्रादेशिक भाषाओं की गहरी छाप है। रीतिबद्ध कवियों की भाषा में कारक चिन्हों की गड़बड़, लिंग–सम्बन्धी दोष, क्रिया रूपों की अनेकरूपता, पद–विन्यासगत शिथिलता आदि के दोष देखे जा सकते हैं। हां इन कवियों में बिहारी की कविता भाषा अपने कतिपय दोषों के बावजूद भी टकसाली भाषा का नमूना है। हालांकि रीतिकाल तक पहुंचते–पहुंचते ब्रजभाषा में च्युत संस्कृति आदि दोषों का सर्वथा परिहार हो जाना चाहिए था पर वह हुआ नहीं, यह एक आश्चर्य की बात है और कदाचित् यही कारण है कि ब्रजभाषा में गद्य–लेखन की क्षमता नहीं आ सकी। इस काल की भाषा की इस त्रुटि को लक्ष्य रखकर आचार्य हजारी प्रसाद ने ठीक ही कहा–''भाषा के भी विश्रामदायक और विनोदन गुणों का इस काल में खूब मार्जन हुआ परन्तु उसे योग्य बनाने का यत्न किसी ने नहीं किया कि वह गम्भीर विचार–प्रणाली का उपयुक्त वाहन बन सके।''

परन्तु इसका मतलब यह कदापि नहीं कि इस काल में परिनिष्ठित भाषा लिखने वाले थे ही नहीं। रसखान और घनानन्द की भाषा को सब लोगों ने परिनिष्ठित ब्रजभाषा माना है। बिहारी की भाषा अपनी त्रुटियों के बावजूद भी टकसाली कही जाएगी। भाषा के प्रयोग के क्षेत्र में कहीं–कहीं तो इन्होंने तुलसीदास को भी पीछे छोड़ दिया है। कोमल–कांत पद्मावली की दृष्टि से देव और पद्माकर ने तुलसी को पीछे छोड दिया है। भाषा की जो मसृणता और लचकीलापन देव और पद्माकर में दिखाई देता है वह तुलसी में नहीं। तुलसी का कवित्व बहुत कुछ वर्णनात्मक होकर रह गया है। जबकि देव और पद्माकर में वातावरण–निर्माण और मूर्ति–योजना की गहरी क्षमता दिखाई देती है।

रीति मुक्त कवियों–बोधा और घनानन्द आदि की भाषा के विषय में पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र के विचार अवलोकनीय हैं–''घनानन्द और ठाकुर ने ब्रजभाषा को बहुत शक्ति दी है। वागयोग का ऐसा विधान शब्दों का मनमाना और निरर्थक प्रयोग करने वालों में कही लोकोक्तियों का जैसा विनियोग ठाकुर ने किया है हिन्दी के किसी दूसरे कवि ने नहीं। घनानन्द की रचना में तो भाषा स्थान–स्थान पर अर्थ की संपत्ति से समृद्ध होकर सामने आती है। वाक्य ध्वनि और पदध्वनि तो दूर रही पद्यांश–ध्वनि से भी जगह–जगह काम लिया है। इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त

होगा–

"मेरी मनोरथ हु वहिये अरु है मो मनोरथ पूरनकारी"

तात्पर्य यह है कि रीतिमुक्त कवि भाषा के प्रयोग में पूर्णतः सक्षम थे किन्तु अधिकांश रीति–काव्यों की भाषा ने शुद्धता की ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया।

8. लक्षण ग्रन्थों का निर्माण – रीतिकाल में कवि–कर्म और आचार्य कर्म एक साथ चलते रहे। रीतिमुक्त कवियों को छोड़कर प्रायः इस काल के सभी कवियों ने लक्षण ग्रन्थों का निर्माण किया है। रीतिबद्ध कवियों ने तो सीधे रूप में लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किया। रीतिसिद्ध कवियों ने केवल उदाहरण जुटाये, उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से काव्यांग–संबन्धी किसी लक्षण को नहीं लिखा पर उनके सभी उदाहरणों की पृष्ठभूमि में रीति शास्त्र काम कर रहा है। इस प्रसंग में इतना स्मरण रखना होगा कि ये दोनों कार्य–कवि–कर्म और आचार्य–कर्म–परस्पर विरोधी वस्तुएँ हैं। कवि के लिए माता का सा भावप्रवण हृदय अपेक्षित होता है। आचार्य–कर्म की सफलता के लिए प्रौढ़ मस्तिष्क और सर्वांग–पूर्ण संतुलित विवेचन–शक्ति की अपेक्षा हुआ करती है। रीतियुगीन साहित्यकार सर्वप्रथम भावुक हृदय वाला एक कोमल भावनाओं का चितेरा है, आचार्य–कर्म को तो उसे परम्परावश निभाना पड़ा, उस युग में कुछ ऐसी परिपाटी चल रही थी कि कोई भी कवि रीतिशास्त्र के ज्ञान के बिना राजदरबार में आदर का पात्र नहीं बन सकता था। फलतः सभी कवियों ने पांडित्य प्रदर्शन किया परन्तु लक्षण–ग्रन्थों के निर्माण में इन लोगों की सफलता संदिग्ध है। आचार्य शुक्ल ने रीतिकालीन इस प्रवृत्ति को लक्ष्य करके ठीक ही कहा है कि इन रीतिकारों के रीति–ग्रन्थों पर निर्भर रहने वाले व्यक्तियों का ज्ञान अधूरा समझना होगा क्योंकि इन्हें स्वयं भी रीतिशास्त्र का परिपक्व ज्ञान नहीं था। निःसंदेह इन रीति ग्रन्थों में काव्यांगों का कोई विवेचन प्रस्तुत नहीं किया गया बल्कि कई स्थलों पर तो भद्दी भूलें भी की हैं। प्रौढ़ विवेचन तो दूर रहा, कुछ ने तो संस्कृत के आधारभूत शास्त्रीय ग्रन्थों का अनुवाद भी सम्यक् रूप से नहीं किया। वस्तुतः प्रौढ़ विवेचन तभी संभव होता है जबकि काव्य के विभिन्न संप्रदायों की उस क्षेत्र में स्थापना हो चुकी हो। हिन्दी के रीति कवियों के निर्माण के समय हिन्दी में ऐसा नहीं बन पड़ा था। दूसरे, रीतियुग के आचार्य ने या तो ह्रासोन्मुख संस्कृत साहित्य के उस समय के काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों का आश्रय लिया जबकि काव्य के अंग और अंगों का भेद भी स्पष्ट नहीं हो पाया था। उन्होंने मम्मट या ध्वनिकार के ग्रन्थों को अपने आश्रय रूप में ग्रहण नहीं किया। यदि ग्रहण किया भी तो बहुत थोड़े आचार्यों ने। दूसरे उस रसिक प्रधान युग के व्यक्ति की काव्य संबंधी प्रौढ़ ज्ञान को प्राप्त करने के लिए अभिरुचि भी कहाँ थी? उन्हें तो रीतिशास्त्र का प्राम्भिक ज्ञान अपेक्षित था और उसकी पूर्ति इन लक्षणग्रन्थों से निश्चित रूप में हुई। डॉ. भगीरथ के शब्दों में, "वास्तविक तथ्य तो यह है कि इन हिन्दी लक्षणकारों या रीति–ग्रन्थकारों के सामने कोई वास्तविक काव्यशास्त्रीय समस्या नहीं थी। इनका उद्देश्य विद्वानों के लिए काव्यशास्त्र के ग्रन्थों का निर्माण नहीं था, वरन कवियों और साहित्य रसिकों को काव्यशास्त्र के विषयों से परिचित करना था। संस्कृत के आचार्यों की परिपाटी यह नहीं बन पाई थी कि वे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों का खण्डन या मण्डन करके किसी सिद्धान्त या काव्यादर्श को आगे बढ़ाते। अतः यह तथ्य है कि हिन्दी काव्यशास्त्र या रीति–ग्रन्थों के द्वारा भारतीय काव्यशास्त्र का कोई महत्त्वपूर्ण विकास नहीं हो पाया। फिर भी काव्य–क्षेत्र में और हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों के अध्ययन में इस प्रकार के काव्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस परम्परा को लेकर लिखे गये ग्रन्थों की संख्या भी बहुत बड़ी है।"

9. वीररस की कविता – वैसे रीति युग प्रायः शान्ति और समृद्धि का समय है किन्तु औरंगजेब के क्रूर आतंकमय शासन ने भारतीय प्रशान्त वातावरण को विक्षुब्ध कर दिया। अब पूर्ववर्ती सम्राटों की उदारता की नीति का स्थान औरंगजेब की कट्टर असहिष्णुता की नीति ने लिया। उसने हिन्दू–जनता पर अकथनीय अत्याचार किये। फलतः

चिरकाल से प्रसुप्त वीरात्मक प्रवृत्तियां पुनः जाग उठीं। दक्षिण में महाराज शिवाजी, पंजाब में गुरु गोविन्दसिंह, राजस्थान में महाराणा राजसिंह और जसवंत सिंह का सेनापति दुर्गादास तथा मध्य प्रदेश में छत्रसाल आदि वीर स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा के लिए औरंगजेब के साथ लोहा लेने को उठ खड़े हुए। अपने आश्रयदाताओं की धमनियों में अपने आततायी के विरुद्ध खड़े होकर सबल टक्कर लेने के लिए नवीन रक्त का संचार करने के लिए कवियों ने भी वीर रसात्मक कविताओं की रचना की। इस प्रकार शृंगार की प्रधान धारा के साथ क्षीण रूप में वीररस की धारा भी इस काल में बहती रही। यह इन दो विरोधी रसों का एक विलक्षण सम्मिश्रण है। भूषण, सूदन, पद्माकर आदि कवियों ने बड़ी ओजस्विनी भाषा में वीररसात्मक काव्य की सृष्टि की। इन वीर रस के कवियों में राष्ट्रीयता का स्वर प्रधान है। कुछ लोग इन कवियों की राष्ट्रीयता पर आपत्ति उठाया करते हैं। उनका कहना है कि इनमें जातीयता है। अस्तु, इस संबन्ध में हमें कहना है कि प्रत्येक युग के राष्ट्रीयता के मापदण्ड भिन्न–भिन्न हुआ करते हैं। किसी युग की राष्ट्रीयता का निर्धारण करते समय उस युग की परिस्थितियों को भुला देना ज्यादा संगत है।

आधुनिक अनुसंधानों के फलस्वरूप वीर रस से ओत प्रोत शताधिक रचनायें प्रकाश में आई हैं। ये रचनायें राजस्थान, पंजाब, हरियाणा तथा अन्य कई प्रदेशों में निर्मित हुई हैं। इस रचना बाहुल्य को देखते हुए लगता है कि उत्तर मध्यवर्ती काल रीतिकाल में जहां शृंगार रस का चित्रण प्रधान विषय बना रहा वहां वीर रस का निरूपण भी उससे गौण नहीं था। डॉ. टीकमसिंह तोमर ने अपने शोध प्रबन्ध 'हिन्दी वीर–काव्य' (1700–1900) में 90 वीर काव्यों की सूची प्रस्तुत की है। जिनका रचना–काल रीतिकाल में पड़ता है। इन रचनाओं में वीर रस के सभी भेदों–युद्धवीर, दानवीर, दयावीर तथा धर्मवीर का सफलतापूर्वक अंकन किया गया है। इसके अतिरिक्त रासो रयस अथवा रास नामधारी ग्रन्थ तथा बात, बेल और वचनिका नामधारी–रचनाओं का पता चला है जिनमें वीररस का कलात्मक चित्रण उपलब्ध होता है। ये रचनायें प्रायः राजाश्रय में लिखी गई हैं। इनमें आश्रयदाता के वंश, उन देशों में वीरता तथा दानशीलता की गौरव गाथाओं के अतिरंजनापूर्ण वर्णन हैं। हरियाणा और पंजाब में उपलब्ध वीर काव्य गुरुमुखी लिपि में निबद्ध थे अतः बहुत समय तक विद्वानों का ध्यान इन महत्त्वपूर्ण वीर–गाथाओं की ओर नहीं गया। डॉ. जय भगवान गोयल ने ऐसे 25 वीर काव्यों की सूचना दी है। उनका विश्वास है कि विष्य के अनुसंधानों द्वारा ऐसे अनेक ग्रन्थों की प्रकाश में आने की संभावना है। इन रचनाओं की भाषा ब्रज है। इनमें से गुरू गोविन्दसिंह, सन्तोष सिंह, संतरेण तथा सुक्खा सिंह की–वीर रचनायें वीररस निरूपण की दृष्टि से उत्तम निदर्शन कही जा सकती है। इनमें तत्कालीन राजनीतिक चेतना का युगबोध पर्याप्त मात्रा में है। ये वीर काव्य रीतिकालीन परम्परागत शृंगारिकता के प्रभाव से मुक्त है। रीतिकालीन वीर–काव्यों का अध्ययन एक विशेष दृष्टिकोण से अपेक्षित है।

10. सूफी काव्य तथा प्रेमाख्यानक काव्य– रीति काल में दो प्रकार के प्रेम काव्यों की रचना हुई। कुछ काव्य आध्यात्मिक प्रेम सिद्धान्त निरूपक हैं और कुछ लौकिक प्रेम परक। पहले प्रकार के सूफी काव्यों का निर्माण मुसलमान सूफी कवियों तथा हिन्दू सन्त कवियों ने किया। मुसलमान सूफी कवियों में कासिम शाह, नूर मुहम्मद और शेख निसार विशेष उल्लेखनीय हैं। हिन्दू कवियों में सूरदास और दुखहरनदास अधिक प्रसिद्ध हैं। यद्यपि सूफी काव्यों का पूर्ण उत्कर्ष भक्ति काल में दृष्टिगोचर होता है किन्तु यह काव्यधारा उन्नीसवीं शती तक निरन्तर प्रवाहित होती रही।

लौकिक प्रेम काव्यों के लेखकों में बोधा, चतुर्भुजदास, आलम आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

11. आलम्बन रूप में प्रकृति–चित्रण – रीति काव्य में प्रकृति का चित्रण आलम्बन रूप में हुआ। प्रकृति का आश्रय रूप अथवा स्वतंत्र रूप में कम चित्रण हुआ है और यह स्वाभाविक भी था क्योंकि रीति–कवि दरबारी कवि या उसके पास प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में विचरने का अवकाश भी कब था अतः उसके काव्य में वाल्मीकी, कालिदास का–सा

प्रकृति का बिम्बग्राही रूप नहीं मिलता है। प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण भी परम्परा–मुक्त है। प्रकृति का चित्रण नायक और नायिका की मानसिक दशा के अनुकूल ही किया गया है। संयोग में उसका मनोमुग्धकारी उत्फुल्ल रूप है और वियोग में विदग्धकारी रूप। प्रकृति के उद्दीपन रूप का चित्रण षट्ऋतु और बारहमासे की चित्रण–पद्धति पर हुआ है। संयोग–पक्ष में पावस का उतना प्रभावोत्पादक वर्णन नहीं, जितना इससे संबद्ध हिंडोले और तीजत्यौहार का। पावस में प्रेमी–प्रेमिका के मिलन–अवसर पर कवि का मन खूब रमता हुआ–सा दिखाई देता है। रीति–कवि की नायिका को वियोगकाल में शुभ्र चन्द्रमा कसाई का काम करता दिखाई देता है। पपीहे की पी–पी प्राण लेने लगती है। उसके लिए चन्दन और चाँदनी आग बरसाते हैं। इन रीति कवियों में सेनापति को प्रकृति चित्रण में काफी सफलता मिली है। वैसे रीतिकालीन कवि प्रायः प्रकृति के प्रति तटस्थ थे। जहाँ संस्कृति में प्रकृति की एक–एक अदा पर संस्कृत कवि का मन थिरकने लगता है, जहां आषाढ़ का प्रथम दिन उसे पूरा काव्य निर्माण की प्रेरणा देता है, वहां हिन्दी में रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि बिहारी ने एक–एक दोहे में एक–एक वस्तु का वर्णन करके छुट्टी पा ली। रीतिकाव्य में प्रकृति के संश्लिष्ट चित्र नहीं मिलते हैं। कहीं–कहीं तो इन लोगों ने इस प्रसंग में अपने अज्ञान का भी परिचय दिया है। प्रकृति चित्रण संबन्धी इनके दृष्टिकोण का परिचय केवल निम्न शब्दों में भली भांति मिल जाता है :–

"ताते मुख मुखै सखि कमलौ न चन्द री।"

12. अभिव्यजंना–पद्धति – किसी भी युग के साहित्यकार की अभिव्यंजना पद्धति या प्रणाली उसकी वैयक्तिता का प्रतीक होती है जो कि उसके साहित्य में सहज रूप में समाविष्ट हो जाती है। कवि अनुभूतियों को मूर्त रूप देने के लिए विशिष्ट शब्दों, मुहावरों, विशेषणों तथा लोकोक्तियों का चयन अपनी वैयक्तिक अभिरुचियों के अनुसार किया करता है। अतः रीति–काव्यों की शैलीगत विशेषताओं के उद्घाटन के लिए हम उनके द्वारा गृहीत शब्दों, विशेषणों, मुहावरों तथा लोकोक्तियों का भी विश्लेषण करेंगे।

मानवजीवन के समान शब्दों का जीवन भी नाना विलक्षणताओं से परिपूर्ण होता है। कुछ शब्द किसी विशिष्ट युग में नवीन अर्थवत्ता ग्रहण कर लेते हैं। भक्तिकाल में राधा और कृष्ण शब्दों में जो सात्विकता लिपटी हुई थी उसका रीतिकाल में सर्वथा परिहार हो गया और वे साधारण नायक–नायिका नत्थू और कल्लू के अर्थों में प्रयुक्त होने लगे। यही नहीं, रीतिकाल के अन्तिम चरण में कन्हैया और सांवलिया में नई अर्थवेत्ता ही नहीं भरी गई वरन् व्यावहारिक जीवन में भी लोग कन्हैया और सांवलियां का नाटक खेलने लगे। रीतिकाल में प्रयुक्त लाल और लला शब्दों का भी हाल समझना चाहिए। कविता में वातावरण–निर्माण के लिए ध्वन्यात्मक शब्दों का विशेष महत्त्व है। इस अभिप्राय की पूर्ति के लिए रीति कवि ने तीन प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है, रणनात्मक, अुकरणात्मक तथा लक्षणात्मक। बिहारी, देव, दास तथा पद्माकर आदि ने इन शब्दों का बहुधा प्रयोग किया है। जैसे–'झांझरिया झनकेंगी खरी'', ''रणत भृंग घंटावली'', ''फहर फहर होत पीतम को पीत तट'' इन शब्दों से उपस्थित किया गया ऐन्द्रिय वातावरण उस काल के उपभोगात्मक दृष्टिकोण का परिचायक है। रीति कवि द्वारा प्रयुक्त विशेषणों में चित्रोपम सौन्दर्य निहित है।

यह बात हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि रीतिकाल में सामन्ती वातावरण चतुर्दिक् फैला हुआ था। बेशक मुगल शासकों के दरबार में हिन्दी को भी थोड़ा–बहुत संरक्षण मिला हुआ था परन्तु जो प्रश्रय फारसी और उर्दू तथा उनके कवि को मिल रहा था वह हिन्दी कवि को नहीं। फलतः रीति–कवि को उनसे होड़ लेनी थी। कदाचित् यही कारण है कि उसने फारसी कवि जैसी ऊहात्मक पद्धति को अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए अपनाया।

13. नारी चित्रण – हम पहले बता चुके हैं कि मुगल शासन की निरंकुश सत्ता के सम्मुख देशी रजवाड़ों के नरेशों का तेज आहत हो चुका था। मुगल दरबार के प्रचुर विलास का अनुकरण करना ही उनके जीवन का उद्देश्य

बन गया था। मानो यह एक मनोवैज्ञानिक रूप से क्षतिपूर्ति थी। राज्याश्रित कवि नारी के कुच–कटाक्ष के महीन से महीन विलासात्मक रंगीले और भड़कीले चित्र उतारकर अपने स्वामी के गहरे मानसिक विषाद को दूर करने में प्रयत्नशील थे। उनके सामने नारी का एक ही रूप था और वह था विलासिनी प्रेमिका का। नारी उनके लिए एकमात्र भोगविलास का उपकरण मात्र थी। नारी के अनेक रूपों गृहिणी, जननी, देवी, भगिनी आदि पर उनकी दृष्टि नहीं पड़ी। वे नारी शरीर के सौन्दर्य सरोवर में सतह पर ही गोते खाते रह गये। एक साहसी मरजीवा के समान उनकी आत्मा के सौन्दर्य के तल पर नहीं पहुंच सके और यह उनसे सम्भव ही नहीं था, क्योंकि वे कुछ ऐसे वातावरण में चारों और से आबद्ध थे कि वे जीवन को व्यापक दृष्टिकोण से नहीं देख सके और न वे नारी–जीवन की अनेकरूपता को अवगत कर सके। डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में–''रीति काव्य आध्यात्मिक तो है ही नहीं, परन्तु वस्तु रूप में भौतिक भी नहीं–अर्थात् न उसमें आत्मा की अतल जिज्ञासा है न प्रकृति की दृढ़ कठोरता। वह तो जैसे जीवन का एक विराम स्थल है। जहां सभी प्रकार की दौड़–धूप से श्रान्त होकर मानव नारी की मधुर अंचल–छाया में बैठकर अपने दुःखों और प्रभावों को भूल जाता है। उसका आधारफलक इतना सीमित है कि जीवन की अनेकरूपता के लिए उसमें स्थान ही नहीं है, उस पर अंकित जीवन–चित्र भी स्वभावतः एकांगी है।''

इस एकांगी दृष्टिकोण के कारण यह नारीजीवन के सामाजिक महत्त्व, उसके श्रद्धामय रूप और उसकी मातृ–शक्ति को देख नहीं सका। वह केवल तनद्युति का अनुरागी था। और उसका वह अनुराग यहां तक बढ़ चुका था कि वह अपनी आराध्य देवी के भी शारीरिक लावण्य पर ही रीझता रहा है –'तीज तीरथ हरि राधिका तन दुति करु अनुराग'। रीतिकालीन कवि की नारी अपने प्रांगण में लाल के द्वारा उड़ाये हुए पतंग की छाया को चूमती फिरती है और कदाचित् पुत्र की हथेली को इसलिए चूमती है कि उसमें अपने प्रियतम का प्रतिबिम्ब मिलता है, जैसे कि वात्सल्य नाम की वस्तु उसमें रह ही नहीं गई। कभी–कभी वह जारजयोग का स्मरण करती हुई मुस्करा रही है। ऐसे लगता है कि मानो वासना ही उसके जीवन का खाना–पीना, ओढ़ना–बिछौना सब कुछ हो। आचार्य हज़ारी प्रसाद का रीतिकालीन श्रृंगार भावना में रुग्णभावना बतलाना उपयुक्त ही है।

रीतिबद्ध कवियों के द्वारा तो नारी के सामाजिक जीवन के महत्त्व का उद्घाटन हो ही नहीं पाया, रीतिमुक्त कवियों में भी उसका यह महत्त्व व्यक्त नहीं हो पाया। सभी बंधी–बंधाई लकीर पर उसके अंग–प्रत्यंग की शोभा, हाव–भाव और विलास चेष्टाओं का वर्णन करते रहे। इस सम्बन्ध में आचार्य हज़ारी प्रसाद के शब्द विशिष्ट रूप से अवलोकनीय हैं–''यहां नारी कोई व्यक्ति या समाज के संगठन की इकाई नहीं है, बल्कि सब प्रकार की विशेषताओं के बन्धन से यथासम्भव मुक्त विलास का एक उपकरण मात्र है। देव ने कहा है

कौन गनै पुर बन नगर कामिनि एकै रीति।
देखत हरै विवेक को चित्त हरै करि प्रीति।।

इससे इतना स्पष्ट है कि नारी की विशेषता इनकी दृष्टि में कुछ नहीं है, यह केवल पुरुष के आकर्षण का केन्द्र भर है। नारी–जीवन के प्रति रीति कवि के इस संकुचित दृष्टिकोण का दायित्व एक तो उस समय के वातावरण पर है और दूसरा है कामशास्त्रीय ग्रन्थों के अभाव पर। नायिका–भेद पर दृष्टिपात करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि रीति–कवि ने सर्वत्र रूप के प्रति गहरी आसक्ति प्रदर्शित की है। नायिका होने के लिए किसी स्त्री का सुन्दर होना पहली शर्त है –

मानों रची छवि मूरति मोहिनी,
श्रीधर ऐसी बखानत नायिका।

14. प्रतियोगिता की भावना – रीतिकालीन कवियों में आचार्यत्व और कवित्व की प्रवृत्तियों के साथ–साथ प्रतियोगिता की भावना भी प्रबल रूप से विद्यमान है। वह अपने काव्य–भाषा और सिद्धान्तों के प्रतिपादन से अपने समान धर्मी कवियों से निज उत्कृष्टता की स्थापना के कार्य में व्याकुल हैं। यद्यपि उक्त भावना संस्कृत के कवियों में भी मिलती है किन्तु उसमें अपेक्षाकृत गम्भीरता बनी रही। रीतिकाल में इसका क्रमागत ह्रास होने लगा। इसका कारण कदाचित् बादशाहों के महलों में लगने वाले उर्दू और फारसी के कवियों के दंगल हैं। राज–दरबार में अपनी सर्वोत्कृष्टता की सिद्धि की तीव्र लालसा ने रीतिकाल के आचार्य और कवियों में इस प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया।

15. पराश्रयिता की भावना – रीतिकालीन कवि और समाज अपेक्षाकृत अधिक पराश्रित हैं। रीति–कवि एवं आचार्य का व्यक्तित्व, आजीविका और भावाभिव्यक्ति के लिए आश्रयदाता की कृपा दृष्टि पर अवलम्बित है। उसके द्वारा किये गये नायिका–भेद तथा उसके विस्तार–प्रसार में उसके निजी स्फुरण की न्यूनता है। उसके नायिका भेद विस्तार के पीछे संस्कृत कवि से बाजी मारने की भावना काम कर रही है। वह अपने साहित्य और काव्यशास्त्रीय ज्ञान के लिए संस्कृत कवियों तथा आचार्यों पर अधिकतर निर्भर रहा है। इस प्रकार रीतिकालीन कवि द्वारा वर्णित समाज तथा उसके काव्य साहित्य ज्ञान पर पराश्रयिता की स्पष्ट छाप है। किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि रीतिकाल के कवि ने सब कुछ उधार किया हुआ है या उसका साहित्य विशिष्ट व्यक्तित्व से शून्य है। हां, इस विषय में रीतिकालीन कवि की संस्कृत साहित्य पर अत्यधिक अवलम्बिता अवश्य चिन्त्य है। रीतिकालीन कवि में स्वतन्त्र चिन्तन के प्रति अवज्ञा का यह भाव खटकता अवश्य है।

16. वर्णन शैली तथा रीति कवि का व्यक्तित्व – प्रायः रीति कवि ने अपने काव्य में मध्यकालीन साहित्य की वर्णन शैली का आश्रय लिया है। यह शैली संस्कृत कवि बाण के समय में प्रचलित थी और उसका प्रयोग रीतिकाल तक निरन्तर होता रहा है। संस्कृत के 'अलंकार शेखर' तथा 'शृंगार–तिलक' ज्योतिरीश्वर ठाकुर का 'वर्णरत्नाकर' तथा केशव की 'कवि–प्रिया' आदि ग्रन्थ वर्णक शैली के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में कवि के प्रतिपाद्य विषयों का निर्धारण कर दिया गया है। बाद में परिवर्तित परिस्थितियों और आवश्यकतानुसार उक्त शैली के अन्तर्गत नवीन विषयों का भी समावेश कर लिया गया। इस शैली में जंगल, बांग–बगीचों के वर्णन, वृक्षों, पक्षियों की घिसी–पिटी रुचियों, उद्यान, क्रीड़ा, सलिल क्रीड़ा, हाथियों घोड़ों के भेद–प्रभेद तथा उनकी चालों की वर्णन करने की परम्परा थी। बाद में इसमें ज्योतिष, कामशास्त्र पौराणिक विषय तथा पकवानों का भी शनैःशनैः समावेश होता गया। कहने का तात्पर्य यह है कि जो 2 विषय जन रुचि के अधिक निकट पहुंचते गये उन सबका समावेश कवियों ने उक्त शैली के अन्तर्गत कर लिया। हमारा दृढ़ विश्वास है कि अब्दुर्रहमान का 'सन्देश रासक', विद्यापति की 'कीर्तिलता', जायसी का 'पद्मावत', केशव की कविप्रिया तथा बिहारी की सतसई वर्णक शैली के अन्तर्गत है। बिहारी सतसई में अनेक स्वादों के भरने की प्रवृत्ति (करी–बिहारी सतसई, भरी अनेक सवाद) उक्त शैली की ज्ञापक है। बिहारी–सतसई में ज्योतिष, पुराण तथा गणित सम्बन्धी उक्तियों के आधार पर बिहारी की उपर्युक्त विषयों में विशेषज्ञा अथवा अपार–पांडित्य की दुहाई देना निरर्थक है। मध्य युग में अनेक विषयों के वर्णन की परम्परा परिनिष्ठित हो चुकी थी और बिहारी आदि ने भी उसी का अनुसरण किया है।

व्यक्तित्व और शैली परस्पर अपरिच्छिन्न वस्तुएं हैं। रीतिकवि के सामन्ती वातावरण में राज–सभा में प्रवेश पाने और राजसम्मान प्राप्त करने के लिए अनेक विषयों की जानकारी का प्रमाण प्रस्तुत करना होता था। निम्नस्थ कथनों में उपर्युक्त तथ्य की सम्यक् परिपुष्टि हो जाती है।

(क) जानत हौ ज्योतिष पुराण और बैद्यक को,

जोरि जोरि आखर कवित्तम को उच्चरौ।

बैठि जानी सभा मांझ राजा को रिझाय जानौ,

अस्त्र बांधि खेत मांझ सत्रु न सौ हौ लरौ।

राग धरि गाऊं और कुदाऊं घोड़ें बाग धरि,

कूप ताल बाबरीन नारन में हौ तरौ।

(ख) विद्या पढ़ेऊ करू संगीता, सामुद्रिक जोतिश गुण गीता।

काव्य कोक आगम हूं बखानहूं घट् राग रागिनि संग गाऊं।

छन्द :– रीतिकालीन मुक्त काव्य में तीन छन्द विशेष रूप से अपनाए गये हैं, दोहा, कवित्त और सवैया। प्रेम, भक्ति, वीर भावों की अभिव्यक्ति के लिए कवित्त और सवैया छन्दों का प्रयोग हुआ है। कहीं–कहीं छप्पय, बरवा और हरिपद छंद भी प्रयुक्त हैं। प्रबन्ध काव्यों में इन छन्दों के अतिरिक्त चौपाई छंद का विशेष प्रयोग मिलता है। छंदों सम्बन्धी कुछ लक्षण ग्रन्थ भी इस युग की देन हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि रीतिकाल को कथ्य एवं शिल्प के धरातल पर सीमित नहीं माना जा सकता। रीतिकालीन प्रवृतियों की सविस्तार प्रस्तुति से यह स्पष्ट हो चुका है कि शायद ही कोई विषय हो जिसके प्रति इस काल के कवि सचेत न रहे हों। निसन्देह इस काल में प्रमुखता श्रृंगारिक प्रवृत्ति की थी पर अन्य प्रवृत्तियों का महत्व भी समान रूप से रहा है।

16.6. सारांश :

इस अध्याय में हमने रीतिकालीन प्रमुख धाराओं का क्रमबद्ध परिचय प्राप्त किया तथा रीतिकालीन प्रमुख कवियों के साथ रीतिकालीन प्रमुख प्रवृत्तियों का भी विस्तारपूर्वक अध्ययन किया।

16.7. प्रश्नावली :

1. रीतिकालीन साहित्य की विभिन्न धाराओं पर प्रकाश डालिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

2. रीतिकालीन रीतिबद्ध धारा का परिचय दीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

3. रीतिकालीन प्रमुख कवियों के योगदान पर प्रकाश डालिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

4. रीतिकालीन प्रवृत्तियों का विश्लेषण कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

16.8. पठनीय सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ० नगेन्द्र
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – हुकुम चन्द राजपाल
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास – शिव कुमार शर्मा

.....

रीतिकालीन गद्य साहित्य : सामान्य परिचय

17.0. रूपरेखा

17.1. उद्देश्य

17.2. भूमिका

17.3. रीतिकालीन गद्य साहित्य : सामान्य परिचय

17.4. ब्रजभाषा गद्य

17.5. खड़ी बोली गद्य

17.6. दक्खिनी गद्य

17.7. राजस्थानी गद्य

17.8. भोजपुरी और अवधी की गद्य रचनाएँ

17.9. सारांश

17.10. प्रश्नावली

17.11. पठनीय सन्दर्भ ग्रन्थ

17.1. उद्देश्य :

रीतिकाल में पद्य साहित्य की तो अत्यधिक रचना हुई साथ ही गद्य लेखन का भी पर्याप्त सृजन हुआ। विद्यार्थी इस पाठ में रीतिकाल की इस विधा का अध्ययन करेंगे।

17.2. भूमिका :

रीतिकालीन साहित्य बेशक राजाओं–नवाबों के मनोरंजन की दृष्टि से लिखा गया हो। इसी काल में गम्भीर गद्य लेखन भी हुआ। यह गद्य लेखन विभिन्न भाषाओं तथा रूपों में हुआ जिनमें मुख्य रूप से ब्रजभाषा, खड़ी बोली,

राजस्थानी, भोजपुरी तथा अवधी भाषा में रचित रचनाएं सामने आयीं। जिनका विस्तृत अध्ययन इस पाठ में है।

17.3. रीतिकालीन गद्य साहित्य : सामान्य परिचय :

रीतिकालीन पद्य साहित्य अपने प्रतिपाद्य विषय और छंद–विधान की दृष्टि से अपना एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखता है। रीतिकालीन पद्य साहित्य में शास्त्रीयता और कलात्मकता का समन्वय है। परन्तु श्रृंगारिकता की भी प्रधानता है। रीतिकाल में मुक्तक काव्य का प्रणयन अत्यधिक मात्रा में हुआ। इस काल में प्रबन्ध–काव्य भी बने किन्तु मात्रा और गुण में गौण होने के कारण वे नगण्य से हैं। रीतिकालीन पद्य साहित्य की सृष्टि का उद्देश्य वस्तुतः उस युग के नवाबों, सामन्तों, नरेशों तथा अमीरों, वजीरों इत्यादि की रसिकता की वृति को संतुष्ट करना था। कविता राजदरबारी वातावरण से घिरी हुई थी ऐसी स्थिति में कलात्मक सामग्री के उपभोग की अपेक्षा, श्रोता को आकर्षित, चमत्कृत तथा आनन्दित करने के लिए ही पद्य साहित्य के मुक्तक काव्य रूप की रचना इस काल में मुखर रही। रीतिकाल में काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के प्रणयन की परम्परा भी उभर कर सामने आयी। काव्यशास्त्र के इस बढ़ते हुए प्रभाव ने मुक्तक काव्य को निश्चित रूप से प्रोत्साहित किया। पद्य–साहित्य में भाषा का परिमार्जन, सौष्ठव और प्रौढ़ता, उक्ति का वैचित्र्य और चमत्कार तथा भाव की मर्मस्पर्शिनी अभिव्यंजना मिलती है। कुल मिला कर रीतिकाल का पद्य–साहित्य विविधमुखी है जिसका अस्तित्व एक वृहत परिपार्श्व में बिखरा हुआ है। इस प्रकार रीतिकालीन पद्य–साहित्य का सृजन तो इस काल में होता ही रहा इसके साथ–साथ इस काल में गद्य–साहिय सृजन की परम्परा भी साथ–साथ चलती ही रही।

गद्य लेखन की परम्परा का प्रस्फुटन यद्यपि भक्तिकाल में हो चुका था तथापि रीतिकाल में गद्य लेखन का कार्य भक्ति काल की अपेक्षा कहीं अधिक हुआ। इस काल में रचित ब्रज भाषा और राजस्थानी का गद्य निश्चय ही पर्याप्त, प्रचुर, प्रौढ व समृद्ध रहा। खड़ी बोली, दक्खिनी और मैथिली में गद्य लेखन भक्तिकाल की अपेक्षा अधिक सक्रिय रहा। इस काल में आधुनिक हिन्दी गद्य के विविध रूपों का भी प्रस्फुटन हुआ। इस युग में भोजपुरी और अवधी में भी गद्य–साहित्य का निर्माण हुआ। टीकात्मक अनूदित रचनाओं की संख्या इस काल में अधिक है, परन्तु मौलिक ललित गद्य का भी परिमाण विरल नहीं है। इस समय की प्रमुख गद्य विधाएं हैं– कथा–कहानी, वार्ता, वात, वर्णन, चरित्र, वचनिका, दवावैत, सलोका, वचनामृत (प्रवचन) गोसट्, जनमसाखी, परचीओ, जीवनी, नाटक, ख्यात, पीढी, विगत, वंशावली, पट्टावली, पत्र (मौलिक रूप) बालावबोध, टिप्पण, भाषा परमारथ, भाव, भावना, वार्तिक (व्याख्यानुवाद) पुस्तक परिचय, निबन्धात्मक रचनाएँ, जीवन–शैली की रचनाएँ भी प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त शिला लेखों, भित्ति–प्रशस्तियों और कागज–पत्रों के रूप में भी गद्य के नमूने प्राप्त होते हैं। इन रूपों के अतिरिक्त उन्नीसवीं शती के आरम्भ में पाठय् पुस्तकों तथा समाचार पत्रों का लेखन व प्रकाशन आरम्भ हो गया था। इसके अतिरिक्त इस काल में पद्यात्मक रीति–ग्रन्थों, तथा अन्य पद्यग्रन्थों अथवा कवितात्मक पुस्तकों में वात, वार्ता, चर्चा, वचनिका, तिलक इत्यादि अनेक शीर्षकों में गद्य टिप्पणी लिखने का कार्य भी आरम्भ हो गया था।

इस समय के गद्य के मुख्य विषय इस प्रकार रहे– धर्म, दर्शन, अध्यात्म, इतिहास, भूगोल, चिकित्सा, ज्योतिष, काव्यशास्त्र, शकुन–शास्त्र, प्रश्न–शास्त्र, सामुद्रिक, गणित, व्याकरण तथा विज्ञान विषयक पाठय–पुस्तकें, धार्मिक ग्रन्थों और काव्य–ग्रन्थों की टीकाओं के अतिरिक्त संस्कृत, प्राकृत और फारसी की कथात्मक कृतियों तथा योग, वेदान्त, वैद्यक, ज्योतिष आदि विषयों की रचनाओं के अनुवाद भी रीतिकाल में हुए।

इस युग में प्रचलित विभिन्न भाषाओं यथा ब्रज भाषा, खड़ी बोली, दक्खिनी हिन्दी, राजस्थानी, भोजपुरी तथा अवधी के गद्य साहित्य के विकास को संक्षिप्त रूप में निरूपित कर उक्त काल के गद्य का मूल्यांकन इस प्रकार है।

17.4. ब्रज भाषा गद्य

रीतिकाल का ब्रजभाषा–गद्य इस समय के खड़ी बोली–गद्य की अपेक्षा अधिक विकसित और समृद्ध है।

धार्मिक और उपयोगी गद्य के साथ ललित गद्य भी इस काल में ब्रजभाषा में पर्याप्त परिमाण में लिखा गया। ब्रजभाषा में टीकाएँ भी काफी संख्या में निर्मित हुई। हिन्दी–परिवार की भाषाओं में काव्य–ग्रन्थों पर टीका–टिप्पण ब्रजभाषा में ही सर्वाधिक हुआ है। इस समय की ब्रजभाषा गद्य के रूप हैं– कथा, वार्ता, जीवनी, वर्णन, पत्र, आत्मचरित, वचनिका, संवाद, टीका, टिप्पण, वातिक, भाव, भावना–अनुवाद, छायानुवाद। मौलिक–अमौलिक, ललित–अललित, सानुप्रास, अनुप्रास–रहित सभी प्रकार का गद्य इस काल में ब्रजभाषा में लिखा गया। गद्य–ग्रन्थों में वात, वचनिका, चर्चा, वार्त्ता अथवा किसी अन्य शीर्षक से यत्र–तत्र टिप्पणीपरक गद्य भी इस युग में पर्याप्ततः लिखा गया। इस समय के ब्रजभाषा–गद्य में प्रतिपादित विषय है–धर्म, दर्शन, चिकित्सा, ज्योतिष, शकुनशास्त्र, सामुद्रिक, गणित, इतिहास, भूगोल, अस्त्र, चित्रकारी, मल्लविद्या तथा काव्यशास्त्र।

रीतिकाल में वल्लभ सम्प्रदाय पर आधृत विशाल वार्ता साहित्य का सृजन हुआ। यह साहित्य धर्म और इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसमें वैष्णव जनों के पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने, उनके जीवन–प्रंसगों और आचार्य जी की महिमा के अतिरंजनात्मक विवरण हैं। वार्ता साहित्य मात्र धार्मिक, साम्प्रदायिक और ऐतिहासिक दृष्टि से ही नहीं बल्कि दार्शनिक, सामाजिक, राजनैतिक और भौगोलिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। प्रमुखतः वार्ता साहित्य का उद्देश्य वल्लभ–सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रचार और आचार्यों का महिमा–स्थापन है। अब तक इस विषय के शताधिक ग्रन्थ प्राप्त हो चुके हैं। इस काल के वार्ता–साहित्य में कालक्रम और महत्व की दृष्टि से 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ वैष्णवन की वार्ता' विशेष उल्लेखनीय हैं। यह वार्ता साहित्य गो० विट्ठलनाथ जी और गो० गोकुलनाथ जी के वचनामृतों पर आधृत है। इन वचनामृतों को लिपिबद्ध करने वालों में श्री कृष्ण भट्ट, कल्याण भट्ट और हरिराय के नाम प्रसिद्ध हैं। हरिराय रीतिकाल के ब्रजभाषा–गद्यकारों में अग्रणी हैं। उन्होंने वचनामृतों का संकलन, सम्पादन और संवर्धन किया तथा उन पर भाव–भावना संज्ञक टिप्पणियाँ जोड़ीं। कथात्मक और तथ्यरूपक दोनों प्रकार का गद्य हरिराय ने लिखा है। इनके नाम से भाव–भावना संज्ञक बहुत सी वार्ताएं प्राप्त होती हैं। इन वचनामृतों में लेखन–काल, स्थान और तत्कालीन इतिहास के भी संकेत प्राप्त होते हैं। कुछ मुख्य वचनामृतों के नाम हैं– गुसाई दामोदर दास संवाद, नित्यसेवा प्रकार, चौरासी बैठक चरित्र, वनयात्रा, अट्ठाईस बैठक चरित्र, श्री गिरिधर दास की बैठकन के चरित्र, धरु वार्ता इत्यादि। हास्य–प्रसंग के भी वचनामृत प्राप्त हैं। कुछ वचनामृत भावना और भाव नाम से भी प्राप्त होते हैं– भावना–वचनामृत, भाव–सिन्धु, उत्सव–भावना, रहस्य–भावना, चरण–चिन्ह भावना' इत्यादि। इन वचनामृतों में कुछ गोकुलनाथ के अवश्य हैं। गोकुल नाथ जी के नाम से लगभग बीस वार्ता–ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं। वस्तुतः गो० गोकुल नाथ जी के नाम से प्रसिद्ध ब्रजभाषा–गद्य पुस्तकें उनके प्रवचनों के विस्तार हैं, जो उनके अनुयायियों द्वारा बाद में (भक्तिकाल के बाद) किये गये हैं।

वार्ताओं में अधिकांश स्थलों पर साहित्यिक सौष्ठव से रहित सरल शैली है। शब्द–योजना चमत्कार रहित है। वैष्णवों के प्रसंग में जो कथात्मक चरित्र–चित्रण है, उसी के कारण कुछ रोचकता उत्पन्न हुई है। वार्ता–साहित्य प्रायः प्रचारपरक, शिक्षात्मक और सोद्देश्य है। उसका गद्य प्रचार के उपयुक्त व्यवहारिक व्यास शैली का गद्य है। वल्लभ–सम्प्रदाय के वार्ता–साहित्य की भाषा सम्बन्धी कुछ विशेषताएं इस प्रकार हैं–तत्सम–अर्धतत्सम शब्दों की बहुलता; प्रायः लघुगत्वर वाक्य; वाक्यारम्भ में 'सो', 'तब', 'औरु' शब्दों का बारम्बार आना, संज्ञोपवाक्यों के पूर्व बहुधा 'कि' अर्थक 'जो' शब्द, कहीं–कहीं टूटी हुई लयवाले असम्बद्ध वाक्य, भूतकाल की क्रिया का कर्त्तरि प्रयोग, कहीं–कहीं उर्दू–शैली का शब्द–क्रम, टीका शैली के भगवत्दर्पण करयो है तन मन धन जिनमें ऐसे धर्मन के' इस प्रकार के पण्डिताऊ रूप और

प्रयोग; कहीं–कहीं संज्ञा की आवृत्ति, अनेक स्थलों पर शैथिल्य; कहीं–कहीं प्रान्तीय भाषाओं और बोलियों के ठेठ शब्दों के कारण अर्थ का आच्छन्न हो जाना, जहां–तहां खड़ी बोली के रूप और प्रयोग तथा अरबी–फारसी के प्रचलित शब्द। इसके अतिरिक्त रीतिकालीन ब्रजभाषा गद्य के सत्रहवीं शताब्दी के रचित उल्लेखनीय ग्रन्थ इस प्रकार हैं मीन राज प्रधान–हरतालिका कथा' (1669), अक्षर अनन्द 'अष्टांग योग' (1693); कोककथा और कोकमंजरी (रचनाकार अज्ञात); दादूपन्थी दामोदरदास 'मार्कण्डेय–पुराण' अनुवाद (1648); मेघराज प्रधान–अध्यात्म रामायण का अनुवाद। अठाहरवीं शताब्दी में जहाँ एक और धर्म, अध्यात्म और वार्ताओं का समृद्ध साहित्य लिखा गया वहाँ कई अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों पर भी लेखनी चली। उदाहरणार्थमुगल इतिहास, भूगोल, पुराण, बसन्त राज, शकुन, वैद्यक संग्रह, अश्व चिकित्सा, वैद्य जीवन, विदंग्ध माधव नाटक, 766 पच्चीसी, हितोपदेश, कथा विलास, गरुड़ पुराण भाषा, पद्म पुराण का अनुवाद, आईने अकबरी की भाषा, वचनिका, चाणक्य राजनीति और कुछ पत्र। उन्नीसवीं सदी में भागवत के अनेक अनुवादों के साथ–साथ वार्ता साहित्य का निर्माण बराबर चलता रहा। वैद्यक के कई ग्रन्थों–माधव निदान, हकीम फरासीसी, वैद्य चन्द्रिका आदि के अनुवाद और प्रणयन हुए। रीति के प्रायः प्रमुख काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों तथा अन्य काव्य ग्रन्थों पर यत्र–तत्र वचनिका, चर्चा, वार्ता, तिलक आदि शीर्षकों के अन्तर्गत टिप्पणीपरक गद्य का प्रयोग हुआ है। रीति युग में संस्कृत टीका प्रणाली के अनुकरण पर प्रचुर टीकायें लिखी गईं। धार्मिक ग्रन्थों में भागवत और गीता पर अनेक व्यक्तियों ने टीकायें लिखीं। तुलसी, केशव तथा बिहारी के काव्यों पर अनेक विद्वतापूर्ण टीका ग्रन्थ निर्मित हुए। इसके अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी टीकायें लिखी गईं। इस काल का ब्रजभाषा गद्य साहित्य प्रायः परिष्कृत, पुष्ट और प्रौढ है। यद्यपि इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की बहुलता है फिर भी वह प्रवाहमय तथा सशक्त अभिव्यंजना से युक्त है। धार्मिक रचनाओं में अलंकृत गद्य है किन्तु उपयोगी विषयों की रचनाओं में भाषा का व्यावहारिक रूप प्रयुक्त हुआ है।

17.5. खड़ी बोली गद्य :

रीतिकाल का साहित्य खड़ी बोली गद्य प्रायः मिश्रित भाषा में है। इस पर ब्रजभाषा, पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी तथा पंजाबी का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इस काल में ललित गद्य की अपेक्षा असाहित्यिक गद्य अधिक लिखा गया और इसके गृहीत विषय हैं दर्शन, धर्म, अध्यात्म, ज्योतिष, इतिहास, चिकित्सा, शकुन–शास्त्र, भूगोल, गणित आदि। इन विषयों पर बहुत अधिक रचनायें लिखी गईं। कुछ उल्लेखनीय रचनायें हैं 'पोथी हरि जी' (सिक्ख–गुरु हरि जी की पुस्तक) जनमसाख कबीर भगति जी की (कबीर की जीवनी और उनकी वाणी की व्याख्या) विवेकसार (अडुनशाह–कृत) जनम–साखी गुरु नानक जी दी (पैड़ा मोषाकृत) अषवार डेवड़ी का (राजा रणजीत सिंह के दरबार की गुप्त सूचनाएं) तथा अमीरदास की कृतियाँ (स्त्री कृस्न साहित्य–सिन्धु, शीर्षक पद्य–गद्यमय रीति–ग्रन्थ, 'पासा केवली', 'लीलावती अष्ट चण्डिका', 'विवेक–मार्तण्ड', 'दिल्ली की पातस्याही') खड़ी बोली के विशिष्ट गद्यकार हैं–टोडरमल जैन, दीपचन्द जैन, शाह जी महाराज, हरि जी, दयाल अनेमी, अडुनशाह, रामप्रसाद निरंजनी, दौलतराम जैन, टेकचन्द जैन और मुंशी सदासुख राय निसार। इनका उपनाम सुखसागर था। 'विष्णु पुराण' तथा 'भागवत' का इन्होंने पद्यानुवाद किया था।

इस काल के खड़ी बोली गद्य का टीकाओं और अनुवादों पर अधिक बल रहा। अठारहवीं शती में रचित ऐसे ग्रन्थ हैं–भाषा–उपनिषद, भाषा योगवसिष्ठ, भाषा–पदम–पुराण, आदि पुराण–वचनिका 'मल्लीनाथ चरित्र वचनिका', सुदृष्टि तरंगिणी वचनिका और हितोपदेश वचनिका। 'भाषा उपनिषद' फारसी भाषा में अनूदित 22 उपनिषदों का हिन्दी रूपान्तर है। 'भाषायोग–वशिष्ठ' रामप्रसाद निरंजनी ने मूलतः पंजाबी–ब्रजभाषा–मिश्रित खड़ी बोली में लिखा। दौलतराम जैन कृत–भाषा–पदमपुराण अथवा 'पदमपुराण वचनिका' राजस्थानी–ब्रजभाषा–प्रभावित खड़ी बोली में प्राकृत की जैन राम–कथा का व्याख्यामय अनुवाद है। दौलतराम की दूसरी प्रख्यात वचनिका 'आदिपुराण वचनिका' है जो भगवान

ऋष देव तथा राजा श्रेयांस के जन्मों की कथा से सम्बद्ध जैन प्राकृत–ग्रन्थ आदि पुराण का व्याख्यामय अनुवाद है। दौलतराम की अन्य गद्य–रचनाएं हैं–पुण्याश्रव कथा कोश वचनिका, 'वसुनन्दिश्रावकाचार वचनिका' 'परमात्मप्रकाश वचनिका', 'श्रीपाल चरित्र वचनिका' तथा हरिवंश पुराण वचनिका'। इस वर्ग की अन्य कृतियों में 'मल्लिनाथ चरित्र वचनिका' इन्दौरवासी दौलतराम की रचना है। 'सृदृष्टि तरंगिणी वचनिका' के लेखक टेकचन्द जैन हैं। 'हितोपदेश वचनिका' अभयचन्द की रचना है। ये सभी वचनिकाएं जैन रचनाएं हैं और राजस्थानी ब्रजभाषा–प्रभावित खड़ी बोली में लिखित हैं। इनके अतिरिक्त खड़ी बोली में उपलब्ध कुछ और भी उल्लेखनीय अनूदित रचनाएं हैं जैसे–अडडनशाह और कृपाराम–कृता अनुवाद 'पारस भाग', बीरबल कृत अनुवाद गीतानुवाद, पण्डित कमोदानन्द मिश्र द्वारा संस्कृत से अनूदित ज्योतिष ग्रन्थ 'सूर्यसिद्धान्त' तथा गोरा–बादल की वीरता, सिंहासन–बत्तीसी, विष्णु पुराण भाषा तथा श्रीमद्भागवत भाषा।

उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में फोर्ट विलियम कालेज ने हिन्दी खड़ी बोली गद्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया तथा महत्वपूर्ण ग्रन्थों का निर्माण भी किया। इस कालेज से सम्बद्ध व्यक्तियों द्वारा लिखित ग्रन्थ हैं नासिकेतोपाख्यान, रामचरित, प्रेमसागर, लालचन्द्रिका टीका, भाषा कायदा, सिंहासनबत्तीसी, बैताल पच्चीसी, भक्तमाल टीका और हातिमताई का अनुवाद। नासिकेतोपाख्यान सदलमिश्र कृत 'यर्जुवेद' तथा 'कठोपनिषद' की नचिकेता–कथा पर आधारित है। 'रामचरित' भी सदलमिश्र की रचना है जो अध्यात्मिक रामायण का रूपान्तर है। 'प्रेमसागर' लल्लूलाल कृत 'भागवत' के दशम स्कन्ध के चतुर्भुज मित्र कृत ब्रजभाषा अनुवाद का खड़ी बोली रूपान्तर है। लालचन्द्रिका टीका (बिहारी सतसई की टीका) सिंहासन बतीसी (काजिम अली की सहायता से लिखित, सुन्दरदास के ब्रजभाषा–अनुवाद का हिन्दुस्तानी–रूपान्तर) बैताल पच्चीसी (शिवदास–रचित संस्कृत–रचना के सुरति मिश्र–कृत ब्रजभाषानुवाद का मजहर अली के साथ लिखित खड़ी बोली–रूपान्तर) तथा भाषा कायदा (ब्रजभाषा–व्याकरण) लल्लूलाल जी के नाम से प्रसिद्ध अन्य रचनाएं हैं। 'भक्तमाल टीका' भक्तमाल की विस्तृत व्याख्या है। 'हातिमताई का अनुवाद' पं. योगध्यान मिश्र ने किया। अन्य महत्वपूर्ण रचनाएं हैं शुद्ध हिन्दवी की छटा दिखाने के लिए रचित इन्शा अल्ला की दास्तान–शैली की चपल तुकमय गद्य की 'रानी केतकी की कहानी (1805 ई. के लगभग) रीवा–नरेश महाराज विश्वनाथसिंह का रामकथा विषयक 'आनन्दरघुनन्दन नाटक' जिसमें ब्रजभाषा–पद्य के साथ खड़ी बोली–गद्य भी प्रयुक्त है। 'स्त्री–शिक्षा–विधायक' (निबन्धात्मक रचना) तथा 'श्रीकृष्ण–चरितोपाख्यान नाटक' (1830, पद्य ब्रजभाषा और पूर्वी में तथा गद्य खड़ी बोली में) दयाशंकर जी के पुत्र हरिराम का राम–विवाह विषयक 'जानकीरामचरित नाटक' तारणीचरण मिश्र द्वारा संस्कृत अनूदित 'पुरुष–परीच्छा संग्रह' (1813) और लल्लूलाल के अनुज दयाशंकर द्वारा अनूदित 'दाय भाग' (1832, भाषा संस्कृतनिष्ठ तथा ब्रजभाषा प्रभावित) उल्लेखनीय हैं।

17.6. दक्खिनी–गद्य :

रीतिकाल में दक्खिनी में पूर्व–परम्परा के अनुसार सूफी तथा इस्लामी धर्म–ग्रन्थों का भाष्य–अनुवाद और धर्म–दर्शन विषयक पुस्तकों का अधिक निर्माण हुआ। इतिहास विषयक और चिकित्सा विषयक कुछ पुस्तकें, कुछ अनूदित कथा–पुस्तकें और पत्रों, हुक्मनामों तथा अर्जियों की एक–दो संग्रह–पुस्तकें भी प्राप्त हैं। इस काल की प्रमुख धार्मिक दक्खिनी–रचनाएं हैं आबिदशाह अलहसन उलहुसेनी–कृत 'गुलजारूस्सालिकीन' तथा 'कंजुल मोमिनीन', मीरां याकूब–कृत 'शमायलुल अतकिया' और 'दलायलुल अतकिया' नामक ग्रन्थों के अनुवाद; शाहबुरहानुद्दीन कादिरी–कृत 'रिसाले वजूदिया', मोहम्मद शरीफ–रचित 'गंजमखफी', मोहम्मद वलीउल्ला कादिरी का किया हुआ 'मारिंफ तुस्सुलूक' का अनुवाद, सैयद शाह मोहम्मद कादिरी का 'रिसाले वजूदिदा', सैयद शाहमीर का 'असरारुत्तौहीद', अब्दुल हमीद का 'रिसाले तसव्वुफ'। इनमें से अधिकतर पुस्तकें सूफीमत विषयक हैं। इनके अतिरिक्त अज्ञातनामा लेखकों की 'तूतीनामा',

'अनवारे सुहेली' किस्सा–ए–गुलो हुरमुज' शीर्षक अनूदित कथात्मक पुस्तकें, हैदरनामा, 'तारीख जापान', 'अम्दतुल तारीख', 'तारीख श्रीरंगपट्टन', 'गुलदस्तए हिन्द' शीर्षक इतिहास विषयक ग्रन्थ और मुआलंजात ख़्वांजा बन्दानवाज' तथा मजमूआ नुस्खेंजात शीर्षक चिकित्साविषयक रचनाएं और विज्ञान सम्बन्धी कुछ अनूदित पुस्तकें (सित्तएशम्सिया, रिसाला जर्रेसकीन आदि) भी मिलती हैं। इन रचनाओं की भाषा प्रायः उर्दू शैली की हैं। शब्द–रूपों और वाक्य–विन्यास की दृष्टि से दक्खिनी–गद्य की भाषा आधुनिक खड़ी बोली के पर्याप्त निकट है।

17.7. राजस्थानी गद्य :

रीतिकालीन राजस्थानी–गद्य इस समय के ब्रजभाषा–गद्य से भी अधिक समृद्ध है। 'वातों', 'वार्ता' शीर्षक कथात्मक रचनाओं और ख्यातों के अतिरिक्त इस समय के राजस्थानी (मारवाड़ी) गद्य की प्रमुख विधाएं हैं वचनिका (गद्य–पद्य में कथा और वर्णन) सलोका, पत्र, वंशावली, पट्टावली, विगत, पीढी। इनमें से अंतिम चार प्रायः अललित और ख्यात के समान इतिहासविषयक हैं। शेष विधाएं ललित हैं और उनमें (वातों, वार्ताओं को छोड़कर) शुद्ध गद्य के साथ सानुप्रास (तुकमय) गद्य भी प्रचुरतः प्रयुक्त हैं। कुछ वातों और वार्ताओं में भी तुकमय गद्य का दर्शन होता है। इस समय के अमौलिक (व्याख्या–अनुवाद रूपों) गद्य–रूपों, बालावबोध, टीका, टिप्पण और 'भाषा' प्रमुख हैं। विषय हैं: इतिहास, धर्म, अध्यात्म, लोकशास्त्र, शकुन, सामुयिक, ज्योतिष, वैद्यक, यन्त्र, तन्त्र, नीति, गणित।

राजस्थानी का वात–साहित्य प्रसिद्ध है। यह आधुनिक कहानी के निकट की कथात्मक विधा है। गद्यात्मक बातों के साथ पद्यमय और गद्य–पद्यमय बातें भी प्राप्त होती हैं। विषय की दृष्टि से बातें स्थूलतः छह प्रकार की हैं प्रेमपरक, वीरतापूर्ण, हास्यमय, धार्मिक, शान्तसपरक, स्त्री चार्तुर्यविषयक और अदभुतत्तत्वपूर्ण। ऐतिहासिकता की दृष्टि से वात–साहित्य तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है ऐतिहासिक, अर्थ–ऐतिहासिक, काल्पनिक कुछ प्रसिद्ध वातें हैं –रतना हमीर री बात, राव अमरसिंह री वात, सिद्धराज जयसिंह दे री बात, राव रिणमल री बात, सयणी चारणी री वात, ढोला मारवाणी री बात, गोरा बादल री बात, वात दूधै जोधावत री, राजा भोज खापरा चोर री वात, बीरबल री बात, वारता शीर्षक से भी इस प्रकार की रचनाएं प्राप्त होती हैं।

राजस्थानी में अन्यविध ललित गद्य–रचनाओं की संख्या विरल है। इस समय की 'वचनिका संज्ञक दो ही रचनाएं प्राप्त हैं खिडिया जगाकृत 'राठौड रतनसिंह जी महेस दासौत री वचनिका' और मेड़तावासी वश्न्द की 'वचनिका स्थान किशनगढ' जिनमें क्रमशः राठौड़ रतनसिंह और राजा रूपसिंह की वीरता का वर्णन है। वर्णनरूपक रचनाएं भी पूर्णरूप में पाँच ही उपलब्ध हैं : खीची गंगेव नींबावत रो दोपहरो, राजान राउत रो वात–वणाव, भोजन–विच्छिति, रामदास वैरावत री आरवड़ी री वात, मुत्कलानुप्रास इत्यादि।

राजस्थानी की अन्य ललित गद्य–रचनाएं हैं (कुंवर दलपतिसिंह का जीवन–विवरण) राजरूपक (वार्ता नाम से यत्र–तत्र गद्य) ऐतिहासिक गद्य रचनाओं में नैणसी री ख्यात, बीकानेर री ख्यात, उदयपुर री ख्यात, बांकीदास री ख्यात, सोलंकिया री साख री विगत, खीची वाडारां राठोड़ां री पीढियाँ, कछवाहां री वंसावली, सीसोदिया री वंसावली, पीढियाँ आदि बहुत सी रचनाएं प्राप्त होती हैं। पट्टावली, हाल, अहवाल, हगीगत, हलकावनामा, तहकीकात, याददास्त, संज्ञक रचनाएं भी प्राप्त हैं। पत्र, पट्टे, परवाने और जन्मपत्रियाँ भी उपलब्ध हैं।

इस समय के बालावबोध (कथामय व्याख्या–ग्रन्थ) निर्माताओं में विमल कीर्ति, विमलरत्न, हंसराज, कुंवर, विजय, यशोविजय उपाध्याय, सुखसागर, रामविजय आदि कितने ही नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने सैकड़ों बालावबोध–टीकाओं की रचना की। टीका ग्रन्थों में कुशलधीर कृत रसिकप्रिया टीका और भगवद्गीता–टीका

उल्लेखनीय हैं। अनुवाद–कार्य भी इस काल में राजस्थानी में हुआ। भागवत, गरुड़ पुराण, योग–वशिष्ठ, पंचतन्त्र, सिंहासन बतीसी, बैताल पच्चीसी आदि कथात्मक रचनाओं के भी अनुवाद–छायानुवाद किये गये।

17.8. भोजपुरी और अवधी की गद्य रचनाएं :

रीतिकाल में भोजपुरी में गद्य के नाम पर कुछ पत्र, दस्तावेज, सनद, पंचनामे आदि ही प्राप्त हुए हैं, जो प्रायः अनलंकृत और शुष्क हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के संग्रह में 1644 ई. का फणीन्द्र मिश्र का पंचायत का न्यायपत्र नामक अवधी–मिश्रित भोजपुरी का एक अभिलेख सुरक्षित है। इस प्रकार के कागज–पत्रों का गद्य तथ्यकथनात्मक और व्यावहारिक है। रीतिकाल में अवधी–गद्य की ये रचनाएं प्राप्त हैं : भानुमिश्र का रसविनोद, (गद्य–पद्य मिश्रित) नित्यनाथ का उड्डील (जन्त्र–मन्त्र) रामचरणदास का मानस टीका, गोत्मरिषि का सगुनावती, प्रियादास का व्यवहारपाद (दायभाग) महाराज विश्वनाथ सिंह का कबीर बीजक टीका तथा परमधर्म निणर्य।

17.9 सारांश

संक्षेप में कहा जा सकता है कि रीतिकाल में गद्य का यथेष्ट विकास न हो सका। इसके अनेक कारण हैं तत्कालीन जीवन अधिक जटिल और समस्यामय नहीं था, प्रेस और कागज का अभाव, पद्यात्मक अभिव्यक्ति के प्रति गहरी निष्ठा, 'स्वामिनः सुखाय' लिखने वाले राजाश्रित कवि के लिए राजदरबारी परिवेश में पद्य का अधिकाधिक उपयोगी होना आदि। यद्यपि उक्त काल में गद्य–लेखन की अनेक शैलियाँ विद्यमान थीं, किन्तु गद्य की किसी विशेष शैली या पद्धति का सर्वस्वीकृत विकास न हो सका। उत्तर रीतिकाल में खड़ी बोली के प्रचार व प्रसार के कारण ब्रजभाषा गद्य की उपेक्षा होने लगी। खड़ी बोली के उत्तरोत्तर प्राधान्य के कारण ब्रज, राजस्थानी, अवधी तथा भोजपुरी का गद्य उससे बहुत प्रभावित हुआ। इस काल के गद्य की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि इसमें आधुनिक हिन्दी गद्य के विविध रूपों का बीजवपन और प्रस्फुटन हुआ।

17.10. प्रश्नावली :

1. रीतिकालीन गद्य साहित्य का सामान्य परिचय दीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

2. रीतिकालीन राजस्थानी गद्य पर संक्षिप्त प्रकाश डालिए।

17.11. पठनीय सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – शिव कुमार शर्मा
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – हुकम चंद राजपाल
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ० नगेन्द्र

.....

गद्य के प्रारम्भिक उन्नायक

18.0 रूपरेखा

18.1 उद्देश्य

18.2 प्रस्तावना

18.3 गद्य के प्रारम्भिक उन्नायक

18.3.1 सदासुखलाल नियाज

18.3.2 इंशा अल्ला खाँ

18.3.3 लल्लू लाल

18.3.4 सदल मिश्र

18.3.5 राजा शिवप्रसाद

18.3.6 राजा लक्ष्मण सिंह

18.4 सारांश

18.5 कठिन शब्द

18.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

18.7 पठनीय पुस्तकें

18.1 उद्देश्य

– प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरांत आप जानेंगे
– गद्य के प्रारम्भिक उन्नायक ।
– गद्य के क्षेत्र में किन–किन उन्नायकों ने अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

18.2 प्रस्तावना

दिल्ली पर मुसलमानों का शासन स्थापित हो जाने पर फारसी भाषा राजकार्य में व्यवहृत होती रही। हिन्दुओं की एक बहुत बड़ी संख्या मुसलमानी राजकार्य में नौकरी करती थी । इस सम्पर्क से दोनों जातियों के पारस्परिक विचार विनिमय की भाषा 'खड़ी बोली' बनी रही । इसके पश्चात् अंग्रेजी शासन की स्थापना के साथ शासक वर्ग को देश की किसी ऐसी भाषा को सीखने की आवश्यकता महसूस हुई जिसे देश के बहुत से निवासी बोलते हों । सौभाग्यवश हिन्दी खड़ी बोली देश की एक ऐसी भाषा थी जो कि शासक वर्ग एवं ईसाई धर्म प्रचारकों की आवश्यकता पूर्ति के लिए समर्थ थी । यह आश्चर्य की बात है कि हिन्दी खड़ी बोली गद्य साहित्य की भाषा न होते हुए भी आगामी साहित्य का माध्यम बन सकी ।

18.3 गद्य के प्रारम्भिक उन्नायक

खड़ी बोली गद्य की सर्वप्रथम उल्लेखनीय रचना अकबर के दरबारी कवि गंग की 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' है। इसमें ब्रज मिश्रित खड़ी बोली का व्यवहार किया गया है । इस रचना का समय लगभग सन् 1570 ई० है । आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने पटियाला दरबार के कथावाचक रामप्रसाद निरंजनी के 'भाषा योग वशिष्ट' नामक ग्रन्थ की सूचना दी है । जिसकी भाषा को वह परिमार्जित खड़ी बोली कहते हैं । सन् 1761 में पं. दौलतराम ने रविषोणाश्रार्य कृत 'जैन पदम पुराण' का भाषानुवाद किया जोकि काफी त्रुटिपूर्ण है । दौलतराम बरूवा मध्यप्रदेश के रहने वाले थे । इनकी भाषा में प्रान्तीयता का पुट तो यत्र–तत्र देखा जा सकता है । 1830–40 के बीच किसी अज्ञात राजस्थानी लेखक की पुस्तक 'मंडोवर' उपलब्ध होती है जिसमें उर्दू, फारसी तथा राजस्थानी के शब्दों की बहुलता है । इस समय तक खड़ी बोली गद्य की किसी निश्चित शैली का निर्माण नहीं हो पाया था ।

इसके उपरान्त खड़ी बोली गद्य के विकास की परन्परा में मुंशी सदासुखलाल नियाज, इंशा अल्ला खां, लल्लूलाल और सदल मिश्र का नाम आता है । सन् 1800 ई० में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई। फोर्ट विलियम कालेज के हिन्दी उर्दू अध्यापक जान गिल क्राइस्ट ने हिन्दी और उर्दू में गद्य पुस्तकों को तैयार करने की व्यवस्था की । लल्लू लाल और सदल मिश्र की नियुक्ति फोर्ट विलियम कॉलेज में हुई। इसके अतिरिक्त सदासुखलाल नियाज और इंशा अल्ला खां ने स्वतन्त्र रूप से खड़ी बोली के कतिपय गद्य ग्रन्थों का निर्माण किया ।

18.3.1. सदासुखलाल नियाज (1796–1824) : यह दिल्ली के निवासी थे । ये कंपनी की नौकरी किया करते थे । ये उर्दू और फारसी में शायरी भी किया करते थे और इन्ही भाषाओं में अनेक पुस्तकें भी लिखीं। 65 वर्ष की अवस्था में नौकरी छोड़कर प्रयाग में जाकर भगवद्भजन करने लगे । मुंशी जी ने गद्य लेखन न तो किसी अंग्रेज़ अधिकारी की प्रेरणा से और न किसी दिए हुए नमूने पर लिखा । विष्णु पुराण से उपदेशात्मक प्रसंग लेकर एक पुस्तक का निमार्ण किया और हिन्दी में श्रीमद्भागवत का 'सुखसागर' के नाम से स्वतंत्र अनुवाद किया । इसमें भाषा का परिमार्जित रूप है केवल यत्र–तत्र पंडिताऊ प्रयोग मिलते हैं । उसका थोड़ा सा अंश नीचे उदधृत किया जाता है । 'इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहीं, आरोपित उपाधि है । जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष से चांडाल से ब्राह्मण हुए और क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरंत ही ब्राह्मण से चांडाल होता

है ।' स्थान स्थान पर शुद्ध संस्कृत शब्दों का प्रयोग करके उन्होंने उसके भावी साहित्यिक रूप का पूर्ण आभास दिया है।

18.3.2. इंशा अल्ला खाँ (1712–1775) : उर्दू के बहुत प्रसिद्ध शायर थे । इन्होंने फोर्ट विलियम कॉलेज के बाहर रहकर स्वतन्त्र रूप से हिन्दी गद्य की सेवा की । इन्होंने 'उदयभान चरित' या 'रानी केतकी की कहानी' की रचना की । ये मुर्शिदाबाद के रहने वाले थे । इंशाअला खाँ के पिता मीर माशाअल्ला खाँ काश्मीर से दिल्ली आये थे और मुगल दरबार में हकीम हो गए । मुगल साम्राज्य के क्षीण होने पर मुर्शिदाबाद चले गए । इंशा का जन्म यहीं हुआ । इंशा लड़कपन से ही कविता करते थे । 'रानी केतकी की कहानी' हिन्दी गद्य की पहली मौलिक रचना कही जा सकती है । प्रारम्भिक लेखकों में खाँ साहब की भाषा सबसे चुटीली, मुहावरेदार है । इनका उद्देश्य ऐसी भाषा लिखना था जिसमें हिन्दी छुट और किसी बोली का पुट न हो और साथ ही जिसमें से हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो, उस समय संस्कृत मिली हिन्दी को भाखा कहते थे । इंशा ने 'भाखापन' और 'मुअल्लापन' दोनों को दूर रखने का प्रयत्न किया, किन्तु फारसी के ढंग का वाक्य–विन्यास कहीं–कहीं विशेषतः बड़े वाक्यों में आ ही गया है अर्थात् इंशा ऐसी भाषा लिखना चाहते थे जो उस समय हिन्दू–मुसलमान दोनों की बोलचाल की भाषा थी ।

18.3.3. लल्लूलाल : 1800 ई. में इनकी नियुक्ति कॉलेज में भाखा मुंशी के पद पर हुई । ये आगरा के रहने वाले थे । कॉलेज में नियुक्ति के पश्चात् इन्होंने भागवत के दशम स्कन्ध के आधार पर 'प्रेमसागर' पुस्तक की रचना की। जो भागवत के दशम स्कन्ध का अनुवाद है । प्रेमसागर एक ऐसा ग्रंथ है जिसे खड़ीबोली गद्य की रचना माना जा सकता है । इसकी भाषा के लिए ग्रियसर्न ने लिखा था कि यह भाषा लिखकर लल्लूलाल जी लाल एक ऐसी भाषा का आविष्कार कर रहे थे, जिसका पहले कोई अस्तित्व नहीं था परन्तु प्रेमसागर का गद्य ब्रजभाषा से इतना प्रभावित है कि उसका आगे विकास नहीं हो सका । इनकी ठेठ हिन्दी में उर्दू के शब्द भी आ गये हैं ।

इसके अतिरिक्त इन्होंने बैताल–पच्चीसी, सिंहासन बतीसी, शकुंतला नाटक, माधव विलास, माधोनल, राजनीति आदि की रचना की । इनके नाम पर छोटी बड़ी 14 रचनाओं का उल्लेख मिलता है । इन ग्रन्थों में इन्होंने अपेक्षाकृत हिन्दुस्तानी भाषा का प्रयोग किया है । बिहारी सतसई पर इन्होंने 'लाल चन्द्रिका' नाम की टीका लिखी है। हिन्दी गद्य के विकास के सन्दर्भ में लल्लू लाल के 'प्रेम सागर' की विशेष चर्चा होती है । इसकी रचना का उद्देश्य हिन्दवी (खड़ीबोली) से परिचित करना था । उन्होंने इसमें यामिनी भाषा को छोड़ने का प्रयास किया है यद्यपि यामनी भाषा ने उन्हें पूर्णतः नहीं छोड़ा है ।

18.3.4. सदल मिश्र :– कॉलेज से सम्बन्धित हिन्दी पण्डितों में सदल मिश्र का स्थान भी महत्वपूर्ण है । ये बिहार के निवासी थे । इन्होंने चन्द्रावती या नासिकेतोपाख्यान ग्रंथ खड़ी बोली में लिखा । इनकी भाषा लल्लूलाल की अपेक्षा अधिक साफ सुथरी और व्यवहारोपयोगी है । इनकी भाषा में पूर्वी बोली के शब्दों का यत्र–तत्र प्रयोग मिलता है । इसकी गद्य शैली उर्दू और ब्रजभाषा के प्रभाव से मुक्त एक ऐसी शैली है जिसमें बोलचाल की भाषा की अपेक्षा साहित्यिक भाषा का रूप प्रस्फुटित होता हुआ दिखाई देता है । शुक्ल जी ने भी इसी गद्य शैली और भाषा को व्यावहारिक माना है । आगे चलकर साहित्य में जो भाषा गृहित हुई उसका गठन बहुत कुछ सदल मिश्र की भाषा के आदर्श पर हुआ ।

हिन्दी गद्य के प्रथम चार उन्नायकों में वस्तुतः मुंशी सदासुख लाल और पंडित सदल मिश्र ही हिन्दी गद्य के ऐसे दो प्रथम लेखक थे जिन्होंने उस गद्य शैली का पहला रूप विकसित किया था जिसका परवर्ती गद्य लेखकों द्वारा अनुकरण और विकास किया गया ।

इसी समय ईसाई धर्म प्रचारक इसाई धर्म के प्रचार में लगे हुए थे । इन्होंने सदासुखलाल और लल्लूलाल की विशुद्ध भाषा को ही आदर्श माना । इसके अतिरिक्त आर्यसमाज का महत्वपूर्ण योगदान रहा है । स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 1874 ई में 'सत्यप्रकाश' द्वारा अपने विचारों को हिन्दी गद्य में प्रस्तुत किया ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सन् 1816 ई० में राजा राम मोहन राय द्वारा लिखे गए एक पैंफलेट का उल्लेख किया है । इस प्रकार हिन्दी गद्य के स्वरूप निर्धारण में हिन्दी पत्रकारिता की विशेष भूमिका रही है।

भारतेन्दु के आगमन के पूर्व हिन्दी गद्य के विकास में उपर्युक्त सभी शक्तियाँ कार्य करती रही किन्तु भाषा विषयक नीति–निर्धारण एवं उसके स्वरूप पर स्थायी प्रभाव डालने में जिन शक्तियों का अधिक हाथ रहा, उनमें राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द और राजा लक्ष्मणसिंह प्रमुख हैं ।

18.3.5 राजा शिवप्रसाद (1823–1896) :– शिवप्रसाद ने हिन्दी के उद्धार कार्य में महत्वपूर्ण योग दिया । जहाँ तक लिपि का प्रश्न है वह देवनागरी पसन्द करते थे। इनकी भाषा में उर्दू का काफी पुट था । ये हिन्दी में उर्दू प्रधान गद्य लिखने के हिमायती थे । शिक्षा विभाग में इन्सपेक्टर थे । इससे पूर्व वह उर्दू प्रधान शैली के समर्थक और प्रचारक बन चुके थे । उस समय सरकारी नीति में हिन्दी का विरोध चल रहा था इसलिए ये भी उर्दू को मुल्क की मुख्य भाषा मानने लगे थे । राजा साहब हिन्दी को गँवारूपन से भरी भाषा समझते थे और इसे दूर करने के लिए उर्दू का मिश्रण आवश्यक मानते थे । इसके पूर्व काशी से 'बनारस अखबार' निकालते थे। इन्होनें स्कूलों में हिन्दी पाठ्य पुस्तकों का अभाव देखकर स्वयं भी पुस्तकें लिखी और सहयोगियों द्वारा भी पुस्तकें लिखवाई । आलसियो का कीड़ा, राजा भोज का सपना, भूगोल हस्तामलक, इतिहास तिमिर नाशक, गुटका आदि इनकी रचनाएं हैं ।

18.3.6 राजा लक्ष्मणसिँह :– ये समझौतावादी नीति के कट्टर विरोधी थे। इनकी धारणा थी कि उर्दू के शब्दों के प्रयोग के बिना सुन्दर गद्य लिखा जा सकता है। ये हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्दों के पक्षपाती थे। इन्होंने रस संवलित सरल और सुबोध भाषा के प्रचार के लिए आगरा से 'प्रजाहितैषी' नाम का एक पत्र निकाला और कालिदास के रघुवंश, अभिज्ञान शकुन्तलम और मेघदूत का हिन्दी में अनुवाद किया । राजा लक्ष्मण सिंह ब्रजभाषा के केन्द्र आगरा के निवासी थे, इसलिए उनकी रचनाओं में ब्रजभाषा और उसके काव्य का हल्का सा प्रभाव रहना स्वाभाविक था । उनकी कोई मौलिक रचना नहीं मिलती किन्तु इनके अनुवादों में मौलिक रचना का सा सौन्दर्य और शक्ति है ।

18.4 सारांश

खड़ी बोली हिन्दी गद्य की यह भूमिका हिन्दी के लिए महत्वपूर्ण थी। इसका अधिक विकसित, सहज और स्वाधीन रूप हमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके युग के अन्य गद्य रचयिताओं में मिलता है ।

18.5 कठिन शब्द

1 कट्टर 2 मौलिक 3 महत्वपूर्ण 4 विकसित 5 परिमार्जित

6 सुबोध 7 विनिमय 8 पारस्परिक 9 समझौता 10 संवलित

18.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्रश्न – गद्य के प्रारम्भिक उन्नायकों का परिचय दीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न – उर्दू के अतिरिक्त हिन्दी गद्य में इंशाअल्ला खां का विशेष योगदान रहा है स्पष्ट कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न – राजा शिव प्रसाद और राज लक्ष्मण सिंह ने हिन्दी गद्य में महत्वपूर्ण योगदान दिया है स्पष्ट कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

18.7 पठनीय पुस्तकें

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ० नगेन्द्र

2 हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

3 हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामसजन पाण्डे

4 आधुनिक साहित्य की प्रवृतियाँ – नामवर सिंह

5. आधुनिक हिन्दी साहित्य – विकास के विविध आयाम – पुष्पपाल सिंह

6. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका – लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय

7. हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी – नंद दुलारे बाजपेयी

8. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ० बच्चन सिंह

.....

19वीं शताब्दी के प्रमुख गद्यकार

19.0 रूपरेखा

19.1 प्रस्तावना

19.2 19वीं शताब्दी के प्रमुख गद्यकार

19.2.1 भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

19.2.2 प्रतापनारायण मिश्र

19.2.3 पं लालकृष्ण भट्ट

19.2.4 बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

19.2.5 ठाकुर जगमोहन सिंह

19.2.6 लाला श्रीनिवासदास

19.2.7 अम्बिकादत्त व्यास

19.2.8 राधाकृष्ण दास

19.3 सारांश

19.4 कठिन शब्द

19.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

19.6 पठनीय पुस्तकें

19.1 प्रस्तावना

भाषा विकास की सामान्य प्रक्रिया यह रही है कि बोलचाल में उसका रूप गद्य का रहता है और जब वह साहित्य में प्रवेश करती है तो पद्य का रूप धारण कर लेती है । कालान्तर में जब उसका यह पद्य रूप

पर्याप्त विकसित, परिमार्जित हो जाता है तब वह गद्य का रूप धारण कर साहित्य में आगे बढ़ने लगती है । खड़ी बोली में परिमार्जित गद्य का रूप पहले मिलता है फिर पद्य का । आधुनिकता के साथ ही हिन्दी गद्य का आरम्भ होता है । गद्य का विकास दो तरह से हुआ, एक भाषा की सहज प्रक्रिया द्वारा तथा दूसरा हिन्दी साहित्य और जन–सम्पर्क माध्यमों की जरूरतों को ध्यान में रखकर किए गए प्रयत्नों के द्वारा । एक ओर लेखक चतुष्टय अर्थात इंशाअल्ला खाँ, सदासुखलाल, लल्लूलाल तथा सदल मिश्र की रचनाओं ने रचना विकास की अन्तर्धारा प्रवाहित की तथा इसी कड़ी में एक महत्वपूर्ण प्रयास जन संचार माध्यमों उदन्त मार्तण्ड, बंगदूत, बनारस अखबार आदि के मनीषियों का है । गद्य के विकास के लिए जो प्रयास गद्य उन्नायकों ने किया उसका सहज विकास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आविर्भाव के बाद भारतेन्दु युग में हुआ ।

19.2 19वीं शताब्दी के प्रमुख गद्यकार

19.2.1 भारतेन्दु हरिश्चन्द्र :– भारतेन्दु का प्रभाव भाषा और साहित्य दोनों पर गहरा पड़ा । उन्होंने जिस प्रकार गद्य की भाषा को परिमार्जित करके उसे बहुत ही चलता, मधुर और स्वच्छ रूप दिया । उसी प्रकार हिन्दी साहित्य को भी नये मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया । इनके भाषा संस्कार की महत्ता को सब लोगों ने मुक्तकंठ से स्वीकार किया और वे वर्तमान हिन्दी गद्य के प्रवर्तक माने जाते हैं ।

भारतेन्दु ने सन् 1868 में 'कविवचन सुधा' तथा सन् 1873 में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' के प्रकाशन से एक आन्दोलन सा खड़ा कर दिया । हिन्दी गद्य का परिष्कृत रूप इन्हीं पत्रिकाओं में प्रकट हुआ । भारतेन्दु के जीवन का एकमात्र लक्ष्य अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को निशेष कर हिन्दी भाषा और साहित्य को उन्नत, समृद्ध और बहुमुखी बनाना था । उसे नवीन राष्ट्रीय चेतना से सम्पृक्त करना था । अपनी इसी एकान्त साहित्य निष्ठा के कारण वे अपने समय में हिन्दी क्षेत्र की सम्पूर्ण साहित्यिक गतिविधियों के केन्द्र और प्रेरक बन गए थे।

भारतेन्दु के सामने हिन्दी गद्य की दो विधाएं काफी महत्व की थी । एक नाटक दूसरा निबन्ध । भारतेन्दु के पहले हिन्दी में न तो नाटक लिखे जाते थे और न ही अपना कोई रंगमंच था । इन्होंने हिन्दी साहित्य को उन्नत करने के लिए कई नाटकों की रचना की फिर उसे जन–जन तक पहुँचाने और जनजागरण के लिए मंचित भी किया । इस प्रकार भारतेन्दु को हिन्दी नाटकों के साथ–साथ रंगमंच का भी जन्मदाता माना जाता है ।

निबन्ध के क्षेत्र में भारतेन्दु ने ही सबसे पहले कदम बढ़ाया था । इनके पूर्व हिन्दी निबन्ध के नाम पर कुछ धार्मिक उपदेश, प्रवचन, सिद्धांत परिचय तो मिल जाता है पर साहित्यिक निबन्ध नहीं मिलता । भारतेन्दु के निबन्धों में उनकी प्रगतिशील मान्यताएँ, व्यंग्य विनोद, उदारता, सजीवता आदि के दर्शन होते हैं । नाटक के सर्वजनहिताय वाली प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर उन्होंने अपने विचारों को प्रकट करने के लिए नाट्योपयुक्त भाषा का प्रयोग किया, परन्तु निबन्ध के विशिष्ट पाठकों, रचनाकारों के मार्ग दर्शन आदि को ध्यान में रखकर गुरू गंभीरता का भी परिचय दिया । इन दोनों गद्य विधाओं में उन्होंने सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक मुद्दों को प्रमुखता थी ।

भारतेन्दु ने मौलिक तथा अनुदित कुल 17 नाटकों की रचना की । मौलिक नाटकों में 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, 'चन्द्रावली,' 'भारत–दुर्दशा,' 'नीलदेवी,' 'अंधेर नगरी,' 'प्रेम जोगिनी,' 'सती प्रताप' आदि हैं ।

इन्होंने हिन्दी नाटकों को साहित्यिक ऊँचाई देने के लिए संस्कृत, प्राकृत, बंगला से अनुवाद भी किए 'विधा सुन्दर,' 'पाखंड विडम्बना,' 'धनंजय विजय,' 'मुद्राराक्षस,' 'भारत जननी' आदि अनुदित नाटक हैं । इनके नाटकों, निबन्धों की भाषा में तत्सम शब्दों की जगह तद्भव शब्दों का प्रयोग तथा मुहावरों और लोकोक्तियों में सर्वजन ग्राह्य रमण रूप देखने को मिलता है । इन्होंने अपने नाटकों को यथार्थवाद से जोड़ा । हिन्दी में प्रहसन लिखने का सूत्रपात भी किया ।

19.2.2 प्रतापनारायण मिश्र : प्रतापनारायण मिश्र की गणना इस युग के श्रेष्ठ निबन्धकार, नाटककार और पत्रकार के रूप में होती है । इन्होंने हिन्दी गद्य को उन्मुक्त और व्यंग्य–विनोदपूर्ण स्वभाव दिया । इनकी प्रकृति ही विनोदशील थी । इन्होंने भौं, पेट, नाक आदि से लेकर प्रताप चरित्र, दान, जुआ जैसे विषयों पर निबन्ध लिखे साथ ही नास्तिक, शिवमूर्ति, ईश्वर की मुक्ति जैसे गम्भीर विषयों पर भी निबन्ध लिखे । इसके अतिरिक्त लोकोक्तियों को भी अपने निबन्ध लेखन का विषय बनाया । इनके निबन्ध व्यक्ति निष्ठ शैली के सुन्दर उदाहरण हैं । यही सहज उमंग की धारा संगीत शकुन्तल, कलिकोतुक रूपक, कुआरी–खुआरी आदि नाटकों में मिलती है । युग चेतना की अभिव्यक्ति इन्होंने अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छन्द ढंग से की है । इनके व्यंग्य की तलखी तिलमिला देने वाली होती है । इन्होंने 'ब्राह्मण' नामक मासिक–पत्रिका का कई वर्षों तक सम्पादन किया । इनकी भाषा स्वच्छ, बोलचाल की चपलता और भावभंगी से ओतप्रोत रही है । कहावतों, मुहावरों आदि का खूब प्रयोग करते हैं । इनकी भाषा ग्राम्य सहजता से युक्त थी । 38 वर्ष की आयु में इनका निधन हो गया ।

19.2.3 पं. बालकृष्ण भट्ट (1844–1914) : भट्ट जी भारतेन्दु युग के महत्वपूर्ण गद्यकार हैं । आर्थिक अभाव के रहते हुए भी अपने मासिक पत्र 'हिन्दी प्रदीप' को एकाकी रूप में लगभग 33 वर्षों तक निकालते रहे । इन्होंने साहित्यिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि विभिन्न विषयों पर अत्यन्त रोचक निबन्ध लिखे । इनके निबन्धों में विचारों की मौलिकता, विषय की व्यापकता और शैली की रोचकता आदि गुण मिलते हैं। इन्होंने विषय रूप में सहज और मामूली बातों को आधार बनाया जैसे नाक, कान, भौं आदि । निबन्धों के अतिरिक्त भट्ट जी ने कई छोटे–मोटे नाटक भी लिखे हैं जो क्रमशः 'हिन्दी प्रदीप' में छपे हैं । इनके मौलिक नाटकों में 'दमयन्ती स्वयम्वर', 'वेणुसंहार', 'कलिराज की सभा', 'बाल विवाह' आदि प्रमुख हैं । सामाजिक पृष्ठभूमि को आधार बनाकर इन्होंने 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान एक सुजान' नामक दो उपन्यासों की रचना की। भाषा पर भट्ट जी का असाधारण अधिकार था । विषय के अनुरूप भाषा का प्रयोग उनकी सामर्थ्य का द्योतक है । उनके निबन्धों के प्रतिपादन का ढंग भी इतना सरल है कि पढ़ने में कथा – सा आनन्द आता है । उर्दू के शब्दों का प्रयोग करने में इन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं है । भट्ट जी संस्कृत के प्रकांड पण्डित थे । निबन्धों के बीच में संस्कृत के श्लोक उद्धृत कर अपने विचारों को शास्त्र तथा पुराने विद्वानों के विचारों के मेल में रख कर अच्छी तरह से पुष्टि करते जाते हैं । मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग के कारण निबन्धों में व्यंग्य और वक्र व्यंजना का सुन्दर परिपाक हुआ है । हास्य को भी बहुत अधिक महत्व दिया है।

19.2.4 बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (1855–1923) :– भारतेन्दु मण्डल के तीसरे महत्वपूर्ण रचनाकार 'प्रेमघन' हैं। इन्होंने 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिका के माध्यम से हिन्दी और हिन्दुस्तान की जैसी सेवा की वह आज भी स्मरणीय है। इसके अलावा 'नागरी' पत्रिका का सम्पादन भी किया । इन पत्रिकाओं में अनेक प्रकार के विनोदपूर्ण प्रहसन निरन्तर प्रकाशित होते रहते थे । इनके निबन्धों की शैली उपर्युक्त लेखकों से भिन्न थी, जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की बहुलता के साथ कहीं–कहीं बोलचाल के चुभते हुए शब्द भी आ जाते थे

। ये कलाकार की भाँति भाषा को गढ़ा करते थे । इनके निबन्धों की शैली भाव प्रधान है । इनकी शैली सबसे विलक्षण थी । ये गद्य रचना को एक कला के रूप में ग्रहण करने वाले, कलम की कारीगरी समझने वाले लेखक थे । भाषा शैली में अनुप्राण–प्रियता और तुकबन्दी का मोह लक्षित होता है । इन्होंने देश की राजनीतिक और सामाजिक जीवन की दुर्व्यवस्थाओं को अपने प्रहसनों में बखूबी चित्रित किया है । 'भारत सौभाग्य' और 'प्रयाग रामागमन' इनके उल्लेखनीय नाटक हैं । इन्होंने 'आनन्द कादम्बिनी' के माध्यम से हिन्दी आलोचना की दिशा तय करने में भी योगदान दिया ।

19.2.5 ठाकुर जगमोहन सिंह भी इस युग के यशस्वी रचनाकार हैं । इन्होंने गद्य और पद्य दोनों धाराओं को पुष्ट किया । ये संस्कृत साहित्य और अंग्रेजी के अच्छे जानकार तथा हिन्दी के एक प्रेमपथिक कवि और माधुर्यपूर्ण गद्य लेखक थे । इनका लिखा 'श्यामा स्वप्न' नामक उपन्यास काव्यगुणों से परिपूर्ण एक सुन्दर उपन्यास है। इनकी गद्य रचनाओं में आलंकारिक चमत्कार तथा तत्सम शब्दों के आधिक्य ने खड़ी बोली की शिथिल परम्परा को समर्थ किया ।

19.2.6 लाला श्रीनिवासदास हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासकारों में प्रसिद्ध हैं । इनका लिखा उपन्यास 'परीक्षा गुरु' हिन्दी का पहला उपन्यास माना जाता है । आधुनिक अर्थों में यही पहला उपन्यास है जिसमें सामाजिक जीवन को चित्रित करने का प्रयास मिलता है । इनकी गद्य की भाषा में दिल्ली का माधुर्य दृष्टिगत होता है । इन्होनें कई नाटक भी लिखे । इनके प्रमुख नाटकों में 'प्रहलाद चरित्र', 'रणधीर प्रेममोहिनी' और संयोगिता स्वयंवर आदि हैं । इनके लिखे नाटक अपने समय में काफी चर्चा और वाद–विवाद के विषय रहे थे । इनका 'रणधीर और प्रेममोहिनी' नाटक उस समय अधिक चर्चा में रहा । यह नाटक अंग्रेजी नाटकों के ढंग पर लिखा गया है । इसमें प्रस्तावना नहीं रखी गई है और यह दुखांत है ।

19.2.7 अम्बिकादत्त व्यास :– संस्कृत के प्रतिभाशाली विद्वान, और ब्रजभाषा के सिद्धकवि थे । इन्होंने 'भारत सौभाग्य' और 'गो संकट' जैसे नाटकों में तत्कालीन परिस्थितियों को अभिव्यक्त किया है । इसके अतिरिक्त 'ललित नाटिका' और 'मन की उमंग' नामक नाटिकाएँ भी उन्होंने लिखी हैं ।

19.2.8 राधाकृष्ण दास :– भारतेन्दु के सृजनशील व्यक्तित्व से सर्वाधिक प्रभावित रचनाकारों में बाबू राधाकृष्ण दास जी भी थे । इन्होंनें भारतेन्दु का अधूरा नाटक 'सती प्रताप' पूरा किया था। इन्होंनें पहले 'दुखिनी बाला' नामक एक छोटा सा रूपक लिखा था। उनका सबसे उत्कृष्ट और बड़ा नाटक 'महाराणा प्रताप' है जो संवत् 1954 में समाप्त हुआ । यह नाटक बहुत ही लोकप्रिय रहा और इसका अभिनय कई बार कई जगह हुआ । नाटकों के अतिरिक्त इन्होंने 'निस्सहाय हिन्दू' नामक एक लघु उपन्यास भी लिखा । इनकी गद्य रचनाओं की भाषा सरल और सहज है । जिसमें ब्रजभाषा तथा पूर्वी प्रयोग का रंग भी दृष्टिगोचर होता है ।

19.3 सारांश

इस प्रकार देखा जा सकता है कि आरम्भिक हिन्दी गद्य स्वाधीनता की चेतना के अनुरूप आत्मनिर्भर और सुसंगठित होने की दिशा में बढ़ रहा था । भारतेन्दु युग के सभी गद्य लेखक हिन्दी की परम्परागत मूल प्रवृति को पहचानते थे । भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखकों में व्यंग्य की वह धार थी जो आगे चलकर यथार्थवादी रचनाशीलता का आधार बनी । निबन्ध, समालोचना के अतिरिक्त यात्रा वृतान्त जैसे गद्य रूप भी

मिलने लगे थे । विषय में व्यापकता आने लगी थी और अंग्रेजी व्यवस्था के अन्तर्विरोध की पहचान भी मिल रही थी ।

19.4 कठिन शब्द

1 सृजनशील 2 व्यक्तित्व 3 सर्वाधिक 4 सुसंगठित 5 समालोचना

6 यथार्थवादी 7 अभिव्यक्ति 8 उन्मुक्त 9 परिमार्जित 10 प्रस्फुटित

19.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्रश्न – 19वीं शताबदी के प्रमुख गद्यकारों का परिचय दीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न – 19वीं शती के भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और प्रताप नारायण मिश्र का परिचय दीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न – बालकृष्ण भट्ट भारतेन्दु युग के महत्वपूर्ण गद्यकार हैं – स्पष्ट कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

19.6 पठनीय पुस्तकें

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ० नगेन्द्र

2 हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

3 हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामसजन पाण्डे

4 आधुनिक साहित्य की प्रवृतियाँ – नामवर सिंह

5. आधुनिक हिन्दी साहित्य – विकास के विविध आयाम – पुष्पपाल सिंह

6. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका – लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय

7. हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी – नंद दुलारे बाजपेयी

8. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ० बच्चन सिंह

.....

भारतेन्दु युगीन कविता : प्रवृत्तियाँ

20.0 रूपरेखा

20.1 उद्देश्य

20.2 प्रवृतियाँ

20.3 भारतेन्दु युगीन : प्रवृतियाँ

20.3.1 प्रमुख कवि

20.3.2 सामान्य प्रवृतियाँ

20.4 सारांश

20.5 कठिन शब्द

20.6 संभावित प्रश्न

20.7 पठनीय पुस्तकें

20.1 उद्देश्य

– इस आलेख के अध्ययनोपरांत आप जानेंगे
– भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिक युग के प्रवर्तक हैं।
– इनमें आने से हिन्दी काव्य में एक नये युग का आरम्भ हुआ है।
– भारतेन्दु के अतिरिक्त इस युग के अन्य कवियों को जानेंगे।
– भारतेन्दु युग की प्रवृतियों को जानेंगे।

20.2 प्रस्तावना

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिक युग के प्रवर्तक हैं। उनके आगमन से हिन्दी काव्य में एक नया युग आरम्भ होता है। इस युग को साहित्यिक पुनरूथान, राष्ट्रीय चेतनापरक और आदर्शवादी युग कहा गया है। इस

युग में रीतिकालीन शृंगार–प्रधान काव्य के स्थान पर राष्ट्रीय–चेतना, समाज–सुधार एवं जनहित प्रधान काव्य का आरम्भ हुआ। इस युग का काव्य विलासिता की अपेक्षा युगीन जीवन के विभिन्न पक्षों से जुड़ा है। इस युग में कवि ने प्राचीनता से नाता तोड़कर नवीन–चेतना को व्यक्त करने का प्रयास किया है। इसलिए भारतेन्दु युग को आधुनिक काल का प्रवेश द्वार कहते हैं।

20.3 भारतेन्दु युगीन कविता : प्रवृत्तियाँ

वस्तुतः उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध भारतीय इतिहास में एक नवीन अध्याय का श्रीगणेश करता है। इस कालखण्ड में नवचेतना के उदय से जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में व्यापक परिवर्तन हुआ। शिक्षित जनता की बदली हुई मनोवृत्ति ने साहित्यिक गतिविधियों को बहुत दूर तक प्रभावित किया। फलतः इस युग में रचे गये साहित्य में पूर्ववर्ती रीतिकालीन काव्य की पुरानी प्रवृत्तियों को अपदस्थ कर नये आयामों को प्रशस्त करने की चेष्टाएं परिलक्षित हुईं। नये–पुराने के सम्मिश्रण में से अपेक्षित वस्तुओं को ग्रहण और अनपेक्षित वस्तुओं को त्यागकर हिन्दी साहित्य को नवीन चेतना से अनुप्राणित करने का प्रयास सर्वप्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कविताओं में दृष्टिगोचर हुआ। भारतेन्दु जी बहुमुखी प्रतिभा के रचनाकार थे। उन्होंने गद्य–पद्य में समान रूप से लिखा। हिन्दी कविता को नये–नये विषयों में प्रवृत्त करने और गद्य की नवीन विधाओं के विकास में उनका अभूतपूर्व योगदान था। इसीलिए हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस कालखण्ड को भारतेन्दु युग की संज्ञा से अभिहित किया गया है।

20.3.1 प्रमुख कवि

भारतेन्दु युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अतिरिक्त अम्बिकादत्त व्यास, राधाकृष्णदास, प्रताप नारायण मिश्र, बदरी नारायण 'प्रेमघन', ठाकुर जगमोहन सिंह, बालमुकुन्द गुप्त, किशोरी लाल गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट आदि प्रमुख कवि थे।

20.3.2 सामान्य प्रवृत्तियाँ

भारतेन्दुयुगीन कवियों ने अपने कर्तव्य का भलीभाँति निर्वाह करने हेतु जनता के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक पहलुओं का उद्घाटन अपनी कविता में किया। भाव, भाषा, छन्द आदि सभी दृष्टियों से परिष्कार की प्रवृत्ति इस काल के साहित्यकारों में विद्यमान थी। आधुनिक भावबोध के परिणामस्वरूप भारतेन्दुयुगीन हिन्दी काव्य में जिन नवीन प्रवृत्तियों का समावेश हुआ है। उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है –

1. **राष्ट्रीयता अथवा देशभक्ति** : भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने रीतिकालीन काव्य परम्परा से हटकर आधुनिक हिन्दी कविता को जिन नवीन प्रवृत्तियों की ओर मोड़ा, उनमें राष्ट्रीयता अथवा देशभक्ति का स्वर सर्वप्रमुख और सर्वोच्च था। देशभक्ति की जिस भावना का विकास आगे चलकर मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' के माध्यम से हुआ। उसका प्रारम्भिक रूप भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रताप नारायण मिश्र, प्रेमघन और

राधाकृष्णदास आदि की कविताओं में परिलक्षित होता है। इन कवियों ने देश के उत्कर्ष के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों पर प्रकाश डालकर जनमानस में राष्ट्रीय भावना जगाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। भारतेन्दु की 'विजयिनी विजय वैजयन्ती', राधाचरण गोस्वामी की कविता 'हमारो उत्तम भारत देश', प्रेमघन की 'आनन्द अरूणोदय', 'धन्य भूमि भारत सब रतननि को उपजावनि' प्रतापनारायण मिश्र की 'महापर्व' और 'नयासंवत्', राधाकृष्णदास कृत 'भारत बारहमासा' और 'विनय' शीर्षक कवितायें देशभक्ति की प्रेरणा से युक्त हैं। इनमें ऐतिहासिक महापुरूषों एवं महत्वपूर्ण सांस्कृतिक स्थलों की भावपूर्ण एवं मर्मस्पर्शी प्रशस्तियों के माध्यम से भारत के गौरवपूर्ण अतीत की ओर भारतीय जनता का ध्यान आकृष्ट कर उनमें स्वाभिमान और आत्मगौरव की भावना को जागृत करने का श्लाघ्य प्रयत्न किया गया है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

कहाँ परिक्षित कहाँ जनमेजय कहाँ विक्रम कहाँ भोज।

नन्दवंश कहाँ चन्द्रगुप्त कहाँ हाय कहाँ वह ओज।।

– राधाकृष्णदास (विजयिनीविलाप)

अंग्रेज़ों की शोषण नीति, भारत की आर्थिक दुरावस्था तथा किसान मज़दूरों की दीन–हीन दशा के यथार्थ चित्रों में तत्कालीन कवियों की देशभक्ति भावना का स्वर मुखरित हुआ है–

भीतर–भीतर सब रस चूसै, हंसि–हंसि के तन–मन धन मूसै।

जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि साजन नहिं अंग्रेज।।

अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।

पै धन विदेस चलि जात इहै अति ख्वारी।

–भारतेन्दु (भारत दुर्दशा)

X X X

जिनके कारण सब कुछ पावैं जिसका बोया सब जन खायँ।

हाय हाय उनके बालक नित भूखों के मारै चिल्लायँ।

–बालमुकुन्द गुप्त (जातीय गीत)

महारानी विक्टोरिया की प्रशस्ति तथा उनके निधनोपरान्त व्यक्त की जाने वाली हार्दिक शोक–संवेदनाओं से पूर्ण भारतेन्दुयुगीन कविताओं–'जयति राज राजेश्वरी', 'हाय दया की मूर्ति हाय विक्टोरिया माता' आदि को देखकर कुछ लोग तत्कालीन कवियों की राष्ट्रीय भावनाओं पर संदेह कर बैठते हैं। इस सम्बन्ध में ज्ञातव्य है कि 1885 से पूर्व कम्पनी के शासन में भारतीय जनता पर जो अन्याय और अत्याचार किये जाते थे, उनकी तुलना में विक्टोरिया की अपेक्षाकृत उदार शासन–व्यवस्था ने भारतीय जनता में सुख–शान्ति का प्रसार किया था।

फलतः महारानी विक्टोरिया के प्रति कवियों के ये उद्‌गार तत्कालीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में सर्वथा उचित प्रतीत होते हैं। इन्हें राष्ट्रीयता विरोधी अथवा चाटुकारिता से युक्त मानना उचित न होगा। प्रेमघन की 'हार्दिक हर्षादर्श' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियों से यह तथ्य अपने आप स्पष्ट हो जायेगा –

लेकर राज कम्पनी के कर सो निज हाथन।

किये सनाथ भोली भारत की प्रजा अनाथन।

2. सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति : भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने सामाजिक कुरीतियों, अन्धविश्वासों तथा पाश्चात्य सभ्यता के अन्धानुकरण की कटु आलोचना कर भारतीय समाज में स्वस्थ और प्रगतिशील परम्पराओं की पुनः स्थापना पर बल दिया। स्त्रियों की अशिक्षा, विधवाओं की दुर्दशा, छुआछूत और जाति–पाँति तथा भेदभाव की समस्या ने विशेष रूप से इन कवियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'भारत दुर्दशा' में छुआछूत की घृणित परम्परा की ओर इन शब्दों में संकेत किया –

'बहुत हमने फैलाये धर्म, बढ़ाया छुआछूत का कर्म'।

कवियों ने भारत दुर्दशा का चित्रण इन पंक्तियों में किया–

रोबहु सब मिलि आबहु भारत आई।

हा–हा भारत दुर्दशा न देखि जाई।।

– भारतेंदु हरिश्चन्द्र

इसी प्रकार–

मैं हाय–हाय दै धाय पुकारौं रोई।

भारत की डूबी नाव उबारौ कोई।।

प्रतापनारायण मिश्र ने विधवाओं की दयनीय दशा का हृदय विदारक चित्र प्रस्तुत किया–

'कौन करेजो नहिं कसकत सुनि विपति बाल विधवान की'।

'प्रेमघन' ने पश्चिमी सभ्यता में रंगे हिन्दू नाम से लज्जित होने वाले भारतीय नवयुवकों की खुले आम निन्दा की –

पढ़ि विद्या परदेश की बुद्धि विदेश पाय।

चाल–चलन परदेश की गई इन्हें अति भाय।।

3. भक्ति भावना : भारतेन्दु युगीन काव्य में नवीन सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार यद्यपि नये–नये विषयों का

ही प्राधान्य रहा, किन्तु कविता के पुराने विषयों का भी पूरी तरह निषेध नहीं किया जा सका। स्वयं भारतेन्दु तथा उनके अन्य सहयोगियों ने ईश्वरभक्ति विषयक अनेक सरस रचनाएँ प्रस्तुत कीं। भक्तिपरक रचनाओं में भारतेंदु कृत 'भक्ति सर्वस्व', 'कार्तिक स्नान', अंबिकादत्त व्यास रचित 'कंस वध', प्रेमघन कृत 'सूर्य स्तोत्र', राधाचरण गोस्वामी कृत 'नवभक्तमाल' आदि प्रमुख हैं। इन रचनाओं में कहीं तो निर्गुणोपासक संतों की–सी विरक्ति भावना देखने को मिलती है और कहीं वैष्णव भक्तों की तन्मयता है। ऐसी कविताओं में भारत को उसकी दुरावस्था से मुक्त करने के लिए ईश्वर से प्रार्थनाएँ की गई हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

ब्रज के लता पता मोहिं कीजै।

गोपी पद पंकज पावन की रज जामै सि भीजै।

–भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

x x x

उधारौ दीन बन्धु महाराज।

जैसे हैं तैसे तुमरे ही नहीं और सौं काज।।

–भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

पं. प्रताप नारायण मिश्र और राधाकृष्णदास के काव्य में निर्गुण भक्त कवियों के समान–सी सरसता पाई जाती है–

जो विषया संतन तजी ताहि मूढ़ लपटात।

जो नर डारत वमन करि स्वान स्वाद सौं खात।।

– राधाकृष्णदास

4. शृंगारिकता – भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने रीतिकालीन कवियों का अनुसरण करते हुए प्रेम और सौन्दर्य की भावना से युक्त शृंगार प्रधान रचनाएँ भी प्रस्तुत की। भारतेन्दु की 'प्रेमसरोवर', 'प्रेममाधुरी', 'प्रेमफुलवारी', प्रेमघन की 'युगलमंगल–स्तोत्र', 'वर्षाबिन्दु', अम्बिकादत्त व्यास की 'पावस पचासा' जगमोहन सिंह की 'प्रेमसंगीतलता' आदि इस प्रकार की रचनाएँ हैं। इस युग की कुछ कविताओं में घनानन्द की–सी सरसता और भावुकता पाई जाती है। वयसन्धि को प्राप्त नायिका का सुन्दर चित्र दृष्टव्य है–

सिसताई अजौं न गई तन तें,

तऊ जीवन जोति बटोरैं लगीं।

सुनि कै चरचा हरिश्चन्द्र की कानन,

कूक दै भौंह मरोरैं लगीं।।

– भारतेन्दु

इन कवियों ने वियोग शृंगार का भी सुन्दर चित्रण अपनी रचनाओं में किया है। ठाकुर जगमोहन सिंह ने अपनी रचना 'प्रेम सम्पत्ति लता' में नायिका के विरह का निरूपण किया है। जगमोहन सिंह की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

अब यो डर आवत है सजनी, मिलि जाऊँ गरे लगि के छतियाँ।

मन की करी भाँति अनेकन और मिलि कीजिय री रस की बतियाँ।।

5. प्रकृति–चित्रण – भारतेन्दु युग के कुछ कवियों ने स्वतंत्र रूप से प्रकृति का सौन्दर्याकन करने की चेष्टा की है। किन्तु, रीतिकालीन कवियों के प्रभावस्वरूप वे परम्परा निर्वाह की प्रवृत्ति से मुक्त नहीं हो सके हैं। भारतेन्दु ने 'सत्य हरिश्चन्द' और 'चन्द्रवाली' में क्रमशः गंगा और यमुना की स्वतंत्र छवि का अंकन करने का प्रयास किया है, किन्तु अलंकार–भार से दब जाने के कारण इन कविताओं में सहजता की अपेक्षा कृत्रिमता अधिक आ गयी है। इसी प्रकार भारतेन्दु कृत 'बसंतहोली', अम्बिकादत्त व्यास कृत 'पावस पचासा', प्रेमघन कृत 'मयंकमहिमा' और प्रतापनारायण मिश्र कृत 'प्रेमपुष्पांजलि' शीर्षक कविताओं में प्रकृति को आलंबन–रूप में स्वीकार करने पर भी शृंगारी भावनाओं की प्रधानता रही है। भारतेंदु का गंगा–यमुना वर्णन उल्लेखनीय है–

नव उज्ज्वल जलधार हार–हीरक–सी सोहती,

बिच बिच छहरति बंद मध्य मुक्तामणि पोहती।।

– भारतेन्दु

इसी प्रकार –

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाय।

झुके कूल सौं जल परसन हित मनहुं सुहाय।।

– भारतेन्दु

6. हास्य–व्यंग्य – भारतेन्दु युग में पत्र–पत्रिकाओं के प्रचार–प्रसार से हिन्दी काव्य को जनमानस के अत्यधिक निकट जाने में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। भारतेंदु जी ने अपने नाटकों एवं एकांकियों में व्यंग्योक्तियों के माध्यम से तत्कालीन परिस्थितियों का सुन्दर चित्रण किया है। 'अन्धेर नगरी' में चूरन वाला कहता है–

चूरन साहब लोग जो खाता।

सारा 'हिन्द' हजम कर जाता।।

नए जमाने की मुकरी में कवि ने सामयिक बुराइयों पर व्यंग्य किए हैं। मद्यपान के सम्बन्ध में उनकी व्यंग्योक्ति

देखिए–

मुह जब लागे तब नहिं छूटै,

जाति मान धन सब कुछ लूटै।

पागल करि मोहि करै खराब,

क्यों सखि साजन नहीं सराब।।

प्रतापनारायण मिश्र की कविताएं हर गंगा, बुढ़ापा, उर्दू का स्यापा, हास्य–व्यंग्य की दृष्टि से बहुत प्रसिद्ध हुई।

कविता को सामान्य पाठकों की दृष्टि से आकर्षक और उपयोगी बनाने के लिए साहित्यकारों को उसमें रोचकता का समावेश करना पड़ा। हास्य–व्यंग्य इसी रोचकता का एक महत्त्वपूर्ण अंग बनकर काव्य में समाविष्ट हुआ। पश्चिमी सभ्यता, विदेशी शासन, समाजिक अन्धविश्वासों पर किये गये चुभते व्यंग्यों को सुनकर बरबस हँसी आ जाती है। भारतेन्दु कृत 'नये जमाने की मुकरी' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

मुँह जब लागै तब नहिं छूटै, जाति मान धन सब कुछ लूटै।

पागल करि मोहिं करै खराब, क्यों सखि साजन नहीं शराब।

7. समस्या पूर्ति – भारतेन्दु युग में कवियों की प्रतिभा और रचना–कौशल को परखने के लिए कवि गोष्ठियों और कवि समाजों में कठिन–से–कठिन विषयों पर समस्याओं की पूर्ति करायी जाती थी। काशी में भारतेन्दु द्वारा स्थापित 'कविता वर्द्धिनी सभा', कानपुर का 'रसिक समाज' आदि की ओर से आयोजित की जाने वाली कवि गोष्ठियों में समस्यापूर्ति को प्रतियोगिता के रूप में प्रोत्साहन दिया जाता था। इन समस्यापूर्तियों में पुराने कवि निःसंकोच रूप से भाग लेते थे और नये कवियों का उत्साहवर्द्धन होता था। कानपुर के 'रसिक समाज' में प्रतापनारायण मिश्र द्वारा की गयी समस्यापूर्ति कितनी हृदयस्पर्शी बन पड़ी है –

बन बैठि है मान की मूरति सी,

मुख खोलत बोलै न नाहीं न हां।।

तुम ही मनुहारि कै हारि परे,

सखियान की कौन चलाई तहां।।

वरषा है प्रतापजू' धीर धरौ,

अबलौ मन कौं समझायौ जहां।

वह ब्यारि तबै बदलैगी कछू,

पपीहा जब पूछि है पीव कहां।।

समस्या पूर्ति के माध्यम से उक्ति वैचित्र्य, अलंकरण एवं कल्पना का मनोहारी प्रयोग करने की रीतिकालीन प्रवृत्ति को काव्य में पर्याप्त प्रश्रय मिला। समस्यापूर्ति से सम्बन्धित इस काल के कुछ प्रमुख काव्य संग्रह हैं– अम्बिकादत्त व्यास कृत 'समस्या पूर्ति सर्वस्व', द्विजगंग कृत 'समस्या प्रकाश' और गोविन्द गिल्ला भाई कृत 'समस्यापूर्ति प्रदीप'।

8. अभिव्यक्तिगत प्रवृत्तियाँ – भारतेन्दु युग में मुक्तक काव्य की प्रधानता रही। सामयिक विषयों पर उपदेशपरक फुटकर पद्य लिखे गए जिनमें भाव की गहनता एवं कला का उत्कर्ष दिखाई नहीं पड़ता। कुछ रचनाएं तो तुकबंदियां मात्र प्रतीत होती हैं। भारतेन्दु युग में हिन्दी काव्य के भीतर नये–नये विषयों का समावेश किया गया, किन्तु अभिव्यक्ति के क्षेत्र में कोई युगान्तरकारी परिवर्तन परिलक्षित नहीं हुआ। गद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली को स्वीकार कर लिया गया पर पद्य में ब्रजभाषा बनी रह गयी। भारतेंदु ने हिन्दी भाषा को लोकप्रिय बनाने का भरसक प्रयास किया। वे कहते हैं –

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।

बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल।।

इस युग के अन्तिम खेमे के कुछ कवियों – श्रीधर पाठक, बालमुकुन्द गुप्त ने काव्य के क्षेत्र में खड़ी बोली को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया, किन्तु उनके प्रयासों को व्यापक सफलता आगे चलकर द्विवेदी युग में प्राप्त हुई। शैली और काव्य रूप के क्षेत्र में भी इस युग के कवियों ने रीतिकालीन परम्परा का अनुसरण किया। दोहा, रोला, घनाक्षरी और सवैया उनके प्रिय छंद रहे। कुछ कवियों ने लोकप्रचलित छंदों – कजली, लावनी आदि का प्रयोग किया। शब्द–चमत्कार और अलंकार प्रियता का अवशेष इस युग के कवियों में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। समग्रतः इस युग के कवियों का ध्यान अभिव्यक्ति की नूतन दिशाओं की ओर न होकर नये–नये विषयों की ओर ही अधिक रहा। अभिव्यक्तिगत नूतनता आगे चलकर द्विवेदी युगीन कवियों की रचनाओं में देखने को मिली।

20.4 सारांश

भारतेन्दु युग के कवियों ने कविता को रीतिकालीन परिवेश से निकालकर सामयिक समस्याओं से जोड़ दिया। विदेशी शासकों के अत्याचारों का वर्णन भी उन्होंने किया, भले ही वह दबी जबान से किया गया है। भारतेन्दु के रूप में एक सबल साहित्यकार हिन्दी को प्राप्त हुआ। वे सच्चे अर्थों में आधुनिक काल के जनक कहे जा सकते हैं। राष्ट्र और समाज को उद्‌बोधन देते हुए उन्होंने 'कवि कर्तव्य' का बखूबी पालन किया, जिसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं।

20.5 कठिन शब्द

1 प्रयास 2 खेमे 3 नूतनता 4 सबल 5 परिलक्षित 6 युगान्तकारी

7 उत्साहवर्द्धन 8 निषेध 9 दुर्दशा 10 चाटुकारिता

20.6 संभावित प्रश्न :

1. आधुनिक काल की सांस्कृतिक परिस्थिति पर प्रकाश डालिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

2. आधुनिक काल के प्रमुख कवि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कवित्व का परिचय दीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

3. भारतेन्दुयुगीन काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक चेतना पर प्रकाश डालिए।

4. भारतेन्दुयुगीन काव्य में हास्य एवं व्यंग्य–प्रवृत्ति पर प्रकाश डालिए।

5. भारतेन्दुयुगीन काव्य का संक्षेप में मूल्यांकन कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

6. भारतेन्दु मंडल के बारे में आप क्या जानते हैं?

_____

_____

_____

_____

_____

_____

20.7 पठनीय पुस्तकें

- हिन्दी साहित्य का इतिहास– आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

- हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास– डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त
- हिन्दी साहित्य का इतिहास– डॉ. नगेन्द्र
- हिन्दी साहित्य – डॉ. धीरेन्द्र वर्मा
- हिन्दी साहित्य का इतिहास– डॉ. रामसजन पाण्डेय (संपा.)

.....

द्विवेदी युग – बीसवीं शताब्दी का गद्य और प्रमुख गद्यकार

6.0 रूपरेखा

21.1 उद्देश्य

21.2 प्रस्तावना

21.3 द्विवेदी युग–बीसवीं शताब्दी का गद्य और प्रमुख गद्यकार

21.3.1 कहानी

21.3.2 उपन्यास

21.3.3 नाटक

21.3.4 निबंध

21.3.5 पत्रकारिता

21.3.6 आलोचना

21.3.7 आत्मकथा

21.3.8 यात्रा–वृत्त

21.3.9 अन्य साहित्य

21.4 सारांश

21.5 कठिन शब्द

21.6 संभावित प्रश्न

21.7 पठनीय पुस्तकें

21.1 उद्देश्य

– प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरांत आप जानेंगे।
– बीसवीं शताब्दी का गद्य
– बीसवीं शताब्दी के प्रमुख गद्यकार
– बीसवीं शताब्दी की गद्य विधाओं को समझेगें।

21.2 प्रस्तावना – इस युग में प्रत्येक साहित्य निबन्ध हो या आलोचना, कहानी हो या उपन्यास, उसके कलात्मक परिधान को हटा देने पर भीतर राष्ट्रीय–सांस्कृतिक जागरण की चेतना लक्षित होती है। इस युग के साहित्य ने मूल्यों में परिवर्तन किया। इस युग के साहित्य का मूल उद्देश्य जन समुदाय को प्रभावित करना और उसे आदर्श जीवन की ओर मोड़ना माना गया।

21.3 द्विवेदी युग – बीसवीं शताब्दी का गद्य और प्रमुख गद्यकार

21.3.1 कहानी

सरस्वती पत्रिका में 1900 ई. में 'इंदुमति', 1903 में शुक्ल कृत 'ग्यारह वर्ष का समय', बंग महिला कृत 'दुलाई वाली' का प्रकाशन सन् 1907 में हुआ। गुलेरी जी ने 'उसने कहा था', 'सुखमय जीवन' व 'बुद्धू का कांटा' कहानियां लिखी। राधिकारमण प्रसाद सिंह ने 'कानों में कंगना' कहानी की रचना की। इस काल की अधिकतर कहानी मनोरंजन के उद्देश्य से लिखी गई थी। अधिकतर कहानियों में उपदेशात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है। इसके अतिरिक्त इस काल की कहानियों का उद्देश्य आदर्शवाद की स्थापना रहा है। कहानीकार भाषा, संवाद आदि सभी की तुलना में कथानक पर अधिक बल देता दिखाई पड़ता है।

21.3.2 उपन्यास

द्विवेदी युग के उपन्यासकारों में लज्जाराम शर्मा (आदर्श दम्पति, आदर्श हिन्दू, बिगड़े का सुधार), मन्नन द्विवेदी (रामलाल), राधिकारमण प्रसाद सिंह (प्रेम लहरी) आदि प्रमुख हैं। द्विवेदी युगीन हिन्दी उपन्यास केवल मनोरंजन प्रधान दिखाई देता है। कुछ एक शिक्षाप्रद व नैतिक उपन्यासों की भी रचना इस काल में हुई। इस युग के उपन्यास शिल्प की दृष्टि से अधिक उन्नत नहीं है, केवल अनूदित उपन्यासों में ही सृजनात्मकता की ओर ध्यान दिया गया है। हरिऔध ने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' व 'अधखिला फूल' उपन्यास लिखे।

21.3.3 नाटक

द्विवेदीयुगीन नाटक अधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नहीं प्राप्त कर सका। इस युग में अनूदित नाटकों की संख्या सर्वाधिक है। इस युग के पौराणिक नाटकों में राधाचरण गोस्वामी का 'श्रीदामा', नारायण मिश्र का 'कंस वंध', सामाजिक व राजनीतिक समस्या पर नाटकों में प्रताप नारायण मिश्र का 'भारत दुर्दशा', भगवती प्रसाद मिश्र का 'वृद्ध विवाह' आदि प्रमुख हैं। मैथिलीशरण गुप्त ने तिलोत्तमा, चन्द्रहास व अनघ नाटकों की रचना की। रामनरेश त्रिपाठी ने सुभद्रा व जयंत नाटक लिखे। इस काल के अधिकांश प्रहसनों पर पारसी रंगमंच का प्रभाव दिखाई देता है। इस युग के प्रहसनकारों में बदरीनाथ भट्ट, जी. पी. श्रीवास्तव आदि के नाम प्रमुख हैं।

21.3.4 निबंध

हिन्दी निबन्ध के विकास के द्वितीय चरण को आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर द्विवेदी युग कहा गया है। द्विवेदी जी ने सरस्वती पत्रिका का सम्पादकत्व सन् 1903 ई॰ में सम्भाला था, अतः द्विवेदी युग का प्रारम्भ हम इसी समय से मान सकते हैं। द्विवेदी जी ने सरस्वती के माध्यम से भाषा संस्कार एवं व्याकरण शुद्धि के जो प्रयास प्रारम्भ किए उनका प्रभाव तत्कालीन सभी निबन्धकारों पर किसी न किसी रूप में अवश्य पड़ा।

आचार्य द्विवेदी ने बेकन के निबन्धों को आदर्श निबन्ध मानते हुए उनके निबन्धों का हिन्दी अनुवाद 'बेकन विचार रत्नावली' के नाम से किया। इसके अतिरिक्त उनके अपने निबन्धों का संग्रह **'रसज्ञ रंजन'** नाम से प्रकाशित हुआ है। द्विवेदी जी के प्रसिद्ध निबन्धों के नाम हैं – **कवि और कविता, कवि, कर्तव्य, प्रतिभा, साहित्य की महत्ता, लोभ, मेघदूत आदि** । उनके निबन्धों में वैचारिकता एवं गम्भीरता है तथा भारतेन्दु युग की हास्य व्यंग्य शैली का यहां अभाव है। इन निबन्धों की भाषा शुद्ध सार्थक एवं परिमार्जित है। ये निबन्ध प्रायः व्यास शैली में लिखे गए हैं। जिससे वे बोधगम्यता के गुण से युक्त हो गए हैं। उनमें कहीं भी दुरूहता अथवा क्लिष्टता नहीं है। विषय के अनुरूप वे अपनी शैली में परिवर्तन करते दिखाई पड़ते हैं।उदाहरण के लिए 'मेघदूत' निबन्ध की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं, जिनमें शैली की गम्भीरता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है – "कविता कामिनी के कमनीय नगर में कालिदास का मेघदूत एक ऐसे भव्य भवन के सदृश है, जिसमें पद्य रूपी अनमोल रत्न जड़े हुए हैं।''

भारतेन्दु युग की निबन्ध परम्परा से एक स्पष्ट अलगाव द्विवेदीयुगीन निबन्धों में परिलक्षित होता है। भारतेन्दु युग के निबन्धों में जहां वैयक्तिकता की प्रधानता थी, वहीं द्विवेदी युग के निबन्धों में व्यक्तित्व व्यंजक परम्परा का ह्रास दिखाई पड़ता है। द्विवेदी युग के निबन्धकारों में पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी के अतिरिक्त अन्य प्रमुख निबन्ध लेखक थे – **माधव प्रसाद मिश्र, गोबिन्द नारायण मिश्र, बाबू श्याम सुन्दर दास, अध्यापक पूर्ण सिंह,पदम सिंह शर्मा, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, मिश्र बन्धु, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी आदि**।

इन निबन्धकारों ने द्विवेदी जी की परम्परा का अनुसरण करते हुए विचार प्रधान निबन्ध लिखे। माधव प्रसाद मिश्र के निबन्धों का संग्रह ''माधव मिश्र निबन्धमाला' नाम से प्रकाशित हुआ है। इन्होनें 'धृति', 'सत्य' जैसे निबन्धों की रचना विचार प्रधान गम्भीर शैली में की है। गोविन्द नारायण मिश्र की भाषा संस्कृतनिष्ठ एवं अलंकारों के बोझ से दबी हुई है। वाक्य लम्बे–लम्बे हैं और तत्सम एवं सामासिक पदावली की अधिकता है। रामधारी सिंह दिनकर ने 'अर्द्धनारीश्वर' और माखनलाल चतुर्वेदी ने 'साहित्य देवता' निबंध की रचना की।

बाबू श्यामसुन्दर दास द्विवेदी युग के श्रेष्ठ निबन्धकार थे। वे एक उच्चकोटि के आलोचक थे। अतः उनके निबन्धों का विषय प्रायः आलोचना से सम्बन्धित रहा यथा – 'भारतीय साहित्य की विशेषताएँ,' कर्तव्य और सभ्यता', 'समाज और साहित्य' आदि। इनके निबन्धों में आत्माभिव्यंजना एवं वैयक्तिकता के तत्वों की उपेक्षा करते हुए केवल विचारों की अभिव्यक्ति पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया है। शैली में प्रौढ़ता है किन्तु कहीं भी अस्पष्टता नहीं दिखाई देती।

तुलनात्मक समालोचना के लिए प्रख्यात पं. पदमसिंह शर्मा के दो निबन्ध संग्रह 'पदम्पराग' एवं 'प्रबन्ध मंजरी' नाम से प्रकाशित हुए हैं। इनके निबन्धों में वैयक्तिकता एवं भावुकता की प्रधानता है। इनकी शैली

प्रशंसात्मक एवं प्रभावपूर्ण है तथा उसमें खण्डन–मण्डन की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। वाक्य रचना में उन्होंने कथ्य को विशेष प्रभावशाली बना दिया है।

प्रसिद्ध पुरातत्वविद् चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' के निबन्धों में प्रखर पाण्डित्य की झलक दिखाई पड़ती है। उनमें गम्भीर चिन्तन, सूक्ष्म विश्लेषण और व्यंग्य का पुट है। गुलेरी जी की भाषा प्रौढ़ एवं विषयानुकूल है। इनके निबन्ध संग्रहों के नाम हैं – 'गोबर गणेश संहिता', कछुआ धर्म' और 'मारेसि मोहि कुठांव'।

द्विवेदी युग के सर्वाधिक सशक्त निबन्धकार हैं – सरदार पूर्णसिंह जो हिन्दी में भावात्मक निबन्धों की रचना के लिए तथा शैली की विशिष्टता एवं भाषा की लाक्षणिकता के लिए सुविख्यात रहे हैं। उनके निबन्ध हिन्दी की अमूल्य निधि हैं। इनके निबन्धों के नाम हैं – आचरण की सभ्यता, मजदूरी और प्रेम, सच्ची वीरता, पवित्रता, कन्यादान और अमेरिका का मस्त योगी वाल्ट व्हिटमैन। इन निबन्धों में स्वाधीन चिन्तन के साथ–साथ लाक्षणिक एवं व्यंग्य प्रधान शैली की छाप दिखाई पड़ती है। पूर्णसिंह जी की लाक्षणिक पदावली के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं – ''आजकल भारतवर्ष में परोपकार का बुखार फैल रहा है।'' ''वह वीर ही क्या जो टीन के बर्तन की तरह झट गरम और झट ठण्डा हो जाता है।''

उपर्युक्त विवचेन के आधार पर कहा जा सकता है कि द्विवेदी युग में विचार प्रधान निबन्धों की रचना अधिक हुई है। भारतेन्दु युग की अपेक्षा इस युग के निबन्धकारों की भाषा–शैली में प्रौढ़ता दिखाई पड़ती है। इन निबन्धकारों ने युगीन समस्याओं की अपेक्षा साहित्यिक एवं वैचारिक समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हुए निबन्धों के विषयों की खोज की। हास्य–व्यंग्य के स्थान पर इनमें गम्भीरता अधिक है। अध्यापक पूर्णसिंह एवं गुलेरी जी के निबन्धों को छोड़कर शेष निबन्धों में वैयक्तिकता का प्रस्फुटन नहीं हुआ है। इस युग के निबन्धकारों ने भावात्मक, विचारात्मक, शोधपरक, सभी शैलियों का प्रयोग किया है। भाषा की दृष्टि से ये निबन्ध निश्चित रूप से भारतेन्दुयुगीन निबन्धों से अधिक प्रौढ़ हैं क्योंकि इनकी भाषा व्याकरणसम्मत, प्रौढ़ एवं परिमार्जित है।

21.3.5 पत्रकारिता

द्विवेदी युग तक आते–आते राजभक्ति पर देश भक्ति पूर्णतः हावी हो चुकी थी। इस समय तक भारतीय राजनीति में बाल गंगाधर तिलक का प्रभाव बढ़ने लगा था। उनका मत था कि जब तक राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होती है, तब तक सामाजिक सुधारों के लिए कोई स्थान नहीं है। उन्होंने पहले मराठी साप्ताहिक 'केसरी' और अंग्रेजी साप्ताहिक 'मराठा' को अपने हाथों में लिया। 1908 ई. से 'केसरी' पत्र के हिन्दी संस्करण से जन समुदाय में जागृति लाने के प्रयास किए। उनकी ओजस्वी और विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियाँ दूसरे पत्रों को भी प्रभावित करने लगी थीं।

'सरस्वती' पत्रिका जो सन् 1900 में बनारस से आरभ हुई थी, को 1903 में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संभाला। द्विवेदी युग में दो प्रकार की पत्र–पत्रिकाएँ प्रकाशित होती थीं –राजनीतिक और साहित्यिक। राजनीतिक क्षेत्र का प्रतिनिधित्व 'हिन्दी केसरी' ने किया, जबकि साहित्यिक क्षेत्र का प्रतिनिधित्व 'सरस्वती' कर रही थी। आचार्य द्विवेदी ने इसमें क्रांतिकारी परिवर्तन करते हुए इसके माध्यम से हिन्दी भाषा को नए संस्कार दिए। इसमें देश–भक्ति, नैतिकता और सुधारवाद का स्वर प्रमुख था। आचार्य द्विवेदी के अथक परिश्रम के कारण

हिन्दी में मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, अयोध्यासिंह उपाध्याय' हरिऔध जैसे कवि सामने आए। 'सरस्वती' पत्रिका से प्रभावित होकर 'प्रभा' (1923), 'चाँद', 'माधुरी' आदि पत्रिकाओं ने भी अपने स्वरूप को बदला।

माखनलाल चतुर्वेदी ने सन् 1909 में 'कर्मवीर' नामक साप्ताहिक पत्र निकाला, जो राष्ट्रीय विचारधारा से परिपूर्ण था। इसी समय बाबूराव विष्णुराव पराड़कर ने 'दैनिक आज' का संपादन किया, जिसका ऐतिहासिक महत्त्व है इसमें राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के संदर्भ में चेतना के नए स्वरों का उद्घोष मिलता है। यह दिशा–निर्देश करने वाला सामाजिक समाचार–पत्र सिद्ध हुआ। इनके अतिरिक्त नृसिंह (1907), मर्यादा (1909), प्रताप (1913), देवनागर (1907) इस युग की अन्य प्रमुख पत्र–पत्रिकाएँ थीं।

विवेच्य युग की राजनीतिक पत्रकारिता जहाँ देश भक्ति और उग्र तेवरों के कारण जानी जाती है, वहीं साहित्यिक पत्रकारिता साहित्य–समृद्धि और भाषा–परिष्कार के लिए महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई है। डॉ. रामचन्द्र तिवारी के शब्दों में, ''सरस्वती ने भाषा और साहित्य–दोनों क्षेत्रों में नए युग का निर्माण किया। यह सचमुच आलोच्य युग की साहित्यिक उच्चता का निकष बन गयी थी।''

21.3.6 आलोचना

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' के माध्यम से हिन्दी आलोचना को नयी दिशा प्रदान की। इसके अतिरिक्त उन्होंने व्यावहारिक आलोचना संबंधी स्वतंत्र ग्रंथों की भी रचना की, जिनमें विक्रमांदेव चरित्र चर्चा', 'नैषधचरित्रचर्चा' और कालिदास की निरंकुशता' नामक पुस्तकों को विशेष ख्याति मिली। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में – यद्यपि द्विवेदी जी ने हिन्दी के बड़े–बड़े कवियों को लेकर समीक्षा का स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत किया, पर नव प्रकाशित पुस्तकों की भाषा आदि की खरी आलोचना करके हिन्दी साहित्य का बड़ा भारी उपकार किया। यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसी अव्यवस्थित, व्याकरण विरुद्ध और ऊट–पटांग भाषा चारों ओर दिखाई पड़ती थी, उसकी परम्परा जल्दी नहीं रूकती।

द्विवेदी युग में स्वतंत्र पुस्तकों के रूप में लिखी गयी अन्य आलोचनात्मक कृतियों में मिश्रबंधु कृत 'हिन्दी नवरत्न' और 'मिश्रबंधुविनोद', पद्मसिंह शर्मा द्वारा प्रस्तुत किया देव और बिहारी का तुलनात्मक अध्ययन, कृष्णबिहारी मिश्र और लाला भगवानदीन की क्रमशः 'देव और बिहारी' तथा 'बिहारी और देव' शीर्षक रचनाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उपर्युक्त कृतियों में तुलनात्मक समीक्षा के आधार पर 'देव और बिहारी' से किसी एक को श्रेष्ठ सिद्ध करने का विशेष आग्रह दिखायी पड़ता है। 'हिन्दी नवरत्न' में देव को, पदमसिंह की रचना में बिहारी को, कृष्णबिहारी मिश्र ने देव को और लाला भगवानदीन ने बिहारी को श्रेष्ठ सिद्ध किया है। आगे चलकर किसी को छोटा और किसी को बड़ा सिद्ध करने का यह झगड़ा शांत हो गया।

उपर्युक्त समालोचकों के अतिरिक्त द्विवेदी युग में सैद्धान्तिक समीक्षा को क्रमबद्ध और व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने वाले आलोचकों में बाबू श्यामसुंदर दास और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने 'समालोचना' शीर्षक निबंध के माध्यम से सैद्धांतिक आलोचना का प्रारम्भ कर दिया था। बाबू श्यामसुंदर दास ने 'साहित्यलोचन' के माध्यम से उसे प्रौढ़ता प्रदान की। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'रूपकरहस्य', 'भारतीय नाट्यशास्त्र', 'भाषारहस्य', 'हिन्दी भाषा और साहित्य' नामक अनेक समीक्षात्मक कृतियाँ प्रस्तुत कीं। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने विश्वसाहित्य की रचना कर बाबू

साहब की परम्परा को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। रामधारी सिंह दिनकर ने 'शुद्ध कविता की खोज' आलोचनात्मक कृति लिखी।

21.3.7 आत्मकथा

भारतेन्दु जी के बाद आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती– पत्रिका में अपनी 'अधूरी कहानी' प्रकाशित करायी। उनके परवर्ती सम्पादकों में पं.देवीदत्त शुक्ल, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने आत्मकथाएँ लिखी थीं। बाबू श्यामसुंदर दास द्वारा लिखित 'मेरी आत्मकहानी' एक श्रेष्ठ आत्मकथा है।

डॉ. हरदयाल का कथन है –''श्यामसुंदर दास की 'मेरी आत्मकहानी' सन् 1941 ई. में प्रकाशित हुई यह बड़ी सुगठित और समृद्ध आत्मकथा है। इसमें साहित्यिक शैली में बाबू श्यामसुंदरदास ने अपने जीवन के साथ–साथ उस समय के साहित्यिक इतिहास को प्रस्तुत किया है। इसी युग में जयशंकर प्रसाद ने पद्य में और मुंशी प्रेमचन्द ने 'मेरी कहानी' नामक आत्मकथा लिखी। इसके पश्चात् श्री वियोगी हरि ने भावात्मक शैली में 'मेरा जीवन–प्रवाह' नामक आत्मकथा लिखी। इसी युग में डॉ. राजेन्द्रप्रसाद ने राजनीतिक आत्मकथा लिखी। भाई परमानन्द ने 'आप बीती' और श्री रामविलास शुक्ल ने भी 'मैं क्रांतिकारी कैसे बना' आत्मकथाएं लिखीं। वस्तुतः ये सभी आत्मकथाएं केवल लेखकों के जीवनवृत्त को ही नहीं बताती, वरन् तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का भी अभिज्ञान कराती हैं।

21.3.8 यात्रा–वृत्त

भारतेन्दु–युग के बाद यात्रा–वृत्तान्तों के पुस्तकाकार प्रकाशन की परम्परा परिलक्षित होती है। द्विवेदी–युग के यात्रा–वृत्त सामान्यता परिचयात्मक हैं। उनमें स्थानों की संस्कृति, सभ्यता, कला, साहित्य आदि का कलात्मक विवरण प्रस्तुत किया है। इस युग में हिन्दी भाषी क्षेत्र में शिक्षा के विकास और यातायात के साधनों की वृद्धि के कारण यात्रा के प्रति लोगों का रुझान बढ़ता गया। हिन्दी के साहित्यकारों में कुछ जन्मजात सैलानी प्रवृत्ति के यायावर सामने आये। राहुल सांकृत्यायन, सत्यनारायण आदि अनेक साहित्यकार इसी प्रकार के थे। इन साहित्यकारों ने हिन्दी के यात्रा–साहित्य की श्रीवृद्धि की। राहुल सांकृत्यायन कृत 'मेरी तिब्बत यात्रा', 'मेरी लद्दाख यात्रा', 'किन्नर देश में', 'कैलास–मानसरोवर', शिवनन्दन सहाय कृत 'कैलास–दर्शन', डॉ. सत्यनारायण कृत 'आवारे की यूरोप–यात्रा', 'यूरोप के झकोरे में', काका कालेलकर कृत 'हिमालय–यात्रा' आदि इस युग की महत्त्वपूर्ण यात्रा–साहित्य की कृतियाँ हैं।

21.3.9 अन्य साहित्य

माखनलाल चतुर्वेदी ने 'समय के पाँव' रेखाचित्र लिखा। रामधारी सिंह दिनकर ने 'दिनकर की डायरी' की रचना की । वे स्वयं एक अच्छे संस्मरणकार भी थे। बेनी माधव शर्मा कृत 'कवि दर्शन' नामक कृति में हरिऔध, शुक्ल, मैथिलीशरण गुप्त जैसे– प्रतिष्ठित कृतिकारों से लिए गए इंटरव्यू संग्रहीत हैं। राधिका रमन प्रसाद सिंह ने टूटा तारा, सूरदास, पूरव और पश्चिम, वे और हम, देव और दानव तथा नारी क्या एक पहेली संस्मरणों की रचना की।

21.4 सारांश

आलोच्ययुगीन गद्य–साहित्य के विवेचनात्मक अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि इस युग के साहित्य–सृजन का प्रेरक तत्व राष्ट्रीय–सांस्कृतिक जागरण ही था। भारतेन्दु –युग में इस जागरण ने साहित्य–धारा को नये पथ पर मोड़ दिया था और साहित्य तथा समाज के अन्तराल को कम किया था। युग में यह जागरण प्रत्येक साहित्य–विधा का अन्तवर्ती प्रवाह बन गया । निबन्ध हो या आलोचना, कहानी हो या उपन्यास, उसके कलात्मक परिधान को हटा देने पर भीतर राष्ट्रीय–सांस्कृतिक जागरण की चेतना अवश्य लक्षित होती है। इस जागरण ने साहित्य के मूल्यों में परिवर्तन किया। शास्त्रीय रूढ़ियां टूटी, साहित्य का उद्देश्य व्यापक जनसमुदाय को प्रभावित करना और उसे आदर्श जीवन की ओर मोड़ना माना गया। मुद्रण–व्यवस्था ने इस उदेश्य की पूर्ति में योग दिया। साहित्य कुछ रसिकों की वस्तु न रहकर समस्त शिक्षित जनता की वस्तु बन गया। नयी जीवन–दृष्टि ने नयी भाषा को माध्यम बनाया। खड़ीबोली पूर्णतः प्रतिष्ठित हुई। उसे पण्डिताऊपन और ठेठ गंवारूपन से मुक्त करके मांजा–संवारा गया। वस्तुतः हिन्दी–प्रदेश की जनता अपने सारे जीवन को नये ढंग से व्यवस्थित कर रही थी, अपने को नये युग के अनुकूल बना रही थी। इसलिए भाषा को भी युग की नयी चेतना की अभिव्यक्ति के लिए सक्षम बनाने की चेष्टा की गयी। लेखकों का ध्यान हिन्दी के प्रचार–प्रसार और परिमार्जन के साथ ही उसके अभावों की ओर भी गया और अपने सीमित साधनों को संघटित करके उन्होंने योजनाबद्ध रूप में साहित्य के अभावों की पूर्ति का प्रयत्न किया। नागरीप्रचारिणी सभा और हिन्दी–साहित्य–सम्मेलन इसी भावना के प्रतीक हैं। हिन्दी–साहित्य के विकास में इनका योगदान अविस्मरणीय रहेगा, साहित्य के दुर्लभ ग्रन्थों की खोज, हिन्दी–साहित्येतिहास के निर्माण, प्राचीन ग्रन्थों के प्रकाशन और ज्ञान–विज्ञान से सम्बद्ध उपयोगी साहित्य की सृष्टि को प्रोत्साहन देकर इन संस्थाओं ने साहित्य–निर्माण में ऐतिहासिक भूमिका निभायी है। अभी तक हिन्दी को विश्वविद्यालयों में स्थान नहीं मिला था। इसलिए उसे ज्ञान के साहित्य का माध्यम बनाने की दिशा में जो कुछ किया गया, वह इन संस्थाओं और 'सरस्वती' जैसी कुछ पत्रिकाओं द्वारा ही किया गया। साहित्य–सृजन की मूल प्रेरणा, समाज–सुधार, चरित्र–निर्माण या व्यापक राष्ट्रीय हित होने के कारण इस काल की साहित्य–कृतियों में कलात्मक निखार तो नहीं आया, किन्तु सभी प्रकार की गद्य–विधाओं की विकास–परम्परा का आरम्भ अवश्य हो गया। साहित्य का स्वर क्रमशः गम्भीर हुआ और उसमें दायित्व–बोध जागा। साहित्य को शिष्ट समाज में प्रवेश पाने के योग्य समझा जाने लगा और सब मिलाकर हिन्दी को व्यापक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

21.5 कठिन शब्द

1 व्यक्तित्व 2 मूल्यांकन 3 टिप्पणी 4 आलोचक 5 समालोचक 6
व्यापक 7 प्रतिष्ठा 8 अभिज्ञान 9 जागरण 10 वैयक्तिकता 11 प्रस्फुटन

21.6 संभावित प्रश्न

1. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डालिए ।

_____

_____

_____

_____

2. राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का संक्षिप्त परिचय दीजिए ।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

3. प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी कहानी की प्रवृत्ति पर प्रकाश डालिए ।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

4. द्विवेदी युगीन हिन्दी निबंध पर टिप्पणी कीजिए ।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

5. द्विवेदीयुगीन नाटक पर टिप्पणी कीजिए ।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

6. द्विवेदीयुगीन गद्य का मूल्यांकन कीजिए ।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

21.7 पठनीय पुस्तकें

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ० नगेन्द्र

2 हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

3 हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामसजन पाण्डे

4 आधुनिक साहित्य की प्रवृतियाँ – नामवर सिंह

5. आधुनिक हिन्दी साहित्य – विकास के विविध आयाम – पुष्पपाल सिंह

6. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका – लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय

7. हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी – नंद दुलारे बाजपेयी

8. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ० बच्चन सिंह

.....

द्विवेदी युगीन कविता और उसकी प्रवृत्तियाँ

22.0 रूपरेखा

22.1 उद्देश्य

22.2 प्रस्तावना

22.3 द्विवेदी युगीन कविता और उसकी प्रवृत्तियाँ

– 22.3.1 प्रमुख कवि

– 22.3.2 प्रमुख प्रवृत्तियाँ

22.4 सारांश

22.5 कठिन शब्द

22.6 संभावित प्रश्न

22.7 पठनीय पुस्तकें

22.1 उद्देश्य

– प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरांत आप जानेंगे–
– द्विवेदी युगीन कविता पूर्णरूप से पल्लवित होकर कैसे सामने आई।
– द्विवेदी युगीन काव्य की प्रवृत्तियों भी जानेंगे।
– द्विवेदी युगीन प्रमुख कवियों के बारे में जानेंगे।

22.2 प्रस्तावना

भारतेन्दु युग यदि आधुनिक काल का प्रवेश द्वार है तो द्विवेदी युग उसका विस्तृत प्रांगण। जहां उन प्रवृत्तियों को विकसित एवं पल्लवित होने का अवसर प्राप्त हुआ जो भारतेन्दु युग में प्रारम्भ हुई थीं। विशेषतः भारतीय जनमानस में स्वदेशानुराग एवं नवजागरण के जो बीज भारतेन्दु युग में अंकुरित हुए थे, वे द्विवेदी युग में पूर्ण पल्लवित होकर सामने आ गए। इस युग में खड़ी बोली को काव्य की भाषा बनाना एक महान् सफलता

थी । इस महान् कार्य में सबसे अधिक योगदान महावीरप्रसाद द्विवेदी का था। उन्होंने अपने अनथक प्रयासों से खड़ी बोली को काव्य–भाषा के रूप में प्रतिष्ठापित किया। महावीरप्रसाद ही इस युग की साहित्यिक चेतना के सूत्रधार थे।

22.3 द्विवेदी युगीन कविता और उसकी प्रवृत्तियाँ

7.3.1 प्रमुख कवि– इस काल के प्रमुख कवियों में श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', रामचरित उपाध्याय, नाथूराम शंकर, रामनरेश त्रिपाठी, मैथिलीशरण गुप्त, सत्यनारायण 'कविरत्न', सियारामशरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान, दिनकर, सोहनलाल द्विवेदी, राय देवी प्रसाद पूर्ण, गया प्रसाद शुक्ल 'स्नेही', श्याम नारायण पाण्डेय, श्रीधर पाठक, जगन्नाथ दास रत्नाकर, माखनलाल चतुर्वेदी आदि हैं।

7.3.2 प्रमुख प्रवृत्तियाँ– द्विवेदी युगीन काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं–

1. देश–भक्ति की कविता– इस युग के प्रत्येक कवि ने देश–भक्ति के सम्बन्ध में लिखा। भारतेन्दु युग की कविता देश–प्रेम, भाषा, वेश और भोजन तक सीमित थी, अब इस युग में उसकी परिधि बढ़ गई है। इस युग की कविता में राष्ट्रीय भावना जातीयता पर आधरित थी। इस समय राष्ट्रीय जागरण एक प्रकार से हिन्दू जागरण था। इस जागरण में इतिहास और परम्परा का अवलम्बन प्रधान था। वास्तव में इस काल के कवियों ने इतिहास के गौरव और महत्वपूर्ण परम्पराओं की काव्य–रचना की। उदाहरण के लिए, मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत', 'भारत–भारती', अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'प्रिय–प्रवास', सत्यनारायण 'कविरत्न' का 'भ्रमर गीत' आदि में देश–भक्ति का स्वर सुना जा सकता है। इन कवियों ने तत्कालीन समाज की दयनीय अवस्था पर करुणा व्यक्त की है और अतीत को याद करते हुए वर्तमान समाज को जगाने का प्रयास किया है। इस युग के कवियों में देशभक्ति कूट–कूटकर भरी हुई है। मैथिलीशरण गुप्त ने स्पष्ट कहा है–

जिसको निज गौरव, न निज देश का अभिमान है।

वह नर नहीं है, पशु निरा है और मृतक समान है।।

देशभक्ति की भावनाओं को जगाते हुए कवि कहता है–

हम कौन थे क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी।

आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।।

कवि शंकर की 'बलिदान गान' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

देशभक्त वीरों मरने से नेक नहीं डरना होगा।

प्राणों का बलिदान देश की वेदी पर करना होगा।।

2. सुधारवादी दृष्टिकोण– द्विवेदी–युगीन कविता सुधारवादी भावनाओं से परिपूर्ण है। इस युग के कवियों ने अनेक कुरीतियों का वर्णन करके सुधारवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। इन कविताओं में बाल–विवाह, विधवाओं की दयनीय

दशा, शिक्षा–प्रसार आदि भावनाओं को अभिव्यक्ति मिली है। अनेक कवियों ने किसान, मज़दूर, दलित व त्रस्त–जन के दु:ख दर्द को भी व्यक्त किया है जैसे–

भारत लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बन्धन में।

सिन्धु पार वह बिलख रही है व्याकुल मन में।।

मात्र मनोरंजन की भावना से दूर हटकर कविता में उचित उपदेशात्मकता का समावेश करने पर बल दिया गया–

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।

उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।।

–मैथिलीशरण गुप्त

वासनात्मक प्रेम के स्थान पर प्रेम के उस स्वर्गीय रूप की झाँकी प्रस्तुत की गयी जो ईश्वर का प्रतिरूप है और इसीलिए हृदय को आलोकित करने वाला है।

गन्ध विहिन फूल हैं जैसे चन्द्र चन्द्रिका हीन।

यों ही फीका है मनुष्य का जीवन प्रेम विहीन।।

प्रेम स्वर्ग है, स्वर्ग प्रेम है, प्रेम अशंक अशोक।

ईश्वर का प्रतिबिम्ब प्रेम है प्रेम हृदय आलोक।।

–रामनरेश त्रिपाठी

3. सामाजिक चेतना– आधुनिक–युगीन काव्य में समाज–सुधार प्रमुख स्वर रहा है। इस युग में हर कवि ने समाज में व्याप्त बुराइयों पर अपनी लेखनी चलाई है। इसका प्रतिबिम्ब इस युग के काव्य में साफ दिखाई देता है। यहाँ समाज–सुधार पर बराबर रचनाएं हुई। श्रीधर पाठक ने विधवाओं के पुनर्विवाह का समर्थन किया। नाथूराम शंकर शर्मा ने बाल–विवाह पर व्यंग्य किए। दहेज–प्रथा की आलोचना की गई । मैथिलीशरण गुप्त ने अस्पृश्यता को समाप्त करने की वकालत की और समाज के पिछड़े वर्गों तथा किसानों के प्रति सहानुभूति प्रकट की। इस प्रकार देश–प्रेम की भावना तथा सामाजिक सुधार की प्रवृत्ति इस काल के काव्य की प्रमुख विशेषताएँ है। इसलिए इस काल को पुनरूथान अथवा पुनर्जागरण काल की संज्ञा भी दी जाती है। ठाकुर गोपाल शरण सिंह 'नेपाली' के शब्दों में–

जग की सेवा करना ही, बस है सब स्वरों का सार।

विश्व प्रेम के बन्धन में ही, मुझको मिला मुक्ति का द्वार।।

'पंचवटी' में अछूतोद्धार की भावना व्यक्त करते हुए कवि कहता है–

इन्हें समाज नीच कहता है, पर हैं ये भी तो प्राणी।

इनमें भी मन और भाव हैं, किंतु नहीं है वैसी वाणी।।

इस काल के कवियों ने अपने युग की भावनाओं को आत्मसात् करके अपने काव्य में प्रकट किया है। इन कवियों ने समाज–सुधार, स्वदेश–प्रेम, त्याग, वीरता आदि युगीन भावनाओं को अपने काव्य में प्रकट किया है। इस काल की कविता में उस युग की सामाजिक चेतना को सहज रूप से देखा जा सकता है। इस सन्दर्भ में मैथिलीशरण गुप्त की पंक्तियाँ देखते ही बनती हैं–

एक–एक सौ–सौ कंसों को ललकारो।

मातृ–भूमि के ऊपर धन जीवन सब वारो।।

गुप्त जी ने 'साकेत' में राम के मुँह से स्पष्ट कहलवाया है–

मैं आर्यों का आदर्श बताने आया।

जन सम्मुख धन को तुच्छ जताने आया।।

सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया।

इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।।

4. प्रकृति–चित्रण– इस युग में प्रकृति का चित्रण तथ्यपूर्ण शैली में हुआ है। कवियों ने प्रकृति का अनेक रूपों में वर्णन किया है। श्रीधर पाठक ने कश्मीर की सुषमा का मनोरम वर्णन किया है–

प्रकृति जहाँ एकांत बैठि, निज रूप सँवारति।

पल–पल पलटति वेष, छनिक, छवि छिन्न–छिन्न धरंति।।

गुप्त जी लिखते हैं–

चारू चन्द्र की चंचल किरणें, खेल रही हैं जल–थल में।

स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है, अवनि और अंबर तल में।।

5. देश के अतीत गौरव व संस्कृति का वर्णन– इस युग के कवियों ने देश के अतीत के गौरव का पौराणिक और ऐतिहासिक सन्दर्भों द्वारा वर्णन किया है। हरिऔध, नाथूराम शंकर ने अपनी कविताओं में अतीत के गौरव का चित्र प्रस्तुत किया है। गुप्त जी ने अपने काव्य में भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल रूप स्पष्ट किया है।

सामान्य जनता में राष्ट्र के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिये भारत के गौरवपूर्ण अतीत और उसकी

प्राकृतिक छटा की भावपूर्ण छवियाँ अंकित की गयी हैं। गुप्त जी ने 'भारत–भारती' में भारत की श्रेष्ठता की घोषणा निम्नलिखित शब्दों में की है–

भूलोक का गौरव प्रकृति का पुण्य लीलास्थल कहाँ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल जहाँ।
सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है।
उसका कि जो ऋषि भूमि है, वह कौन ? भारतवर्ष है।

6. अनुवाद की प्रवृत्ति– इस युग के कवियों में अन्य भाषाओं के काव्य का हिन्दी में अनुवाद करने की प्रवृत्ति भी दिखलाई पड़ती है। अनेक ग्रन्थों का हिन्दी–काव्य में अनुवाद किया गया है। गुप्त ने माइकल सूदन के 'मेघनाथ वध' तथा 'विरहिणी ब्रजांगना' का अनुवाद किया । इस प्रकार श्रीधर पाठक ने गोल्ड स्मिथ के 'हरमिट' का अनुवाद 'एकांतवासी योगी' के नाम से किया। एक अन्य रचना 'ट्रेवलर' नामक कविता का 'श्रांत पथिक' के नाम से अनुवाद किया।

7. इतिवृत्तात्मकता– इतिवृत्तात्मकता इस युग की अन्य प्रमुख विशेषता है। इतिवृत्त का अर्थ है वृतान्त या वर्णन। इस युग के कवियों ने आदर्शों को प्रतिष्ठापित करने तथा नैतिकता के प्रचार के लिए इसी पद्धति को अपनाया। वास्तव में यह वर्णन–प्रधान शैली है। द्विवेदी युग में प्रबन्ध रचना की प्रवृत्ति है। खण्डकाव्य एवं महाकाव्य अधिक लिखे गए, मुक्तक रचना की प्रवृत्ति कम है। प्रिय प्रवास एवं साकेत इस युग के प्रमुख महाकाव्य हैं। 1907 में 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित एक कविता की निम्नलिखित पंक्तियों में इतिवृत्तात्मक शैली का स्वरूप स्पष्ट हो जाएगा–

विद्या तथा बुद्धिनिधि प्रधान, न ग्रंथ होते यदि विद्यमान।

तो जानते क्योंकर आज मित्र, स्वपूर्वजों के हम सच्चरित्र।

हे ग्रंथ! द्रव्यादि न एक लेते, तो भी सुशिक्षा तुम नित्य देते।

8. अभिव्यक्ति पक्ष– इस युग के कवियों ने प्रबन्ध एवं मुक्तक दोनों प्रकार की रचनाएं की हैं, किन्तु प्रबन्ध–क्षेत्र में उन्हें अधिक सफलता मिली है। 'प्रिय प्रवास', वैदेही वनवास, 'साकेत' तथा 'रामचरित चिंतामणि' इस युग के महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध–काव्य हैं। उनके अतिरिक्त 'जयद्रथ वध', 'पंचवटी', 'पथिक', स्वप्न' आदि खण्ड–काव्य भी लिखे गए। गीत और मुक्त–काव्य भी रचे गए, किन्तु सफलता प्रबन्ध–काव्यों को ही मिली है।

भाषा की दृष्टि से द्विवेदी युग सुधारवादी युग माना जाता है। अब ब्रज भाषा का स्थान खड़ी बोली ने ले लिया है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भाषा सुधार का कार्य किया तथा खड़ी बोली को स्वतन्त्र, व्याकरण–सम्मत और परिमार्जित किया। उधर मैथिलीशरण गुप्त ने खड़ी बोली की खड़खड़ाहट को दूर करके इसे साहित्यिक भाषा बनाया। छन्द तथा अलंकार के क्षेत्र में भी काफी परिवर्तन हुआ । रोला, छप्पय, सार, हरिगीतिका, लावनी, सरसी, उपेद्रवज्रा, इन्द्रवज्रा आदि छन्दों का खूब प्रयोग हुआ है। अलंकार की दृष्टि से भी यह काव्य अत्यन्त

समृद्ध माना जाता है। शब्दालंकारों के साथ–साथ अर्थालंकारों का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है। भाषा का एक नमूना देखिए–

यदि कोई पीड़ित होता है, उसे देख सब घर रोता है।

देश दशा पर प्यारे भाई–आई कितनी बार रुलाई।

22.4 सारांश

हिन्दी कविता को प्राचीन रूढ़िबद्धता से पृथक करने में इस युग के कवियों का विशेष योगदान है। काव्य भाषा के रूप में खड़ी बोली हिन्दी को प्रतिष्ठित किया गया तथा गद्य क्षेत्र में भाषा का परिष्कार कर उसे व्याकरण सम्मत बनाया गया। हिन्दी कविता को श्रृंगारिकता से राष्ट्रीयता, जड़ता से प्रगति और रूढ़िवादिता से स्वच्छन्दता की ओर ले जाने में इन कवियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

22.5 कठिन शब्द

1.रूढ़िबद्वता, 2. पौराणिक, 3.इतिवृत्तात्मकता, 4. नैतिकता, 5.प्रतिबिम्ब

6. तथ्य 7.मूल्यांकन, 8,उज्जवल, 9.पल्लवित, 10.प्रांगण

22.6 संभावित प्रश्न :

1. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का साहित्यिक परिचय दीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

2. राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के कवित्व पर टिप्पणी कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

3. इतिवृत्तात्मकता पर प्रकाश डालिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

4. द्विवेदी युगीन कविता के अभिव्यक्ति पक्ष पर विचार कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

5. द्विवेदी युगीन कविता का मूल्यांकन कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

6. माखनलाल चतुर्वेदी के कवित्व का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

7. द्विवेदीयुगीन कवि अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के कवित्व पर प्रकाश डालिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

8. द्विवेदी युगीन प्रवृतियों को स्पष्ट करें।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

7.7 पठनीय पुस्तकें

1. नामवर सिंह – छायावाद, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1990
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी – ग्रंथावली, भाग–3, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1981
3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2050
4. रामस्वरूप चतुर्वेदी – हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, 1993
5. डॉ. नगेन्द्र (सं.) – हिन्दी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली 1982
6. डॉ. जयकिशन प्रसाद – हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा।
7. डॉ. नामवर सिंह – आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, राजकमल प्रकाशन – नई दिल्ली,

वादों की कविता – छायावाद

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य

23.1 प्रस्तावना

23.2 छायावाद का स्वरूप और परिभाषा

23.3 छायावाद की पृष्ठभूमि

23.4 प्रमुख छायावादी कवि

23.5 छायावाद की प्रवृत्तियाँ

23.5.1 संवेदनागत पक्ष

23.5.2 शिल्पगत पक्ष

23.6 छायावाद की उपलब्धियाँ

23.7 सारांश

23.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

23.9 संदर्भ ग्रन्थ

23.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप – छायावाद के स्वरूप और नामकरण सम्बन्धी विभिन्न संदर्भों को जान सकेगें।

- छायावाद के आगमन की पृष्ठभूमि से परिचित हो सकेंगें।
- प्रमुख छायावादी कवियों और उनकी रचनाओं की जानकारी प्राप्त कर सकेगें।

- छायावादी कविता की संवेदना और शिल्पगत पक्षों का विश्लेषण कर सकेंगें।
- आधुनिक हिन्दी कविता में छायावाद के महत्व को रेखांकित कर सकेगें।

23.1 प्रस्तावना :–

सामान्यतः आधुनिक युग के हिन्दी काव्यों को भारतेंदु युग, द्विवेदीयुग, छायावादी युग, प्रगतिवादी युग, प्रयोगवादी युग, नई कविता और समकालीन कविता में विभाजित किया जाता है।

गणपति चन्द्रगुप्त ने 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' नामक पुस्तक में प्रत्येक युग की पूर्वापर स्थिति, चेतना और नयी परम्पराओं के प्रवर्तन के अनुसार आधुनिक हिन्दी कविता का विभाजन इस प्रकार है

स्वतन्त्रता पूर्व युग	स्वातन्त्र्योतर युग
1. आदर्शमूलक चेतना – (क) आदर्शवादी मुक्तक–गीति परम्परा : (भारतेन्दु–मण्डल का काव्य) (ख) आदर्शवादी प्रबन्ध परम्परा : (द्विवेदी–मण्डल का काव्य)	नव सांस्कृतिक काव्य–परम्परा
2. स्वच्छन्दतामूलक चेतना – स्वच्छन्दतावादी काव्य–परम्परा (छायावादी काव्य–परम्परा)	नव स्वच्छन्दतावादी परम्परा/नवगीत परम्परा
3. यथार्थमूलक चेतना – समाजपरक यथार्थवादी काव्य–परम्परा (प्रगतिवादी काव्य–परम्परा)	प्रगतिशील काव्य–परम्परा
4. व्यक्तिपरक यथार्थवादी काव्य–परम्परा (प्रयोगवादी काव्य–परम्परा)	नयी कविता तथा उससे प्रेरित अन्य काव्यान्दोलन व काव्य–परम्पराएं

सन् 1960 के बाद विभिन्न काव्य–परम्पराओं की प्रेरणा या उनकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अनेक काव्य–आन्दोलनों – अकविता, सहजकविता, विचार कविता, समकालीन कविता आदि – का भी प्रवर्तन हुआ।

जैसा की उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि स्वच्छन्दता मूलक चेतना के फलस्वरूप छायावादी काव्य सामने आया। द्विवेदी के काव्य में धीरे–धीरे इतिवृत्तात्मकता, आदर्शवादित उपदेशात्मकता आदि काव्य से इतर मूल्य हावी होने लगे थे, पाठक की रसानुभूति में बाधा बन रहे थे परिणामतः इसकी प्रतिक्रियास्वरूप बाह्य बंधनों से मुक्त होने की इच्छा, स्वच्छन्द मन से कविता लिखने की इच्छा उत्पन्न हुई और 'छायावाद' काव्य अस्तित्व में आया। छायावादी काव्य में संवेदना और शिल्प दोनों स्तरों पर अमिट छाप छोड़ी। छायावादी चतुष्टय नाम से प्रसिद्ध प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी वर्मा ने अपने सृजन से हिन्दी आधुनिक कविता को समृद्ध किया। छायावाद का संबंध जहाँ चित्रण की विशेष शैली से जोड़ा जाता है, वहीं 'रहस्यवाद' अज्ञात की जिज्ञासा या कौतूहल से संबद्ध है और 'स्वच्छंदतावाद' सघन रिश्ता रूढ़ियों से मुक्ति से जुड़ता है।

23.2 छायावाद का स्वरूप और परिभाषा (वादों की कविता – छायावाद)

सामान्यतः सन् 1918 से 1938 तक काव्य की प्रमुख धारा को छायावाद कहा गया है। यह नामकरण किसके द्वारा और किस आधार पर किया गया इस सम्बन्ध में सर्वसम्मति से कहना कुछ कठिन है।

हिन्दी की कुछ पत्र–पत्रिकाओं – 'श्री शारदा' और 'सरस्वती' – में क्रमशः 1920 और 1921 में मुकुटधर पांडेय और श्री सुशीलकुमार द्वारा दो लेख 'हिन्दी में **छायावाद**' शीर्षक से प्रकाशित हुए थे, अतः कहा जा सकता है कि इस नाम का प्रयोग सन 1920 या उससे पूर्व से होने लग गया था। संभव है कि श्री मुकुटधर पांडेय ने ही इसका सर्वप्रथम आविष्कार किया हो।

स्वयं छायावादी कवियों ने इस विशेषण को बड़े प्रेम से स्वीकार किया है; एक और **श्री जयशंकर प्रसाद** लिखते हैं – ''छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति व अभिव्यक्ति की भंगिमा पर निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक–विधान तथा उपचार–वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं।'' दूसरी ओर **महादेवी जी** भी प्रसाद के स्वर में स्वर मिलाती हुई कहती हैं – ''स्वच्छन्द छंद में चित्रित उन मानव अनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त लगता है।'' **डॉ. रामकुमार वर्मा** ने भी शुक्ल जी की भाँति छायावाद को रहस्यवाद का अभिन्न रूप स्वीकार करते हुए लिखा है – ''परमात्मा की छाया आत्मा में पड़ने लगती है और आत्मा की छाया परमात्मा में, यही छायावाद है।''

छायावाद की परिभाषा

छायावाद को कई विद्वानों ने परिभाषित करने का प्रयत्न किया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रहस्यवाद के अर्थ में और काव्यशैली या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ में छायावाद शब्द का प्रयोग किया।

डॉ. नगेन्द्र ने छायावाद को एक ओर ''स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह'' माना है तो दूसरी ओर वे स्वीकार करते हैं – ''छायावाद एक विशेष प्रकार की भाव–पद्धति है; जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण है।''

गंगा प्रसाद पाण्डेय : ''किसी वस्तु में एक अज्ञात, सप्राण छाया की झाँकी पाना अथवा आरोप करना छायावाद है।''

पं. नंददुलारे वाजपेयी : ''मानव तथा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौंदर्य में आध्यात्मिक छाया का भाव ही छायावाद है। रहस्यवाद और छायावाद में अंतर है। छायावाद व्यक्त सौंदर्य सृष्टि से सम्बन्ध रखता है और रहस्यवाद समष्टि सौंदर्य दृष्टि है।''

''छायावाद की मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है।''

डॉ. रामविलास शर्मा : ''छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं रहा वरन् थोथी नैतिकता,

रूढ़िवाद और सामन्ती साम्राज्यवादी बंधनों के प्रति विद्रोह रहा है।''

द्विवेदीकालीन अति उपदेशवाद से, मर्यादाओं से, रूढ़ियों से भी इस काव्य ने विद्रोह किया था। इस कारण इस परिभाषा में भी कुछ सीमा तक तथ्य है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से छायावाद के स्वरूप और उसकी अनेक विशेषताओं का पता चलता है वस्तुतः छायावाद एक काव्य आन्दोलन है जिसे सीधे–सादे शब्दों में मर्यादित नहीं किया जा सकता। यह एक विशेष प्रकार की काव्य कृति है। एक विशेष प्रकार की मानसिक चेतना है जिसमें व्यक्ति अन्तर्मुखी होकर अन्तर्जगत को, भावात्मकता को, कल्पना को, सौंदर्य को, नूतनता को, मानवीयता को और प्रेम वेदना को महत्व देने लगता है। वस्तुतः ''छायावाद'' की व्याख्या इतनी कठिन नहीं, जितनी कठिनता समीक्षकों ने उसे स्व–स्व–मत–प्रतिपादनार्थ प्रदान करने का कष्ट उठाया है। कवियों को जब स्थूल जगत् के चित्रण से निराशा होने लगी तथा उनकी प्रेम और सौन्दर्य की भावनाओं को अपनी अभिव्यक्ति का क्षेत्र बाहर न मिला, तो वे आन्तरिक क्षेत्र में अपनी अभिव्यक्ति ढूँढने लगीं, तो काव्य की नई भाव–धारा ''छायावाद'' कहलाई।

23.3 छायावाद की पृष्ठभूमि

छायावादी काव्य पर अपने युग की विभिन्न परिस्थितियों का प्रभाव परिलक्षित होता है। राजनीतिक दृष्टि से प्रथम महायुद्ध के अनन्तर भारतीय स्वातंत्रय–आन्दोलन ने एक नयी करवट ली। युग में गाँधी जी के नेतृत्व में सत्य, अहिंसा एवं असहयोग की सूक्ष्म शक्ति का प्रयोग होने लगा। छायावादी कवि तत्कालीन राजनीतिक आन्दोलनों के प्रति उदासीन से थे, किन्तु इस उदासीनता का कारण उनका 'वैयक्तिकता' में लीन हो जाना है, राजनीतिक निराशा नहीं।

धर्म और दर्शन के क्षेत्र में इस युग में रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द गाँधी, टैगोर तथा अरविन्द जैसे महान व्यक्तियों का आविर्भाव हुआ है, जिनके प्रभाव से स्थूल एवं संकुचित हिन्दुत्व के स्थान पर व्यापक विश्व–धर्म की प्रतिष्ठा हुई। हमारे प्राचीन अद्वैतवाद व सर्वात्मवाद के दर्शन ने भी छायावाद को कम प्रभावित नहीं किया। कवयित्री **महादेवी** का तो यहाँ तक विश्वास है कि ''छायावाद का कवि, धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है जो मूर्त और अमूर्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है। बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भाव–भूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौन्दर्य–सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनों के साथ स्वानुभूत सुख–दुखों को मिलाकर एक ऐसी काव्य–सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक नामों का भार संभाल सकी।'' पाश्चात्य साहित्य ने भी हमारे छायावादी काव्य को कम प्रभावित नहीं किया।

अंग्रेजी साहित्य की रोमांटिक कविता उन्हें अधिक सच्ची लगी। इसी काल में बंगला में रवीन्द्र काव्य की धूम मची थी। रवीन्द्र की कविता मुक्त और स्वच्छंद मन की, मानवतावादी स्वर की तथा आध्यात्मिकता का पुट लेकर आयी थी। तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियाँ इतनी प्रतिकूल थीं कि व्यक्ति निराश और उदास हो चुका था। ऐसे समय कल्पना का महल बनाकर वह उसमें खो

जाना चाह रहा था।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि छायावाद के उदय में द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता, अंग्रेजी का रोमांटिक काव्य, रवीन्द्र की कविता, मानवतावादी व आध्यात्मिक दृष्टि, अद्वैत दर्शन, नवजागरण आदि की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

23.4 छायावाद के प्रमुख कवि :–

1. जयशंकर प्रसाद

''चित्राधार, कानन कुसुम, झरना, आंसू, लहर, प्रेम पथिक, करुणालय, महाराणा का महत्व'' आदि प्रसाद कृत काव्यसंग्रह हैं। प्रसाद कवि होने के साथ ही एक गंभीर विचारक और दार्शनिक थे। उनके दार्शनिक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति **'कामायनी'** में हुई है। बुद्धि और श्रद्धा के माध्यम से 'मनु' के व्यक्तित्व की व्याख्या इसमें की गई है। छायावाद की सभी विशेषतायें प्रसाद–काव्य में मिलेंगी। एक ओर यहाँ प्रकृति और नारी के प्रति उदार और ममतामय दृष्टिकोण है। प्रेम की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति भी है और सूक्ष्म सौंदर्य बोध भी। 'हिमाद्रि तुंग शृंग से' जैसी प्रखर राष्ट्रीय स्वर की कविताएँ भी यहाँ है।

इनकी रचनाओं में इतिहास और संस्कृति की अभिव्यक्ति अधिक हुई है।

2. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

'निराला' इनका साहित्यिक नाम है और इस नाम को सभी दृष्टियों से वे सार्थक करते हैं। विषय, शिल्प, भाषा और व्यक्तित्व इन सबमें वे 'निराला' ही रहे। चार प्रमुख छायावादी कवियों में निराला सबसे अधिक विद्रोही व्यक्तित्व लेकर आये। अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तनों के ये सृष्टा रहे। 1923 से 1958 इन पैंतीस वर्षों तक ये काव्य सृजन करते रहे। इनकी प्रमुख काव्य कृतियाँ इस प्रकार हैं – **अनामिका** (1923), **परिमल** (1930), **गीतिका** (1936), **तुलसीदास** (1938), **कुकुरमुत्ता** (1942), **अणिमा** (1943), **बेला** (1943), **अपरा** (1946), **नये पत्ते** (1946), **अर्चना** (1950), **आराधना** (1953), और **गीतगुंज** (1958)। 'कुकुरमुत्ता' उनकी परिवर्तित काव्य दृष्टि को स्पष्ट करता है। 1946 के 'नये पत्ते' में परिवर्तन की तीसरी दिशा स्पष्ट होती है। इस प्रकार निराला का काव्य–व्यक्तित्व छायावाद से लेकर प्रयोगवाद के कवियों तक को प्रेरित और प्रभावित करता रहा है।

काव्य क्षेत्र में निराला का सबसे बड़ा योगदान 'मुक्त छन्द' की स्थापना का है। परम्पराबद्ध छन्दों के बंधनों को तोड़कर इन्होंने मुक्तछन्द से सरस रचनायें लिखीं। 'शास्त्रीय संगीत' के वे जानकार थे। इसी कारण उनके काव्य में काव्य और संगीत का अद्‌भुत समन्वय हुआ है।

3. महादेवी वर्मा

मीरा की तरह महादेवी भी 'वेदना' और पीड़ा की कवयित्री हैं। इनके काव्य में वेदना अपनी

संपूर्ण गरिमा और गहराई को लेकर प्रकट हुई है। 1924 से 1942 तक इनका रचना काल फैला हुआ है। इनके कुल पाँच काव्य संग्रह प्रकाशित हुए हैं – **नीहार** (1930), **रश्मि** (1932), **नीरजा** (1934), **सांध्य गीत** (1936), **दीपशिखा** (1940)। 'यामा' में प्रथम चार संग्रहों के गीत एकत्र किये गये हैं।

छायावाद की एक प्रवृत्ति 'रहस्यवाद' की अधिक अभिव्यक्ति इनमें हुई है। इनके रहस्यवाद की अपनी विशिष्टता है। उस परम सत्ता के प्रति इनमें जिज्ञासा है; मिलन के लिए प्रयत्न भी है। परंतु वे पूर्ण मिलन नहीं चाहती। विरह को ही स्वीकार करके जीना चाहती हैं। 'मिलन का मत नाम ले मैं, विरह में चूर हूँ'। यह वेदना लौकिक वेदना से भिन्न आध्यात्मिक ही है। प्रकृति के माध्यम से ही यह वेदना साकार हो उठी है। गीतिशैली ही इनकी प्रधान शैली रही है। गीति काव्य के सारे लक्षण संक्षिप्तता, वैयक्तिकता, तीव्र भावात्मकता, संगीतात्मकता–इनके गीतों में मिलते हैं। इसी कारण शुक्लजी ने लिखा – ''गीत लिखने में जैसी सफलता महादेवी जी को हुई वैसी और किसी को नहीं।'' उनकी प्रेमानुभूति की तीव्रता को स्वीकार किया है।

4. सुमित्रानन्दन पन्त

पंत मूलतः सौंदर्य और प्रकृति के कवि रहे हैं। अन्य छायावादी कवियों की तुलना में पंत का काव्य–व्यक्तित्व विकासमान रहा है। छायावादी काव्य की पूर्ण प्रतिष्ठा करने का श्रेय भी इन्हें रहा है। छायावादी, प्रगतिवादी, प्रयोगवादी काव्य प्रवृत्तियाँ इनके काव्य में देखी जा सकती हैं। **उच्छ्वास** (1920), **ग्रंथि** (1920), **वीणा** (1927), **पल्लव** (1928), **गुंजन** (1932) इनके छायावादी काव्य संग्रह हैं। 1936 में युगांत लिखकर उन्होंने छायावादी युग के अन्त की सूचना दी।1928 में प्रकाशित 'पल्लव' की भूमिका को छायावाद का घोषणा पत्र (मेनिफेस्टो) माना गया है। द्विवेदी कालीन कविता के प्रति अपनी नाराज़गी व्यक्त करते हुए पन्त जी ने छायावादी विशिष्ट काव्यधारा को स्थापित करने का प्रयत्न इस भूमिका में किया हैं, क्योंकि छायावादी सौंदर्य चेतना के मुख्य आधार हैं; प्रकृति और नारी। प्रकृति और नारी सौंदर्य का जो सूक्ष्म अंकन पंत ने किया है, वह विशिष्ट है। इनके काव्य में रहस्यवादी काव्य का स्वर भी मिलता है। उनकी सौंदर्य प्रिय दृष्टि प्रकृति के कण–कण में सौंदर्य को खोजती रही। 'प्रकृति का मानवीय' यह पंत काव्य की सबसे प्रधान विशेषता है। छायावादी काव्य को अधिक सरस, सूक्ष्म सौंदर्य बोध से युक्त, प्रकृति एवं सौंदर्य से मंडित करने का श्रेय पंत जी को है।

23.5 छायावाद की प्रवृत्तियाँ :

संवेदनागत पक्ष

1. **आत्माभिव्यक्ति :** यह प्रवृत्ति छायावादी कवियों में सर्वाधिक मात्रा में है। यह काव्य ही 'स्व' की चेतना का काव्य है। प्रसाद, महादेवी, निराला, पंत का काव्य उदाहरण स्वरूप है।

वैयक्तिकता के कारण ही ये कवि अन्तर्मुखी हो जाते हैं। इन चारों कवियों में वैयक्तिकता के सूचक शब्द ढेरों की संख्या में मिलेंगे। मस्तक, आँसू, स्मृति, यादें, वेदना, अकेलापन आदि इसी प्रकार के शब्द हैं। लहर, झरना, आँसू (प्रसाद), पल्लव, वीणा, ग्रंथि (पंत) गीतिका (निराला) दीपशिखा, यामा (महादेवी) की रचनाएँ इस वैयक्तिकता की वृत्ति के प्रमाण हैं। यह आत्माभिव्यक्ति धीरे–धीरे विशालता और उदात्तता की ओर मुड़ने लगती है।

व्यक्ति (कवि) के निज की सुख दुःखमयी अनुभूतियों की अभिव्यंजना हुई। प्रसाद जी ने **काव्य को संकल्पात्मक अनुभूति** माना है और छायावाद के उद्‌भव का कारण स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति को स्वीकार किया है। 'निराला', महादेवी वर्मा और बच्चन की रचनाओं में अपने हर्ष और विषाद की गहरी छाप है। 'प्रसाद' जी 'कामायनी' के 'श्रद्धासर्ग में मनु के माध्यम से कहते हैं कि –

क्या कहूँ ? क्या कहूँ मैं उद्‌भ्रान्त
विवर में नील गगन के आज
वायु की भटकी एक तरंग
शून्यता का उजाड़ा–सा राज

2. **सौंदर्य बोध :** छायावादी कवियों ने वस्तु के सूक्ष्म सौंदर्य की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया। इस सौंदर्य दर्शन में उनकी वैयक्तिक दृष्टि प्रधान थी ही। सौंदर्य चित्रण का अर्थ ही अब तक हमने स्त्री सौंदर्य से किया था। परंतु इन कवियों ने बाह्य जीवन में व्याप्त अनेक छोटी–मोटी वस्तुओं का, एक नया कलात्मक, सौंदर्यमूलक परिचय करा दिया है। इन कवियों ने सौंदर्य को उदात्ता, भव्यता और दिव्यता प्रदान की है। पंत की दृष्टि में मानव सृष्टि का सबसे सुन्दर प्राणी है :

सुंदर हैं विहग सुमन सुंदर
मानव तुम सबसे सुंदरतम!

कामायनी में श्रद्धा के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि लिखते हैं :

नील परिधान बीच सुकुमार
खिल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघवन बीच गुलाबी रंग।
घिर रहे थे घुँघराले बाल

अंस अवलम्बित मुख के पास।

नील–घन–शावक से सुकुमार

सुधा भरने को विधु के पास।

3. **प्रकृति चित्रण :** प्रकृति चित्रण छायावाद की अन्यतम प्रवृत्ति है। छायावादी कवियों ने वीर, भक्ति, शृंगार, नीति, राष्ट्रीयता और सामाजिकता की सीमा को लांघकर स्वच्छन्द प्रेम और प्रकृति चित्रण को काव्य विषय के रूप में स्वीकार किया। इन कवियों ने प्रकृति के माध्यम से ही अपनी अनुभूतियों को व्यक्त किया है। प्रकृति उनके लिए साध्य भी है और साधन भी।

प्रसाद की कामायनी में हिमालय का वर्णन, निराला की बादल राग, संध्या सुन्दरी, जुही की कली आदि कविताएँ। पंत की 'नौका–विहार' तथा 'चान्दनी' शीर्षक कविता, 'चिदम्बरा' में संग्रहित पन्त की कविताएँ प्रकृति के आलम्बन रूप हैं। प्रकृति का मानवीकरण छायावाद की सबसे प्रधान विशेषता है। प्रकृति के सूक्ष्म सौंदर्य के कारण ये कवि उनमें रहस्यमयी शक्ति का अनुभव करने लगते हैं। प्रकृति मात्र प्रकृति नहीं अज्ञात सत्ता का संकेत देने वाली हो जाती है।

पंत के काव्य की मूल उद्‌गम स्थली प्रकृति ही रही है तभी तो वह लिखते हैं :

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले! तेरे बाल–जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन।

'संध्या सुंदरी' का मानवीकरण कवि निराला ने अत्यन्त काव्यात्मक और कलात्मक ढंग से किया है –

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या सुंदरी परी–सी
धीरे, धीरे, धीरे।

4. **मानवतावादी स्वर :** मानवतावादी स्वर की अभिव्यक्ति इस काव्य की ही नहीं सम्पूर्ण युग की विशेषता है । धर्म, राष्ट्र आदि के बंधनों को त्याग कर मनुष्य मात्र के कल्याण की बात इस समय के श्रेष्ठ चिंतक कर रहे थे। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर 'विश्वभारती' की बात कह चुके थे । युग की इस चिन्ता के साथ छायावादी कवि अनुभूति के स्तर पर जुड़ गये हैं। 'आनंद' की प्राप्ति यह मनुष्य मात्र ध्येय बन जाता है। पन्त और निराला में दीन–दलितों के प्रति करुणा और सहानुभूति व्यक्त हुई है। प्रसाद जी ने अपनी कृति कामायनी में मानव कल्याण की भावना से लिखा है –

औरों को हँसते देखो मनु

हँसों और सुख पाओ।

अपने सुख को विस्तृत कर लो

जग को सुखी बनाओ।

5. **रहस्यवादी स्वर :** रहस्यवाद की तीनों स्थितियाँ अज्ञात के प्रति जिज्ञासा, मिलन के लिए प्रयत्न तथा अद्वैतावस्था यहाँ प्रकट हुई है। 'झरना' तथा 'लहर' (प्रसाद) में संग्रहित रचनाओं में इस सत्ता के प्रति जिज्ञासा व्यक्त हुई है। निराला की 'परिमल', 'अपरा' तथा 'गीतिका' की रचनाओं में रहस्यवादी गीत है। महादेवी की 'दीपशिखा', 'यामा' तथा पंत के 'पल्लव' में इस प्रकार की रचनाएं हैं। प्रसाद तथा महादेवी उस अज्ञात के प्रति माधुर्य भाव से अपनी अनुभूतियाँ व्यक्त करती हैं। महादेवी वर्मा की कविता में रहस्यवाद की नाना स्थितियाँ अभिव्यक्त हुई हैं।

उदाहरण स्वरूप –

क्या पूजा क्या अर्चन रे ?

उस असीम का सुंदर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे!

मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे!

6. **जिज्ञासा और कल्पना**

छायावादी कवि की जिज्ञासा का संबंध विह्वलता से है। नामवर सिंह कहते हैं, हर चीज के प्रति अथक 'जिज्ञासा' और 'कुतूहल' छायावाद का मंगलाचरण है और यही वह रचनात्मक शक्ति है जिसके द्वारा कवि, दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक अपने–अपने क्षेत्र में कोई नयी चीज दे जाता है। छायावाद में इस नयी शक्ति का उन्मेष था। इसलिए उसने हिन्दी साहित्य को कुछ नया दिया। द्विवेदी युग में अथवा रीतिकाल में इसकी कमी थी। सुबह के समय चिड़ियों का चहकना तो पहले भी लोगों ने देखा था। पेड़–पौधों का झूमना भी लोगों ने देखा था। लेकिन छायावादी कवियों के देखने की मुद्रा अलग थी –

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि, तूने कैसे पहचाना?

– सुमित्रानंदन पंत

या

तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूँ उस ओर क्या है ? – महादेवी वर्मा

जिज्ञासा की तीव्रता जिज्ञासु के मन में एक दूसरी शक्ति को जन्म देती है, जिसके द्वारा मन उस वस्तु के अंतस्थल में प्रवेश करता है। इस शक्ति का नाम है – कल्पना। निराला की दृष्टि में कविता 'कल्पना के कानन की रानी' है। प्रसाद कहते हैं –

'हे कल्पना सुखदान

तुम मनुज जीवन प्रान

तुम विशद व्योम समान।'

छायावादी कवियों ने कल्पना प्रवणता की इसी भूमिका पर अपनी वेदना को अभिव्यक्ति दी है। महादेवी जी बचपन से ही अधिक कल्पना प्रवण रही इसलिए उनके जीवन में वेदना बड़े ही सहज रूप से अवतरित हुई। अपनी इस कल्पनाशील प्रवृत्ति का कवयित्री ने 'यामा की भूमिका' में बड़ा कवित्वपूर्ण और मर्मस्पर्शी वर्णन किया है – 'मेरा प्रत्यक्ष ज्ञान मेरी कल्पना के पीछे सदा ही हाथ बाँधकर चलता रहा है, इसी से जब रात–दिन होने का प्राकृतिक कारण मुझे ज्ञात न था तथा सन्ध्या से रात तक बदलने वाले आकाश के रंगों में मुझे परियों का दर्शन होने लगा था, जब मेघों के बनने का क्रम मेरे लिए अज्ञेय था तभी उनके वाष्प तन में दिखाई देने वाली आकृतियों का मैं नामकरण कर चुकी थी और जब मुझे तारों का हमारी पृथ्वी से बड़ा या उसके समान होना बता दिया गया था तब मैं रात को अपने आँगन में 'आओ, प्यारे तारे आओ, मेरे आँगन में बिछ जाओ' गा–गाकर उन महान् लागों को नीचे बुलाने में नहीं हिचकिचाती थी।'' 'नीहार' की प्रथम कविता ''निशा को धो देता राकेश, चाँदनी में जब अलकें खोल'' में कवयित्री ने कल्पना–प्रवणता की भूमिका का अपनी वेदनानुभूति की अभिव्यक्ति की है –

निशा को धो देता राकेश,

चाँदनी में जब अलकें खोल

कली से कहता था मधुमास

बता दो मधु मदिरा का मोल।

सुनाने जीवन का संगीत

तभी तुम आये थे इस पार

भूलती थी मैं सीखे राग

छिटकते थे कर बारम्बार।।

7. **प्रेमानुभूति :** स्वच्छन्द प्रेम की अभिव्यक्ति इस काव्य की नूतन प्रवृत्ति है। इस प्रेम में 'मानसिकता', 'सूक्ष्मता' और 'अलौकिकता' अधिक है। इनका प्रेम वर्णन अधिकतर अशरीरी है। वैयक्तिक प्रेम भाव को ये उदात्त रूप देते गये हैं। प्रसाद का 'आँसू' इसका प्रमाण है।

जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' में मनु के जीवन में प्रेम की दस्तक बहुत सुंदर रूप में अभिव्यक्त है –

श्रुतियों में चुपके चुपके से
कोई मधु धारा घोल रहा,
इस नीरवता के परदे में
जैसे कोई कुछ बोल रहा।
है स्पर्श मलय के झिलमिल सा
संज्ञा को और सुलाता है,
पुलकित हो आँखें बंद किए
तंद्रा को पास बुलाता है।
उठती है किरनों के ऊपर
कोमल किसलय के छाजन सी
स्वर का मधु निःस्वन रंध्रों में
जैसे कुछ दूर बजे बंशी।
था व्यक्ति सोचता आलस में।
चेतना सजग रहती दुहरी,
कानों के कान खोल करके
सुनती थी कोई ध्वनि गहरी।

इस 'प्रेम' को निराला की कविताएँ अलग अंदाज में पहचानती हैं। वैसे तो अनेक कविताओं में उन्होंने प्रेम का परोक्ष चित्रण किया, लेकिन उन्होंने 1932 ई. में 'प्रेम के प्रति' एक कविता लिखी। इस कविता में वे प्रेम के स्वरूप पर टिप्पणी करते हैं :–

'प्रेम सदा ही तुम असूत्र हो
उर–उर के हीरों के हार,

गूँथे हुए प्राणियों को भी

गूँथे न कभी सदा ही सार।'

आगे निराला ने 'प्रेयसी' में प्रेम का आदर्श स्थापित करते हुए लिखा है –

दोनों हम भिन्न वर्ण,

भिन्न जाति भिन्न रूप,

भिन्न धर्म भाव, पर

केवल अपनाव से, प्राणों से एक थे।

प्रेम के क्षेत्र में छायावादी कवि किसी प्रकार की रूढ़ि, मर्यादा या नियमबद्धता को स्वीकार नहीं करते।

8. **नारी के प्रति नवीन दृष्टिकोण :** छायावाद ने नारी की ओर देखने के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन कर दिया। रीतिकालीन भोगवादी दृष्टि अथवा द्विवेदीकालीन आदर्शवादी दृष्टि के स्थान पर इन्होंने नारी को एक स्वतन्त्र व्यक्ति चेतना के रूप में देखा। उसके मातृत्व रूप को उभारा। नारी अपने व्यक्तित्व की सभी विशेषताओं को लेकर (बालिका, बहन, प्रेयसी, पत्नी) यहाँ प्रकट हुई है।

9. **जागरण का स्वर**

जागरण का संदेश सम्प्रसारित करना छायावादी काव्य का मूल मन्तव्य है। 'प्रसाद जी' की 'हमारा प्यारा देश' तथा 'अरूण यह मधुमय देश हमारा' में यह स्वर सुनाई देता है। निराला की कविता में जागरण का स्वर राष्ट्रीयता के भाव के रूप में व्यक्त हुआ है। यह भावना कहीं वन्दना के रूप में है, तो कहीं वे राम, तुलसीदास और शिवजी की पीठिका में स्वयं उपस्थित होकर राष्ट्रीय भाव को वाणी देते हैं। मातृवन्दना कविता में वे लिखते हैं –

भारित जय विजय करे

कनक शस्य कमल धरे

तथा

क्लेद मुक्त अपना तन दूँगा

मुक्त करूँगा तुझे अटल।

'जागो फिर एक बार' कविता में निराला ने भारत की सांस्कृतिक गरिमा और राष्ट्र जागृति की भावना को एक साथ व्यक्त किया है।

10. दार्शनिक चिन्तन

प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी के काव्य में दर्शन के कई रूप दिखायी पड़ते हैं। प्रसाद ने आनन्दवाद की प्रतिष्ठा की है। उन्होंने इस सिद्धान्त को शैवागमों से प्रभावित होकर ग्रहण किया है। इसी नाते उन्होंने कामायनी का साध्य'–आनन्द स्वीकार किया है

समरस थे जड़ या चेतन

सुंदर साकार बना था

चेतनता एक विलसती

आनन्द अखण्ड घना था।

पन्त जी ने भी उपनिषदों, अरविन्द, महात्मा गाँधी, विवेकानन्द आदि से प्रभाव ग्रहण करके काव्य–प्रणयन किया है। दुःखवाद और करुणा बौद्ध दर्शन का मूल स्वर हैं। छायावादी कवियों ने किसी न किसी रूप में बौद्धों के इस दर्शन से प्रभावित होकर साहित्य रचा है। निराला की कविता 'तुम और मैं' में भी अद्वैत दर्शन का ऐसा ही रूप आकारित हुआ है।

शिल्पगत पक्ष

1. **भाषा और शब्द विन्यास :** छायावादी कवियों का शब्दभण्डार संस्कृत की तत्सम शब्दावली, बंगला, अंग्रेजी, उर्दू–फारसी, देशज आदि शब्दों से सम्पन्न–समृद्ध है। छायावादी कवियों के शब्दविन्यास पर उर्दू–फारसी का भी व्यापक प्रभाव देखा जा सकता है। अगर, बगल, नजर, बन्दों, आराम, फिरदौस, मीनार, मकबरे, खबर, बहार, नायाब चीज, मर्दानगी, जानदार, निशानी आदि अनेक शब्दों का सहज प्रयोग देखा जा सकता है।

   छायावादी कवियों ने भारतीय तथा अभारतीय भाषाओं से और स्वयं अपने द्वारा निर्मित शब्दों से अपने काव्य को सम्पन्न, समृद्ध, कलात्मक और काव्यात्मक बनाया है।

2. **छायावादी शैली :** छायावादी शैली की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं –

   (1) मुक्तक गीति शैली

   (2) प्रतीकात्मकता,

   (3) प्राचीन, एवं नवीन अलंकारों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग, जैसे उपमा, उपमान, उत्प्रेक्षा, रूपक, दृष्टांत, उदाहरण, मानवीकरण, विरोधाभास, विशेषण–विपर्यय

आदि विविध अलंकारों का प्रयोग

(4) मात्रिक छंदों का सविस्तार प्रयोग

(5) कोमल–कांत संस्कृतमय शब्दावली।

गीति शैली के सभी प्रमुख तत्त्व – वैयक्तिकता, भावात्मकता, संगीतात्मकता, संक्षिप्तता, कोमलता आदि – इनके काव्य में उपलब्ध होते हैं। प्रतीकों के द्वारा इन्होंने अपनी अभिव्यक्ति की मार्मिकता में अभिवृद्धि की है, जैसे – 'यह पतझड़ मधुवन भी हो, शूलों का दर्शन भी हो, कलियों का चुम्बन भी हो।' यहाँ पतझड़, मधुवन, शूल, कलियाँ आदि जीवन के विभिन्न रूपों व अंगों के प्रतीक हैं। मूर्त को अमूर्त रूप में तथा अमूर्त को मूर्त रूप में चित्रित करने के लिए अनेक नवीन उपमानों का प्रयोग किया है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिक वक्रता, उपचार वक्रता के दर्शन छायावादी काव्य में विशेषरूप से होते हैं। महाकवि निराला अपने मुक्तछंद विधान के लिए छायावादी कविता में ही नहीं वरन समस्त हिन्दी साहित्य में जाने जाते हैं।

23.6 छायावाद की उपलब्धि

छायावाद कविता अपनी संवेदना और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त प्रशंसनीय रही। इस काल में प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी वर्मा ने अपने काव्य सृजन से कविता का एक मनोरम इतिहास लिखा। छायावादी कविता का महत्व सौंदर्य की सूक्ष्म सत्ता को स्थापित करने, नारी के उदात्त मानवीय रूप को चित्रित करने, सांस्कृतिक पुनर्जागरण की स्थापना और स्वतंत्रता आन्दोलन को स्वर प्रदान करने और काव्य शैली की दृष्टि से गीतात्मकता, मुक्त छंद का व्यवहार करने में निहित है। जयशंकर प्रसाद कृत महाकाव्य **कामायनी** सार्वदेशिक और सार्वकालिक रचना है।

23.7 सारांश

आधुनिक हिन्दी कविता के इतिहास में छायावादी काव्य धारा की पृष्ठभूमि, नामकरण, विविध प्रवृत्तियों और उसकी उपलब्धियों से आप भलीभाँति परिचित हुए। छायावाद के उदय में द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता, अंग्रेजी का रोमांटिक काव्य, रवीन्द्र की कविता, मानवतावादी व आध्यात्मिक दृष्टि, अद्वैत दर्शन, नवजागरण आदि में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा और सुमित्रानंदन पंत जैसे रचनाकारों के प्रभावी सृजन से बना यह युग (1918 – 1936) अपनी भावविद्धता, वैचारिक गहनता और शिल्पसिद्धता से आधुनिक हिन्दी कविता को एक नई गति और दिशा–दृष्टि प्रदान करता है।

23.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. छायावाद की परिभाषा और स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

2. प्रमुख छायावादी कवियों और रचनाओं का उल्लेख कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

3. छायावाद की प्रवृत्तियों का सोदाहरण विश्लेषण कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

4. छायावाद की काव्यशैली की विशेषताएँ लिखिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

5. महादेवी वर्मा का छायावाद के विकास में योगदान का उल्लेख कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

_____

23.9 संदर्भ ग्रंथ

1. नामवर सिंह – छायावाद, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1990
2. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी – ग्रंथावली, भाग–3, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1981
3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2050
4. रामस्वरूप चतुर्वेदी – हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, 1993
5. डॉ. नगेन्द्र (सं.) – हिन्दी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली 1982
6. डॉ. जयकिशन प्रसाद – हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा।
7. डॉ. नामवर सिंह – आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, राजकमल प्रकाशन – नई दिल्ली,

प्रगतिवाद

इकाई की रूपरेखा

24.0 उद्देश्य

24.1 प्रस्तावना

24.2 प्रगतिवाद का स्वरूप और परिभाषा

24.3 युग की पृष्ठभूमि

24.4 प्रमुख प्रगतिवादी कवि

24.5 प्रगतिवाद की प्रवृत्तियाँ

24.5.1 संवेदनागत पक्ष

24.5.2 शिल्पगत पक्ष

24.6 उपलब्धियां और सीमाएं

24.7 सारांश

24.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

24.9 संदर्भ ग्रन्थ

24.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययनोपरान्त आप

* प्रगतिवाद के स्वरूप उसकी पृष्ठभूमि को जान सकेंगे।
* प्रमुख प्रगतिवादी कवियों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

* प्रगतिवाद की प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर सकेंगे।

* प्रगतिवाद की महत्ता और उसकी सीमाओं को समझ सकेंगे।

24.1 प्रस्तावना :–

यह सत्य है कि छायावादियों का स्वप्न सत्य के ताप से झुलसने लगा और धीरे–धीरे भीतर–ही–भीतर जनमानस में एक सुगबुगाहट हुई। जीवन चेतना ने करवट ली। एक नया मानवतावाद जन्मा, जीवन यथार्थ की ठोस धरती पर आ खड़ा हुआ और इसे अभिव्यक्ति देने वाला काव्य प्रगतिवाद कहलाया। प्रगतिवाद ने वर्ग–भेद की खाई को पाटने का काम तो किया ही, मनुष्य को सामाजिक और राजनैतिक भूमिका भी प्रदान की। भारतेन्दु, द्विवेदी, छायावाद के बाद आधुनिक हिन्दी कविता का चतुर्थ उत्थान काल प्रगतिवाद है। प्रगतिवादी काव्य का प्रारम्भ कब से माना जाए यह एक गम्भीर समस्या है। हमें छायावादी काव्य धारा में एक विशेष प्रकार की कविताओं का स्वर सुनाई देता है। यह प्रवृत्ति सन् 1936 के लगभग देखने को मिलती है। छायावादी कवियों ने ही पहले–पहले सूक्ष्म सौंदर्यवादी दृष्टि को छोड़कर सामाजिक यथार्थवाद की प्रवृत्ति अपनायी और इस प्रकार कल्पना के नील गगन से ठोस पृथ्वी पर उतरने का प्रयास किया। इस दिशा में पन्त पहले कवि हैं।

प्रगतिवादी काव्यधारा का उद्देश्य साहित्य में यथार्थवाद की स्थापना करना था। अतीत का महिमागान और भविष्य की आदर्शमयी कल्पना दोनों इस काव्यधारा के उद्देश्य प्राप्ति में बाधक थे। इसलिए इसमें प्रत्यक्ष यथार्थ सामाजिक समानता पर विशेष बल दिया। दर्शन में जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एवं विकासवाद है राजनीति में जो साम्यवाद है वही साहित्य में प्रगतिवाद है।

24.2 प्रगतिवाद का स्वरूप और विकास :–

प्रगतिवाद हिन्दी साहित्य की परम्परा का स्वाभाविक विकास है जो ह्रासोन्मुखी छायावाद युग के साहित्य से ही जन्मा है फिर भी अपनी मूलभूत प्रेरणा में उससे एकदम भिन्न है। यों तो साहित्य की अखण्ड परम्परा है और वह निश्चय ही प्रगतिशील भी है किन्तु हिन्दी में जो साहित्य प्रगतिशील साहित्य के नाम से जाना जाता है वह निश्चय ही छायावाद के बाद का व्यापक सामाजिक चेतना वाला साहित्य है जिसमें मार्क्सीय सामाजिक यथार्थवाद को विशेष महत्व दिया गया है। इसकी इसी विशेषता को लक्ष्य करके बहुत से सुधी लोग इसे मार्क्स की देन विदेशी साहित्य का अनुकरण अथवा 'प्रोग्रेसिव लिटरेचर' का अनुकरण मानते हैं और इसे सर्वथा अभारतीय और विदेशी विचारधारा घोषित करते हैं। तत्कालीन विषम सामाजिक परिस्थिति और ह्रासोन्मुखी छायावादी साहित्यिक परिस्थिति में प्रगतिवाद का प्रादुर्भाव होना उस युग की एक स्वाभाविक आवश्यकता थी और इसलिए यह हिन्दी साहित्य की परम्परा का ही विकास है।

प्रगतिवाद मार्क्सवाद का हिन्दी रूपान्तरण न होकर हिन्दी साहित्य में सामाजिक मानववाद की प्रतिष्ठा है, जो तत्कालीन युग में इस देश की आवश्यकता थी और जिसका स्वाभाविक विकास समझने में हमें राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास और तत्कालीन युग को बनाने वाली परिस्थितियों का ज्ञान सहायक

होगा।

डॉ. रामविलास शर्मा के शब्दों में यह युग की माँग को पूरा करने वाला साहित्य है। इसकी शक्ति इस बात में है कि वह समाज के वास्तविक जीवन के निकट है। जो साहित्य जनता का पक्ष लेगा वह जरूर शक्तिशाली होगा और अजेय गति से आगे बढ़ता जाएगा। लेखक के लिए मूल समस्या यह है कि हम अपने साहित्य की जातीय विशेषताओं की रक्षा करते हुए किस तरह उन्हें विकसित करें कि हमारी जनता की चेतना निखरे और वह आज के दुखों और अभावों की दुनिया से निकल कर सुख और स्वाधीनता के प्रकाश में साँस ले सकें। यही कार्य प्रगतिशील साहित्य ने किया है। वस्तुतः प्रगतिवाद ऐसी जीवन दृष्टि बनकर आया जिससे कविता, उपन्यास, आलोचना आदि सभी क्षेत्रों में नवीन चेतना के दर्शन हुए।

प्रगतिवाद का प्रारम्भ छायावादी कवियों ने ही किया यह इसकी आवश्यकता एवं स्वाभाविक विकास के सत्य को पूर्णतया प्रमाणित कर देता है। प्रगतिशील यथार्थवाद के लिए मुक्त छन्द अत्यन्त उपयुक्त सिद्ध हुआ। पन्त जी ने 'युगान्त' में छायावाद का अन्त करते हुए 'युगवाणी' में जनवादी विचारधारा को अपनाया। दूसरे छायावादी कवि निराला नई भाषा, भाव और शैली को लेकर आए। इन्होंने निम्न वर्ग को अपनी कविता का साध्य बनाया और उनकी दीन स्थिति के निर्माताओं पर कटु व्यंग्य किए। **'भिक्षुक', 'कुकुरमुत्ता', 'गर्म पकौड़ी', 'डिप्टी साहब आए', 'कुत्ता भौंकने लगा'** आदि व्यंग्यों में निराला ने पूँजीवाद की भर्त्सना की। किन्तु इन सभी कविताओं में कवि का अहं झलकता है, सामाजिक दर्शन नहीं। जब प्रगतिवाद साहित्यिक परम्परा के विकास की ही एक सीढ़ी है, तो पूर्ववर्ती व्यक्तिवादी विचारों की छाया स्वाभाविक ही है। यह था आरम्भिक प्रगतिवाद जो छायावादी कवियों के काव्य में अवतरित हुआ।

धीरे–धीरे प्रगतिवाद ने अपनी व्यक्तिवादी, आदर्शवादी प्रवृत्तियों को छोड़कर स्वस्थ सामाजिक दर्शन को अपनाया। भवानीप्रसाद मिश्र, चन्द्रकुँवर वर्त्वाल, भैरवप्रसाद गुप्त, डॉ. शिवमंगलसिंह सुमन, डॉ. मलखानसिंह सिसौदिया, त्रिलोचन, अमृतराय, राजेन्द्र यादव, डॉ. महेन्द्र भटनागर प्रभृति कवियों ने इस स्वस्थ प्रगतिवादी (जनवादी) विचारधारा को अपनी कविताओं के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। ये कवि अधिकांशतः मध्य वर्ग से निकल कर आए है।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' की प्रथम कृति 'रेणुका' (1935), भगवती चरण वर्मा की 'मधुकण'(1932), नरेन्द शर्मा की 'शूल–फूल'(1933), बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के 'विप्लव–गायन' (1933), जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द के 'जीवन–संगीत', आरती प्रसाद सिंह की 'कलापी' में संगृहीत कविता 'रक्तपर्व' (1934), गोपाल सिंह 'नेपाली' की 'उमंग' (1934) आदि कविताओं में भी प्रगति–चेतना के स्वर सुनाई पड़ते हैं। वर्ग–वैषम्य का चित्रण करते हुए शोषित वर्ग के प्रति सहानुभूति व्यक्त की गई है तो कहीं वर्तमान व्यवस्था को बदल देने के लिए क्रान्ति का आह्वान किया है तो कहीं स्पष्ट रूप में 'साम्यवाद' की प्रशंसा एवं पूँजीवाद की भर्त्सना की गई है। किन्तु इनसे इतना तो भली–भाँति प्रमाणित होता है कि हिन्दी में प्रगतिशील संघ की विधिवत् स्थापना से पूर्व ही प्रगतिवाद के आगमन की ध्वनि या अनुगूँज स्पष्ट रूप में सुनाई पड़ने लग गई थी तथा उसके लिए

अपेक्षित पृष्ठभूमि तैयार हो गयी थी। ऐसी स्थिति में उसे एकाएक आयातित या आरोपित वाद मानना उचित नहीं होगा।

24.3 युग की पृष्ठभूमि

सामान्यतः 1936 से 1945 के मध्य जो काव्य प्रवृत्ति विकसित हुई उसे 'प्रगतिवादी' काव्य कहा गया है। यह प्रवृत्ति एक आन्दोलन के रूप में विकसित हुई। सामाजिक यथार्थवाद और वर्गगत समानता के लिए विद्रोह और आन्दोलन का स्वर सामने आया। इस काव्यधारा को आरम्भ से ही एक निश्चित काव्य दृष्टि मिली है। साम्यवादियों अर्थशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों के सिद्धान्तों व उनकी दृष्टि का काव्य–सृजन पर प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

इस काव्यधारा की पृष्ठभूमि में मार्क्स का दर्शन महत्वपूर्ण है। 1917 में रूस में क्रान्ति हो गयी। इस क्रान्ति ने साम्राज्यवाद को खत्म कर दिया और वहाँ सर्वहारा वर्ग के हाथों में सत्ता आ गई। मार्क्स का दर्शन इस क्रान्ति के मूल में था। धर्म, अंधश्रद्धा, अलौकिकता आदि सभी पारलौकिक शक्तियों और अंधविश्वासों का खंडन करके मार्क्स ने मनुष्य मात्र को महत्व दिया। पूंजीवादी व्यवस्था में मनुष्य पूर्णतः गुलाम हो जाता है; उसका अस्तित्व मशीन के एक पुर्जे की तरह हो जाता है। समाज के दो वर्गों में खाई बढ़ जाती है; इसीलिए ऐसी समाज व्यवस्था का विरोध करके उसने वर्गहीन समाज व्यवस्था का आग्रह किया। इस नयी साम्यवादी व्यवस्था के लिए मार्क्स ने 'श्रमिकों की एकता' और 'क्रान्ति का आह्वान' ये दो नारे दिये। जहाँ मनुष्य–मनुष्य में धर्म, जाति, भाषा अथवा अन्य किसी भी कारण से अन्तर न किया जाता हो, जहाँ मनुष्य का शोषण न किया जाता हो – ऐसी व्यवस्था तो दुनिया के कलाकारों का स्वप्न ही है। इसी कारण इस रूसी व्यवस्था तथा मार्क्सवादी विचारधारा की ओर कवि, कलाकार तथा आलोचक आकृष्ट हो गये। 1917 से 1935 तक रूस की जो प्रगति हुई, उससे ये कलाकर और भी प्रभावित हो गये और इस प्रकार की 'समाज व्यवस्था' का आह्वान वे अपने साहित्य के माध्यम से करने लगे।

सर्वप्रथम इ.एम. फोस्टर ने लंदन में प्रगतिशील लेखकों की बैठक सन् 1935 में ली। इस बैठक में दो भारतीय लेखक सज्जाद जहीर और मुलकराज आनंद उपस्थित थे। साहित्य की इस नयी दृष्टि को स्वीकार करने का आग्रह इस बैठक में किया गया। इससे प्रेरित होकर सन् 1936 में भारत में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की बैठक लखनऊ में प्रेमचंद की अध्यक्षता में हुई। इस प्रकार सन् 1936 से यह विचारधारा साहित्य में प्रवेश करती है। सन् 1937 में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अध्यक्षता में इसकी दूसरी बैठक कोलकत्ता में हुई।

उपर्युक्त परिस्थितियों के साथ–साथ यह भी सत्य है कि छायावादी काव्य की अति सांकेतिकता, आदर्शवादिता, प्रकृति चित्रण की अधिकता, कल्पनातिशयता की प्रवृत्ति से यह काव्यधारा जन–सामान्य से दूर हो रही थी और जब प्रगतिवाद एक सामाजिक दर्शन लेकर आया, एक नई समाज व्यवस्था का स्वरूप सामने आया तो उस ओर कवि मुड़ गए। वस्तुतः छायावादी कवियों जैसे पंत, निराला ने ही सर्वप्रथम सामाजिक यथार्थवादी विचारधारा को अपनी रचनाओं में व्यक्त किया। 1936 के बाद निराला

की रचनाओं में वैयक्तिक स्वर की अपेक्षा सामाजिक यथार्थवादी स्वर अधिक गूंजने लगा। वस्तुतः इस नवीन दृष्टि के कारण साहित्य के नए आन्दोलन की शुरूआत हुई और उसे काव्य में प्रगतिवाद संज्ञा से आमंत्रित किया गया।

24.4 प्रमुख प्रगतिवादी कवि

1. रामेश्वर करूण :

सर्वप्रथम प्रगतिवादी कवि रामेश्वर करूण माने जाते हैं जिनकी 'करूण सतसई' सन् 1934 में ही प्रकाशित हो गई थी। यद्यपि यह रचना ब्रज भाषा में है परन्तु इसमें वर्ग–वैषम्य, आर्थिक विषमता, पूँजीपतियों के शोषण, शोषित वर्ग की दीनता, वर्तमान व्यवस्था के प्रति असन्तोष एवं विद्रोह आदि विषयों का निरूपण सशक्त रूप में किया गया है।

जब लौं 'श्रम' अरू उपज को, होत न साम्य–विभाग।

बुझै बुझाये किमि कहों, यह अशान्ति की आग।

हौवे न भयो हौवे है नहीं, साम्यवाद सम आन।

जग की व्याधि अगाध को सोचो सही निदान।।

सामाजिक विषमता, आर्थिक शोषण, शोषित वर्ग की करुण दशा, शोषक वर्ग के अत्याचारों, धर्म और ईश्वर के ठेकेदारों की करतूतों आदि का चित्रण करते हुए साम्यवाद की स्थापना के लिए हिंसात्मक चिन्गारी वर्तमान क्रान्ति का अभीष्ट है। कवि ने राष्ट्रीय नेताओं के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हुए भी महात्मा गाँधी के अहिंसात्मक आन्दोलन की व्यर्थता घोषित करते हुए उन्हें स्पष्ट शब्दों में चुनौती दी है –

''कितनी शताब्दियाँ लेगा, यह पुण्य प्रयोग तुम्हारा

क्या दूर विषमता होगी, यों सत्य–अहिंसा द्वारा?

मक्कार धनाधीशों को ट्रस्टी बतलाकर तुमने

जनता पर जादू डाला, अध्यात्म सुधा कर तुमने।''

– ''है भारत भाग्य विधाता''

2. केदारनाथ अग्रवाल :

कविता में **'नींद के बाद'** (1947), **'युग की गंगा'** (1947), **'लोक और आलोक'** (1957), **'फूल नही रंग बोलते हैं'** (1965), **'आग का आइना'** (1970), **'पंख और पतवार'** (1979), **'हे मेरी तुम'** (1981), **'और मार प्यार की थापें'** (1981) आदि उल्लेखनीय काव्य संग्रह हैं।

इनकी कविताओं में जीवन की विषमताओं व असंगतियों के प्रति घृणा एवं विद्रोह शहरी जीवन के वैभव से दूर हटकर ग्रामीण जीवन की वास्तविकताओं के चित्रण की ओर अग्रसर होता है। वर्तमान जीवन की कुरूपता को, वर्तमान व्यवस्था के प्रति असन्तोष और द्रोह की भावना को, साम्यवाद के प्रति अपनी दृढ़ आस्था व्यक्त करते हुए क्रान्ति का आह्वान भी अभिव्यक्त हुआ है।

3. नागार्जुन :

नागार्जुन की कविताएँ **'युग धारा'** (1953), **'सतरंगी पंखों वाली'** (1956), **'प्यासी पथराई आँखें', 'तालाब की मछलियाँ', 'तुमने कहा था'** (1980), **'खिचड़ी विप्लव देखा हमने'** (1980), **'हजार–हजार बाहों वाली'** (1981) आदि में संग्रहीत है। उन्होंने हृदय की सच्ची टीस, वेदना एवं सहानुभूति से प्रेरित होकर काव्य–रचना की है।

जैसे –

क्योंकि हमको स्वयं भी तो तुच्छता का भेद है मालूम

कि हम पर सीधे पड़ी है गरीबी की मार।

नागार्जुन ने मार्क्सवाद की लहर में बहकर अपने देश की स्वस्थ एवं महान परम्पराओं की उपेक्षा नहीं की है। समसामयिक परिस्थितियों और समस्याओं पर स्पष्ट रूप में अपने विचार व्यक्त करने की दृष्टि से नागार्जुन बहुत सशक्त हैं। श्री विशम्भर 'मानव' ने इस सम्बन्ध में ठीक कहा है, ''हरिश्चन्द्र–युग के कुछ साहित्यिकों को छोड़कर पिछले पचास वर्षों में नागार्जुन जैसा तीखी और सीधी चोट करने वाला व्यंग्यकार हमारे साहित्य में नहीं हुआ।'' उदाहरण स्वरूप –

आज़ादी की कलियाँ फूटीं, पाँच साल में होंगे फूल,

पाँच साल में फल निकलेंगे, रहे पंत जी झूला झूल,

पाँच साल कम खाओ भैया, गम खाओ दस–पन्द्रह साल,

अपने ही हाथों से झोंको यों अपनी आँखों में धूल,

आज़ादी की कलियाँ फूटीं, पाँच साल में होंगे फूल।

पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा होने वाली मन्द और शिथिल प्रगति पर कवि ने यहाँ अच्छा व्यंग्य किया है। वस्तुतः भावनाओं की सच्चाई एवं अनुभूति की गहराई इनके काव्य में देखने को मिलती है।

4. शिवमंगलसिंह 'सुमन'

इनके काव्य संग्रहों में **'हिल्लोल' 'जीवन के गान' 'प्रलय–सृजन' 'पर आँखे नहीं भरीं'**

'विन्ध्यहिमाचल' 'मिट्टी की बरात' आदि उल्लेखनीय है।

संघर्ष और क्रान्ति की भावना

प्रगतिवादी विचारों को अपनाना और उन्हें प्लेटफार्मी शैली में प्रस्तुत कर देना प्रगतिवाद के प्रचार में तो सहायक सिद्ध हो सकता है किन्तु उसमें काव्यात्मकता का अस्तित्व तो तभी स्वीकार किया जा सकता है जबकि विचारों को अनुभूति में परिणित करते हुए कलात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया हो। 'सुमन' जी में यह विशेषता भली–भाँति परिलक्षित होती है। उदाहरण के रूप में –

विस्तृत पथ है मेरे आगे उस पर ही मुझको चलना है,

चिर शोषित असहायों के संग, अत्याचारों को दलना है।

5. डॉ. रांगेय राघव :

डॉ. रांगेय राघव मूलतः उपन्यासकार थे, किन्तु काव्य–क्षेत्र में भी उन्होंने योग दिया है। उनके काव्य–ग्रंथ इस प्रकार हैं – **'अजेय खण्डहर'** (1944), **'पिघलते पत्थर'** (1946), **'राह के दीपक', 'मेधावी'** (1947), **'पांचाली'** (1955) आदि। 'अजेय खण्डहर' में तीन शीर्षकों – 'झंकार', 'ललकार' और 'हुंकार' के अन्तर्गत स्तालिनग्राद के युद्ध के अनेक सजीव एवं यथार्थ चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। 'पिघलते पत्थर' मुक्तक रचना है जिसमें एक ओर साम्राज्यवाद, फासिज्म एवं पूँजीवाद के विरोधी विचार व्यक्त हुए हैं तो दूसरी ओर राष्ट्रीयता, समाजवाद एवं मानवतावाद से सम्बन्धित भावनाएं व्यंजित हैं। 'राह के दीपक' में सन्ध्या, दीपक, पावस, चाँदनी आदि विषयों के माध्यम से युग की विषमताओं को अंकित करने का सफल प्रयास किया गया है।

'मेधावी' और 'पांचाली' आख्यानक रचनाएँ हैं। पहली रचना चिन्तन–प्रधान है जिसमें कवि के कथनानुसार दर्शन, भूगोल, इतिहास, काव्य, समाज–शास्त्र सब का समावेश है। 'पाँचाली' में द्रौपदी के चरित्र को नये दृष्टिकोण से प्रस्तुत करते हुए नारी, राष्ट्र, वर्ण–व्यवस्था, राज्य–तन्त्र, प्रेम, कर्तव्य, अहिंसा, राजनीति सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं पर पुनर्विचार किया गया है।

6. त्रिलोचन शास्त्री :

शास्त्री की कविताओं में प्रकृति, प्रेम एवं समाजवाद – तीनों की अभिव्यक्ति हुई है। उनके काव्य संग्रह 'धरती' में प्रकृति का वर्णन प्रमुखतः हुआ है। जैसे –

सघन पीली गर्मियों में और

हरियाली सलोनी, झूलती सरसों।

चल रही हवा, धीरे–धीरे सीरी–सीरी

उड़ रहे गगन में, झीने–झीने, कजरारे चंचल बादल।

पर त्रिलोचन जहाँ मार्क्सवाद के सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए उसका गुणगान करने लगते हैं वहाँ उनकी कविता गद्य में परिणत हो जाती है।

7. 'शील'

इनका वास्तविक नाम मन्नूलाल शर्मा है। इनकी कविताएं **'अंगड़ाई'** (1944), **'एक पग'** (1946), **'उदय–पथ'** (1953), और **'लावा और फूल'** (1967) इनके प्रमुख काव्य संग्रह हैं।

प्रगतिवादी मूल्यों के आधार विषय निरूपण किया है।

यथा –

तूफानों की तरह मचल कर चलना है तो चल,

अंगारों की तरह दहक कर जलना है तो जल।

इसी प्रकार कवि ने नया संसार बसाने का संदेश भी दिया है –

देश हमारा धरती अपनी, हम धरती के लाल,

नया संसार बसायेंगे, नया इन्सान बनायेंगे।

8. डॉ. महेन्द्र भटनागर :

इनके अनेक काव्य संग्रह प्रकाशित हुए हैं। जिनमें **'तारों के गीत'** (1949), **'टूटती शृंखलाएं'** (1949), **'बदलता युग'** (1953), **'अभियान'** (1954), **'अन्तराल'** (1954), **'विहान'** (1956), **'नई चेतना'** (1956), **'मधुरिमा'** (1959), **'जिजीविषा'** (1962), **'संतरण'** (1963), **'संवर्त'** (1972), **'संकल्प'** (1977), **'जूझते हुए'** (1984) आदि। इनकी कविताओं में सामाजिक क्रान्ति की भावनाओं के साथ–साथ सौन्दर्य, प्रेम, विश्वास एवं आस्था की भी अभिव्यक्ति हुई है।

9. सुदर्शन चक्र :

सुदर्शन चक्र के अनेक काव्य संग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनमें 'मज़दूरों की रण–भेरी' (1937), 'लाल सेना की विजय' (1942), 'साम्यवाद का शिव तांडव' (1952), 'सच्ची कविताएं' (1956), 'कम्युनिस्ट कवितावली' (1958) आदि उल्लेखनीय है।

10. डॉ. रणजी :

नयी पीढ़ी की प्रगतिवादी कविताओं में डॉ. रणजी का स्थान महत्वपूर्ण है। इनके काव्य संग्रह – **'ये सपने ये प्रेत'** (1964), **'जमती बर्फ खोलता खून', 'इतिहास का दर्द'** (1967), **'इतना पवित्र शब्द'** (1985), **'झुलसा हुआ रक्त कमल'** (1986) आदि। इनके प्रारम्भिक काव्य में मार्क्सवादी स्वर अत्यन्त तीखे शब्दों में सुनाई पड़ता है जिससे साम्यवाद के प्रति पूर्ण निष्ठा एवं रागात्मक सम्बन्ध की पुष्टि होती है। किन्तु इनकी यह गहरी आस्था आगे चलकर साम्यवादी व्यवस्था के भी अनेक अन्तर्विरोधी को देखकर खण्डित होने लगती है।

सोशलिस्ट स्टेट एक माँ है
बढ़ी और डरपोक
अपने बच्चों से बहुत प्यार करती हैं
उनके खाने–पीने और ओढ़ने–पहनने की

पूरी व्यवस्था भली–भांति करती है

पर लगातार डरती है

कि कहीं पड़ोसी उसके बच्चों को बहका न दें

इसलिए उन्हें गली–मुहल्ले में घूमने नहीं देती

किसी पड़ोसी से बात नहीं करने देती।

– झुलसा हुआ रक्त कमल,

यहाँ कवि ने साम्यवादी व्यवस्था की विसंगतियों का जैसा उद्‌घाटन किया है वह न केवल उनकी अनुभूति की ईमानदारी एवं विचार स्वातन्त्र्य के प्रति सच्ची निष्ठा का परिचायक है अपितु कलात्मक दृष्टि से भी उनकी व्यंजना–शक्ति की सशक्ता को प्रमाणित करता है।

24.5 प्रगतिवाद की प्रवृत्तियाँ

24.5.1 संवेदनागत पक्ष

1. सामाजिक यथार्थवाद

प्रगतिवादी काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति सामाजिक यथार्थवाद की है। कृषक एव मज़दूरों को प्रगतिवाद ने अपने काव्य में प्रमुख स्थान दिया। प्रगतिवादी आलोचकों का मत है कि कविता का सम्बन्ध सामाजिक वास्तविकता से है और वही कविता उत्कृष्ट है जो वास्तविकता के प्रति सजग और संवेदनशील है।

बापू मरे

अनाथ हो गई भारत माता

अब क्या होगा

हाय! हाय! हम रहे कहीं के नहीं

लुट गये

रो–रो करके आँख लाल कर ली धूर्तों ने।

प्रगतिवादी कवि अपने देश की समस्याओं के प्रति तो जागरूक है ही विश्वमानवता के भी समर्थक हैं। चन्द्रकुँवर वर्त्वाल ने हिरोशिमा की बर्बादी पर आँसू बहाए हैं, अमरीका को कोसा है और पूँजीवाद के सभी गढ़ों के अवश्यम्भावी विनाश को बड़े विश्वास के साथ व्यक्त किया है –

हिरोशिमा की शाम

एक दिन न्यूयार्क भी मेरी तरह हो जाएगा;

जिसने मिटाया है मुझे वह भी मिटाया जाएगा;

आज ढाई लाख में कोई नहीं जीवित रहा;

न्यूयार्क में भी एक दिन कोई नहीं रह पायेगा।

प्रगतिवादी कवियों ने प्रारम्भ से ही बंगाल के अकाल, भारत के बँटवारे एवं पाकिस्तान के निर्माण, हिन्दू–मुस्लिम झगड़े एवं नरहत्या के नग्न ताण्डव, गणतन्त्र का आविर्भाव एवं जनता की भीषण कठिनाइयाँ – भुखमरी, अकाल, बाढ़, महामारी, महँगाई, बेकारी, झूठी लीडरी, टैक्स इत्यादि सामयिक घटनाओं एवं समस्याओं के प्रति जागरुकता प्रकट की है।

प्रगति काव्यधारा में सामाजिक यथार्थ के आग्रह के कारण काव्य विषयों में आमूल परिवर्तन हुए। प्रकृति, सूक्ष्म मानसिक प्रेम, सूक्ष्म सौंदर्यबोध, अध्यात्म, आदर्श आदि के स्थान पर ग्राम्य प्रकृति, ऊबड़–खाबड़ कच्चे घर, मटमैले अशिक्षित बच्चे, सड़कों पर पत्थर तोड़ने वाली औरतें, मिलें, खदानों और कल–कारखानों में काम करने वाले मजदूर आदि वर्गों और व्यक्तियों की मनःस्थितियों का, उनके दुःखों तथा उनके परिवेश का चित्रण किया गया।

2. बौद्धिकता :

प्रगतिवादी कवि का लक्षण है वर्गहीन समाज की स्थापना। इस कारण बौद्धिकता का आग्रह उनमें है। समाज में वर्ग–चेतना उत्पन्न करने तथा शोषित वर्ग को संघर्ष के लिए तैयार करने के लिए सर्वप्रथम ईश्वर, धर्म, परलोक एवं भाग्य सम्बन्धी विचारों का उन्मूलन करना आवश्यक है क्योंकि कवि की मान्यता है कि शोषक वर्ग इसी धर्म और अध्यात्म के बल पर

शोषित वर्ग पर अत्याचार करता है।

3. व्यंग्य चित्रण :

काव्य में व्यंग्य बोध और उसकी स्थापना में प्रगतिवादी कवियों की विशेष रूचि रही है। कवि सुधार की भावना से प्रेरित होकर सामयिक समस्याओं के वर्णन में व्यंग्य दृष्टि जोड़ देता है। वह पूँजीवाद को, उसकी शोषण की प्रवृत्ति को, आधुनिक राजनीति को, उसकी झूठी लीडरी को तथा अन्य आर्थिक और सामाजिक विषमताओं के समर्थकों को अपने व्यंग्यों का लक्ष्य बनाता है।

निराला के 'कुकुरमुत्ता' और 'नए पत्ते' में बड़े तीव्र व्यंग्य मिलते हैं। इनके भी आगे नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल के तीव्र व्यंग्य मिलते हैं। नागार्जुन ने आज के जर्जर समाज और आज़ादी का वैषम्य दिखाते हुए बड़ा नुकीला व्यंग्य किया है। यह आज़ादी कागजी स्कीमों के अतिरिक्त कुछ नहीं है। उदाहरण के लिए –

बापू मेरे .....

अनाथ हो गई भारत माता

अब क्या होगा .....

हाय! हाय! हम रहे कहीं के नहीं

लुट गये

..... रो–रो करके आँख लाल कर ली धूर्तों ने।

4. क्रान्ति का आह्वान :

प्रगतिवाद के मूल में परिवर्तन कर सामाजिक समानता लाने की प्रेरणा कार्य करती है। इस कारण कवियों की अपनी रचनाओं में क्रान्ति का स्वर प्रधान रहा। प्रगतिवादी कवि सामाजिक एवं राजनीतिक दुर्व्यवस्था से दुखी होकर विप्लव गान करता है। बालकृष्ण शर्मा नवीन लिखते हैं –

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ

जिससे उथल–पुथल मच जाए।

नियम और उप–नियमों के ये बन्धन टूक–टूट हो जाएँ

विश्वम्भर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जाएँ

शान्ति–दण्ड टूटे–उस माहरूद्र का सिंहासन थर्राए,

उसकी पोषक श्वासोच्छ्वास, विश्व के प्रांगण में घहराए,

नाश, नाश हो ! महानाश को प्रलयंकारी आँख खुल जाए।

डॉ. रामविलास शर्मा ने 'परिवर्तन की पुकार' अथवा 'क्रान्ति भावना' को फसल के प्रतीक द्वारा व्यक्त किया है –

कुसंस्कृति भूमि यह किसान की

धरती के पुत्र की

जोतनी है गहरी दो–चार बार दस बार

बोना महा तिक्त बीज असन्तोष का

काटनी है नये साल फागुन में फसल जो क्रान्ति की।

5. सामंतवाद और पूँजीवादी (शोषक वर्ग) व्यवस्थाओं के प्रति विद्रोह :

सामंतवाद या पूँजीवादी व्यवस्था सदैव समानता–विरोधी रही है। कार्लमार्क्स ने समाज की सभी समस्याओं का कारण एक मात्र धन को माना, इसीलिए समाजवादी व्यवसाय में धन के समान वितरण या उसके सरकारीकरण अथवा राष्ट्रीयकरण पर बल दिया गया। इस प्रकार विश्व मानवता के शत्रुओं के विनाश हेतु प्रगतिवादी कवियों ने अपना तीव्र आक्रोश (खीझ) व्यक्त किया है। निराला की ''कुकुरमुत्ता'' काव्यकृति इसका उदाहरण है –

अबे, सुन बे गुलाब

भूल मत जो पायी है खुशबू, रंगो आब

खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट

डाल पर इतरा रहा है कैपिटलिस्ट

बहुतों को तूने बनाया है गुलाम,

माली कर रक्खा, खिसाया जाड़ा घाम।

पूँजीवादी व्यवस्था समस्त संकटों का आधार है, इसीलिए कवि त्रिलोचन शास्त्री का कहना है कि ''पूँजीवाद से कभी किसी का हित कदापि सम्भव नहीं है'' –

पूँजीवाद ने महत्त्व नष्ट कर दिया सबका

जीवन का, जन का, समाज का, कला का।

बिन पूँजीवाद को मिटाए किसी तरह भी

यह जीवन स्वस्थ नहीं हो सकता

ज्ञान–विज्ञान से किसी प्रकार

कोई कल्याण नहीं हो सकता।

6. राष्ट्रीयता :

राष्ट्रीयता एवं देश–प्रेम की भावना का स्वरूप देश के अतीत गौरव–गान इत्यादि से भिन्न है। कवि अपने निवास–स्थलों (जनपद, ग्राम इत्यादि) की ओर देखकर प्रेम में मग्न होता है। इस प्रकार यदि पूर्ववर्ती देश–प्रेम की भावना सामान्योन्मुखी थी तो इस काल की भावना विशेषोन्मुखी है। यह सामाजिक यथार्थवाद की भावना का ही एक रूप है। डॉ. मलखानसिंह सिसौदिया की 'ओ ज्योति देश' एक उत्कृष्ट कविता है। कवि कहता है –

इतिहासों को दिग् बोध कराने वाले,

आ ज्योति–देश, तेरा वन्दन करता हूँ।

तू प्रलय–वक्ष पर पद–प्रहार कर जन्मा

विध्वंस–मृत्यु की बन्द किये मुट्ठी में,

विक्षुब्ध तरंगों के झूले में झूला

पी गया अतल जल–राशि रोष घुट्टी में।

लोरियाँ बनीं तब शस्त्र की झँकारें,

तू निडर धधकती ज्वालाओं से खेला।

सन् 1942 के राष्ट्रीय आन्दोलन काल में सम्पूर्ण देश और द्वितीय विश्व–युद्ध (1939) के कारण विश्व में उथल–पुथल थी उसके फलस्वरूप ही प्रगतिवादी कवियों में राष्ट्रीय भावना के अंग रूप में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम का भाव उमड़ा। उन्होंने भारत में स्थापित पूँजीवाद तथा साम्राज्यवाद का विरोध करते हुए अपने राष्ट्र–प्रेम का परिचय दिया। साम्यवाद के कट्टर हिमायती होते हुए भी डॉ. रामविलास शर्मा का अपने देश के प्रति अगाध प्रेम है। उनकी अपने राष्ट्रीय ध्वज के उत्तरोत्तर उत्कर्ष की मंगल कामना द्रष्टव्य है –

और भी ऊँचा उठे, फहरे समूचे देश पर यह,

खेत–खलिहानों, मिलों पर झूमता हो,

कह रहा है – यह तुम्हारे खेत है–अब

अन्न दो – भूखा न कोई देश में हो।

7. मानवतावाद :

दलित, शोषित और मज़दूर वर्ग के पक्ष में खड़ा होकर कवि बृहद् मानवीय दृष्टिकोण को ही उजागर करता है। प्रगतिशील कवि ने भी कर्म का सन्देश सुनाया है, उठते हुए व्यक्ति को उठाया और मानवता की अपरिमित शक्ति में विश्वास प्रकट किया है। यह विश्वास यहाँ तक बढ़ गया है कि ईश्वर का अस्तित्व भी सन्देहास्पद हो गया हैं –

जिसे तुम कहते हो भगवान्

जो बरसाता है जीवन में

रोग शोक दुख दैन्य अपार

उसे सुनाने चले पुकार ?

प्रगतिवादी मानव को संसार की सर्वोत्कृष्ट रचना मानते हैं। वे उसकी अपरिमित शक्ति, अदम्य साहस और अटूट लगन के सदैव गान गाते हैं। उनकी दृष्टि में ईश्वर अथवा भाग्य का जीवन में कोई स्थान नहीं है। पुरुषार्थ के द्वारा हर असम्भव को सम्भव बनाना मनुष्य की अपराजेय शक्ति और सामर्थ्य में है। महेन्द्र भटनागर कहते हैं –

'सामने तूफान है, पर बड़ा इन्सान है,

पैर से जिसने मिटा दी, संकटों की सृष्टि सारी।'

8. नारी के प्रति यथार्थ दृष्टि :

प्रगतिवादियों ने स्त्री पुरुष को समान दृष्टि से देखा है। नारी को कोमलांगी न मानकर खेत–खलियानों में कार्य करने वाली स्वस्थ कृषक–बाला के रूप में देखते हैं।

24.5.2 प्रगतिवादी काव्य का शिल्पगत पक्ष

जनवादी चेतना को अभिव्यक्ति देने के लिए प्रगतिवादी कवियों ने जनभाषा को माध्यम बनाया। छायावादी काव्यभाषा अत्यधिक सूक्ष्म, सांकेतिक, ध्वन्यात्मक व प्रतीकात्मक होने के कारण जनसाधारण की पहुँच व समझ से परे हो गई थी इसी कारण प्रगतिवादी कवियों ने सर्व–सामान्य लोगों की भाषा को काव्य–भाषा के रूप में स्वीकार किया है, बताया है कि काव्य रचना इस भाषा में संभव है। इसी कारण अब प्रतीक, रूपक, उपमाएँ सब कुछ बदल गये। जिन वस्तुओं का सम्बन्ध ही जिंदगी से नहीं है; उसे इन्होंने हटा दिया। निराला द्वारा प्रकाशित मुक्तछन्द को इन्होंने अपनाया। प्रगतिवाद की अधिकतर रचनाएँ मुक्तछन्द की ही हैं।

छन्द की दृष्टि से प्रगतिवादी कवियों ने बहुत प्रगति की है। उन्होंने जनगीत एवं लोकगीतों की शैली अपनाकर नई धुनों का सृजन किया है। उन्होंने भोजपुरी और राजस्थानी बोली में

बड़ी मार्मिक कविताओं की रचना की है। वस्तुतः प्रगतिशील कवि का लक्ष्य भाषा को सरल, सुबोध और भावाभिव्यंजना के योग्य बनाना है। छन्द की गति, लय, भाषा का सारल्य एवं शब्दों की योजना बड़ी स्वाभाविक एवं चित्रोपम है, तथा भावों की अपूर्व प्रेषणीयता लिए हुए है। पंत की पंक्तियाँ हैं –

खुल गये छन्द के बन्ध, प्रयास के रजत पाश,

अब गीत मुक्त औ, युगवादी बहती आयास।

प्रगतिवादी कवियों ने कला की बजाय प्रेषणीयता पर ध्यान दिया।

24.6 प्रगतिवाद की उपलब्धि और सीमाएं

इस काव्यधारा ने आधुनिक हिन्दी कविता की विषय वस्तु, भाषा और शिल्प के क्षेत्र में महत्वपूर्ण बदलाव किए हैं। कविता को जमीन से जोड़े रखा। अनुभूति का एक विशाल और नया क्षेत्र हिन्दी कविता को उपलब्ध हो सका। दलित और शोषित वर्ग की मूल वाणी को प्रखर यथार्थ से अभिव्यक्ति दी गई। सच कहा जाए तो सामाजिक यथार्थवादी दृष्टि इस आन्दोलन के कारण ही प्राप्त हुई। इस दृष्टि का प्रभाव अद्यतन साहित्य में विद्यमान है। काव्य भाषा को जनभाषा के निकट ला खड़ा किया। जनवादी चेतना की भाषा इस युग से ही विकसित होने लगती है।

किन्तु इस काव्यधारा की महत्ता के साथ कुछ इसकी सीमाएँ भी जुड़ी हुई हैं। वस्तुतः प्रगतिवादी काव्य धीरे–धीरे साम्यवाद का प्रचारक होने लगा था। सिर्फ शोषक और शोषितों की अभिव्यक्ति, वर्गसंघर्ष के कारण विषयगत संकीर्णता लाने लगी थी। इन्हीं विषयों की पुनरावृत्ति होने लगी और कला पक्ष पीछे छूट गया। केवल समाज निष्ठता के कारण व्यक्ति की चेतना व सत्ता का महत्व कमतर हो गया और इन्हीं सीमाओं के कारण 'प्रयोगवाद' सामने आया।

24.7 सारांश :

वस्तुतः प्रगति का अर्थ ही 'उन्नति', 'आगे बढ़ना', जो व्यवस्था है उसमें परिवर्तन उपस्थित करना। आधुनिक कविता में प्रगतिवाद का अर्थ ऐसा काव्य जो परिवर्तन की ओर अग्रसर करता है और जीवन में गतिशीलता ला देता है। 'सामाजिक यथार्थवाद' प्रगतिवाद का मूल स्वर है। प्रगतिवाद का दार्शनिक आधार मार्क्सवाद है। साहित्य प्रगति का शक्तिशाली साधन या अस्त्र है जो मात्र धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष अथवा मनोरंजन के उद्देश्य से ही नहीं लिखा जाता अपितु वर्ग संघर्ष को सामने रख वर्ग विहीन समाज की स्थापना का भी लक्ष्य रखता है। प्रगतिवादी काव्यधारा ने इसी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर काव्य रचना की। प्रगतिवाद में शोषण, अन्याय, अत्याचार, सामाजिक भेदभाव का विरोध किया। जनवादी भावनाओं को जनभाषा में अभिव्यक्ति दी और वर्गहीन समाज की व्यवस्था के लिए क्रान्ति का आह्वान किया।

24.8 अभ्यासार्थ प्रश्न :

1. 'प्रगति' से क्या तात्पर्य है ? प्रगतिवादी कविता के स्वरूप और विकास का वर्णन कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

2. प्रगतिवादी काव्यधारा की पृष्ठभूमि का उल्लेख कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

. प्रगतिशील चेतना का स्वर 'छायावाद' में किस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है ? वर्णन कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

4. प्रगतिवादी काव्यधारा की प्रमुख प्रवृत्तियों का सोदाहरण विश्लेषण कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

5. 'राजनीति में जो साम्यवाद है, साहित्य में वही प्रगतिवाद है।' इस कथन की विवेचना कीजिए।

_____

_____

_____

6. प्रगतिवाद पूर्ववर्ती छायावाद के भाव और शिल्प बोध से किस प्रकार भिन्न है ? वर्णन कीजिए।

7. टिप्पणी लिखिए –

(1) केदारनाथ अग्रवाल और उनका काव्य।

(2) प्रगतिशील कवि शिवमंगल सिंह सुमन।

(3) प्रगतिवाद की उपलब्धियाँ।

(4) डॉ. रांगेयराघव का प्रगतिवादी काव्य में योगदान।

24.9 संदर्भ ग्रन्थ

1. गणपति चन्द्रगुप्त – हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004
2. डॉ. रामविलास शर्मा – प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 1954
3. रेखा अवस्थी – प्रगतिवाद और समान्तर साहित्य, द मैकलिन कम्पनी ऑफ इण्डिया लि., नई दिल्ली, 1978
4. डॉ. रामविलास शर्मा – प्रगति और परम्परा, किताब महल, इलाहाबाद, 1949
5. डॉ. रामसजन पाण्डेय – हिन्दी साहित्य का इतिहास, संजय प्रकाशन, दिल्ली 2004

प्रयोगवाद

इकाई की रूपरेखा

25.0 उद्देश्य

25.1 प्रस्तावना

25.2 प्रयोगवाद की पृष्ठभूमि

25.3 प्रयोगवाद की सीमा रेखा अर्थ व स्वरूप

25.4 प्रमुख प्रयोगवादी कवि

25.5 प्रयोगवाद की प्रवृत्तियाँ

25.5.1 संवेदनागत पक्ष

25.5.2 शिल्पगत पक्ष

25.6 प्रयोगवाद एवं नयी कविता

25.7 सारांश

25.8 अभ्यास प्रश्न

25.9 संदर्भ ग्रंथ

25.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययनोपरांत आप

* प्रयोगवाद की पृष्ठभूमि को समझ सकेंगें।
* प्रयोग की प्रवृत्ति, प्रयोगवाद की सीमा रेखा व स्वरूप को समझ सकेंगे।

* तारसप्तक के प्रमुख कवियों और उनकी रचनाओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

* प्रयोगवादी काव्यधारा की संवेदना और शिल्प का विश्लेषण कर सकेंगे।

* प्रयोगवाद और नयी कविता का सम्बन्ध जान सकेंगे।

25.1 प्रस्तावना

यह सत्य है कि युग बदलता है तो जीवन और जगत के सम्बन्ध में मानदण्ड भी बदलते हैं, यही नियम प्रयोगवाद पर भी लागू होता है। यहाँ पर भी साहित्य सौंदर्य की अभिव्यक्ति के मानदण्ड बदले हैं। छायावाद की मानवीय कल्पना और शब्द विन्यास की कोमलता के कारण जो अनुभूतियाँ अर्धव्यक्त थीं, उन्हें सामाजिक भूमिका पर प्रगतिवाद ने पूर्ण व्यक्त बनाने का श्रम उठाया, परन्तु इस श्रम के परिणामस्वरूप हिन्दी कविता को मार्क्सवाद के सिद्धांतों का भी बोझ उठाना पड़ा। नतीजा यह निकला कि कविता विज्ञापनी होती गयी और जब कविता विज्ञापनी हो जाती है तो कलाशिल्प की चिन्ता भी स्वतः ही छूट जाती है। अतः कविता को कलात्मक सौष्ठव और स्वस्थ सामाजिकता प्रदान करने के लिए एक नवीन काव्यधारा 'प्रयोगवाद' का उदय हुआ।

स्वयं अज्ञेय इस काव्य धारा को वाद की संज्ञा से अभिहित करने के पक्ष में नहीं है और इसे प्रयोगशील काव्य के नाम से पुकारते हैं, इस शब्द से काव्य के संवेदना व शिल्प पक्ष के अंतर्गत नवीन प्रयोगों का होना लक्षित होता है। यह सत्य है कि श्रेष्ठ कलाकर अपने व्यक्तित्व की छाप एवं मौलिकता के द्वारा नवीन प्रवृत्तियों का विकास करते हैं। प्रयोगवाद नाम भी साहित्य के इतिहास में रूढ़ होने के कारण ही ग्राह्य हो सका और अब यह एक निश्चित प्रवृत्ति मूलक काव्य का भी बोध कराता है। प्रयोगवाद अन्त में अपने सभी विरोधाभासों को दरकिनार करते हुए नव–जीवन के नवीन विश्लेषण की ओर उन्मुख होकर नयी कविता में विलीन हो गया।

25.2 प्रयोगवाद की पृष्ठभूमि

साहित्य में प्रयोगवाद की प्रवृत्ति के उदय के मूल में क्या परिस्थितियाँ रही हैं इसकी जानकारी आवश्यक है। प्रगतिवाद का आंदोलन राष्ट्रीय स्वाधीनता के संघर्ष से घनिष्ठ रूप में जुड़ा हुआ था, लेकिन जब आज़ादी हासिल हो गई तो मध्यवर्ग के सम्मुख कोई ऐसा आदर्श नहीं रहा जो उन्हें किसी बाह्य सामाजिक आदर्श से जोड़ पाता। देश के नव निर्माण ने उनमें नवीन आकांक्षाओं को जगाया। सामूहिकता की भावना के शिथिल पड़ जाने के साथ व्यक्तिवाद ने जोर पकड़ना शुरू किया। दूसरी ओर विश्व पैमाने पर अमरीका के नेतृत्व में साम्राज्यवादी शिविर और सोवियत संघ के नेतृत्व में समाजवादी शिविर के बीच बढ़ते तनाव ने भी लेखकों व बुद्धिजीवियों के एक बड़े हिस्से को प्रभावित किया।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद साम्राज्यवादी देशों ने कम्युनिस्ट देशों और मार्क्सवादी विचारधारा के विरूद्ध प्रचार किया। इस प्रचार ने लेखकों व बुद्धिजीवियों को प्रभावित किया। इस बात को प्रमुखता दी जाने लगी कि व्यक्ति की स्वतंत्रता ही सर्वोत्तम मूल्य है। साम्यवाद व्यक्ति की स्वतंत्रता का अपहरण करता है। समाजवादी

देशों में व्यक्ति को कोई स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है। वहाँ लोकतंत्र व मानव मूल्य सुरक्षित नहीं है। प्रयोगवाद के उदय में इन परिस्थितियों ने भी अपनी भूमिका निभाई है। इस विराट् परिवर्तन का साहित्य किसी एक विचारधारा से उत्पन्न नहीं हो सकता था न मार्क्सवाद से, न गान्धीवाद से, न मनोविज्ञान से, न अन्य किसी धारणा से। द्वितीय विश्वयुद्ध में छिन्न–भिन्न हुए कई योरोपीय देशों के जीवन की उथल–पुथल भी हिन्दी साहित्यकार के सामने थी। ये सब ऐसी घटनाएँ हैं, जिनके कारण 1943 के लगभग हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक ऐसा युग आरंभ होता है, जिसमें सब कुछ बदला हुआ, सब कुछ नया या नये की तलाश में नज़र आता है।

25.3 प्रयोगवाद की सीमा–रेखा, अर्थ व स्वरूप :–

प्रयोगवाद की सीमा–रेखा को सन् 1943 से 1953 तक स्वीकार किया जा सकता है। सन् 1947 में अज्ञेय के संपादन में ''प्रतीक'' नामक साहित्यिक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ हुआ तथा इस पत्रिका में प्रकाशित होने वाली कविताओं को प्रयोगवादी कहा जाने लगा। इसके बाद से लगातार प्रयोगवाद की चर्चा होती रही यद्यपि अज्ञेय ने दूसरा सप्तक (1953) की भूमिका में प्रयोग के वाद से इन्कार किया, इसके बावजूद यह शब्द रूढ़ हो गया। इस प्रकार यह मत भी रखा गया है कि प्रयोगवाद का आरंभ ''तार सप्तक'' (1943) से नहीं बल्कि ''प्रतीक'' (1947) के प्रकाशन से माना जा सकता है, स्पष्ट है कि प्रयोगवाद एक ऐसी साहित्यिक धारा को दिया गया नाम है जिसने स्थापित मान्यताओं को पुनर्परीक्षित करके नये प्रयोग किये। वस्तुतः नये प्रयोगों के माध्यम से प्रयोगवाद साहित्य में क्रांति लेकर आयी नयी काव्यधारा थी। सन् 1943 में प्रकाशित तारसप्तक, 1953 में प्रकाशित दूसरा सप्तक प्रयोगवाद के प्रमुख संग्रह हैं। तारसप्तक में मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र, भारत भूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर ,रामविलास शर्मा और अज्ञेय की कविताओं को स्थान प्राप्त है तो दूसरे सप्तक में भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, नरेश मेहता, रघुवीर सहाय और भारती की कविताओं को स्थान मिला है। इन दोनों सप्तकों के अतिरिक्त प्रतीक और पाटल जैसी पत्रिकाओं ने भी प्रयोगवाद को काफी बढ़ावा दिया। नकेन (नरेश, केसरी कुमार और नलिन विलोचन) के प्रपद्यवाद के 10 सूत्री कार्यक्रम से भी प्रयोगवाद को बल मिला।

'प्रयोगवाद' के अर्थ निर्धारण का प्रयास अनेक समीक्षकों ने किया है। इस सम्बन्ध में कई ऐसी मान्यताएँ जिससे प्रयोगवाद और उनके अर्थ को समझने में सहायता मिल सकती है। इस क्रम में पहला मत लक्ष्मीकान्त वर्मा का है, उन्होंने लिखा है कि ''प्रयोगवाद ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ने की बौद्धिक जागरूकता है। यह जागरूकता व्यक्ति–सत्य और व्यापक सत्य के स्तरों पर व्यक्ति की अनुभूति की सार्थकता को भी महत्वपूर्ण मानती है। प्रयोगवाद व्यक्ति–अनुभूति की शक्ति को मानते हुए समष्टि की सम्पूर्णता तक पहुँचने का प्रयास है। प्रयोगवाद एक ओर व्यष्टि अनुभूति का समष्टि अनुभूति तक उत्सर्ग करने का प्रयास है तो दूसरी ओर से रूढ़ि का विरोधी और अन्वेषण का समर्थक भी है।'' उधर डॉ. धर्मवीर भारती का विचार है कि ''प्रयोगवादी कविता में भावना है, किन्तु हर भावना के आगे एक प्रश्नचिन्ह लगा हुआ है। इसी प्रश्नचिन्ह को आप बौद्धिकता कह सकते हैं।''

श्री गिरिजाकुमार माथुर ने प्रयोगवाद के सम्बन्ध में लिखा है कि ''प्रयोगों का लक्ष्य है व्यापक सामाजिक

सत्य के खण्ड अनुभवों का साधारणीकरण करने में कविता को नवानुकूल माध्यम देना जिसमें व्यक्ति द्वारा इस व्यापक सत्य का सर्वबोधगम्य प्रेषण सम्भव हो सके।''

इस सम्बन्ध में डॉ. देवराज ने लिखा है कि ''पुरानी कविता रूढ़िग्रस्त और अरोचक हो उठी थी, दूसरे काव्य भाषा को जनभाषा के निकट लाना था अथवा काव्यगत निबद्ध अनुभूति को जनजीवन के सम्पर्क में लाना था, अतः बदलते हुए जीवन की नयी संभावनाओं के उद्‌घाटन के लिए अथवा नये मूल्यों की प्रतिष्ठा व नवीन प्रयोग करने के लिए प्रयोगवाद का जन्म हुआ।''

प्रयोगवाद को अज्ञेय प्रयोगशील कहना अधिक सार्थक मानते हैं, और कहते हैं कि प्रयोगवादी कवि किसी स्कूल के नहीं हैं अभी राही भी नहीं वरन् राहों के अन्वेषी हैं। युगीन संदर्भ, स्थापित मान्यताओं की जकड़, विज्ञान द्वारा प्रदत्त बौद्धिकता, वैयक्तिकता के प्रति आग्रह, व्यक्तित्व का विघटन, जीवन की विविध जटिलताएँ, जीवन–व्यापी निराशा और पराजय से उत्पन्न अतृप्तियाँ, विश्व के रंगमंच पर पल–पल घटित होने वाले राजनैतिक और सांस्कृतिक परिवर्तन, छायावाद की धूमिल अभिव्यक्ति तथा प्रगतिवाद की राजनैतिक मतवादिता व मार्क्सीय दृष्टि के कारण नये की उपलब्धि के प्रयास में प्रयोगवाद का विकास हुआ। यही कारण है कि इस धारा के कवियों ने अपनी कविताओं के द्वारा वही सब कुछ प्रयास किया है जो इन्होंने भोगा और अनुभव किया है। जीवन के कटु से कटुतम और भयंकर से भयंकरतम व यथार्थ से अतियथार्थ तक भोगे हुए क्षणों का अंकन प्रयोगवाद में मिलता है।

25.4 प्रमुख प्रयोगवादी कवि

प्रयोगवाद के प्रमुख कवियों में तारसप्तक के सभी कवियों को लिया जा सकता है। यद्यपि इन सातों में कुछ ऐसे भी हैं जो प्रगतिवाद के साथ भी जुड़े हुए हैं। ऐसे कवियों में रामविलास शर्मा, नेमिचन्द्र जैन आदि प्रमुख हैं। हाँ, ये सभी कवि प्रायः मध्यवर्ग के ही हैं जिन्होंने अपने मध्यवर्गीय समाज के व्यक्ति के सत्य को प्रेषित किया है। ऐसी स्थिति में यह कहना अधिक उचित प्रतीत होता है कि इस धारा के कवियों में ह्रासोन्मुख मध्यवर्गीय समाज के जीवन का चित्र प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति ही अधिक स्पष्ट रही है।

1. अज्ञेय

कवि अज्ञेय प्रयोगवाद के प्रवर्तक और नयी कविता के सूत्रधार माने जाते हैं। उनकी प्रमुख काव्य कृतियाँ – **भग्नदूत, चिन्ता, इत्यलम्, सावन मेघ, हरी घास पर क्षण भर, बावरा अहेरी, इन्द्रधनुष रौंदे हुए ये, आँगन के पार द्वार, अरी ओ करुणा प्रभा–मय, कितनी नावों में कितनी बार, सागर–मुद्रा, क्योंकि मैं उसे जानता हूँ तथा पहले सन्नाटा बुनता हूँ**इत्यादि हैं। अज्ञेय जी ने कविता के साथ–साथ कहानी, उपन्यास, आलोचना, निबन्ध, यात्रा–वृत्त, संस्मरण आदि कई विधाओं में श्रेष्ठ रचनाएँ लिखीं और नई पीढ़ी को ही नहीं, अपने समवर्ती नए–पुराने साहित्यकारों को भी नए शिल्प एवं नई दृष्टि से साहित्य–रचना की प्रेरणा दी।

अज्ञेय जी आरंभ में छायावादी प्रवृत्ति की कविताएँ लिखते थे, फिर गाँधीवाद और प्रगतिवाद से भी प्रभावित रहे। वे 1943 ई. से प्रयोगवाद और 1950 के पश्चात् नई कविता के प्रतिष्ठापक कवि बन

गए थे, जिसके फलस्वरूप तारसप्तक, दूसरा सप्तक तथा तीसरा सप्तक उनके सम्पादन में प्रकाशित हुए। अपने भावों को व्यक्त करने के लिए अज्ञेय जी शिल्प को निरन्तर माँजते–तराशते चलते हैं। बिम्ब–विधान, प्रतीक और मिथक उनकी काव्य–शैली का अभिन्न अंग बन गए हैं। भाषा का अभिनव संस्कार कवि अज्ञेय ने दिया है। इसके अतिरिक्त अभिव्यक्ति के स्थान पर अनुभूति और संप्रेषण को महत्व, व्यष्टि – समष्टि द्वन्द्व की सार्थक अभिव्यक्ति, लघु कविता की स्थापना और वृहत् मानव के स्थान पर आम आदमी की प्रतिष्ठा कवि अज्ञेय ने की है।

2. रामविलास शर्मा

रामविलास शर्मा तारसप्तक प्रथम के संकलित कवि हैं। तारसप्तक में उनकी **''कार्यक्षेत्र''**, **''कवि''**, **''चाँदनी''**, **''प्रत्यूष के पर्व''**, **''केतकी''**, **''शारदीय''**, **''सिलहार''**, **''दिवा स्वप्न''**, **''दाराशिकोह''**, **''गुरुदेव की पूर्णिमा''**, **''जल्लाद की मौत''**, **''सत्यं शिवं सुन्दरं''**, **''विश्व शांति''**, **''कलियुग''**, **''परिणति''**, **''तूफान के समय''** आदि कविताएँ संकलित हैं। रामविलास शर्मा मूलतः आलोचक हैं। शर्मा की कविताओं में मोहभंग व प्रणय की प्रयोगवादी अनुभूतियाँ नहीं हैं।

रामविलास शर्मा की कविताओं की स्पष्टतः दो दिशाएँ परिलक्षित होती हैं – प्रकृति चित्रण व सर्वहारा वर्ग की अनुभूतियों का आकलन। अज्ञेय की प्रयोगशीलता की आवाज पर उन्होंने कतिपय प्रयोगवादी कविताएँ भी लिखी हैं जिसमें ''सत्यं शिवं सुन्दरं'' प्रमुख हैं।

3. गिरिजाकुमार माथुर (सन् 1918–1994)

गिरिजाकुमार माथुर की काव्य कृतियां हैं – **'मंजीर'**, **'नाश' व निर्माण, 'धूप के दान'**, **'जनम कैद (श्रव्य नाटक संग्रह)'**, **'शिलापंख चमकीले'**, **'जो बँध नहीं सका'** और अन्त में है उनकी प्रौढ़ रचना – **'भीतरी नदी की पाल'**। इनके समूचे सृजन से उनके काव्य के विविध स्वरों को सुना जा सकता है। वे मूलतः सौन्दर्य, प्रेम तथा प्रेम से प्रसूत पीड़ा, विषाद व अवसाद के कवि है। परन्तु बाद में कटु यथार्थ व युगीन परिवेश अपनी वास्तविकता के साथ इनके काव्य में व्यक्त हुआ।

4. भारतभूषण अग्रवाल

अज्ञेय के समकालीन कवि भारतभूषण अग्रवाल 'तारसप्तक' के प्रकाशित होने से प्रसिद्ध हुए। भारतभूषण अग्रवाल की प्रमुख काव्य कृतियाँ हैं – **'कवि काव्य बन्धन'**, **'जागते रहो'**, **'मुक्तिमार्ग'**, **'हाथरस'**, **'कागज के फूल'**, **'उतना वह सूरज'** आदि। 'उतना वह सूरज', काव्य संग्रह के लिए इन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया जा चुका है। **'सेतुबन्ध' व 'अग्निलीक'** इनके दो काव्य नाटक भी हैं। इनके काव्य की विषयवस्तु का ज्ञान हमें इनके विभिन्न काव्य संग्रहों के अध्ययन विवेचन से प्राप्त होता है। प्रेम, राजनीति, युगबोध सम्बन्धी व्यंग्यात्मकता, प्रतीकात्मकता, प्रकृति चित्रण आदि विषय इनकी कविताओं में आए हैं ।

5. नेमिचन्द्र जैन

नेमिचन्द्र जैन भी अज्ञेय के समकालीन सहधर्मी कवि हैं । यद्यपि इन्होंने काव्यसृजन अधिक नहीं किया परन्तु इनकी जो भी कविताएँ हैं वे आधुनिक बोध से सम्बद्ध है तथा इनमें आधुनिक संक्रांति से मुक्त होने की तीव्र अभिलाषा निबद्ध है। वे आधुनिक युग को संघर्षों का युग मानते हैं। यह संघर्ष व्यक्तित्व के जहाँ टुकड़े–टुकड़े कर देता है, वहाँ वह व्यक्ति के चिन्तन को विरोधाभासों और अन्तर्द्वन्द्वों से भी भर देता है। आधुनिक युग विरोधाभासों का युग है। आज बुद्धि और हृदय, आदर्श व व्यवहार, विवेक व कर्म परस्पर पूरक न होकर विरोधी हो गए हैं।

तारसप्तक के अतिरिक्त उनका 'एकान्त' कविता संग्रह है। **'कवि गाता है', 'डूबती सन्ध्या', 'अनजाने चुपचाप', 'इस क्षण में', 'धूल भरी दोपहरी', 'आगे गहन अंधेरा है', 'क्या भाषा', 'जिन्दगी की राह', 'व्यथ व उन्मुक्त'** आदि इनकी महत्वपूर्ण कविताएँ हैं।

6. प्रभाकर माचवे

प्रभाकर माचवे 'तारसप्तक' के तार्किक कवि हैं। 'तारसप्तक' में संकलित कविताओं से कवि का वैचित्र्य प्रेम प्रकट होता है। उनकी चमत्कारप्रियता कला व वस्तु दोनों पक्षों से सम्बन्धित है। माचवे की कविताओं में रोमांस (प्रणय) व यथार्थ दोनों का संयोजन देखा जा सकता है। माचवे का कथन है – ''कवितागत रोमांस और यथार्थ एक ही कोण की दो भुजाएँ है। रोमांस स्वस्थ मन का भावनात्मक रूख है, यथार्थ उसी की बुद्धिगत परिकल्पना।''

'स्वप्न भंग', 'अनुरक्षण' तथा 'तेल की पकौड़ियाँ' माचवे के ये तीन काव्य संग्रह हैं 'सानेट' तथा 'कापालिक कविता' में कवि की रोमानी भावनाएँ प्रवाहित हुई हैं।

7. गजानन माधव मुक्तिबोध

अपनी पूरी पीढ़ी में मुक्तिबोध का व्यक्तित्व विशिष्ट है। इस पीढ़ी और परवर्ती पीढ़ी के लगभग सारे महत्वपूर्ण कवि (अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, शमशेर, भारती आदि) रूमानी कविता से हटकर नया प्रयोग करने का प्रयत्न करते हुए भी रूमानी संवेदना और भाषा से मुक्त नहीं हो सके, किन्तु मुक्तिबोध एक ऐसे कवि हैं जिनका अनुभव जगत बहुत व्यापक है, जो अपने परिवेश के जीवन से बहुत गहन भाव से जुड़े हुए हैं। उनकी प्रगतिवादी दृष्टि परिवेश–बोध, सामाजिक चिन्तन और अनुभव–वैविध्य की ओर बल देती है। अतः कहा जा सकता है कि बाद में जीवन के बहुविध छवि को लेकर विकसित होने वाली नयी कविता के अग्रज कवि सच्चे अर्थों में मुक्तिबोध ही हैं। **'चाँद का मुँह टेढ़ा है'** मुक्तिबोध का काव्य संकलन उनकी रचनाधर्मिता का खुला दस्तावेज है। मुक्तिबोध की प्रारम्भिक रचनाओं में व्यक्तिपरकता छायावादी प्रभाव के कारण आई है।

8. शमशेर बहादुर सिंह

शमशेर एक भावुक कल्पनाशील कवि हैं। उनकी कविता में वस्तुपरक सामाजिक चेतना भी पर्याप्त

है। एक ओर वे प्रणय–जीवन के कोमल चित्र प्रस्तुत करते हैं, तो दूसरी ओर मध्यवर्गीय किसान–मज़दूरों के जीवन–चित्र। एक ओर उनमें सौन्दर्यवादी–रूपवादी रूझान है तो दूसरी ओर उन पर मार्क्सवादी–प्रगतिवादी प्रभाव। एक ओर उनमें प्रेमाकुलता, निराशा और अवसाद है तो दूसरी ओर मामूली आदमी के प्रति सहानुभूति। **''कुछ कविताएँ (1959), कुछ और कविताएँ (1960), शमशेर (1971), चुका भी हूँ नहीं मैं, इतने पास अपने, उदिता**आदि आपकी काव्य–पुस्तकें हैं।''

9. नरेश मेहता

नरेश मेहता दूसरे सप्तक के कवि एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। विषय और शिल्प दोनों में ही मेहता जी ने नए–नए प्रयोग किए हैं। उन्होंने प्रबन्ध और मुक्तक दोनों प्रकार की कविताएँ लिखी हैं। देश–प्रेम, प्रकृति, पौराणिक संदर्भ, समाज की समकालीन समस्याएँ आदि को मेहता जी ने नयी कविता के विषय बनाकर प्रौढ़ता प्रदान की है। **वनपाखी सुनो, बोलने दो चीड़ को, संशय की एक रात, मेरा समर्पित एकांत, महाप्रस्थान, प्रवाद–पर्व** आदि प्रमुख काव्य–कृतियाँ हैं। 'संशय की एक रात' उनका लोकप्रिय प्रबन्ध–काव्य है, जिसमें वे भगवान राम के चरित्र को नयी दृष्टि से प्रस्तुत करते हैं।

10. धर्मवीर भारती

अज्ञेय की प्रयोगवादी धारा के प्रमुख कवि माने जाते हैं। **'अन्धायुग', 'ठंडा लोहा', सात गीत–वर्ष** और **कनुप्रिया** प्रकाशित काव्य ग्रंथ हैं। आरंभिक कविताओं में आप छायावादी भावुकता से प्रभावित थे, किन्तु धीरे–धीरे आप लोक–परिवेश से भी जुड़ते गए। आपकी नयी कविताओं में भी नाट्य–तत्व तथा गीतात्मकता का समावेश रहता है। भारती जी ने कविता के अलावा कहानियाँ, उपन्यास, नाटक तथा आलोचनाएँ भी लिखी हैं। ''सूरज का सातवाँ घोड़ा'' आपकी प्रसिद्ध कथा–कृति है।

इसके अतिरिक्त सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, शिवमंगलसिंह सुमन आदि प्रमुख कवियों का नाम उल्लेखनीय है। ये सभी कवि अपनी काव्य रचनाओं के माध्यम से प्रयोगवाद को पार करते हुए नयी कविता के पड़ाव तक सफलतापूर्वक पहुंचे।

25.5 प्रयोगवाद की प्रवृत्तियाँ

'प्रयोगवाद' के अर्थ, स्वरूप और महत्त्व व प्रेरक तत्वों के इस निरूपण में उसकी कतिपय विशेषताएँ भी स्वतः ही आ गयी हैं, फिर भी कुछ अन्य विशेषताएँ भी ऐसी हैं जो अलग से विवेचन की अपेक्षा रखती हैं। उन्हीं का संक्षिप्त विवेचन आगे किया जा रहा है।

25.5.1. संवेदनागत पक्ष

1. वैयक्तिकता

वैयक्तिकता छायावाद में भी थी, किन्तु प्रयोगवाद में यह चरम सीमा पर है और इसका कारण विशिष्टीकरण की प्रक्रिया है। छायावादियों की वैयक्तिकता जितनी रंगीन, स्वप्निल और मनोहर भावुकता से रंजित थी, वहीं प्रयोगवादियों पर यह आरोप है कि उनकी वैयक्तिकता एकदम शुष्क, पत्रडंठलविहीन और रमणीयता हीन है। प्रयोगवादी कविता में दमित वासना की अधिक अभिव्यक्ति है।

प्रयोगवादी कवियों ने व्यक्ति के एकांत महत्व पर विशेष बल दिया है। ''नदी के द्वीप'' कविता में अज्ञेय ने व्यक्ति और समाज के संबंधों पर विचार किया है। उसके अनुसार व्यक्ति दीप के समान है जो काल रूपी नदी के बीच दृढ़ता से अवस्थित रहता है जो समाज रूपी भूखंड की तरह नदी को गंदला नहीं करता। ''नदी के द्वीप'' कविता में व्यक्ति और समाज अलग–अलग हैं। उनकी अन्य कविताओं में भी व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व पर बल दिया गया है।

व्यक्ति की स्वतंत्रता के प्रति यह आग्रह मध्यवर्ग की मानसिकता की अभिव्यक्ति है जो वैयक्तिक असंतोष से उपजी है। छायावाद में भी मध्यवर्ग का ही व्यक्ति केन्द्र में था। परन्तु वहाँ उसकी चेतना उर्ध्वमुखी थी, वह आत्म–विकास की ओर अग्रसर थी, उसकी व्यक्ति चेतना सामंती रूढ़ियों और बंधनों से मुक्त होना चाहती थी। प्रगतिवाद ने इस मध्य वर्ग के व्यक्ति को समाज से और सामूहिक चेतना से जोड़ा। इसके कारण मध्यवर्ग में व्यक्तिवादिता का उदय नहीं हुआ। परंतु प्रयोगवादी दौर में मध्यवर्ग का असंतोष सामाजिक धरातल पर व्यक्त होने की बजाय वैयक्तिक धरातल पर व्यक्त हुआ। समाज में कटा हुआ व्यक्ति केवल दर्द को व्यक्त करने लगा। आशा और विश्वास की जगह निराशा और अनास्था ने ले ली। इस प्रकार प्रयोगवादी कविता में व्यक्ति की भावनाएँ ही प्रमुख होती चली गयीं।

2. सत्य के लिए निरंतर अन्वेषण

डॉ. नामवर ने ''सत्य के लिए निरंतर अन्वेषण को'' प्रयोगवाद की दूसरी विशेषता माना है। जब एक बार प्रयोगवादी कवि ने परम्परावादी विचारधारा से अपने को अलग कर लिया तब सत्य को जानने के निरंतर अन्वेषण आवश्यक हो गए। अज्ञेय ने ''दूसरा सप्तक'' की भूमिका में कहा था, 'प्रयोग दोहरा साधन है, क्योंकि एक तो वह सत्य को जानने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है उसके साधनों को जानने का भी साधन है अर्थात् प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकता है। प्रयोगशीलता की पहचान इसी प्रवृत्ति में अंतर्निहित है।

3. यथार्थ–दृष्टि

प्रयोगवाद ने प्रयोगातिशयता के कारण वर्ण्य विषयों व वार्ता–प्रसंगों को भी यथार्थवाद के नाम पर अभिव्यक्त किया। इसी अतियथार्थवादी प्रवृत्ति के कारण पंत ने लिखा है कि ''प्रयोगवाद की निर्झरिणी कल–कल छल–छल करती हुई फ्रायडवाद से प्रभावित होकर स्वप्निल फेनिल स्वर संगीतहीन भावनाओं की लहरियों से मुखरित उपचेतन–अवचेतन की रूद्ध–क्रुद्ध ग्रंथियों को मुक्त

करती हुई, दमित कुंठित वासनाओं को वाणी देती हुई लोक–चेतना के स्त्रोत में नदी के द्वीप की तरह प्रकट होकर अपने पृथक् अस्तित्व पर अड़ गयी है।''

जीवन के यथार्थ को रंगीन मोहक और भावमय रूप में प्रस्तुत करने की बजाए प्रयोगवाद ने सहज और साधारण रूप से प्रस्तुत किया। यद्यपि प्रयोगवादी कवि की जीवानुभूति बहुत सीमित थी परन्तु यह सीमित अनुभव यथार्थपरक रूप से ही व्यक्त हुआ है।

4. विद्रोह का स्वर

हम जानते हैं कि मध्य वर्ग ने ही विद्रोह किया और इसी को प्रकट करने के लिए तीव्र उद्‌गार व्यक्त किए। सामाजिक परिस्थिति की उलझन का जो स्वर 'कुकुरमुत्ता' में मुखरित हुआ था, वह आज भी विद्यमान है। अज्ञेय की कविता में आततायी सामाजिक परिवेश को चुनौती है –

ठहर, ठहर आततायी! जरा सुन ले।

मेरे क्रुद्ध वीर्य की पुकार आज सुन जा।।

साहित्यिक परम्परा के प्रति भी यह विद्रोह की भावना बड़ी व्यापक है। अजितकुमार की 'कवियों का विद्रोह' शीर्षक कविता प्रयोगवादी साहित्यिक परम्परा के विद्रोह की प्रवृत्ति का बड़ा सुन्दर रूप प्रस्तुत करती है –

''चाँदनी चन्दन सदृश'

हम क्यों लिखें ?

मुख हमें कमलों सरीखे क्यों दिखें।

हम लिखेंगे :

चाँदनी उस रूपए सी है कि जिसमें

चमक है पर खनक गायब है।

हम कहेंगे जोर से :

मुँह घर–अजायब हैं

जहाँ पर बेतुके, अनमोल, जिन्दा और मुर्दा

भाव रहते हैं।

मुक्तिबोध ने भी विवेक–चेतना को अभिव्यक्ति दी है –

मुझे भ्रम होता है कि

प्रत्येक पत्थर में

चमकता हीरा है

हरेक छाती में आत्मा अधीरा है

प्रत्येक सुस्मित में

विमला सदा नीरा है

मुझे भ्रम होता है कि

प्रत्येक वाणी में

महाकाव्य की पीड़ा है। – चौराहे : गजानन माधव मुक्तिबोध

5. बौद्धिकता

जीवन की जटिलताओं को भोगने के कारण प्रायः सभी प्रयोगवादियों ने बौद्धिकता का वरण किया है। इनकी बौद्धिकता राग–प्रेरित नहीं है। उनमें बौद्धिक चमत्कार का अंश इतना अधिक है कि यह अनुभव ही नहीं होता कि कविता का संबंध राग से भी हो सकता है। यह ठीक है कि युग बदल रहा था और बदलते युग में बुद्धि का प्रभाव बढ़ रहा था, किन्तु वह इतना नहीं था कि कविता कविता न रहकर बौद्धिक व्यायाम हो जाय तथा उसका रूप ही कुरूप हो जाय।

6. वैचित्र्य प्रदर्शन

अधिकतर प्रयोगवादी कवि वैचित्र्य प्रदर्शन को लेकर चले हैं। कहीं–कहीं यह उनकी मानसिक उलझन को व्यक्त करता है। अज्ञेय की 'हवाई यात्रा' नामक कविता में इस प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। कहीं–कहीं यह वैचित्र्य–प्रदर्शन की प्रवृत्ति बड़ी हास्यास्पद है। इस प्रवृत्ति का एक उदाहरण देखिए –

"अगर कहीं मैं तोता होता!

तो क्या होता ?

तो क्या होता;

तो होता।

(आल्हाद से झूमकर)

तो तो तो तो ता ता ता ता

(निश्चय के स्वर में)

होता होता होता होता!''

इस कविता में केवल वर्ण्य और वर्णन का वैचित्र्य प्रदर्शन ही हुआ है।

7. नारी चित्रण व प्रेम

प्रयोगवाद में नारी चित्रण व प्रेम का अलग अंदाज है। छायावादी और प्रयोगवादी कविता में नारी–चित्रण की तुलना करते हुए डा. नामवर सिंह ने लिखा है कि ''छायावादी कवि प्रायः प्रकृति की मोहक पृष्ठभूमि में अथवा सुंदर प्राकृतिक प्रतीकों के माध्यम से नारी की छाया प्रतिमा निर्मित करते रहे, लेकिन प्रयोगवादी कवि ने यहाँ भी अप्सरामयी नारी को स्वर्ग स्थित गरिमामय पद से उबारते हुए सामान्य भाव–भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया। प्रयोगवाद में प्रेम की अभिव्यक्ति प्रयोगवाद के धरातल पर हुई है। यह अवश्य है कि प्रयोगवादी कविताओं में प्रेम भावुकतापूर्ण और लिजलिजे के रूप में व्यक्त नहीं हुआ है बल्कि बौद्धिक धरातल पर व्यक्त हुआ है। उदाहरण के लिए ''हरि घास पर क्षण भर'' कविता में अज्ञेय प्रेमाभिव्यक्ति करते हुए सामाजिक वास्तविकता को नहीं भूलते। प्रेम की भावना का एक आयाम यह भी है कि व्यक्ति प्रेम में डूबकर दुनिया की सुधबुध खोने की बजाय वह समाज के प्रति उदात्त और जीवन के प्रति अधिक संघर्षशील बने। गिरिजाकुमार माथुर की ''तैतीसवीं वर्षगाँठ'' में यहीं भावना व्यक्त हुई है।

8. क्षणवाद

प्रयोगवादी काव्यधारा के अन्तर्गत यह प्रवृत्ति पाश्चात्य दर्शन की अस्तित्ववादी विचारधारा से आई है। हिन्दी के प्रयोगवादी कवियों ने क्षणवाद को बड़ी व्यापकता से ग्रहण किया है। क्षण की इसी पकड़ ने प्रयोगवादी कवियों को अस्तित्व का बोध कराया। अज्ञेय की 'नदी के द्वीप', गिरिजाकुमार माथुर के 'शिलापंख चमकीले', 'पृथ्वीकल्प', मुक्तिबोध का 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' आदि काव्य संग्रहों में अस्तित्व बोध का गहरा प्रभाव विद्यमान है।

अज्ञेय का मानना है कि सर्जना के क्षण लघु होते हैं उनकी 'सृजना के क्षण' नामक कविता में क्षण के प्रति इसी आस्था के दर्शन होते है। वह कहते हैं –

''एक क्षण भर और

लम्बे सर्जना के क्षण कभी भी हो नहीं सकते हैं।

बूँद स्वाति की भले ही

बँध है मर्म सीपी का उसी निर्मम त्वरा से

जब जिससे फोड़ता चट्टान को भले ही फिर व्यथा के तम में

अरस पर बरस बीते

एक मुक्ता रूप को पकते।''

9. प्रकृति चित्रण

प्रयोगवादी कवियों ने प्रकृति–चित्रण में भी यथार्थ–दृष्टि का परिचय दिया है। कवि प्रकृति की सूक्ष्म गतिविधियों के उसके रूप, रस, स्पर्श, गंध और स्वर के अनुभवों को शब्दबद्ध करने की कोशिश करते हैं। अज्ञेय, शमशेर, गिरिजाकुमार माथुर आदि की कविताओं में हम प्रकृति के विभिन्न रूप देख सकते हैं। उदाहरणार्थ –

शमशेर बहादुर सिंह की 'उषा' कविता का शब्द चित्रण देखिए :–

प्रातः नभ था बहुत नीला शंख जैसे

भोर का नभ

राख से लीपा हुआ चौक

अभी गीला पड़ा है।

बहुत काली सिल जरा से लाल केसर से

कि जैसे धुल गयी हो

स्लेट पर यह लाल खडिया चाक

मल दी हो किसी ने

नील जल में यो किसी की

गौर हिल रही हो।

और

जादू टूटता है इस उषा का अब

सूर्योदय हो रहा है।

10.5.2. शिल्पगत पक्ष

काव्य भाषा

प्रयोगवादी काव्य की भाषा सर्वथा भिन्न है। छायावादी कविता की भाषा में कोमलता और सुकुमार के गुण थे तो प्रगतिवादी कविता में पहली बार कविता की भाषा को बोल–चाल के निकट लाने की कोशिश की गयी। प्रयोगवाद में शब्द प्रयोग की ओर ध्यान दिया गया। डॉ. नामवर सिंह के अनुसार यद्यपि प्रयोगवादी कवियों की भाषा में आरंभ में दुरूहता और अनगढ़पन अधिक था परंतु बाद में भाषा अधिक सहज और सरल बनी।

भाषा में गेयता और आलंकारिता कम हुई। अज्ञेय की भाषा आरंभ में दुरूह और बौद्धिक अधिक थी, बाद में भाषा बोलचाल के नजदीक आई। गिरिजाकुमार माथुर की भाषा में गेयता तत्व अधिक रहा है।

शमशेर के शब्द प्रयोग यद्यपि सरल हैं परंतु अर्थ की दृष्टि से अधिक गहन हैं। वे सिर्फ शब्दों तक ही अपनी कविता के अर्थ को नहीं बाँधते बल्कि उससे आगे के शब्दों के बीच के मौन अंतराल में काव्यार्थ छिपा होता है।

प्रयोगवादी कविता में ध्वन्यात्मकता, रंगों का ज्ञान और गंधचित्रों का भी उल्लेख हुआ है। प्रयोगवादी कविता में ध्वन्यात्मकता की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है, जैसे अज्ञेय की कविता में ओस की तिप्–तिप् पहाड़ी काक की 'हाक्–हाक्' गिरिजाकुमार के नींद भरे आलिंगन में चूड़ी की खिसलन इत्यादि। इसी प्रकार इन कवियों ने रंग का ज्ञान भी दिखलाया है, जैसे शकुन्तला माथुर का 'केशर रंग रंगे आँगन', गिरिजाकुमार का 'केशर रंग–रंगे वन' 'श्वेत–धुएँ सा पतला नभ', शमशेर का 'मकई से लाल गेंहुए तलुए', सूखी भूरी झाड़ियाँ। इन कवियों ने गंध का सूक्ष्म ज्ञान भी प्रदर्शित किया है, जैसा – अज्ञेय का 'गंध के डोल डालती मालती' इत्यादि।

छंद और लय

कविता पहले छंद से मुक्त हुई, फिर तुक से, फिर शब्द की लय से। अज्ञेय ने काव्य को ''शब्द'' माना है। उनके अनुसार ध्वनि, छंद, लय आदि सभी प्रश्न शब्द में से निकलते और शब्द में ही विलय होते हैं। अज्ञेय कविता में किसी–न–किसी रूप में गेय तत्व को आवश्यक मानते हैं।

डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है कि ''छायावादी युग में जो मुक्त छंद वैकल्पिक था, वह प्रयोगवादी कविता का मुख्य स्वर हो गया। मुक्त छंद को ही विशेष रूप से अपनाने के कारण प्रयोगवादियों ने इसमें नये–नये स्वरों और नयी लयों के प्रयोग किये।''

प्रतीक और बिम्ब विधान

अज्ञेय काव्य में प्रतीकों का महत्वपूर्ण स्थान मानते हैं। उनके अनुसार ''कोई भी स्वस्थ काव्य साहित्य नये प्रतीकों की सृष्टि करता है और जब वैसा करना बंद कर देता है तब जड़ हो जाता है – या जब जड़ हो

जाता है तब वैसा करना बंद करके पुराने प्रतीकों पर ही निर्भर करने लगता हैं।'' अतः अज्ञेय प्रतीक को सत्यान्वेषण का साधन मानते हैं। उनकी चर्चित कविता सोन–मछली इसका श्रेष्ठ उदाहरण है।

''हम निहारते रूप

काँच के पीछे हाँफ रही मछली।

रूप–तृषा भी

(और काँच के पीछे) है जिजीविषा।''

प्रयोगवादी कविता में प्रतीक ''लाक्षणिक वक्रता'' से आगे बढ़कर सांकेतिक अर्थ की अभिव्यक्ति में सहायक होते हैं। अज्ञेय के यहाँ प्राकृतिक प्रतीकों का अधिक प्रयोग है। भारत भूषण अग्रवाल और गिरिजाकुमार माथुर के काव्य में प्रायः परंपरागत प्रतीकों का ही प्रयोग हुआ है।

शमशेर के प्रतीक अधिक दुरूह है जबकि मुक्तिबोध में मिथकीय, प्राकृतिक और आधुनिक जीवन से लिए गए विभिन्न तरह के प्रतीकों का प्रयोग मिलता है।

काव्यबिम्ब का संबंध भाषा की सर्जनात्मक शक्ति से है तथा इसका निर्माण मनुष्य के ऐन्द्रिय बोध का ही प्रतिफल है। शब्द और विचार के अमूर्त संकेतों के माध्यम से एक मूर्त चित्र निर्मित दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध होता है। अज्ञेय के यहाँ प्राकृतिक बिम्ब अधिक है। सामाजिक जीवन से लिए गये बिंब कम हैं। मुक्तिबोध के यहाँ मानव–स्थितियों से जुड़े बिंब अधिक हैं।

अज्ञेय की अपेक्षा शमशेर के यहाँ सौंदर्य बिंबों का रूप अधिक संश्लिष्ट और सूक्ष्म है। उन्होंने कई कविताओं में प्रकृति के बिंबों को अपनी भावनाओं के साथ इस तरह गूँथा है कि वह केवल वस्तु का चाक्षुष बिंब न होकर कवि का मानसिक प्रतिबिंब बन जाता है।

25.6 प्रयोगवाद और नयी कविता

धीरे–धीरे प्रयोगवाद वैचित्र्य–प्रदर्शन, बौद्धिकता, सत्यानुभूतियों की कच्ची लिखावट और शिल्पाग्रह की कविता प्रतीत होने लगा। उसमें न तो व्यापक जीवन के चित्र हैं, न विस्तृत फलक पर प्रस्तुत किये गये वे जीवन–संदर्भ हैं। असल में प्रयोगवाद प्रयोगों का आरम्भ था, चरम परिणति नहीं। अतः जब ये प्रयोग संतुलित हुए और बाढ़ का पानी उतरा तो कविता में संतुलन भी आया और परिष्कार भी। वह राग–संवेदनों की भूमिका पर जीवन से गहरे जुड़ती चली गयी। जब ऐसा हुआ तब उसे ही नयी कविता का नाम दिया गया।

नयी कविता का बीज प्रयोगवाद में निहित है। अतः सन् 1950 के बाद से नयी कविता का प्रारम्भ माना जा सकता है। यह वह वर्ष था जबकि नयी कविता का बीज अंकुरित होकर लहलहाने लगा था। प्रयोगवादी कविता में पनपने वाली प्रवृत्तियाँ खुले, व्यापक किन्तु स्वस्थ रूप में दूसरे सप्तक या उसकी समयकालीन रचनाओं में मिलती हैं। गिराजाकुमार माथुर और बालकृष्ण राव छायावाद के पश्चात् लिखी गयी समस्त

कविता को नयी कविता के अन्तर्गत समझते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा और नामवरसिंह इसे प्रयोगवाद का छद्म रूप स्वीकार करते हैं तो नरेश मेहता और श्रीकान्त वर्मा इसे प्रयोगवाद व प्रगतिवाद के सर्वथा भिन्न प्रयत्न मानते हैं। नयी कविता को प्रयोगवाद का छद्म नाम बताने वाले भी इसी सत्य की ओर संकेत करते हैं जिसमें प्रयोगवाद और नयी कविता को एक समझा गया है। असलियत यह है कि ये दोनों पूरी तरह एक नहीं हैं। दोनों में सूक्ष्म अन्तर है। प्रयोगवाद शिल्पगत प्रयोगों के रूप में नयी कविता की एक विशिष्ट प्रवृत्ति की ओर ही संकेत करता है जबकि नयी कविता में एक स्वस्थ जीवन–दृष्टि भी मिलती है।

प्रयोगवाद एक ऐसा पौधा था जिसकी शाखाएँ व पत्तियाँ काट–छाँट के अभाव में मनमाने ढंग से फैलती जा रही थीं, जबकि नयी कविता एक कटी–छँटी, सजी–सँवरी लता है जिसमें व्यवस्था है, संतुलन है और यथार्थ का रस खींचकर हरी–भरी बने रहने की उमंग। फिर ऐसी स्थिति में नयी कविता प्रयोगवाद का छद्म नाम न होकर संशोधित रूप है जो अपने में संतुलित जीवन–दृष्टि और प्रयोगवाद की प्रयोगशील वृत्ति लिए खिलता रहा है। प्रयोगवाद में बौद्धिकता का बेमानी अतिरेक था, रसहीनता थी, चमत्कृति, विशेषीकरण की वृत्ति, कामजनित कुंठाओं, निराशाओं, अतृप्तियों और घोर वैयक्तिकता का संदर्भ था तो नयी कविता रागदीप्त, रसनीय, सामाजिक और आस्थावादी है।

25.7 सारांश

इस काव्यधारा के विकास में अज्ञेय और उनके समकालीन कवियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। हिन्दी की यह काव्य धारा भारतीय परिवेश के साथ–साथ यूरोप के काव्य–सिद्धान्तों से भी प्रभावित रही है जिसमें प्रतीकवाद, बिम्बवाद, अतियथार्थवाद, अस्तित्ववाद और मनोविश्लेषणवाद आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। पर यह भी सत्य है कि प्रयोगवाद विदेशी कविता से प्रभावित और प्रेरित तो है, किन्तु वह अनुकरण भर नहीं है। उसमें आई बौद्धिकता, दुरूहता, रसहीनता, अतियथार्थवादिता, चमत्कृति, अतिवैयक्तिकता, गद्याभास की प्रवृत्ति, नवीनता के नाम पर किये गये अनर्गल और बेमानी प्रयोग व मन की दमित भावानुभूतियों का प्रकटीकरण आदि ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके लिए भारतीय परिवेश की जटिलता भी जिम्मेदार है। प्रयोगवाद में शिल्प के प्रति वैचित्र्य प्रदर्शन को पाश्चात्य प्रभाव कहा जा सकता है।

प्रयोगवाद ने कविता को बंधी–बँधाई पद्धति के घेरे से निकाला है, सीमित जीवनानुभूतियों के अभिव्यंजन से काव्य के मूल्यांकन को एक दिशा दी है और बृहत् मानव के स्थान पर आम आदमी (लघु मानव) की महत्ता प्रतिपादित की है।

25.8 अभ्यास प्रश्न

1. प्रयोग और प्रयोगवाद का अर्थ स्पष्ट करते हुए प्रयोगवाद की सीमा रेखा निर्धारित कीजिए।

_____

_____

_____

2. प्रयोगवाद के प्रमुख कवियों का उल्लेख कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

3. प्रयोगवाद पूर्ववर्ती काव्यधाराओं से किस प्रकार भिन्न रहा है ? इस कथन के आलोक में प्रयोगवाद की प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।

_____

_____

_____

_____

4. प्रयोगवाद व नयी कविता के सम्बन्ध को स्पष्ट विवेचित कीजिए।

5. टिप्पणी लिखिए –

क. प्रयोगवाद व नयी कविता के आंदोलन में अज्ञेय का योगदान।

ख. प्रयोगवाद में विद्रोह का स्वर।

_____

_____

_____

_____

ग. प्रयोगवाद में नारी चित्रण व प्रेम।

_____

_____

_____

_____

_____

घ. प्रयोगवाद में शिल्प–संस्कार।

_____

_____

_____

25.9 संदर्भ ग्रंथ

1. डॉ. रामकुमार खण्डेलवाल – हिन्दी काव्य और प्रयोगवाद, संतति प्रकाशन, नई दिल्ली
2. हरिचरण शर्मा – नए प्रतिनिधि कवि, पंचशील प्रकाशन, जयपुर
3. संपादक विश्वनाथ प्रसाद तिवारी – अज्ञेय, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली
4. डॉ. नामवर सिंह – आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, राजकमल प्रकाशन – नई दिल्ली,
5. सम्पादक डॉ. नगेन्द्र – हिन्दी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
6. अज्ञेय तारसप्तक – भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली,
7. प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी – अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली
8. डॉ. रामकुमार खण्डेलवाल – हिन्दी काव्य और प्रगतिवाद, ऋषभचरण जैन एवं सन्तति, नई दिल्ली
9. डॉ. जयकिशन प्रसाद – हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा।
10. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2050

वादमुक्त कविता (नई कविता)

26.0 रूपरेखा

26.1 उद्देश्य

26.2 प्रस्तावना

26.3 वादमुक्त कविता

26.3.1 सामान्य परिचय

26.3.2 नाम–निर्धारण

26.3.3 नाम–प्रचलन

26.3.4 काल निर्धारण

26.3.5 नयी कविता का प्रवर्तक

26.3.6 नयी कविता का आशय

26.3.7 नयी कविता के प्रमुख कवि

26.3.8 प्रमुख प्रवृत्तियां

26.4 निष्कर्ष

26.5 कठिन शब्द

26.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

26.7 पठनीय पुस्तकें

26.1 उद्देश्य

– प्रस्तुत आलेख के अध्यायनोपरांत आप जानेगे।

– वादमुक्त कविता क्या है।

– वादमुक्त कविता का आरम्भ कहां से हुआ

– इसका नाम निर्धारण कैसे हुआ

– इसका काल निर्धारण क्या रहा है

– प्रमुख कवि कौन हैं

– वादमुक्त कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ कौन सी हैं

26.2 प्रस्तावना

आधुनिक हिन्दी कविता के विकास में नई कविता को महत्त्वपूर्ण काव्यांदोलन अथवा कविता युग के रूप में मान्यता ही नहीं, प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी है। प्रयोगवाद का अगला चरण नई कविता है अथवा नई कविता के विकास का पहला चरण प्रयोगवाद है। इससे विशेष अंतर नहीं पड़ता। यह निर्विवाद है कि तार सप्तक के प्रकाशन सन् 1943 से प्रयोगवाद का आरम्भ माना जाता है तथा इसके प्रवर्त्तक कवि अज्ञेय हैं। नई कविता का नामकरण भी इन्हीं के द्वारा हुआ। अनेक बार प्रयोगवाद और नई कविता का अंतर ही नहीं माना जाता, कारण दोनों वादों के कवियों और काव्य–प्रवृत्तियों में समानता है। कुछ नए कवियों को छोड़ शेष सभी प्रयोगवाद सप्तकीय परंपरा के कवि नई कविता के विकास में अपना वर्चस्व बनाए हैं।

26.3 वादमुक्त कविता–सामान्य परिचय

नई कविता काव्यादोलन की शुरूआत किस प्रकार हुई, इसके समारंभ में किन कवियों, समीक्षकों एवं पत्रिकाओं की मुख्य भूमिका रही–इस पर सविस्तार चर्चा **डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी** तथा **डॉ0 जगदीश गुप्त** ने की है। इनकी **धारणाओं, वक्तव्यों एवं स्थितियों** को समझे बिना नई कविता की पहचान नहीं की जा सकती। **डॉ0 चतुर्वेदी** का मानना है–**''नई कविता युग का संबंध नई कविता पत्रिका से है, जो इलाहाबाद में आरंभ हुई।''** इसके प्रकाशन का संक्षिप्त वृत इस प्रकार है–**आलोचना त्रैमासिक के सम्पादक मंडल (धर्मवीर भारती, रघुवंश, ब्रजेश्वर वर्मा, विजयदेव नारायण साही)** की एक बैठक में, जो भारती के इलाहाबाद स्थित आवास पर आयोजित थी, उसके प्रकाशक **ओमप्रकाश भी आए** हुए थे। वहाँ यह निर्णय हुआ कि इलाहाबाद के युवा लेखकों के सहकारी कविता प्रकाशन की ओर से **नई कविता** शीर्षक से **एक अर्द्धवार्षिक पत्रिका** का प्रकाशन किया जाए। संपादक का दायित्व **जगदीश गुप्त** और **रामस्वरूप चतुर्वेदी** को दिया गया । व्यवस्था और वितरण का जिम्मा **राजकमल** प्रकाशन की ओर से होना स्थिर हुआ। सारी योजना व्यवस्था के स्तर पर आकस्मिक थी, पर रचनात्मक स्तर पर उतनी आकस्मिक नहीं। पिछले कुछ समय से नई कविता की चर्चा–परिचर्चा एक काव्य आंदोलन के रूप में इलाहाबाद में और बाहर भी चल रही थी। यह प्रकाशन, योजना उसकी स्वाभाविक परिणति

थी।

1953 की फरवरी में नए लेखकों की संस्था **'परिमल'** की ओर से **नई कविता विषयक एक गोष्ठी का इलाहाबाद** विश्वविद्यालय **के** ओरिएंटल हॉल में आयोजन हुआ। **भारतभूषण अग्रवाल, जगदीश गुप्त और रामस्वरूप** चतुर्वेदी ने नई कविता के विविध पक्षों पर उसमें पर्चे पढ़े और फिर शाम की बैठक में **काव्यपाठ शंभुनाथ सिंह की अध्यक्षता में** था। **शमशेर** की लंबी कविता **अमन का राग** पढ़ते समय प्रबुद्ध श्रोताओं में भी कुछ अधीरज का संचार हुआ था। **मार्च 1953 के 'नए पत्ते'** में उक्त गोष्ठी की एक संक्षिप्त सूचना प्रकाशित हुई और **काव्य पाठ को लेकर ब्रजेश्वर वर्मा का एक पत्र छपा, 'नई कविता–श्रोता के दृष्टिकोण से' भारत भूषण** अग्रवाल द्वारा पठित निबंध **'नई कविता में रूप विधान और वस्तु–तत्त्व'** भी इसी अंक में छपा है। रामस्वरूप चतुर्वेदी का गोष्ठी में पठित निबंध **'नई कविता में मुक्त छंद' कल्पना के अगस्त 53 अंक** में प्रकाशित हुआ।

नई कविता का 1954 में प्रकाशन लघु पत्रिकाओं की एक शृंखला के क्रम में है। **नये पत्ते, नई कविता, निकश, प्रतिमान** जैसी पत्रिकाएँ **परिमल–वृत** के लेखकों द्वारा आयोजित हुई। निराला का नए लेखकों में सम्मान भाव इस संगोष्ठी के नामकरण 'परिमल' से स्पष्ट है। इस परंपरा में **क ख ग त्रैमासिक** पत्रिका का महत्त्व है। नई कविता के प्रेरक निराला थे तथा व्यवहारिक रूप में सहयोग प्रदान करने वाले अज्ञेय थे। नई कविता के पहले अंक को लेकर काफी प्रतिक्रिया हुई। अतः लेखक का यह स्वीकार करना उचित है कि नई कविता शब्द अब एक व्यापकतर अर्थ में प्रयुक्त होता है, जिसमें कविता ही नहीं वरन् इस पूरे रचना–युग की प्रवृत्तियाँ व्यंजित होती हैं, जिन्हें समष्टि रूप में नवलेखन भी कहा गया है। **'नयी कविता' काव्यधारा विवादास्पद होते हुए अब एक प्रतिष्ठित आंदोलन है।**

''कोई भी काव्य आंदोलन जब तक जातीय जीवन के ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सामाजिक आयामों को **विवेक, आस्था और संवेदना** के स्तर पर आत्मसात् न करेगा तब तक वह स्थायी महत्त्व की कृतियों को जन्म नहीं दे सकता।'' डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा का यह कथन नई कविता को एक महत्त्वपूर्ण काव्य आंदोलन प्रतिष्ठित करता है। साथ ही, इसके विविध आयामों एवं आंदोलनों की ओर संकेत करता है। यह निर्विवाद स्वीकार्य है कि 'नई कविता युग' **अनेक काव्य आंदोलन का युग रहा** तथा इसकी चर्चा कई आयामों के आधार पर हुई है। यहां ध्यातव्य है कि प्रत्येक देश एवं काल में साहित्यिक क्षेत्र में नए प्रयोग होते रहे हैं। समय एवं अवसर के अनुरूप अनेक काव्य–आंदोलन प्रकाश में आते रहे हैं पर ऐतिहासिक महत्त्व बहुत कम को मिल पाया है। यही स्थिति नई कविता के काव्य आंदोलन की रही है। इनमें अधिकांश आंदोलन का महत्त्व मात्र नाम –परिगणन तक सीमित है, जबकि कुछ नई कविता से पृथक् अस्तित्व घोषित कर अंततः उसी में अपनी परिणति स्वीकारते हैं। वस्तुतः किसी भी काव्य आंदोलन को मान्यता उसके प्रचलन–मात्र से नहीं मिल जाया करती। उसमें निश्चित विचारधारा के साथ उसके पक्षधर कवियों की अपेक्षा रहती है। मात्र घोषणाओं एवं दो–चार मित्रों के एक साथ प्रकाशित होने पर किसी आंदोलन की स्थापना भले ही समझ ली जाए पर उसे मान्यता नहीं मिल पाती। यही स्थिति नई कविता के अधिकांश काव्य आंदोलन की रही है। कारण यह है कि नई कविता के समक्ष लगभग **अस्सी काव्य** आंदोलन प्रचलित हो चुके हैं। इनमें एक भी आंदोलन ऐसा नहीं है, जो नई कविता आंदोलन का स्थान ग्रहण कर सके। ये सभी नई कविता का विरोध करते हुए भी अंततः उसी में अपनी सत्ता मानते हैं। इससे नई कविता युग का महत्त्व स्वयं सिद्ध हो जाता है।

नई कविता के विविध आंदोलनों की चर्चा में दो बातों को विशेषतः ध्यान में रखना चाहिए। प्रथम तो नई कविता के आंदोलन से अभिप्राय ऐसे आंदोलन से है, जिसका संबंध प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में इस काव्य आंदोलन (युग अथवा वाद) से है। पृथक्ता के लिए नए नाम की घोषणा से उसे एक आंदोलन रूप में मान्यता नहीं मिल जाती। कारण, जितने भी नई कविता के प्रचलित आंदोलन हैं, प्रायः सभी में एकआध कवि को छोड़कर उनमें से अधिकांश कवि नई कविता से संबद्ध रहे हैं। द्वितीय, आंदोलन से अभिप्राय ऐसे आंदोलनों से है, जिनसे नई कविता एवं इससे संबद्ध कविता किसी–न–किसी रूप में प्रभावित रही है।

इसमें फ्रायड, मार्क्स, सार्त्र इत्यादि चिंतकों के साथ ऐसे अन्य वाद प्रचलित हैं, जिनका नई कविता से संबंध रहा है। यथा, **दादावाद (दादाइज्म), धनवाद (क्युविज़म) और यथार्थवाद (रियलिज़्म) प्रतीकवाद (सिंबोलिज्म) तथा बिंम्बवाद (इमेजिज्म)** इत्यादि। फ्रायडवाद, मार्क्सवाद तथा अस्तित्ववाद का प्रभाव तो विशेष रहा है। नई कविता के विविध आंदोलन के संदर्भ में प्रथम धारणा के आधार पर हम चर्चा करेंगे। दूसरी धारणा के आधार पर इन्हें आंदोलन नहीं कहा जा सकता है। भले ही पाश्चात्य काव्य विकास में ऐसा संभव हो सकता है। हमारे यहाँ नई कविता के साथ–साथ अनेक ऐसे काव्य आंदोलन प्रचलित हुए हैं, जिनको प्रेरणा पाश्चात्य देशों से मिली । डॉ० विनयमोहन शर्मा नई कविता की चर्चा करते हुए कहते हैं कि आज की कविता, नवगीत, अकविता, विद्रोही पीढ़ी, भूखी पीढी आदि नामों से पुकारी जाने लगी है और इन नामों के साथ अपने को जोड़ने वाला कवि अन्य नामधारी कविता से अपने को अधिक आधुनिक और नवीन मानता है। ये नाम पाश्चात्य देशों से उधार लिए गए हैं। **नई कविता के लिए हम अमरीका के ऋणी हैं। वहाँ भी यह अद्यतन कविता (न्यू पोएट्री) के नाम से पुकारी जाती है।** विद्रोही कविता, भूखी पीढ़ी–ये नाम भी वहीं से आयात हुए हैं। डॉ0 शर्मा के प्रस्तुत अभिमत से आंदोलन संबंधी प्रचलित धाराओं का स्पष्टीकरण सहज ही हो जाता है।

नई कविता के नामकरण पर भी तीक्ष्ण प्रहार किए गए और अन्य अनेक नामों का सुझाव दिया गया। पर अपने नामों की प्रतिष्ठा में सभी को 'नई कविता' नाम का आश्रय लेना पड़ा। भले ही उसे तथाकथित नई कविता से संबोधित किया जाए अथवा उसे मुक्त कविता घोषित किया जाए, सभी को मूलतः नई कविता नाम के आधार रूप में स्वीकारना होता है। इसलिए यह कहना समुचित होगा कि नई कविता एक ऐसा प्रतिष्ठित काव्य आंदोलन है जिनमें अनेक छुटपुट आंदोलन साँस ले रहे हैं–उनमें से किसी एक की समाप्ति का अर्थ नई कविता युग की समाप्ति नहीं लिया जाना चाहिए।

नई कविता के संस्थापकों में डॉ0 जगदीश गुप्त तथा डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। नई कविता नाम को प्रतिष्ठित करने में अन्य अनेक पत्रिकाओं में **नई कविता** का विशेष स्थान है। इसमें डॉ0 गुप्त ने **'नई कविता–किसिम किसिम की कविता'** शीर्षक निबंध में नई कविता के साथ प्रचलित नामों का उल्लेख किया है। जो इस प्रकार है–सनातन सूर्योदयी कविता, अपरंपरावादी कविता, सीमांतक कविता, **युयुत्सावादी कविता, अस्वीकृत कविता, सकविता,** अन्यथाकारी कविता, **विद्रोही कविता,** वक्रातर कविता, कबीर–पंथी कविता, समाहारात्मक कविता, उत्कविता, अकविता, अभिनव कविता, **अधुनातन कविता, नूतन कविता, नाटकीयकविता, एण्टी कविता, निर्दिशायामी कविता,** लिंग्वादल मोतवादी कविता, **एब्सर्ड कविता,** गीत कविता, नवप्रगतिवादी कविता, सांप्रदायिक कविता, **बीट कविता, ठोस कविता,** (कांक्रीट कविता), **कोलाज कविता,** बोध कविता, मुहूर्त की कविता, द्वीपांतर कविता, अतिकविता, **टटकी कविता, ताजी कविता, अगली**

कविता, प्रतिबद्ध कविता, शुद्ध कविता, स्वस्थ कविता, नंगी कविता, गलत कविता, सही कविता, प्राप्त कविता, सहज कविता, आँख कविता,.....।

प्रस्तुत आंदोलन सूची पर व्यंग्य प्रहार करते हुए डॉ0 जगदीश गुप्त ने इस तथ्य की ओर संकेत भी कर दिया है कि ये नाम तीन–चार वर्षों की देन हैं। अब जबकि नई कविता के प्रचलन तथा इस सूची को दिए काफी वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, इतने समय अनेक नामों की संभावना होना स्वाभाविक है। इन नामों (आंदोलन) में से कुछ के प्रचलन एवं स्थापना से पूर्व का प्रस्तुत अभिमत द्रष्टव्य है–मैं क्या, इस बात को कोई भी दावा नहीं कर सकता है कि वह सूची पूरी हो गई है, क्योंकि यह असंभव नहीं है कि इसके छपते–छपते लोगों तक पहुँचाते दो–चार नाम और पैदा हो जाएँ।..... इस सूची के कुछ नाम इस देश में सम्मानित एवं सुदीर्घ श्रुति परंपरा से प्राप्त हैं। अतएव मुझे उनको सम्मिलित कर लेने का भागी ही न बनाया जाए वरन् उन्हें प्रयासपूर्वक स्मरण रखने का श्रेय भी प्रदान किया जाए। कुछ नाम ऐसे भी हैं, जो आंदोलनात्मक नहीं हैं।

डॉ0 रामदरश मिश्र ने 'साठोत्तरी कविता' शीर्षक के अंतर्गत अनेक आंदोलनों का उल्लेख किया है तथा नई कविता से उनकी पृथक्ता पर कई प्रश्न चिन्ह लगा दिए हैं। उनका अभिमत है– "मेरी स्पष्ट धारणा है कि **सन् साठ के बाद कविता में जो स्वर उगे हैं, वे नई कविता में बीज रूप में वर्तमान रहे हैं और गौण भाव से प्रस्फुटित होते रहे हैं। ये स्वर नई कविता के मूलाधार नहीं रहे हैं, किंतु नई कविता से सर्वथा विच्छिन्न या विरोधी स्वर के रूप में इनकी व्याख्या नहीं हो सकती जैसा कि अकविता वाले करते हैं।** "

अतः कहा जा सकता है कि नई कविता के साथ–साथ अन्य अनेक ऐसे काव्य आंदोलन प्रचलित थे, जिन्हें प्रायः इनका विकास ही मानना होगा। नई कविता की किसी एक विशिष्ट धारणा को आधार बनाकर दो–चार कवियों का सम्मिलित प्रयास पत्रिका अथवा काव्य संकलन के प्रकाशन से नए आंदोलन अथवा वाद की घोषणा करना विशेष रहा है। जिन नामों की ओर डॉ० जगदीश गुप्त ने संकेत किया है, उनमें से अधिकांश तभी समाप्त हो चुके थे, शेष ने अपनी गति नई कविता की ओर उन्मुख कर ली थी। इस प्रकार विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई सूची को सम्मिलित करने पर लगभग नई कविता के 70–80 आंदोलनों का उल्लेख मिलता है। इन सभी में कुछ ऐसे भी काव्य आंदोलन हैं, जिन्हें नई कविता के साथ मान्यता मिली है–उनमें **समकालीन कविता तथा अकविता** का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। सन् साठ के पश्चात् **निषेध, विचार कविता, नवगीत, अगीत** इत्यादि अनेक आंदोलन प्रचलित हुए। नई कविता के समकक्ष इन आंदोलनों की महत्ता पर प्रश्न चिह्न लगाते हुए डॉ० हरिश्चंद्र वर्मा कहते हैं–"हिंदी में नई कविता के अंदाज पर नवगीत और अकविता अंदाज, अगीत और एण्टी गीत नामों का प्रचलन हुआ। नामों के हेरफेर के अतिरिक्त इनमें तात्विक दृष्टि से क्या भेद है ? यह रहस्य अज्ञात और अज्ञेय है। नियमित छंद, टेक की आवृत्ति, संगीतात्मकता और तीव्र भावावेग से यथासंभव मुक्त होकर केवल अर्थाभिव्यक्ति पर आश्रित नया गीत नई कविता से ही किन रूपों में भिन्न है ? नई कविता के विविध आंदोलनों की चर्चा सोदाहरण करते हुए **डॉ0 विनयमोहन शर्मा** का अभिमत इस प्रकार है–""अकविता, अगीत आदि से भिन्न एक **एब्सडिटीवाद** चलाने का भी प्रयत्न किया गया जो कि उसके प्रवर्त्तक तक ही सीमित रह गया। डॉ० शर्मा तथा डॉ० वर्मा ने जिन तथ्यों की ओर संकेत किया है, वे विचारणीय प्रश्न हैं। मात्र दो–चार कवियों के मिलकर किसी नाम विशेष की घोषणा कर देने से किसी वाद अथवा आंदोलन को मान्यता प्राप्त नहीं हो जाया करती, भले ही बड़ी–बड़ी घोषणाएँ

अथवा स्थापनाएँ की गई हों। विशिष्टता इस बात की रही है कि प्रत्येक प्रवर्तक–संस्थापक स्वयं को नई कविता से पृथक् स्थापित करने का निरंतर उपक्रम करता रहा है। पर हमारे इस कथन से यह अभिप्राय नहीं लिया जाना चाहिए कि नई कविता के साथ किसी भी काव्य आंदोलन का महत्त्व नहीं है। वस्तुतः इस विस्तृत सूची में कुछ आंदोलन ऐसे हैं, जिन्हें नई **कविता का विकास मानकर भी उसकी पृथक् से चर्चा अपेक्षित है–**इनमें **अकविता, समकालीन कविता तथा विचार कविता** का विशेष महत्त्व है।"

वस्तुतः प्रयोगवादी कविता और नयी कविता की सीमा–रेखा इतनी क्षीण है कि अलग–अलग काव्य धारायें मानने के लिए अभी हिन्दी समालोचक–जगत एकमत से तैयार नहीं हुआ है। यद्यपि उसकी मौलिक प्रवृत्तियों को दृष्टि में रखकर अधिकांश समीक्षकों ने नयी कविता को एक स्वतन्त्र काव्यधारा माना है, तथापि उस पर प्रयोगवादी काव्य का गणनीय प्रभाव पाया जाता है। श्री वी० नारायणन कुट्टि ने लिखा है कि "नयी कविता के अनेक रचयिता पूर्ववर्ती प्रयोगवादी काव्य से प्रेरणा ग्रहण करके ही कविता के क्षेत्र में आये हैं। प्रयोगवादी कविता पर उसका प्रभाव रहना स्वाभाविक भी है।"

26.3.2 नाम–निर्धारण

(1) कतिपय आलोचकों ने आलोच्य काव्यधारा को वैज्ञानिक कविता के नाम से अभिमानित करने के औचित्य–अनौचित्य पर विचार किया है, किन्तु वैज्ञानिक कविता कहने से इस काव्यधारा की प्रवृत्तियों का आभास होना तो दूर रहा, उसके विषय में भ्रामक धारणा ही फैलने की संभावना है।

(2) इस काव्यधारा के लिए 'यांत्रिक कविता' का नामकरण देने का प्रयास किया गया है। यांत्रिक शब्द निर्जीवता, अमानवीयता, कृत्रिमता, रूखेपन आदि का द्योतक है, जो सम्पूर्ण नयी कविता को दृष्टि में रखने पर अतार्किक लगता है।

(3) कुछ साहित्यकार इसके लिए 'नव–स्वच्छन्दतावादी कविता' नाम देने के पक्ष में हैं, किन्तु नव–स्वच्छन्दतावाद आलोच्य काव्यधारा की अनेक प्रवृत्तियों में से एक है, किन्तु यह नाम तार्किक नहीं है।

(4) कतिपय समीक्षकों ने इसे 'उत्तर–प्रयोगवादी' नाम दिया है, किन्तु नयी कविता की प्रवृत्तियाँ प्रयोगवादी प्रवृत्तियों से अनेक दिशाओं में भिन्न एवं स्वतंत्र हैं। अतः यह नाम उक्त काव्यधारा की प्रवृत्तियों का परिचायक नहीं हो सकता है।

(5) आलोच्य काव्यधारा को नयी कविता नाम देने के पक्ष में विचारकों ने अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैं। प्रथम यह कि हमारा युग पिछले युग से इतने पृथक् रूप से भिन्न है कि इसका नयापन विकसित होता हुआ नहीं, फाँदता हुआ आया है। दूसरा तर्क यह है कि युग इतना जटिल है कि इसकी प्रमुख विशेषता की ओर इंगित करना असम्भव बात है। अतः उसका असंपृक्त नयापन ही उसकी उल्लेखनीय विशेषता है, जिसको सूचित करने के लिए 'नयी कविता' नाम उपयुक्त है।

'नयी कविता' के प्रसिद्ध समीक्षक वी० नारायणन् कुट्टि ने इसके नामकरण की सार्थकता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, "अतः जिस प्रकार हिन्दी–साहित्य के आरंभिक काल के लिए 'आदिकाल' नाम का

समर्थन करते हुए आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने माना है कि जब तक शोधियों के अनुसंधान के फलस्वरूप इस काल की सम्पूर्ण छवियों का उद्‌घाटन नहीं होगा, तब तक हम इसी नाम का व्यवहार करेंगे, इसी प्रकार हम भी यह मानेंगे कि जब तक आलोच्य काव्यधारा की पूर्ण विशेषताएँ प्रस्फुटित नहीं होंगी, हमें 'नयी कविता' नाम से संतुष्ट होकर काम लेना ही समीचीन है।"

अतः हम कह सकते हैं कि प्रयोगवाद के पश्चात् हिन्दी में जो काव्य–धारा वाद–विमुक्त होकर और कवियों के स्वतंत्र व्यक्तित्व से युक्त होकर निकली है, उसके लिए 'नयी कविता' नाम सर्वाधिक सार्थक है।

26.3.3 नाम–प्रचलन

सन् 1930 में ग्रियर्सन द्वारा संपादित 'न्यू वर्स' का अंग्रेज़ी साहित्य में अप्रतिम स्थान है। 'न्यू वर्स' का अक्षरशः अनुवाद है 'नयी कविता'। सन् 1954 में डॉ० जगदीश गुप्त और श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी के संपादकत्व में 'नयी कविता' नामक पत्रिका (अर्द्धवार्षिक) इलाहाबाद से निकलने लगी, जिसके द्वारा यह नाम हिन्दी जगत् में प्रचलित हुआ। यद्यपि उक्त पत्रिका की प्रारंभिक प्रतियों ने नयी कविता के वास्तविक स्वरूप और प्रयोगवादी कविता से उसके सम्बन्ध के विषय में अर्थगर्भ मौन धारण किया था। कतिपय समीक्षकों के अनुसार 'नयी कविता' शब्द का प्रयोग एक विशेष काव्यधारा के अभिधान के लिए सर्वप्रथम 'अज्ञेय' जी ने किया, जिसका उन्होंने 'आत्मने पद' में साभिमान स्मरण भी किया है। कालान्तर में समीक्षकों ने 'नयी कविता' को एक व्यापक अर्थ में अपनाकर वादमुक्त काव्य–धारा का नामकरण किया, जो छायावाद, प्रगतिवाद आदि की भाँति प्रचलित हो गया।

26.3.4 काल–निर्धारण

प्रयोगवाद की संकीर्ण सीमाओं को लाँघकर कब 'नयी कविता' अपनी वादमुक्त धारा में बहने लगी, इस प्रश्न को लेकर हिन्दी–समीक्षकों में मत–मतान्तर है। काल–निर्धारण के सम्बन्ध में प्रमुख मत निम्नलिखित हैं–

(1) श्रीकान्त वर्मा ने लिखा है, "..... तारसप्तक के ठीक चार वर्ष बाद हमें जिस समय राष्ट्रीय स्वाधीनता मिली, लगभग उसी समय हिन्दी में एक नयी काव्य–प्रवृत्ति का भी अलग–अलग साहित्यिक केन्द्रों में तथा नगरों में उद्‌भव हुआ। इसी को वर्मा जी 'नयी कविता' मानते हैं। स्पष्ट है कि उनके अनुसार सन् 1947 के करीब 'नयी कविता' की धारा प्रवाहित हुई।"

(2) 'हिन्दी नवलेखन' नामक ग्रंथ में डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है कि 'नयी कविता' की प्रथम अनुभूति पहले उनके द्वारा और बाद में लक्ष्मीकांत वर्मा के सहयोग के साथ प्रकाशित 'नये पत्ते' के माध्यम से हुई। 'नये पत्ते' का प्रथम प्रकाशन सन् 1954 में हुआ था।

(3) कतिपय समीक्षकों का मत है कि, "सन् 1954 में डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी और डॉ० जगदीश गुप्त के संपादन में प्रयोगवादी कविताओं का अर्द्धवार्षिक संकलन 'नयी कविता' के नाम से प्रकाशित होने लगा है। इसी समय से प्रयोगवादी कविता का नाम 'नयी कविता' पड़ गया।"

(4) श्री वी० नारायणन् कुट्टि ने लिखा है, "..... सन् 1954 के करीब ही नयी कविता की आरम्भिक रचनायें होने लगी थीं, पर एक स्वतंत्र काव्य–धारा के रूप में वह शायद सन् 1955–56 में ही प्रकट हुई।"

उक्त कविता के काल–निर्धारण के सम्बन्ध में विद्वानों के मतों के आधार पर कहा जा सकता है कि 'नयी कविता' का प्रचलन सन् 1954 ई. से प्रारम्भ हुआ।

26.3.5 नयी कविता का प्रवर्तक

(1) कतिपय समीक्षकों ने 'अज्ञेय' जी को इस काव्य–धारा का प्रवर्त्तक माना है। डॉ. रघुवंश ने अज्ञेय जी के पक्ष में लिखा है, "किसी भी प्रवृत्ति की कविता आगे–पीछे लिखना अलग बात है और नेतृत्व के अनुकूल गत्यात्मक व्यक्तित्व होना अलग बात है। इस दृष्टि से 'अज्ञेय' जी की स्थिति विवाद के परे है।"

(2) कुछ आलोचकों ने शमशेरबहादुर सिंह को नयी कविता का प्रथम कवि माना है। डॉ० नामवर सिंह ने उनके अनुशासन, परम्परा और समसामयिकता के बोध को नये कवियों के लिए आदर्श माना है।

(3) कुँवर नारायण सिंह ने लिखा है, "नयी कविता में ऐसी चीज नहीं, जो किसी एक व्यक्ति की पूरी खोज कही जा सकती है। उसका विकास एक ऐतिहासिक उपलब्धि है। उसमें कई और प्रतिभाओं का योग है।" इसी मत का समर्थन करते हुए बी० नारायणन् कुट्टि ने लिखा है, "नयी कविता वर्षों के विचार–मंथन, अनेक कवियों की अविराम साधना और आलोचना–क्षेत्र की निरन्तर एवं गम्भीर चर्चा की उपलिब्ध है। अतः उसे किसी व्यक्ति–विशेष द्वारा प्रवर्तित मानना उचित नहीं लगता।"

26.3.6 नयी कविता का आशय

(1) आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है, "..... हिन्दी की स्वस्थ और प्रांजल परम्परा को छोड़कर इस अटपट शैली की रचना को नयी कविता नाम देना भ्रामक और असमीचीन होगा। .....हम इस नयी शैली की रचना को नयी कविता के छद्म–नाम से नहीं पुकार सकते, क्योंकि हिन्दी की नयी कविता इस छोटे से घेरे में घिरी हुई नहीं।" विश्म्भर मानव, बालकृष्ण राव, शांतिप्रिय द्विवेदी आदि शीर्षस्थ समीक्षकों ने वाजपेयी जी के मत का समर्थन किया।

(2) डॉ० जगदीश गुप्त ने नयी कविता को प्रयोगवादी कविता का विकसित रूप मानते हुए लिखा है, "प्रयोगवाद को मुक्त भाव से आत्मसात करते हुए नयी कविता उसका विकास है।" डॉ० इन्द्रनाथ मदान, श्री बी० कुट्टि आदि विद्वानों ने इसी मत का समर्थन किया है।

(3) श्री लक्ष्मीकांत वर्मा ने लिखा है, "एक ओर समष्टिवादी विचारधारा और दूसरी ओर अति–व्यक्तिवादी विचारधारा नवविकास के लिए घातक है। नयी काव्य–चेतना दोनों की अनावश्यक और कृत्रिम आकांक्षा के प्रति विद्रोह करती है।"

(4) श्रीकान्त वर्मा ने नयी कविता को रोमांटिक नवोत्थान कहा है। इस कथन के तीन–चार वर्ष पूर्व डॉ० देवराज ने भविष्यवाणी की थी कि "इस देश में नया काव्य शीघ्र ही रोमांटिक नवोत्थान को जन्म देगा।"

प्रायः अधिकांश समीक्षकों ने नयी कविता को वाद–मुक्त स्वतन्त्र काव्यधारा के रूप मे स्वीकार किया है।

26.3.7 नयी कविता के प्रमुख कवि

जिन कवियों का व्यक्तित्व नयी–कविता से प्रभावित हो चुका है और जिनकी रचनाओं के अध्ययन द्वारा नयी कविता की अनेकमुखी प्रवृत्तियों का अध्ययन हो सकता है, उनमें कीर्ति चौधरी, मदन वात्स्यायन, कुँवर नारायण, केदारनाथ सिंह, अजितकुमार, राजेन्द्रकिशोर, मलयज, विपिनकुमार अग्रवाल आदि प्रमुख हैं।

26.3.8 प्रमुख प्रवृत्तियाँ

नयी कविता एक नयी मूल्य–चेतना के संदर्भ में विकसित हुई। उस मूल्य–चेतना के कारण कविता की विषय–वस्तु और रचना–प्रक्रिया में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। संक्षेप में नयी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं–

भावगत प्रवृत्तियाँ

(1) वैयक्तिकता

प्रगतिवादी साहित्य में मार्क्सवादी दर्शन के प्रभावस्वरूप व्यक्तिनिरपेक्ष सामूहिकता देखी गयी थी, जिसकी प्रतिक्रिया प्रयोगवादियों की असामाजिक अहंवादिता में साकार हो उठी। इन दोनों अतिवादों से भिन्न नयी कविता में एक विशिष्ट प्रकार की वैयक्तिकता पायी जाती है, जिसका स्वाभाविक एवं मर्यादित सामाजिकता से कोई सैद्धान्तिक या व्यावहारिक विरोध नहीं है। वी० नारायणन् कुट्टि ने लिखा है, "वह न तो व्यक्ति निरपेक्ष सामूहिकता है न समाज निरपेक्ष अहंवादिता।" कीर्ति चौधरी ने एक प्राकृतिक दृश्य के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए लिखा है –

दिन बीते कभी इस शाख पर, किसी कोयल को कूकते सुना था
बार–बार कानों में वही कुछ, गूँजती हुई पाती हूँ।

(2) मानव मूल्यों के विघटन की पुकार

आज सर्वत्र बढ़ती हुई व्यक्तिगत स्वार्थ–साधना, बेईमानी, चोर–बाज़ारी, घूसखोरी आदि के युग–युगों से समादृत मानव–मूल्यों के सम्मुख भारी प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है। इस विघटित अवस्था का सही–सही चित्रण नयी कविता में बहुतायत से पाया जाता है। मूल्यों से विघटित दुनिया को कुंवर नारायण ने इस प्रकार देखा है–

पागल से लुटे–लुटे, जीवन से छुटे–छुटे, ऊपर से सटे–सटे
अन्दर से हटे–हटे
कुछ ऐसी भी यह दुनिया जानी जाती है।

(3) नवमानव की कल्पना

गिरिजाकुमार माथुर ने लिखा है कि आधुनिक कविता की विभिन्न धारायें युगीन व्यक्ति को परिभाषित करने के विभिन्न प्रयास हैं। उनका कहना है कि द्विवेदी युग में महाकाव्यों के महापुरुष के रूप में, छायावादी युग अमूर्त व्यापक आत्मा की खंड इकाई के रूप में, प्रगतिवादी युग में सामूहिक व्यक्ति के रूप में और प्रयोगवादी काव्य में असामाजिक अहंवादी के रूप में युगीन मानव को देखने–परखने तथा उसको परिभाषित करने का प्रयास हुआ। नयी कविता में इस प्रवृत्ति की अगली कड़ी हम नव–मानव की कल्पना के रूप में देखते हैं। केदारनाथ सिंह ने लिखा है–

अगर नहीं हैं मेरे स्वरों में तुम्हारा स्वर तो.....

पछाड़ खाये बादलों की तरह टूट जाने दो।

(4) बौद्धिकता

नयी कविता में बौद्धिकता मुखर है और दिग्विजयी विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के इस युग में यह अस्वाभाविक भी नहीं है। वी० नारायणन् कुट्टि ने लिखा है, 'नयी कविता' के कवियों में वैचारिक तीव्रता के रूप में बौद्धिकता का दर्शन मिलता है। जिसके द्वारा कवि अन्तर से या परिवेश से प्राप्त संवेदनों के प्रति प्रौढ़ बौद्धिक प्रतिक्रिया की मार्मिक अभिव्यक्ति काव्य में करते हैं। बौद्धिक कविताओं में कुँवर नारायण की 'आदमी के वेश में जानवर' नामक कविता का अप्रतिम स्थान है। इस कविता में कवि ने भय, आत्मरक्षा आदि मानव की मूल प्रवृत्तियों को रूपक में बाँधकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अन्यों पर विश्वास करके धोखा खाने से बड़ा धोखा है ग्रन्थों पर अविश्वास करना।

(5) यथार्थवादी दृष्टि

डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने लिखा है, "नयी कविता का यथार्थ आत्मप्रेरित है जो रहस्यात्मक न होकर मानवीय स्तर का है।" प्रायः इन कवियों में जीवन के बाह्य या आन्तरिक यथार्थ पर दृष्टिपात करके तज्जन्य संवेदना के प्रति अपनी वैयक्तिक प्रतिक्रिया को काव्याकार देने की प्रवृत्ति पायी जाती है। मदन वात्स्यायन ने लिखा है–

इस युग की पत्नी–सी हो कुछ, कौन बहस में जीते तुमसे।

नयी कविता का सौन्दर्य–बोध भी यथार्थ पर ही आधारित है। नयी कविता की दृष्टि से यथार्थ का क्रियाशील तत्त्व ही सौन्दर्य के अध्यायों को सँवारता और परिमार्जित करता है।

(6) नव स्वच्छन्दतावाद

श्रीकांत वर्मा ने सम्पूर्ण नयी कविता को नव स्वच्छन्दतावादी माना है, किन्तु यह मत तथ्याश्रित नहीं है। नव स्वच्छन्दतावाद नयी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियों में एक है। ओढ़ी हुई बौद्धिकता का स्थान नयी कविता में भावुकता एवं कल्पना ग्रहण करने लगी है। कीर्ति चौधरी ने लिखा है :

जब याद तुम्हारी आती है,
साँसों में केसर की उसाँस छा जाती है
यह आस–पास का जग, फीका–फीका–सा लगता है
मैं सिहर–सिहर रह जाती हूं
आकंठ डूबकर, मधु के निर्मल सागर में।

(7) प्रकृत्युन्मुखता

नव स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के कारण प्रकृत्ति के प्रति नये कवियों में विशेष संवेदनशीलता परिलक्षित होती है। कवि अपने अनुभूत सत्यों की अभिव्यक्ति के लिए प्राकृतिक दृश्यों का सहारा लेता है। कीर्ति चौधरी ने लिखा है :

नभ के कोने में एक सितारा काँपा,

मुझको लगा कि हाँ

हर चीज़ कहीं तो यों ही ऊपर चमकेगी।

(8) मानवीय प्रेम–भावना

बी० नारायणन् कुट्टि ने लिखा है कि नयी कविता में प्राप्त प्रेम–भावना की आकर्षक विशेषता उसकी नितान्त मानवीयता है। नवस्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के कारण या युगीन परिस्थितियों की विशेषता के कारण शृंगार के उभय पक्षों में वियोग पक्ष की प्रमुखता नयी कविता में पायी जाती है। मदन वात्स्यायन ने लिखा है :

अभी तो तेरी छुट्टी के पैंतीस दिन हैं .....

आज तो बीत ही चला बत्तीस समझो, कल दिन भर

व्यस्त रहूँगा

तो इक्कीस

गोया एक मास, तीस रोज

(9) मानव–गरिमा

नयी कविता का आग्रह जिस विशेष तत्त्व पर है, वह उसे मानव व्यक्तित्व की स्थापना और उसकी उपयोगिता से विकसित होता है, जो समस्त विद्रूपताओं और कटूक्तियों के बावजूद मनुष्य को उसकी मूल मर्यादा के प्रति, निजत्व और अस्तित्व के प्रति जागरूक रखना चाहता है। एक मँजे हुए गरिमायुक्त मानव को कर्मण्यता का

संदेश देते हुए रामावतार चेतन ने लिखा है :

डाल दो कुछ अमिट रेखाएँ स्वयं की .....

यह घिस नहीं सकती, डरो मत जिन्दगी है यह

कोई क्रेआन की पेंसिल नहीं है।

कलागत विशेषताएँ

(1) व्यंग्यात्मक शैली

नयी कविता में वर्तमान जीवन की कटुताओं और कुण्ठाओं के प्रति व्यंग्यात्मक भावनाओं की अभिव्यंजना मिलती है। श्री नरेश मेहता ने लिखा है, "जिस समाज में मानव–मन बीमार और कुंठित ही नहीं, खोखला भी है, उस समाज में रचित काव्य में व्यंग्यात्मकता का आ जाना स्वाभाविक है।" ..... सामाजिक विश्वास और वास्तविकता, नेताओं की कथनी और करनी के बीच जो अन्तर दिखायी देता है, वह भी कवि को व्यंग्यात्मक शैली अपनाने के लिए विवश करता है। मदन वात्स्यायन ने लिखा है :

ब्रह्म का लिखा मिटा सकता है, कल का अछूत आज

मंत्री बन सकता है।

पर तुम्हारी लाइन का भार लिये मैं कहाँ जाऊँ, कहाँ भागूँ ?

अफसरों से भरा सरकारी कारखाना, साँपों से भरी कोठरी है।।

(2) बिम्ब–विधान

श्री केदारनाथ सिंह का मत है कि आधुनिक काव्य की आलोचना की कसौटी न तो रस, अलंकार आदि हैं न चरित्र–चित्रण, बल्कि उसमें प्रयुक्त बिम्ब हैं। इन बिम्बों की रचना के लिए कभी अप्रस्तुतों का सहारा लिया जाता है और कभी उनकी झाँकी मात्र से कवि का कार्य हो जाता है। कुँवर नारायण ने 'स्मृति' का एक बिम्ब खींचा है :

आज भी स्मृति वह, मन के वातायन में, लौट रही

किरणों–सी

अमिट खींची है।

(3) प्रतीक–विधान

नयी कविता में पौराणिक प्रतीकों को प्रधानता मिली है। द्रोणाचार्य, कुन्ती, एकलव्य, आदि बहुत से

पौराणिक पात्रों और उनसे सम्बन्धित घटनाओं का प्रयोग अप्रस्तुत के रूप में हुआ है। कुंठा से ग्रसित अपनी उस मानसिक स्थिति को कवि ने 'कुन्ती' से रूपक बाँधकर अभिव्यक्त किया है जिसमें कुंठा को दबाने की अपनी असमर्थता और उससे साहित्य–जगत को अपवित्र करने की हिचक–दोनों में पारस्परिक संघर्ष चलता है। नयी कविता के सशक्त हस्ताक्षर दुष्यन्त कुमार ने लिखा है :

मेरी कुंठा क्वारी कुन्ती, बाहर आने दूँ तो लोक लाज मर्यादा

भीतर रखूँ तो घुटन सहन से ज्यादा .....

ओ स्वर निर्झर बहो कि तुम में,

गर्भवती अपनी कुंठा का कर्ण बहा दूँ

मुझको इससे मोह नहीं है, इसे विदा दूँ।

(4) लघु कविता–शैली

नयी कविता में प्रायः तीन या चार पंक्तियों में समाप्त होने वाली लघु कविताएँ रचने की एक प्रणाली प्रचलित हो गयी है। टी० ई० ह्यूम जैसे पश्चिमी बिम्बवादी कवियों ने इस प्रकार की प्रवृत्ति को अपनाया था। कतिपय प्रयोगवादी कवियों ने इसका पूर्वाभास दिखाया था। पर उसका प्रचलित रूप नयी कविता में आकर ही विकसित हुआ है, जैसे :

मुँडेर पर लाल सूरज यों रूका था।

जैसे कोई फूल धर के जा चुका था। **–महेन्द्र भल्ला**

इस प्रवृत्ति के अतिवादी रूप को भी कतिपय कवियों ने अपनाया है। श्रीकान्त वर्मा की 'विद्युत' शीर्षक एक कविता ऐसी ही है जिसका रूप केवल इतना ही है :

आकाश में द–रा–र

(5) अलंकार

नयी कविता की विद्रोही प्रवृत्ति के कारण शास्त्रीय अलंकारों का उपयोग प्रचुर मात्रा में नहीं हुआ है। सशक्त अभिव्यंजना पर विशेष आग्रह होने और उसे रूपगत चमत्कार से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण मानने के कारण अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि शब्दालंकारों का विधान यहाँ प्रायः नहीं पाया जाता है। अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, रूपकातिश्योक्ति आदि सादृश्यमूलक अलंकारों का उपयोग दृष्टिगत होता है। साभिप्राय विशेषणों का प्राचुर्य भी नयी कविता में व्याप्त है जिसके कारण परिकर अलंकार का भी व्यापक विधान हुआ है, जैसे –

किराये के मकान की छत सा यह आसमान

बारिश में टपकता है जिससे पानी।

नयी कविता में अलंकारों का प्रयोग साधन के रूप में किया गया है, साध्य के रूप में नहीं। अतः उपलब्ध अलंकार–शास्त्र की कसौटी पर नयी कविता की शैली की आलोचना करना न्यायसंगत नहीं है। मानवीकरण, विशेषण–विपर्यय आदि का खुलकर प्रयोग हुआ है।

(6) छंद–योजना

नयी कविता में मुक्त छंद का प्रचुर प्रयोग हुआ है। मुक्त छंद को प्रतिष्ठित करने का श्रेय कविवर निराला को है। मुक्त छंद में नियमों का जटिल बन्धन नहीं है, जिस पर ध्यान रखते–रखते कवि द्वारा काव्य के आन्तरिक तत्त्वों की उपेक्षा हो जाए। मुक्त छंद के कारण ही नयी कविता पर गद्यात्मकता का आरोप लगाया जाता है। इस आरोप से नयी कविता को बचाने के आग्रह से डॉ० जगदीश गुप्त ने अर्थ की लय वाला सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। श्री बी० नारायणन् कुट्टि ने लिखा है–"हमारा मत है कि मुक्त छंद ही नयी कविता के लिए सर्वथा उपयोगी छंद है।"

कालान्तर में छंद के आकार को लेकर कतिपय कवियों ने विचित्र प्रयोग किया है। जैसे :

कागज की नाव सही उत्तर दर्द

पानी के बुलबुले सही उत्तर मन। **(आग्नेय, समवेत अंक–1)**

भाषा

डॉ० जगदीश गुप्त का कथन है कि नयी कविता में आकर खड़ी बोली का मौलिक व्यक्तित्व और सहज सौन्दर्य उभर आया है। नयी कविता की मूलवर्ती वर्जनाहीन दृष्टि के कारण उसका शब्द–भंडार काफी समृद्ध है। इसकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्द, अरबी–फारसी के शब्द एवं कतिपय अंग्रेज़ी शब्दों का भी समावेश है। श्री वीरेन्द्रकुमार जैन ने लिखा है :

टेस्ट टयूब बेबी तुम्हारी सभ्यता की आखिरी सौगात है

तुम्हारा दिल माँस का नहीं सिर्फ प्लास्टिक का है

उसमें खून नहीं शाम्पेन बहती है।

भाषा–सम्बन्धी यथार्थवादी दृष्टि के कारण नयी कविता की वाक्य–रचना में पर्याप्त सजीवता और स्वाभाविकता का समावेश हुआ है। श्री वी० नारायणन कुट्टि ने लिखा है, "..... नयी कविता में आकर काव्य–भाषा खड़ी बोली के सहज स्वरूप की ओर अधिक झुक आयी है। काव्य–भाषा सम्बन्धी पिछली परंपराओं से लाभ उठाकर उसने उसकी अभिव्यंजना–क्षमता को काफी बढ़ा दिया है। शब्दचयन और शब्द–योजना की दृष्टि से जन–भाषा की ओर उसका स्पष्ट झुकाव है।"

26.4 निष्कर्ष

1950 के बाद प्रयोगवादी कविता नयी–कविता के रूप में ढल गयी। प्रयोगवाद के कवि नयी कविता के कवि बन गये। प्रयोगवाद तथा नयी कविता में कुछ आलोचकों ने कुछ अन्तर निर्दिष्ट किया है। उनके विचार से **प्रयोगवाद द्वन्द्व और प्रतिक्रिया की कविता है और नयी कविता संश्लेषण सामंजस्य की कविता है। अधिकांश समीक्षक प्रयोगवाद तथा नयी कविता में अन्तर नहीं करते। प्रयोगवाद को सत्यान्वेषण की कोशिश तथा प्रक्रिया की अनिश्चित दिशा नयी कविता में निश्चित हो गयी। इसका प्रमुख लक्ष्य है मानव मुक्ति।** मुक्ति की चेष्टा जन्म–मरण के आवागमन से नहीं बल्कि सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक वर्जनाओं तथा रूढ़ियों की जकड़न से है।

नयी कविता आधुनिक भावबोध को (समकालीन बोध जिसका अभिन्न हिस्सा है) **बड़ी गहराई से उजागर करती है।** वैज्ञानिक तथा प्राविधिक विकास के कारण मनुष्य–मनुष्य के बीच निर्मित होने वाले नये रिश्तों पुराने रिश्तों की जर्जरता, नये–पुराने मूल्यों, नैतिक मापदण्डों के द्वन्द्व, पूर्व प्रचलित मान्यताओं से स्खलित, नवीन मान्यताओं के प्रति सशक्ति, मानव की बेचारगी को नयी कविता वर्ग सजगता से अपने कथ्य में अभिव्यंजित करती है, समाज की समग्र इकाई में अस्मिता, समाज के प्रति समर्पित होकर भी अपनेपन के प्रति सजग, आरोपित मर्यादा तथा नैतिकता को तोड़कर भी स्वतः स्फूर्ति दायित्व से सम्पृक्त '**मनुष्य' की प्रतिष्ठा करना नयी कविता का प्रमुख उद्देश्य है। जिस तरह विज्ञान में परमाणु की महत्ता है उसी तरह काल में क्षण की महत्ता है। नये कवियों के लिए जीवन के हर क्षण का यथार्थ अद्वितीय है । क्षण–क्षण में विभक्त अनुभूति की ताज़गी उसके सृजन में काल की सूक्ष्म गति संश्लिष्ट तथा अविरल हो जाती है।**

नये कवियों का **संवेदन जगत देश की परिधि तोड़कर विश्व–संदर्भों में परिव्याप्त हो जाता है।** वह जहाँ से जैसा अनुभव करता है उसे वैसे ही कहना चाहता है। उसकी **यही व्यापक दृष्टि मनुष्य के भावों तथा समस्त क्रिया–कलापों को चित्रित करने में है।** मनुष्य के लघु जीवन में अच्छे–बुरे, आदर्श–यथार्थ के टुकड़े बना देने से वह और भी लघु हो जाता है। किसी एक अंश को रचना में समेट लेने से उसकी समग्रता खंडित हो जाती है। नया कवि जीवन को समग्रता में ग्रहण करता है। इसीलिए उसके तथ्य की सीमाओं में शिव–अशिव, शुभ–अशुभ, सुन्दर–असुन्दर सब कुछ आ जाता है। जैसे –

पढ़िए गीता

बनिए स्त्रोता

फिर इन सब में लगा पलीता

किसी मूर्ख की हो परिणीता

निज घर बार बसाइए।

होय कटीली

आँखे गीली

लकड़ी, सीली, तबियत ढीली

घर की सबसे बड़ी पतीली

भरकर भात पकाइए

नये कवियों में 'अहं' के प्रति विशेष संचेष्टता है। वह अपने अस्तित्व की स्वीकृति चाहता है और उसके माध्यम से जीवन, सौंदर्य और समाज का साक्षात्कार करता है।

नयी कविता के लोकोन्मुखी लहजे तथा लोक–सम्पृक्ति से भाषा तथा शिल्प दोनों में एक नूतन संजीदगी उत्पन्न होती है। उसमें ग्रामीण जीवन का बाह्य स्थूल वृत्त नहीं आता बल्कि लोक बिम्बों, प्रतीकों तथा नव उपमानों के माध्यम से जीवन की जटिल अनुभूतियों का साक्षात्कार होता है। नयी कविता में शब्दों का ठेठ प्रयोग परिवेशगत विशिष्ट अर्थ छवि को अंकित कर देता है। बिम्ब बहुलता नयी कविता की विशिष्ट पहचान है। मुक्तिबोध की कविता उद्धृत है –

मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक पत्थर में

चमकता हीरा

हर एक छाती में आत्मा अधीरा है

प्रत्येक सुस्मित में विमल सदा नीरा है

मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक वाणी में

महाकाव्य पीड़ा है।

डॉ० जगदीश गुप्त ने नयी कविता में शब्द लय की अपेक्षा अर्थ लय की महत्ता को विश्लेषित किया है। पद्य में ही नहीं गद्य में भी तथा मनुष्य के जीवन में भी एक लय है जो विविध, काव्यों, अवस्थाओं और परिस्थितियों में विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती रहती है। काव्य जीवन से अविछिन्न है। नयी कविता में चित्रात्मकता, लाक्षणिकता और वक्रोक्ति की प्रधानता है। उसमें रसानुभूति उतनी सम्भव नहीं है जितना सह–अनुभूति।

26.5 कठिन शब्द

1. चित्रात्मकता 2. लाक्षणिकता 3. अविछिन्न 4. अवस्था 5. संचेष्टता 6. साक्षात्कार 7. प्रक्रिया

8. समीक्षक 9. प्रस्फुटित 10. स्वच्छन्दतावादी ।

26.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्रश्न – वादमुक्त कविता का परिचय देते हुए इसकी प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिये।

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न – वादमुक्त कविता के प्रमुख कवि कौन से हैं उनका परिचय दीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न – वादमुक्त कविता के काल निर्धारण के विषय में विभिन्न विद्धानों के मतों का उल्लेख कीजिए।

_____

प्रश्न – नयी कविता के प्रवर्तक कौन हैं, स्पष्ट कीजिए।

टिप्पणी लिखिए

प्रश्न – नयी कविता का आशय।

_____

प्रश्न – प्रमुख कवि

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न – नाम निर्धारण

_____

_____

_____

_____

_____

26.7 पठनीय ग्रंथ

11. नामवर सिंह – छायावाद, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1990

2. हजारी प्रसाद द्विवेदी – ग्रंथावली, भाग–3, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1981

3.	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	–	हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2050
4.	रामस्वरूप चतुर्वेदी	–	हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, 1993
5.	डॉ. नगेन्द्र (सं.)	–	हिन्दी साहित्य का इतिहास, नेशलन पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली 1982
6.	डॉ. जयकिशन प्रसाद	–	हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा।
7.	डॉ. नामवर सिंह	–	आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, राजकमल प्रकाशन – नई दिल्ली,

.....

अकविता

27.0 रूपरेखा

27.1 उद्देश्य

27.2 प्रस्तावना

27.3 अकविता

27.3.1 लधु पत्रिकाएँ

27.3.2 अकविता का घोषणा पत्र

27.3.3 निषेध का प्रकाशन

27.3.4 अस्वीकृत कविता

27.3.5 बंगला का भूखी पीढ़ी काव्य

27.4 प्रमुख कवि एवं काव्य प्रवृत्तियाँ

27.5 सारांश

27.6 कठिन शब्द

27.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

27.1 उद्देश्य

– प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरांत आप

– अकविता को समझ सकेंगें

– लघु पत्रिकाओं के नाम जानेगें

– प्रमुख कवियों के बारे में जानेगें

– अकविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ क्या है, इस बारे में जानेगें।

27.2 प्रस्तावना

'प्रयोगवाद' एवं 'नयी कविता' के आन्दोलन की सफलता ने न केवल हिन्दी मुक्तक के क्षेत्र में घोर व्यक्तिवाद, अति यथार्थवाद, उन्मुक्त भोगवाद, क्षणवाद एवं लघुमानवतावाद की प्रतिष्ठा को बढ़ावा दिया अपितु उसने ऐसे नुस्खों एवं फार्मूलों का भी प्रचार–प्रसार किया जिनके द्वारा व्यक्तियों का कोई भी समूह बिना काव्य–प्रतिभा एवं साधना के अपनी शुष्क, नीरस, अस्पष्ट, दुरूह एवं काव्यत्व शून्य उक्तियों के आधार पर भी अपने युग के श्रेष्ठ कवियों की पंक्ति में विराजमान हो सकता है। अब यह भली–भाँति स्पष्ट हो गया था कि यदि पाँच–सात व्यक्ति मिलकर कविता का कोई नया नाम उछाल सकें, सामूहिक रूप में कोई 'कविता–संग्रह' प्रकाशित कर सकें, साथ ही कोई छोटी–बड़ी अनियतकालीन पत्रिका निकाल सकें तथा अपने बेतुके वक्तव्यों द्वारा चर्चा का विषय बनते हुए बहुचर्चित होने का गौरव प्राप्त कर सकें तो यह काव्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठित होने के लिए पर्याप्त है। ऐसी स्थिति में भले ही सामान्य पाठक एवं आलोचक उनकी रचनाओं में काव्यत्व के अभाव का आरोप लगाते रहें किन्तु उनका मुँह बन्द करने के लिए उन्हें परम्परावादी, आधुनिक बोध–शून्य रूढ़िवादी या पोंगापंथी घोषित किया जा सकता है।

27.3 अकविता सन् 1960 के बाद एक ओर तो लघु पत्रिकाओं की बाढ़ आ गयी, जिनकी संख्या सम्भवतः कई दर्जन है तो दूसरी ओर प्रत्येक लघु–पत्रिका की छत्र–छाया में कविता का कोई न कोई नया वाद या रूप पलने लगा। थोड़े ही वर्षों में हिन्दी कविता में इतने प्रकार की कविताएँ उभर आईं कि जिन्हें देखकर आश्चर्य होता है। डॉ० जगदीश गुप्त ने इन कविताओं के लगभग चार दर्जन नामों की सूची दी है।

27.3.1 कुछ लघु पत्रिकाओं के नाम हैं – समिधा, युयुत्सा, लय, अभिव्यक्ति, अकविता, उत्कर्ष, 'आज की कविता', विन्यास, आमुख, अन्तर, अगली कविता, आवेश, संकेत, उत्तरार्द्ध, सर्वनाम और बातचीत, विचार, वाम, गंतव्य, सप्तांशु, नया, निकेत, हस्ताक्षर, अनाहूत, अंकन, फिर, रचना, तेवर, अब, हम, अप्रत्याशित अर्थात् अधुना, न, युवा आदि।

सनातन सूर्योदयी कविता, अपरम्परावादी कविता, सीमान्तक कविता, युयुत्सावादी कविता, अस्वीकृत कविता, अकविता, सकविता, अन्यथावादी कविता, विद्रोही कविता, क्षुत्कार कविता, उत्कविता, विकविता, अभिनव कविता, अधुनातन कविता, नूतन कविता, निर्दिशायामी कविता, एब्सर्ड कविता, साम्प्रतिक कविता, बीट कविता, ठोस कविता, कोलाज कविता, बोध कविता, मुहूर्त की कविता, दीपान्तर कविता, अति कविता, टटकी कविता, ताजी कविता, अगली कविता, प्रतिबद्ध कविता, शुद्ध कविता, स्वस्थ कविता, नंगी कविता, गलत कविता, सही कविता, प्राप्त कविता, सहज कविता.....।

सन् 1960 के बाद विभिन्न संज्ञाओं से विभूषित इन काव्यान्दोलनों में से अधिकांश तो ऐसे हैं जो अपने जन्म के साथ ही समाप्त हो गये, आगे नहीं बढ़ सके। कुछ अवश्य ऐसे हैं जो वर्ष, दो वर्ष या अधिक से अधिक पाँच–सात वर्ष की आयु प्राप्त कर सके। आरम्भ में सात कवियों का एक काव्य–संग्रह इलाहाबाद से 'विद्रोही पीढ़ी' नाम से प्रकाशित हुआ। इसमें एक ओर

तो केशनी प्रसाद चौरसिया जैसे कवियों की यौन विकृतियों से परिपूर्ण कविताएँ थीं तो दूसरी ओर 'विद्रोह की दिशा' भी दिखाने की चेष्टा की गयी। वस्तुतः यह संग्रह अपने आप में अन्तर्विरोध का उदाहरण है।

सन् 1963 में जगदीश चतुर्वेदी के सम्पादन में चौदह कवियों का काव्य–संग्रह 'प्रारम्भ' शीर्षक से प्रकाशित हुआ जिसमें 'अभिनव काव्य' की स्थापना का दावा किया गया। यह अभिनव काव्य 'नयी कविता' से ही प्रेरित है, इसका प्रमाण सम्पादक के निम्नांकित वक्तव्य में उपलब्ध है –

'ये कवि उस 'अभिनव काव्य' के नियन्ता कहे जा सकते हैं जो सहज रूप से विकसित हो रहा है और जिसमें अनेक सम्भावनाएँ दिखाई देती हैं । यह संकलन उस कमी को पूरा करता है जो कि 'नयी कविता' की उपलब्धियों से अवगत होने के लिए आवश्यक प्रतीत हो रही थी। इन कविताओं को हिन्दी काव्य की अत्याधुनिक उपलब्धियों के रूप में मान्यता दी जा सकती है।' अन्यत्र यह भी कहा गया–'नयी कविता के उत्तरोतर विकास की स्वस्थ परम्परा इस संकलन के विभिन्न खण्डों में दिखाई देगी।'

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि 'प्रारम्भ' के सम्पादक का लक्ष्य नयी कविता का विरोध करना नहीं अपितु उससे जुड़ना था। किन्तु वे साथ ही यह चाहते थे कि 'नयी कविता' की अत्याधुनिक उपलब्धियों का श्रेय भी उन्हें दे दिया जाये। दूसरे शब्दों में वे अपने आपको 'नयी कविता' का पूरक बनाकर उसकी श्रेष्ठता के भी अधिकारी बन जाना चाहते थे। किन्तु यह बात स्वीकार्य नहीं हुई।

जगदीश चतुर्वेदी जब नयी कविता के साथ जुड़ने में सफल नहीं हो सके तो अगले वर्ष ही–सन् 1965 में–उन्होंने डॉ० इन्द्रनाथ मदान एवं रमेश कुन्तल 'मेघ' द्वारा सम्पादित 'अभिव्यक्ति' में नयी कविता के विरोध में वक्तव्य देते हुए 'अभिनव काव्य' को एक नया नाम "एंटी पोइट्री या अकविता" दे डाला। सन् 1963 में जो नयी कविता उनके लिए सकल गुणों की निधान थी वही अब सर्वथा त्याज्य बन गयी। उनके शब्दों में–"नयी कविता के मैनरिज्म और पिष्टपेषण से मुक्ति पाने के लिए गत सात–आठ वर्षों से प्रयास होते रहे हैं और अब यह स्थिति आ गई है कि एक स्वतन्त्र काव्य–धारा के रूप में उन सम्भावनाओं का मूल्यांकन तथा विवेचन किया जाये ..... सच तो यह है कि जहाँ अज्ञेय की रूचि पुरानी पड़ जाती है, सप्तकों के अधिकांश कवि चूक गए या पिष्टपेषण करते दिखाई देते हैं। वहीं से इस काव्य का श्रीगणेश होता है ।

27.3.2 अकविता का घोषणा–पत्र– ''अभिव्यक्ति'' की उपर्युक्त घोषणा में नयी कविता के विरोध के साथ '(एण्टी) कविता और अभिनव काव्य' का चार्टर भी प्रस्तुत कर दिया गया है जिसमें इसकी निम्नांकित विशेषताओं या प्रवृत्तियों का संकेत किया है–

(क) 'उन रूढ़ियों से मुक्त जोकि अनायास ही नयी कविता वादियों के द्वारा संश्लिष्ट हैं।'

(ख) 'अत्याधुनिक काव्य–बोध..... जो अपने वर्तमान के प्रति पूर्ण सजग है, सक्रिय है।'

(ग) 'अतीत के प्रति आकर्षण की दुर्बलता से मुक्त।'

(घ) 'अपनी पूरी तल्लीनता के साथ भोगे हुए क्षणों की एक तटस्थ अन्वेषक की भाँति अभिव्यक्ति।

(ड.) 'भाषा प्रतीक–योजना, बिम्ब विधान सभी पूर्ववर्ती कवियों से नितान्त भिन्न।'

(च) 'नैतिकता की सभी परम्परागत व्याख्याओं को नकारना।'

(छ) 'जीवन के विभिन्न विरोधाभासों को एक नया संदर्भ देना।'

(ज) 'एक सचेत बौद्धिक दृष्टिकोण लेकर कविता के शिल्प तथा वस्तु को एक सर्वथा नया रूप प्रदान करना।'

उपर्युक्त सारी बातें एक ही साँस में जिस प्रकार कही गयी हैं, उससे उनमें चिन्तन की गम्भीरता का अभाव परिलक्षित होता है तथा कुछ बातें–जैसे एकदम नयी भाषा, सर्वथा नये रूप, नितान्त भिन्न बिम्बों एवं प्रतीकों का प्रयोग आदि–हास्यास्पद नारेबाजी के तुल्य प्रतीत होती हैं। फिर भी इनमें इतना स्पष्ट हो जाता है कि अकविता के मूल में निषेधात्मक तत्त्वों की प्रेरणा अधिक थी जो 'अकविता' नाम को सार्थक करते हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अपने इस घोषणापत्र में जगदीश चतुर्वेदी का दृष्टिकोण इस नये काव्य आंदोलन के नाम के सम्बन्ध में स्पष्ट एवं स्थिर नहीं है, कहीं वे इसे 'एंटी काव्य' कहते हैं, कहीं 'अभिनव काव्य' तो कहीं ''आक्रोश काव्य'' । किन्तु अगले वर्ष ही अर्थात् सन् 1965 में श्याम परमार के सम्पादन में ''अकविता'' पत्रिका का विधिवत् आरम्भ हो जाने से यही नाम स्थिर हो गया।

''अकविता'' पत्रिका के प्रथम अंक में इस गुट से सम्बन्धित कवियों की रचनाएँ बिना किसी वक्तव्य या भूमिका के प्रकाशित की गयीं–केवल इसके फलैप पर यह घोषणा अवश्य की गई है–''वृहत्तर परिवेश से उपजी काव्य–रचनाएँ'' किन्तु इससे अकविता की किसी विशेष प्रवृत्ति पर प्रकाश नहीं पड़ता।

आगे चलकर क्रमशः '88 अकविता' पत्रिका के कुछ अंक और प्रकाशित हुए। प्रत्येक अंक में कविताओं के अलग–अलग शीर्षक दिये गये हैं जो इस प्रकार हैं–

1. विघटन 2. शरीर (वासना) 3. मृत्यु 4. नगर 5. व्यक्ति

ये शीर्षक अपने–आप में स्पष्ट नही हैं फिर भी ये 'अकविता' की जीवन–यात्रा के विभिन्न पड़ावों के सूचक अवश्य हैं। अकविता में सृजनात्मक दृष्टि की अपेक्षा ध्वंस को, संघटन की अपेक्षा विघटन को, सूक्ष्म तत्त्वों की अपेक्षा शारीरिक भोग को, जीवन के स्वस्थ दर्शन की अपेक्षा मृत्यु के दर्शन को, गाँवों की अपेक्षा नगर की कुण्ठाओं को तथा समाज की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया गया है। उपर्युक्त शीर्षकों से इन तथ्यों का संकेत मिलता है।

27.3.3 ''निषेध'' का प्रकाशन – 'अकविता' वस्तुतः निषेधात्मक मूल्यों की कविता थी–यह बात स्वयं जगदीश चतुर्वेदी के नये काव्य–संकलन 'निषेध' से भी स्पष्ट हो जाती है, जो सन् 1973 में प्रकाशित हुआ। इसमें 'अकविता' नाम के प्रति विशेष आग्रह दिखाई नहीं पड़ता है। अतः समझना चाहिए कि अकविता आंदोलन की ही परिणति 'निषेध' में हो गयी।

27.3.4''अस्वीकृत कविता''– 'निषेध' के प्रकाशन से पूर्व ही 'अकविता' की परम्परा को आगे बढ़ाने में योग देने वाले और भी कई आंदोलन मैदान में आये 'अस्वीकृत कविता' उल्लेखनीय है। इसकी स्थापना श्री राम शुक्ल ने 'उत्कर्ष' (जुलाई 1961) के माध्यम से करते हुए घोषित किया–''मैं और मेरे समकालीन कवि कविता नहीं लिखते, कविता का धोखा खड़ा करते हैं। साथ ही इन्होंने 'अस्वीकृत कविता' का नमूना प्रस्तुत करते हुए एक 'लम्बी कविता' भी प्रकाशित करवाई जिसका शीर्षक है–'मरी हुई औरत के साथ सम्भोग'। कविता का शीर्षक ही बताता है कि 'अस्वीकृत' के क्षेत्र

में ये कितने आगे बढे हैं। श्रीराम शुक्ल के अनेक अन्य सहयोगियों–शरद एवं मुद्राराक्षस–ने 'अस्वीकृत कविता' का दर्शन प्रस्तुत करते हुए अनेक मौलिक एवं चौंकाने वाली बातें कही हैं, जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण यह है–''लेखक वही है जो चाहे अपने लिए हो या दूसरों के लिए केवल मूर्खतापूर्ण चीज़ें ही लिखें।'' जहाँ तक इस वर्ग के लेखक का सवाल है, यह बात पूरी तरह खरी उतरती है। सचमुच, सच्चाई को इस तरह स्वीकार कर लेना भी 'अस्वीकृत कविता' की बहुत बड़ी उपलब्धि है।

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् यूरोप और अमरीका के साहित्य क्षेत्र में अनेक ऐसे आंदोलन उभरे जिनका दृष्टिकोण पूर्णतः निषेधपरक था–उन्होंने अपने समाज की परम्परागत मान्यताओं, नीतियों, नैतिकता के आदर्शों, शिष्टता की मर्यादाओं आदि का खुलकर विरोध किया। इस आंदोलन के साथ जुड़े हुए युवा वर्ग को अलग–अलग देशों में अलग–अलग संज्ञाएँ दी गयीं। फ्रांस में इन्हें समकालीन पीढ़ी एवं विश्वासघाती (कम. मतजमत) कहा गया तो इंग्लैण्ड में 'आक्रोशी पीढ़ी' (Angry Young Man) के नाम से पुकारा गया। इन्हीं के समानांतर अमरीका में 'बीट जैनरेशन' की स्थापना सन् 1942 में हुई। हिन्दी के अकविता आंदोलन का इसी 'बीट जैनरेशन' से सीधा सम्बन्ध है–इसे आगे स्पष्ट किया जाता है।

'बीट जैनरेशन' के प्रवर्तकों में **जैक कैरूआक** एवं **एलेन गिंसबर्ग** के नाम प्रमुख हैं। गिंसबर्ग का एक काव्य संग्रह सन् 1954 में 'हाउल' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था किन्तु उसकी समाज–विरोधी प्रवृत्तियों के कारण उसे पुलिस द्वारा ज़ब्त कर लिया गया, पर अदालत ने अपना निर्णय गिंसबर्ग के पक्ष में दे दिया जिससे उसकी ख्याति एवं लोकप्रियता में चार चाँद लग गये तथा उसका प्रभाव चारों ओर फैलने लगा।

सन् 1962–63 के आस–पास एलेन गिंसबर्ग अपने कुछ साथियों के सहित भारत आये तथा वे यहाँ लगभग दस महीने रहे। कलकत्ता और बनारस इनकी गतिविधियों के प्रमुख केन्द्र बने, जहाँ देश के सैंकड़ों युवा साहित्यकारों ने इनके सम्पर्क में आकर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव ग्रहण किया । साथ ही विभिन्न लोकप्रिय पत्रिकाओं में बीटनिकों के परिचय, चित्र, दिनचर्या के वृत्तान्त, इनकी जीवन–पद्धति एवं साहित्य प्रवृत्तियों के विवरण प्रकाशित हुए। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक था कि भारत का वह युवा वर्ग जो कि पहले ही भारतीय आदर्शों व संस्कारों से शून्य होकर पश्चिम के अन्धानुसरण के लिए लालायित था तुरन्त इनके प्रभाव में आ गया। फलस्वरूप बंगला कविता में 'भूखी पीढ़ी आंदोलन बड़ी तेजी से उभरा तथा आगे चलकर उसी की नकल पर हिन्दी में 'विद्रोह पीढ़ी' बीटनिक कविता, अकविता, अस्वीकृत कविता, शमशानी पीढ़ी' आदि अलग–अलग नामों से कई आंदोलन विभिन्न व्यक्तियों के नेतृत्व में प्रवर्तित हुए।

इन आन्दोलनों की विभिन्न संज्ञाओं से यह भ्रम हो सकता है कि ये परस्पर भिन्न होंगे। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। इन सभी का मूलमन्त्र एक ही है–अस्वीकृत या निषेध–किन्तु उसकी अभिव्यक्ति प्रत्येक ने अपने–अपने ढंग से की है, यह दूसरी बात है कि अपने–आपको सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने की होड़ में ये अनेक दृष्टियों से बीटनिक से भी आगे बढ़ गये हैं। वास्तविकता यह है कि बीटनिकों की अस्वीकृत उनके अपने देश–काल की विशिष्ट परिस्थितियों पर आधारित थी, जबकि इनकी अस्वीकृति आरोपित एवं आयातित है।

वस्तुतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय भाषाओं में रचित अकविता कविता उस बीट जैनरेशन की नकल है जो सभी प्रकार की समाजिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक मर्यादाओं के नियन्त्रण से मुक्त होकर जीना चाहती है। इसकी दृष्टि में समाज व्यक्ति को एक पशु–समूह में परिणत करके उसकी अन्तश्चेतना को सुषुप्त कर देता

है–अतः वह व्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता के लिए सामाजिक व्यवस्था एवं उसके सभी नियमों व प्रतिबन्धों को अस्वीकार कर देती है। बीट–दर्शन के अनुसार आज का व्यक्ति औद्योगिक सभ्यता की घुटन से छटपटा रहा है। जिससे वह अपनी आन्तरिक चेतना से विच्छिन्न हो गया है। इसलिए वह एक ऐसी जीवन–पद्धति को अपनाता है जिससे वह सभी बाह्य बन्धनों से मुक्त होकर जीवन का निर्बाध भोग कर सके। बीट पीढ़ी के काव्य में भी इसी दर्शन के अनुरूप कला, साहित्य, समाज, नीति एवं भाषा सम्बंधी सभी परम्परागत मूल्यों को अस्वीकार किया गया है।

27.3.5 बंगला का 'भूखी पीढ़ी' काव्य – जैसा कि संकेत किया जा चुका है, बीट का प्रभाव हिन्दी में मुख्यतः बंगला की 'भूखी पीढ़ी' के माध्यम से आया। बंगला भाषा में 'भूखी पीढ़ी' की स्थापना हिन्दी के काव्य आन्दोलनों से पूर्व हो चुकी थी, जिसकी चर्चा हिन्दी में भी समय–समय पर होने लगी। राजकमल चौधरी ने 'लहर' में लेख (1964) प्रकाशित करते हुए घोषित किया –'एलेन जीन्सबर्ग (गिन्सबर्ग) पैगम्बर बन गया और बंगला की नयी कविता को नया बाना, नया रंगरूप, नया वजीफा और नया औहदा मिल गया।' यह नया बाना और नया रंग–रूप कैसा है –इसका परिचय **सुविमल वसाक** ने अपने 'कलकत्ता और कलकत्ता' शीर्षक लेख में देते हुए 'भूखी पीढ़ी' के कवियों की जो विशेषाताएँ बताईं वे इतनी वीभत्स हैं कि उनकी चर्चा करने में भी संकोच होता है–स्वमुख में पेच्छाव (पेशाब) करने एवं रज से मुँह धोने या कुल्ला करने' से लेकर नारी और पुरूष के यौन अंगों के साथ भाँति–भाँति के खिलवाड़ करने तक इन्होंने अपने भ्रष्ट यौनाचरण, कुत्सित एवं वीभत्स क्रिया–कलापों का चित्रण जिस प्रकार की भौंडी एवं अश्लील शब्दावली में किया है, वह किसी भी शिष्ट समाज में सह्य नहीं हो सकता। सम्भवतः इन्होंने नग्नता, अश्लीलता एवं वीभत्सता के प्रदर्शन में एक नया कीर्तिमान स्थापित किया है।

हिन्दी के कुछ अकवितावादियों ने अपने पर बीटनिक प्रभाव का खण्डन किया है, किन्तु वे भूल गये कि "अभिव्यक्ति–1" (1964) में उन्होंने न केवल बीटनिक प्रभाव को स्वीकार किया है अपितु इसके 'बीटिनिक कविता' शीर्षक खण्ड के अन्तर्गत जगदीश चतुर्वेदी, श्याम परमार, नरेन्द्र धीर आदि ने अपनी कविताएँ प्रस्तुत करते हुए बीटनिक परम्परा से प्रत्यक्ष से सम्बन्ध स्थापित किया है, अतः उनका यह खण्डन निराधार है।

27.4 प्रमुख कवि एवं काव्य प्रवृत्तियाँ – अकविता आन्दोलन के साथ जुड़ने वाले कवियों में जगदीश चतुर्वेदी, श्याम परमार, कैलाश वाजपेयी, नरेन्द्र धीर, राजकमल चौधरी, रमेश गौड़, राजीव सक्सेना, गंगा प्रसाद विमल, परेश, मोना गुलाटी, मणिका मोहिनी, सोमित्र मोहन आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त 'अस्वीकृत कविता' के माध्यम अकविता काव्यान्दोलन को सहयोग देने की दृष्टि से श्रीराम शुक्ल और मुद्राराक्षस का नाम भी उल्लेखनीय है। इनके काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का निर्देश यहाँ किया जाता है।

27.4.1 परम्परागत तत्त्वों की अस्वीकृति – इन कवियों ने धर्म, संस्कृति, समाज, राष्ट्र एवं नैतिकता से सम्बन्धित प्रायः सभी परम्परागत तत्त्वों, मूल्यों एवं धाराओं का बहिष्कार किया है। इसीलिए कहीं उन्होंने ईश्वर की खिल्ली उड़ाई है तो कहीं धर्म, समाज और नैतिकता के परम्परागत मूल्यों का उपहास किया है। ईश्वर के सम्बन्ध में इनकी घोषणा है–

'मुझे अब नहीं करना है विश्वास

बदलते आकाश पर रिरियाते ईश्वर पर' **जगदीश चतुर्वेदी**

इसी प्रकार अपने पूर्वजों तथा कुटुम्ब परिवार के अंग्रेज़ों के प्रति भी इन्होंने घोर अवज्ञा का परिचय दिया है । जगदीश चतुर्वेदी अपने पिता का स्मरण किन शब्दों से करते हैं, यहाँ दर्शनीय है–

'बच्चा था तो पिता का जन्तु बाहर निकलने पर रोक लगाता था

'बाप ने मेरे चेहरे पर जो चाँटे जड़े थे, वे आज सूज आये हैं

और अगर देश के चेहरे पर मैं वही चांटे जड़ रहा हूँ

तो जनतन्त्र नाम का खरगोश चौंकता क्यों है ?'

इसी प्रकार पारिवारिक मर्यादाओं, सामाजिक व नैतिक मान्यताओं का भी इनकी दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है, इसीलिए वे घोषित करते हैं –**'माँ और बहन और प्रिया में अब कोई अन्तर नहीं दिखता है मुझे।'**अपनी इसी विकृत दृष्टि के कारण कुलटाएँ देवियाँ नजर आने लगती हैं और प्रत्येक स्त्री को देखकर उनका कम्पित हाथ उसके घुटने से ऊपर की ओर सरक जाता है।'

इन्होंने राष्ट्रीय गौरव, राष्ट्रभक्ति, देश प्रेम आदि की भी निन्दा करते हुए देश–प्रेम को **'एक अय्याशी का दिया हुआ महामन्त्र'** घोषित किया है। साथ ही अपने भारत देश की जैसी 'प्रशंसा' इन्होंने की है, वह भी दृष्टव्य है–

''हिन्दुस्तान तुम उस कपटी की सन्तान हो जिसने हमेशा

विभीषण और जयचन्द पैदा किये हैं,

हिन्दुस्तान! तुम्हारा शरीर सदियों के कोढ़ से विंधा है

हट जाओ मेरे सामने से पिचके कपोल

मैं तुम्हें देखकर शर्म से झुक जाता हूँ।'' **–जगदीश चतुर्वेदी**

इस प्रकार इन कवियों को सभी परम्परागत तत्त्वों, मूल्यों एवं आदर्शों से घृणा है जिसकी अभिव्यक्ति इन्होनें बार–बार की है।

27.4.2 उच्छृंखल भोगवाद – इनके काव्य की सर्वाधिक प्रमुख प्रवृत्ति उच्छृंखल भोगवाद, नग्न यौनवाद एवं अस्वाभाविक काम चेष्टाओं के चित्रण की है। इन्होंने जहाँ अपनी वासनाओं की तुष्टि के लिए न केवल प्रत्येक नारी को उपभोग्य घोषित किया है। अपितु वे विभिन्न पशु–पक्षियों से भी अस्वाभाविक एवं अप्राकृतिक सम्बन्ध स्थापित करने में कोई संकोच नहीं करते। इसीलिए कहीं वे 'मरी हुई नारी के साथ सहवास' में रत दिखाई पड़ते हैं तो कहीं विभिन्न मादा पशुओं या पक्षियों से यौन क्रीड़ा की चेष्टा करते हैं। इस क्षेत्र में पुरुष कवियों द्वारा तो अत्यन्त अश्लील एवं भौंड़ी उक्तियाँ कही गई हैं किन्तु आश्चर्य तो यह है कि इनके साथ जुड़ी हुई महिला कवयित्रियों ने भी निर्लज्जता, अश्लीलता एवं नग्नता के प्रदर्शन में कोई संकोच नहीं किया है। यहाँ मणिका मोहिनी की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं–

'सुबह होने से लेकर, दिन डूबने तक / मैं इन्तजार करती हूँ रात का

जब हम दोनों एक ही कोने में सिमटकर / एक दूसरे को

कुत्तों की तरह चाटेंगे /विवाह के बाद ज़िन्दा रहने के लिए

जानवर बनना बहुत जरूरी है।'

यहाँ कवयित्री ने नारी–पुरूष के मधुर सम्बन्ध के स्थान पर कुत्तों की तरह चाटने का जो आदर्श प्रस्तुत किया है उसमें स्नेह और प्रेम के स्थान पर पाश्विक वृत्तियों एवं वासना का ही आवेग अधिक है। वस्तुतः यौन– प्रवृत्तियों का ऐसा कुत्सित रूप जो मनुष्य को पशुता के स्तर तक पहुँचा दे मानसिक विकृतियों का सूचक है।

27.4.3 मानवता के महानाश की कामना –इन कवियों का उन्मुक्त भोगवाद जहाँ अन्त में इन्हें आत्मघात की ओर उन्मुख करता है वहाँ साथ ही वे समस्त मानवता को भी नष्ट कर देने की कामना करते हैं। अकाल मृत्यु के ग्रास बन जाने वाले राजकमल चौधरी का कथन था –

''मुझे दहशत नहीं होती सुनकर

कि एक पूरा मुल्क आग में झुलसा दिया जायेगा।''

इसी प्रकार जगदीश चतुर्वेदी की चाह है कि संसार की सारी यात्राएँ दुर्घटनाओं में बदल जाएँ जिससे कि वे मानव के महाविनाश की लीला देखने का आनन्द लूट सकें–

''मैं तमाम यात्राओं को दुर्घटना में बदलना चाहता हूँ

मैं प्रेम करते युग्मों को आग में जलते कंटूरों पर बिठाकर

मांस गन्ध को चिरचिराते देखना चाहता हूँ।

मैं चाहता हूँ विनाश

इन कीड़ों से मानव पिण्डों के लिए मेरे मन में कोई दया नहीं **–'इतिहासहन्ता' पृ0 2**

मानव का महाविनाश देखने की रूचि न केवल अकविता के पुरुष कवियों में ही है अपितु इस वर्ग की महिलाएँ भी इस दृष्टि से पीछे नहीं हैं। यहाँ मोना गुलाटी की कुछ उक्तियाँ प्रस्तुत हैं–

"मुझे नहीं आकांक्षा/किसी के जीवन या मृत्यु की,

काली और सपाट आँखों में/देखते हुए हत्याएँ करूँगी

और अपनी आत्महत्या/प्रतिशोध की अंधी गलियों में

दौड़ते हुए और भोगते हुए।" **–मोना गुलाटी**

यहाँ सबसे अधिक विचित्र बात तो यह है कि कवयित्री न केवल सबकी हत्याएँ करना चाहती है अपितु उसके साथ–साथ ही आत्महत्या की बात कहती है। किन्तु उसकी विशेषता यह है कि वह हत्या करे या आत्महत्या, पर प्रत्येक स्थिति में उसका एक कार्य–व्यापार निरन्तर चलता रहेगा–'भोगते हुए' अर्थात् मृत्यु के अन्तिम क्षण तक उसकी भोग–साधना बराबर चलती रहेगी।

27.4.4 लोकतन्त्र का विरोध – अकविता के प्रस्तोताओं को वैसे तो प्रत्येक प्रकार की व्यवस्था से घृणा है किन्तु लोकतन्त्र के प्रति उनकी विशेष अरूचि है जिसकी चर्चा उन्होंने अपनी अनेक कविताओं में की है–

(क) "आदमी को इस लोकतन्त्री सरकार से अलग हो जाना चाहिए,

चले जाना चाहिए कस्साबों, गाँजाखोर साधुओं, भिखमंगों,

अफीमची, रंडियों की काली और अंधी दुनिया के मस्सानों में।" **–राजकमल चौधरी**

(ख) "मुझे तानाशाही से लगाव है, जनतन्त्र के रिरियाते गीदड़ से नहीं,

मुझे वेश्यालयों में गन्दगी नजर नहीं आती।" **– जगदीश चतुर्वेदी**

वस्तुतः यहाँ दोनों कवियों का मूल स्वर एक ही है, जहाँ एक ने लोकतन्त्र से अलग होकर 'रंडियों के मस्सानों' में जाने की बात कही है तो दूसरे ने प्रजातन्त्र की अपेक्षा वेश्यालयों को अधिक स्वच्छ माना है।

27.4.5 कविता के प्रति हेय दृष्टिकोण– इस वर्ग के कवियों का कविता के प्रति कोई गम्भीर दृष्टिकोण नहीं है। उनके लिए वह एक छिछले मनोरंजन की वस्तु है। इस सम्बन्ध में इनकी कुछ उक्तियाँ प्रस्तुत हैं–

(क) "कविता के ज़रिये क्रान्ति होना नामुमकिन है। हाँ आप चाहें तो इससे हवा में लटठ् भाँज सकते है।"

जगदीश चतुर्वेदी ने कविता पर प्रवचन देते हुए और भी कई मनोरंजक बातें कही हैं। उनके विचार से कविता का महत्त्व इतना ही है कि उससे व्यक्ति 'स्मार्ट' लगता है पर उनकी एक शर्त यह भी है अच्छी कविता लिखने के लिए कवि को सूट–बूट और हैट पहनना चाहिए क्योंकि उनके विचार से लंगोट लगाने वाले और लिजलिजी धोती पहनने वाले लोग कविता नहीं लिख सकते।

'कविता अब एक लंगोट और लिजलिजी धोती से परे हैट में मिलती है।'

सम्भवतः कुछ लोगों को अकविता से आनन्द न मिले किन्तु इनके विचार से सफल कविता के लिए सबसे बड़ा गुण है–'लोगों की नींद हराम करना।' इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह विशेषता अकविता में पूरी तरह मिलती है। फिर भी यदि किसी को अकविता माफिक न आये तो उनके लिए जगदीश चतुर्वेदी का नुस्खा प्रस्तुत है–'आपको अकविता माफिक नहीं आती/आप ताकत की गोलियाँ लीजिए और सिर पर सुगन्धित तेल की बारह महीने एक मालिश कीजिए।'

इन सारी उक्तियों को सुनकर लगता है कि कोई कवि नहीं जोकर बोल रहा है और अपनी बेतुकी बातों से लोगों को कभी हँसाता है, कभी चिढ़ाता है तो कभी चौंकाता है। इस बात को स्वयं जगदीश चतुर्वेदी ने भी स्वीकार करते हुए लिखा है–

"एक बालिस्त भर का जोकर सारे शहर के लिए सिरदर्द है/दोजख से मिट्टी लाकर वह बौद्धिकों के सिर पर डाल देता है।"

निश्चय ही 'लोगों की नींद हराम करने' तथा 'बौद्धिकों के सिर पर दोजख की मिट्टी डालने' के लिए लिखी गयी कविताओं को विदूषकों की तत्त्व–शून्य मूर्खता–पूर्ण उक्तियाँ मानकर उपेक्षा की जा सकती है फिर भी इससे काव्य के उच्च आदर्शों, उसकी गौरवपूर्ण परम्पराओं एवं साहित्य के स्वस्थ वातावरण को जो क्षति पहुँचती है, उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। वस्तुतः केवल अपना नाम उछालने एवं सस्ती ख्याति प्राप्त करने की आकांक्षाओं से प्रेरित होकर इन्होंने साहित्य के क्षेत्र को जिस प्रकार दूषित एवं विकृत किया है उसके लिए इतिहास इन्हें क्षमा नहीं कर सकता।

27.4.6 अकविता के कवि अपने प्रति पूर्णतः ईमानदार हैं – उन्होंने अकविता में अंतर्विरोध स्वीकार कर अपने चिंतन में इसका प्रमाण स्वयं प्रस्तुत कर दिया है। अकविता में ऊब और निराशा का होना तथा कविता की स्वाभाविक दिशा घोषित होना परस्पर–विरोधी वक्तव्य है। इतना ही नहीं, इसमें एक साथ स्थिति का संतुलित स्तर तथा संबंधों की विकृति भी दृष्टव्य है। हमारे विचार में इन्हें इस स्थिति का बोध हो चुका था कि इस नाम, आंदोलन की पृथक्ता का कोई अर्थ नहीं हैं इसीलिए इनका प्रयास स्वयं को नई कविता से अलगाना रहा है। तभी इन्हें कहना पड़ा–पार्थक्य के नाते अकविता समग्रता विहीन, विवश, अनगढ़ एवं सीमांतक अनुभूति की अभिव्यक्ति है तथा भविष्य में क्या होगा–कविता मरेगी या जिएगी ? अकविता प्रतिष्ठित होगी या अँधड़ में नष्ट हो जाएगी, इसकी चिंता से कोई लाभ नहीं। वस्तुतः कथन में भले ही चिंता की प्रतीति न हो पर उनका आधार इसे आंदोलन रूप में प्रतिष्ठित करना रहा है। इसीलिए तो ये यहाँ तक घोषित करते हैं – सोचने पर कविता और नई कविता साधारण शब्द प्रतीत होते हैं– कविता शब्द में 'अ' जोड़ने से उक्त दोनों शब्दों के बासीपन से मुक्ति मिलती है।

साठोत्तरी कविता के आंदोलनों में अकविता का कई दृष्टियों से विशेष महत्त्व है। यद्यपि इसका उल्लेख डॉ० जगदीश गुप्त ने अपनी सूची में किया है। पर इसका प्रचलन काफी समय पश्चात् तक चलता रहा।

इसके पक्षधर कवि समीक्षकों में श्याम परमार का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सन् 1965 में डॉ० परमार तथा उनके कुछ सहयोगियों के संरक्षण में अकविता को पुनः प्रमुखता प्राप्त हुई। इसमें अतुल, विमल, गिरिजाकुमार माथुर, प्रभाकर माचवे तथा भारत इत्यादि कवियों के नाम प्रस्तावकों में परिगणित किए जाते हैं। इस काव्यधारा के कवियों में श्रीकांत वर्मा, कैलाश वाजपेयी, जगदीश चतुर्वेदी, मुद्राराक्षस, विष्णु चंद्र शर्मा, चंद्रकांत देवताले, सतीश जमाली, राजकमल चौधरी, केदारनाथ सिंह, परमानंद श्रीवास्तव, रामदरश मिश्र, राजीव सक्सेना, सौमित्र मोहन, त्रिलोचन, शमशेर बहादुर, प्रतीप चौधरी, सुविमल वसाक, वीर सक्सेना तथा उत्पल कुमार, वसु इत्यादि कवियों को समाविष्ट किया जाता है। एक प्रकार से उसे काव्य आंदोलन की सीमा में अकवि भी कहा जा सकता है। यहाँ ध्यातव्य यह है कि इस सूची के अधिकांश नाम नई कविता के पक्षधर, संस्थापक, प्रतिष्ठित कवियों में स्वीकृत हैं। फिर भी डॉ० श्याम परमार ने अकविता को अनेक पक्षों में विवेचित एवं प्रतिष्ठापित करने का उपक्रम किया है। इसके लिए लेखक ने अनेक वक्तव्य प्रस्तुत किए हैं। जो अकविता काव्य आंदोलन की पुष्टि हेतु दिए गए हैं। अकविता और कला संदर्भ पुस्तक में नई कविता को अनेक दृष्टियों से अपूर्ण स्वीकारते हुए उसकी चर्चा तथाकथित विशेषण से की है। पर अकविता को वे एक आंदोलन/वाद घोषित न करते हुए भी नई कविता की श्रेणी को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। अकविता पर लगाए आरोपों को नकारते हुए डॉ० परमार ने उसकी मूलस्थिति का परिचय दिया है। इसके स्पष्टीकरण हेतु लेखक ने अनेक प्रसंग प्रस्तुत किए

हैं। यथा–

(क) अकविता स्थितिपरक संतुलित स्तर की कविता है।

(ग) अकविता वस्तुतः कविता के ऊबे हुए लोगों की अभिवृत्ति है। यह ऊब नैराश्य जापा नहीं, न ही ऐसे लोगों की प्रतिक्रिया है, जिन्हें आईडेन्टिटी की आवश्यकता है। नैराश्य अब स्वभाव बन गया है।

(घ) अकविता अंतर्विरोधों की अन्वेषक कविता है।

(ङ) अकविता अवाक् मन की प्रतिक्रिया नहीं।

(च) अकविता स्वाभाविक कविता की दिशा है।

27.5 सारांश

उपर्युक्त वक्तव्यों अथवा सिद्धांत वाक्यों के अतिरिक्त लेखक ने अनेक स्थलों पर नई कविता पर व्यंग्य प्रहार करते हुए अकविता नाम की सार्थकता पर बल दिया है।

27.6 कठिन शब्द

1. वक्तव्य,	2. सिद्धांत	3. व्यंग्य,	4. परिगणित	5. संरक्षण,
6. प्रतिष्ठित,	7. अंर्तविरोध	8. संतुलित	9. अनुभुति	

27.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्रश्न – अकविता किसे कहते है? स्पष्ट करते हुए इसकी प्रवृतियों का उल्लेख कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न – अकविता के प्रमुख कवि कौन से है उनका परिचय दीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न – बंगला का भूखी पीढ़ी, काव्य से क्या आशय है।

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न – अकविता का घोषणा पत्र क्या है ? स्पष्ट किजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

27.8 पठनीय पुस्तकें

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ० नगेन्द्र

2 हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

3 हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामसजन पाण्डे

4 आधुनिक साहित्य की प्रवृतियाँ – नामवर सिंह

5. आधुनिक हिन्दी साहित्य – विकास के विविध आयाम – पुष्पपाल सिंह

6. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका – लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय

7. हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी – नंद दुलारे बाजपेयी

8. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ० बच्चन सिंह

_____

नवगीत

28.0 रूपरेखा

28.1 उद्देश्य

28.2 प्रस्तावना

28.3 नवगीत

28.4 नवगीत की प्रतिष्ठा

28.5 'नवगीत' का प्रचार–प्रसार

28.6 नवगीतः स्वरूप–वैशिष्टय

28.7 नवगीत : विशेषताएँ व उपलब्धियाँ

28.8 नवगीत की विषय वस्तु

28.9 सारांश

28.10 कठिन शब्द

28.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

28.12 पठनीय पुस्तकें

28.1 उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरांत आप –

– नवगीत के स्वरूप और वैशिष्टय को समझेंगे।

– नवगीत का नामकरण कब और कैसे हुआ ? जानेंगे।

– नवगीत की प्रतिष्ठा कब हुई जानेंगे।

– नवगीत का प्रचार – प्रसार कैसे हुआ जानेंगे

– नवगीत की विशेषताएँ एवं उपलब्धियों को समझेंगे।

28.2 प्रस्तावना

छायावादोत्तर काल में गीत–विधा की दो धाराएं सामने आईं। एक में **व्यक्तिनिष्ठ संवेदन और राग बोध** की अभिव्यक्ति हुई और दूसरी में राष्ट्रीय चेतना ओजपूर्ण स्वरों में मुखर हुईं प्रगतिवादी चेतना से अनुप्राणित गीतों में विचारधारा की स्फीति के कारण आत्मानुभूति की गहनता का अभाव रहा। पाश्चात्य काव्यान्दोलनों के प्रभाव से प्रयोगवादी काव्यान्दोलन चला। इस धारा में मुक्त छंद पर बल दिया गया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् 'नई कविता' का प्रस्ताव किया गया जिसमें छंद मुक्त और छंदबद्ध रचनाओं को समाहित कर लिया गया। डॉ० जगदीश गुप्त द्वारा संपादित 'नई कविता' त्रैमासिक पत्रिका में दोनों प्रकार की रचनायें प्रकाशित होती थीं। सभी पूर्ववर्ती धाराओं का अपनी पूर्व पहचान खोकर एक मंच पर आ जाना एक अभूतपूर्व घटना थी। इसी अर्थ में इसे नई कविता' की संज्ञा दी गई।

28.3 नवगीत

कालान्तर में नई कविता' बौद्धिक आग्रह के कारण मुक्त छंद की पक्षधर और गीतविरोधी हो गई। भावों के स्थान पर विचारों पर बल देने के कारण 'बुद्धि रस' की भी कल्पना की गई। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् की परिवर्तित मानसिकता ने भी वस्तु और शिल्प के धरातल पर नवीनता की मांग की। जीवन की जटिलता को अभिव्यक्ति देने के लिये मुक्त छंद अधिक अनुकूल सिद्ध हुआ। मुक्त छंद की गद्यवत् भाषा में काव्य–सृजन सरल हो गया। कवियों की संख्या बढ़ी, किन्तु अपेक्षित सामर्थ्य के अभाव में अराजक स्थिति भी उत्पन्न हुई। दूसरी ओर छांदस रचनाओं को असमर्थ मानकर उन्हें कालवाह्य घोषित कर दिया गया। कुछ समर्थ कवियों ने नई कविता की इस चुनौती को स्वीकार किया और अपनी प्रतिभा, सामर्थ्य से सिद्ध किया कि जटिल यथार्थ को रागात्मकबोध के साथ छांदस रचना में अभिव्यक्त किया जा सकता है। इसी स्थिति में **'नवगीत'**– विधा का प्रस्ताव किया गया। नवगीत अर्थात् ऐसा गीत जो समस्त पारंपरिक रूढ़ियों से मुक्त होकर, आम आदमी को आशाओं–आकांक्षाओं, सीमाओं–संभावनाओं, सफलताओं–विफलताओं, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक स्थितियों को रागात्मबोध के साथ छंदबद्ध रूप में अभिव्यंजित कर सके।

नवगीत का नामकरण बहुत बाद में हुआ, किन्तु उसके उत्स भारतेन्दु काल से ही अस्तित्ववान हो गये थे। 'निराला' की रचनाओं में नवगीत की प्रकृति प्रायः स्पष्ट हो गई थी। जिस प्रकार छंद मुक्त 'नई कविता' का आरंभ 'निराला' से माना जाता है उसी प्रकार नवगीत का आरंभ भी 'निराला' से ही माना जाता है। 'नवगति , नव लय, ताल छंद नव' की प्रबल आकांक्षा के साथ ही उन्होंने 'नव नभ के नव विहंगवृंद के लिये 'नव पर, नव स्वर' की भी प्रार्थना की। इसमें सर्वथा नूतन अन्तर्वस्तु और शिल्प के साथ रूढ़िमुक्त उन्मुक्त वातावरण का स्पष्ट आग्रह है। 'निराला' ने कविता की मुक्ति को मानव मुक्ति के साथ जोड़कर मुक्त छंद की सार्थकता को रेखांकित किया था, मुक्त छंद में अनेक सफल रचनाएँ भी की थीं। किन्तु 'निराला' जी मुक्त छंद के साथ छंद से मुक्ति के पक्षधर नहीं थे। वे केवल काव्यरूढ़ियों की जड़ता के विरोधी थे। इसीलिये

वे आजीवन छंद–साधना करते रहे। उनके 'गीतिका' 'अर्चना' 'आराधना' 'गीत गुंज' और 'सांध्य काकली' जैसे काव्य संकलनों में गीत विधागत वस्तु और शिल्प के अनेक आयाम सामने आये।

"मैं अकेला/देखता हूं, आ रही/ मेरे दिवस की सांध्य बेला।"

"स्नेह निर्झर बह गया है। रेत सा तन रह गया है।"

प्रस्तुत पंक्तियों में भाषा, बिंब, प्रतीक और यथार्थ जीवन की कटु अनुभूतियों का जो रूप प्रकट हुआ है, 'नवगीत' की मुख्य पहचान है। उनके प्रसिद्ध गीत "बांधो न नाव इस ठांव बन्धु/पूछेगा सारा गांव बन्धु" को मर्यादित प्रेम की उत्कटता, अनुभूति की गहनता और प्राणवान परिवेशिक बिंबात्मकता के कारण नवगीत विधा को प्रेमपरक गीतों की गंगोत्री माना गया है। सुमित्रानन्दन पंत और माखनलाल चतुर्वेदी के गीतों में भी वस्तु और शिल्प के अनेक नये आयाम उद्घाटित हुए । छायावादोत्तर काल में नरेन्द्र शर्मा, बच्चन, अंचल, नेपाली अथवा राष्ट्रीय धारा के बालकृष्ण शर्मा नवीन, 'दिनकर', सोहनलाल द्विवेदी जैसे कवियों में यत्र–तत्र अभिनव कल्पना के साथ यथार्थबोध का स्वर मुखर हुआ। किन्तु जन–जीवन के साथ तदाकार होने का रागात्मक बोध उनमें अनुपस्थित है। इसलिये इस कालखण्ड में निराला की जन्मोन्मुखी और जीवनवादी काव्यधारा में गतिरोध आया। परवर्ती काल की गीत–विधा में नवोन्मेषशालिनी प्रतिभाओं के आगमन से इसे पुनः गति मिली। अज्ञेय, गिरिजा कुमार माथुर, कुंवर नारायण, नरेश मेहता, प्रभाकर माचवे, भवानी प्रसाद मिश्र, जगदीश गुप्त, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, धर्मवीर भारती, रामदरश मिश्र जैसे कवियों ने नई कविता के साथ गीतों की भी रचना की। इनके गीतों में वस्तु और शिल्प की नवता के साथ सामाजिक संपृक्ति और लोक संपृक्ति के भाव बड़ी सफलता के साथ अभिव्यक्त हुए। जानकी वल्लभ शास्त्री, बलबीर सिंह 'रंग', ठाकुर प्रसाद सिंह, शिवबहादुर सिंह भदौरिया, राजेन्द्र प्रसाद सिंह, वीरेन्द्र मिश्र, राम मनोहर त्रिपाठी, रमानाथ अवस्थी, शंभूनाथ सिंह, रवीन्द्र भ्रमर, केदारनाथ सिंह, हंसकुमार तिवारी, उमाकान्त मालवीय, भारत भूषण, रघुवीर सहाय जैसे गीतकारों ने गीत–विधा को नये रूप में समृद्ध किया। इनके गीतों में नूतन सौंदर्यबोध, मध्यवर्गीय जीवन की त्रासद स्थितियों, विभिन्न स्तरों पर व्याप्त भ्रष्ट व्यवस्थाओं, टूटते सांस्कृतिक मूल्यों, बदलते मानवीय संबंधों, आम आदमी के दुःख–दर्द की व्यंजना ज्ञानात्मक संवेदन और रागात्मक बोध के साथ की गई। नागार्जुन, त्रिलोचन शास्त्री और केदारनाथ अग्रवाल ने भी अनेक गीत लिखे।

नये गीतकारों में माहेश्वर तिवारी, उमाकांत मालवीय, सोम ठाकुर, रामचन्द्र चन्द्रभूषण, श्रीकृष्ण तिवारी, बालस्वरूप राही, हरीश भदानी, कुंवर बेचैन, श्यामसुन्दर घोश, उमाशंकर तिवारी, नईम, अनूप अशेष, ओम प्रभाकर, गुलाब सिंह, राजेन्द्र गौतम, कुमार रवीन्द्र, अखिलेश कुमार सिंह, ज़हीर कुरेशी, बुद्धिनाथ मिश्र, दिनेश सिंह, देवेन्द्र वर्मा 'इन्द्र' जैसे अनेक सफल गीतकार हैं जो इस विधा को समृद्ध कर रहे हैं।

यद्यपि 'नयागीत' या 'नवगीत' जैसे शब्दों की चर्चा पहले भी मिलती है किन्तु सन् 1955–56 से पहले किसी ने इसे गम्भीरता से नहीं लिया था किन्तु जब 'नयी कविता' के नेताओं ने गीति को काव्य के क्षेत्र से ही बहिष्कृत करने का प्रयास किया तो इससे गीतिकारों के भी आत्म–सम्मान को गहरी चोट पहुंची और उन्होंने भी पूरी शक्ति से 'गीतिकाव्य' को 'नवगीत' के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए उन सभी साधनों एवं माध्यमों का उपयोग किया जो कि प्रयोगवाद एवं 'नयी कविता' के प्रतिष्ठाताओं के द्वारा प्रयुक्त हो चुके थे। निश्चय ही 'नयी कविता' के पृष्ठ पोषकों द्वारा यह चुनौती न मिली होती तो 'नवगीत' कभी भी एक संगठित शक्ति के रूप में उभरकर नहीं आता। डॉ0 शम्भूसिंह ने इस तथ्य को रेखांकित करते हुए लिखा है –"नयी कविता के कवियों ने गीत–रचना को पिछड़ेपन की निशानी मानकर उससे अपने को पूर्णतः विच्छिन्न कर लिया। ..... नवगीत न कभी काव्यान्दोलन था, न आज है।

वह तो नयी कविता का जुड़वाँ भाई है जिसे नयी कविता ने वयस्क होकर साज़िश द्वारा अपने शिविर से बहिष्कृत कर दिया। इस तरह नवगीत का रास्ता नयी कविता के रास्ते से अलग हो गया।"

28.4 'नवगीत' की प्रतिष्ठा – यद्यपि 'नयी कविता' के समानान्तर 'नया गीत', 'आज का गीत', 'आधुनिक गीत' की चर्चा छठे दशक के आरम्भ से ही यत्र–तत्र होने लग गयी थी, किन्तु इसकी सुस्पष्ट रूप मे घोषणा सन् 1957 में ही हुई जबकि इलाहाबाद के साहित्य–सम्मेलन की कविता–गोष्ठी में वीरेन्द्र मिश्र 'नयी कविता : नया गीत : मूल्यांकन की समस्याएं' शीर्षक निबन्ध को पढ़ते हुए घोषित किया – 'हिन्दी में नये गीत का जन्म हुआ है। यह नया गीत फार्म और कण्टेन्ट – दोनों ही पक्षों में समृद्ध हुआ है।'

उपर्युक्त घोषणा को ठोस आधार प्रदान करने का श्रेय **राजेन्द्र प्रसाद सिंह** को है जिन्होंने फरवरी, 1958 ई0 में अपने द्वारा संपादित एवं प्रकाशित रचना 'गीतांगिनी' में आधुनिक युग के लगभग सत्तर कवियों की रचनाओं को संकलित रूप में प्रस्तुत करते हुए इसे 'नवगीत –संकलन' की संज्ञा दी। इसकी भूमिका में 'नवगीत' के विभिन्न पक्षों पर विचार करते हुए इन्होंने स्पष्ट किया 'हिन्दी कविता में प्रयोगवाद के उत्थान के साथ ही साहित्य की पूर्वागत मान्यताओं पर चोट पड़ने लगी और मौलिकता, नवीनता, आधुनिकता, प्रयोग, जटिल संश्लेषण, अनुबिम्बन, छन्द– विरोध, मनोवैज्ञानिकता और राहों का अन्वेषण, आन्दोलन की तीव्रता से चल पड़ा। ..... प्रगति और विकास की दृष्टि से उन रचनाओं का बहुत मूल्य है जिनमें नयी कविता के प्रगति का पूरक बनकर 'नवगीत' का निकाय जन्म ले रहा है।

'नव गीत' के पांच तत्त्व ऐसे हैं जो नयी कविता के तत्त्वों से पृथक हैं – वे तत्त्व हैं – (1) जीवन– दर्शन (2) आत्मनिष्ठा (3) व्यक्तित्व बोध (4) प्रीति–तत्त्व और (5) परिसंचय।

'गीतांगिनी' की भूमिका में तत्कालीन गीति–काव्य की स्थिति का विवेचन करते हुए कहा गया है – ''वस्तु स्थिति यह है कि अधिक गीतकार रचना की दिशा में विषयगत और शैलीगत नवीनता के साथ उचित प्रगति नहीं कर पा रहे हैं और पूर्वागत सीमाओं से, उन रूचियों और त्रुटियों से इस तरह (लापरवाह और अनुत्तरदायी होकर) आग्रह–बद्ध हो गये हैं कि प्रगति के क्षेत्र का पिछला गत्यवरोध गीत के क्षेत्र में आ गया है।''

इस प्रकार 'गीतांगिनी' के सम्पादक ने गीतकारों को परम्परागत सीमाओं से युक्त होने के लिए प्रेरित करते 'नवगीत' के आदर्श रूप का भी संकेत संक्षेप में दिया है –''.....ऐसे ध्यातव्य कवियों का अभाव नहीं है जो मानव–जीवन के ऊँचे और गहरे, किन्तु सहज नवीन अनुभव की अनेकता, रमणीयता, मार्मिकता, विच्छति और मांगलिकता को अपने विकसित गीतों में सहज–संवार कर नयी टेकनीक से, हार्दिक परिवेश की नयी विशेषताओं का प्रकाशन कर रहे हैं।''

आगे चलकर इसे और स्पष्ट करते हुए कहा गया है–'समकालीन हिन्दी कविता की महत्त्वपूर्ण और महत्त्वहीन रचनाओं के विस्तृत आन्दोलन में गीत–परम्परा 'नवगीत' के निकाय में परिणति पाने को सचेष्ट है।'नवगीत'–नयी अनुभूति की प्रक्रिया में संचयित मार्मिक का आत्मीयतापूर्ण स्वीकार होगा, जिसमें अभिव्यक्ति के आधुनिक निकायों का उपयोग नवीन प्रविधियों का संतुलन होगा।

उपर्युक्त घोषणा को हम 'नवगीत' का संक्षिप्त घोषणा–पत्र मान सकते हैं जिसमें विभिन्न विशेषताओं का समावेश संकेतात्मक रूप में हो गया है। वस्तुतः 'नवगीत' की स्थापना का लक्ष्य परम्परागत गीत की भाव–भूमि को व्यापक करने, उसमें नयी अनुभूतियों एवं नूतन संवेदनाओं का संचरण करने अपने परिवेश के साथ उसका हार्दिक

सम्बन्ध स्थापित करने एवं अभिव्यंजना–शैली को आधुनिक बनाने का था–जिनका संकेत 'गीतांगिनी' की भूमिका में दिया गया है।

अस्तु, 'गीतांगिनी' के सम्पादक ने न केवल 'नवगीत' संज्ञा को सम्यक् रूप में प्रतिष्ठित करके उसे सुदृढ़ आधार प्रदान किया अपितु उसने उसके विकास की भावी दिशाओं एवं नयी राहों का भी संकेत स्पष्ट रूप में किया है।

28.5 'नवगीत' का प्रचार–प्रसार – आगे चलकर नवगीत का प्रचार–प्रसार विभिन्न पत्रिकाओं एवं गोष्ठियों के माध्यम से द्रुतगति से हुआ। 'वासन्ती' पत्रिका में 1962 में 'नये गीत : नये स्वर ' लेखमाला का प्रकाशन हुआ तो 'वातायन' ने तीन वर्षों (1964, 65, 66) तक गीत–विशेषांकों का प्रकाशन किया। इनके अतिरिक्त 'धर्मयुग', साप्ताहिक हिन्दुस्तान, माध्यम, उत्कर्ष, गीत, लहर आदि पत्र–पत्रिकाओं ने भी सन् 1964 से 67 की अवधि के बीच नवगीत सम्बन्धी अनेक लेख प्रकाशित करके इसको बहुचर्चित बनाये रखा।

'प्रज्ञा' (दिल्ली), 'साहित्यिकी' (कलकता), 'संगायन' (बम्बई) आदि संस्थाओं ने भी इसी कालावधि में नवगीत पर अनेक गोष्ठियों का आयोजन करके नवगीत की चर्चा को आगे बढ़ाने में योग दिया।

साथ ही विभिन्न गीतिकारों– रवीन्द्र भ्रमर, वीरेन्द्र मिश्र, बालस्वरूप राही आदि– के निजी गीत संकलनों तथा 'कविता' (1964), 'गीत' (1965), 'पाँच जोड़ बांसुरी' सम्पादक – चन्द्रदेव सिंह (1965) आदि सम्मिलित संकलनों के प्रकाशन से भी नव गीत को बल मिला। वस्तुतः 'नयी कविता' की स्थापना के लिए जिन साधनों एवं माध्यमों का उपयोग किया गया था, उन सभी का प्रायः नवगीतकारों द्वारा भी प्रयोग हुआ तथा इसके फलस्वरूप नवगीत एक सशक्त एवं व्यापक विधा के रूप मे उभर कर आगे आने में सफल हो गया। अब वह 'नयी कविता' का पिछलग्गू या उसका पूरक मात्र न रहकर एक स्वतन्त्र एवं शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी के रूप में साहित्य–क्षेत्र में प्रतिष्ठित हो गया।'

28.6 नवगीत : स्वरूप–वैशिष्टय – यद्यपि नवगीत की आधारभूमि छायावादी गीतिकाव्य ही है किन्तु उसने परवर्ती काव्यान्दोलनों–प्रगतिवाद, प्रयोगवाद व नयी कविता के संसर्ग का भी पूरा लाभ उठाया; अतः उसमें इन सभी के थोड़े बहुत संस्कार विद्यमान हैं। छायावादी काव्य में वैयक्तिकता का आग्रह इतना अधिक था कि वह अपने युग और परिवेश से पूरी तरह कटा हुआ दृष्टिगोचर होता है किन्तु नवगीत में ऐसा नहीं है। वहाँ व्यक्ति है किन्तु वह अपने युग और समाज को खुली आँखों से देखता है तथा तद्विषयक अपनी प्रतिक्रिया को व्यक्त करता है। इसीलिए उसमें तद्युगीन परिवेश की अनुगूंज सर्वत्र सुनाई पड़ती है। छायावाद को स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह भी कहा गया है किन्तु नवगीत में स्थूल और सूक्ष्म–दोनों अपने–अपने स्थान पर सुसमन्वित हैं। छायावादी काव्य में कल्पना, अलौकिकता एवं अध्यात्म की प्रमुखता बताई जाती है जबकि नवगीत में अपेक्षाकृत बौद्धिकता, यथार्थता एवं लौकिकता का एकान्त संयोग है।

आज का नवगीत अनेक दृष्टियों से छायावाद की अपेक्षा प्रगतिवाद के अधिक निकट है। प्रगतिवादी कवियों की ही भाँति नवगीतकार घोर वैयक्तिकता से ग्रस्त न होकर सामाजिक यथार्थ के प्रति सजग है। दोनों ने ही जीवन से पलायन करने की अपेक्षा संघर्ष को महत्त्व दिया है। प्रकृति, सौन्दर्य एवं प्रेम सम्बन्धी दृष्टिकोण की दृष्टि से भी नवगीतकार छायावाद की अपेक्षा प्रगतिवाद के अधिक निकट हैं क्योंकि वे इस क्षेत्र में सूक्ष्म कल्पनाओं एवं संवेदनाओं की अपेक्षा स्थूल भौतिक रूपों एवं शारीरिक सम्बन्धों पर अधिक बल देते हैं तथा अभिव्यंजना की दृष्टि से भी दोनों लोक–भाषा एवं शैली से अधिक प्रभावित हैं।

हरिवंशराय बच्चन ने गीत के संबंध में कहा था –"गीत एकांतिक अवसाद की वैयक्तिक रागिनियों का रेखांकन

है।" 'नवगीत' को उक्त परिभाषा स्वीकार नहीं थी। 'नवगीत' ने 'एकांतिक' अवसाद की भावभूमि को छोड़कर सामूहिक संवेदना को स्वीकार किया। परिणामस्वरूप उसकी प्रवृत्ति जनोन्मुखी हो गई। इसी प्रवृत्ति ने नवगीतकारों को जीवन की जटिल अनुभूतियों को गीतात्मक अभिव्यक्ति देने की कठिन चुनौती को स्वीकार करने का साहस और संकल्प प्रदान किया। नव गीतकारों ने देशकाल सापेक्ष आधुनिक बोध के साथ, भारतीय काव्य–परंपरा के उज्ज्वल पक्षों से पोषित लोकचेतना से अनुप्राणित, राष्ट्रीय चेतना से संपृक्त, जनोन्मुखी समष्टिमूलक संवेदना का सहज भाषा में, नादयुक्त छांदस लयात्मकता के साथ अभिव्यंजन किया। सितम्बर 1986 में नवगीतकारों का वाराणसी में 'नवगीत अर्द्धशती समारोह' हुआ। इस समारोह में नवगीतकारों ने छांदसिकता, संवदेनशीलता, ग्राहयता, संप्रेषणीयता, बिंबात्मकता, सादगी, अप्रतिबद्धता, जनसंपृक्ति, जातीय बोध, सामाजिक यथार्थबोध, मानव की प्रतिष्ठा, भारतीय आधुनिकता, सांस्कृतिक चेतना, परंपरा पोषित नवता, सौन्दर्य और प्रेम की मानवीय दृष्टि, गत्यात्मकता, आम आदमी की उपस्थिति जैसी सत्रह विशेषताओं को नवगीत के लिये आवश्यक माना।

डॉ० शंभूनाथ सिंह ने 'नवगीत' के विकास के चार चरण माने हैं। प्रथम चरण 1935 से 50 तक है जिसमें 'निराला' से लेकर प्रगतिवादी और प्रयोगवादी उन कविताओं तक का समावेश है जिनमें 'नवगीत' का अंकुरण हो रहा था। द्वितीय चरण में सन् 1951 से 60 तक के गीतों का समावेश है। इस काल खंड में नवगीत का स्वरूप स्पष्ट हो गया था। इसी दशक के अंत में 'नवगीत' संज्ञा भी निश्चित हुई। इसी कालविधि में कुछ महत्त्वपूर्ण नवगीत संग्रह भी प्रकाशित हुये। "गीतम" वीरेन्द्र मिश्र (1953) "दिवलोक" "माध्यम में" डॉ० शंभूनाथ सिंह (क्रमशः 1953, 1955) "वंशी और मांदल" ठाकुरप्रसाद सिंह (1959) वीरेन्द्र मिश्र ने अपने इसी प्रथम संग्रह में घोषित किया था–

दूर होती जा रही है कल्पना
पास आती जा रही है ज़िन्दगी

तृतीय चरण में 1961 से 1970 तक के गीतों का समावेश है। इस कालावधि में नई कविता में बिखराव की अराजक स्थिति उत्पन्न हुई, किन्तु नवगीत दृढ़ता से अग्रसर होता रहा। पत्र–पत्रिकाएँ उसे सम्मानित करती रहीं। अनेक संग्रह प्रकाश में आये, विचार गोष्ठियाँ आयोजित हुईं, पत्रिकाओं के नवगीत केन्द्रित विशेषांक निकले। सन् 1971–1985 तक का काल खंड विकास का चौथा चरण माना गया है। आठवें दशक में नवगीत अन्यान्य प्रवृत्तियों और विशेषताओं को अपने में समेटकर परिपूर्ण बन गया। विसंगति बोध, जनोन्मुखता, संघर्ष–चेतना अस्मिता की पहचान, भारतीयता में निष्ठा, लोक संपृक्ति, यथार्थबोध, मानवीय करुणा, सांस्कृतिक चेतना, मूल्यनिष्ठा जैसी विशेषतायें आज तक के नवगीतों में सरलता से देखी जा सकती हैं।

पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित होने और मंचों पर प्रस्तुत किये जाने के अतिरिक्त नवगीतकारों के अनेक गीत संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जो नवगीत का सफल प्रतिनिधित्व करते हैं। 'जलते शहर में' (उमाशंकर तिवारी) 'रवीन्द्र भ्रमर के गीत' (रवीन्द्र भ्रमर) 'गीत विहाग उतरा' (रमेश रंजक) 'झुलसा है छायानट धूप में' (वीरेन्द्र मिश्र) 'गीत के हंस' (राम मनोहर त्रिपाठी) 'ओ प्रतीक्षित' (शांति सुमन) 'किरण के पांव' (रमेश रंजक) 'पुष्पचरित' (ओम प्रभाकर) 'मेंहदी और महावर' 'सुबह रक्त पलाश की' (उमाकांत मालवीय) 'जहां रक्त नीला है' (शंभुनाथ सिंह) 'लौट आएंगे सगुन पंछी' (अनूप अशेष) 'ऋतु वृंदावन' (सुरेश श्रीवास्तव) 'पथराई आँखें' (नईम) 'हरसिंगार कोई तो हो' (माहेश्वर तिवारी) 'एक चावल स्नेह रींधा' (उमाकांत मालवीय) 'शेष रहने के लिए' (राम सेंगर) 'सोत नदी बहती है' (उर्मिलेश) 'मोम के घर' (नीलम श्रीवास्तव) 'बरगद जलते हैं' (राजेन्द्र गौतम) 'किरण सतरंगी' (माधव मधुकर) 'धूप सिरहाने खड़ी' (राम

अधीर) 'धूल भरे पांव' (गुलाब सिंह) 'कहो सदाशिव' (यश मालवीय) 'गीत वंश' (मधुकर गौड़) जैसे अनेक नवगीत संग्रह प्रकाशित हुये हैं जिनसे नवगीत की स्वतंत्र और सार्थक पहचान बनी है।

वस्तु तत्व की दृष्टि से नवगीत ने पारंपरिक गीत–विधा की कल्पना प्रधान अति भावुक कोमल भूमि को छोड़कर दायित्व–चेतना को पूर्ण सजगता के साथ, यथार्थ जीवन की युगव्यापी विकृतियों को वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखा और उनके कारणों की खोज की। सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक, साहित्यिक क्षेत्रों की भ्रष्ट प्रवृत्तियों से आहत, आत्मसंघर्ष की पीड़ा नवगीतकारों के भावबोध का प्रमुख घटक तत्त्व बनी। यह अनुभव आकस्मिक नहीं था। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् जीवन के विविध स्तरों और क्षेत्रों में इस जनविरोधी भयानक युग–सत्य से साक्षात्कार किया जा रहा था। न्यस्त स्वार्थ, अकरुण शोषण, विवेकहीन मूल्यहीनता, व्यापक भ्रष्टाचार, अशिक्षा, बेरोजगारी, ईर्ष्या–द्वेष आदि के प्रति तीव्र आक्रोश उभर रहा था। साहित्य की सभी विधाओं में इस असंतोष और आक्रोश को व्यक्त किया जा रहा था। नवगीत की विशेषता यह रही कि उसमें तीव्र संक्षोभ को भी लय–ताल बद्ध छांदस रचनाओं के माध्यम से व्यक्त किया गया। वर्तमान की त्रासदी को व्यक्त करने वाले कुछ नवगीतकारों में रवीन्द्र भ्रमर, जगदीश श्रीवास्तव, योगेन्द्र दत्त शर्मा, श्रीकृष्ण तिवारी, विनय भदौरिया उद्धरणीय हैं।

इनमें मानवीय नियति की वर्तमान त्रासदी की गहन अनुभूति और रागात्मक बोध के साथ चित्रण हुआ है। इनमें तटस्थ द्रष्टा के अनुभव का नहीं भोक्ता मन की वेदना–विकल छटपटाहट का पीड़ा बोध है। नवगीतकारों में यह पीड़ा–बोध कहीं–कहीं पर असह्य हो उठा है और उसकी बेचैन मनीषा आर्तनाद कर उठी है। ऐसे नवगीतकारों में अनूप अशेष, राजेन्द्र गौतम, राधेश्याम बन्धु, राममनोहर त्रिपाठी की अभिव्यक्तियों को भी देखा जा सकता है ।

28.7 नवगीत : विशेषताएँ व उपलब्धियाँ

हिन्दी काव्य में नवगीत का विकास अपनी परम्पराओं एवं परिवेशगत चुनौतियों के आधार पर सहज स्वाभाविक रूप में हुआ; उसका आरोपण पाश्चात्य काव्य की प्रवृत्तियों के आधार पर कृत्रिम रूप में नहीं हुआ। यही कारण है कि नवगीत की स्थापना किसी एक नेता द्वारा किसी निश्चित तिथि से विधिवत घोषणापूर्वक नहीं हुई– यह दूसरी बात है कि इसके स्वतन्त्र अस्तित्व को अनुभव करते हुए इसके विभिन्न प्रचलित नामों में से किसी एक को चुनकर इसका नामकरण संस्कार अवश्य हुआ। नवगीत की आधार भूमि छायावादी काव्य है, जिसे परवर्ती युग में बच्चन एवं भगवतीचरण वर्मा जैसे व्यक्तिवादी कवियों ने विकसित करके नई दिशा प्रदान की । यह सही है कि इन कवियों द्वारा छायावादी काव्य का व्यक्तिवाद और अधिक–सघन हो गया किन्तु साथ ही वह सूक्ष्मता से स्थूलता की ओर, कल्पना से वास्तविकता की ओर तथा मानसिकता से शारीरिकता की ओर अग्रसर हुआ। निश्चय ही इससे छायावाद का उदात्त सौन्दर्य–स्वप्न एवं भव्य प्रणय का स्वरूप भंग हो गया, किन्तु वह गगन की असीम उच्चता से अवतरित होकर यथार्थ की लौकिक भूमि पर आ गया। इन कवियों द्वारा इसकी शैली में भी विकास हुआ। जहाँ पूर्ववर्ती छायावादी कवियों की शैली संस्कृत गर्भित अधिक थी, वहाँ अब वह लोक प्रचलित शब्दावली के निकट आ गई। नवगीत ने इस व्यक्तिवादी काव्य की यथार्थवादी दृष्टि, लौकिक भावभूमि एवं शैली का समन्वय अपने काव्य में एक सीमा तक किया जिससे वह छायावादी कल्पना एवं अयथार्थता के आक्षेप से मुक्त रहा। आगे चलकर प्रगतिवाद के प्रभाव से नवगीत में वैयक्तिकता के स्थान पर सामाजिकता, कल्पना के स्थान पर यथार्थ एवं पलायन के स्थान पर संघर्ष का प्रादुर्भाव हुआ। सामाजिक जीवन की असंगतियों, आर्थिक विषमताओं एवं साम्राज्यवादियों के शोषण आदि का चित्रण नवगीतकारों ने भी पूरी शक्ति से किया।

प्रयोगवाद की स्थापना के अनन्तर नवगीतकारों का सम्बन्ध इससे भी स्थापित हुआ। प्रारम्भ में प्रयोगवाद के नेताओं ने नवगीत को नयी कविता का अंग माना किन्तु जब उन्होंने देखा कि नवगीत लोकप्रियता में नयी कविता से भी आगे बढ़ रहा है तो उन्होंने इस आधार पर कि इसमें बौद्धिकता, आधुनिकता और यथार्थवादिता का अभाव है, इसे अकाव्य घोषित कर दिया। इस प्रकार नवगीत के अस्तित्व के लिए भी संकट उपस्थित हो गया, किन्तु नवगीतकारों ने इस चुनौती का भी सामना किया और उन्होंने सिद्ध कर दिया कि आधुनिक बोध, बौद्धक चिन्तन एवं जीवन के यथार्थ चित्रण की दृष्टि से नवगीत किसी से भी पीछे नहीं है। नवगीत अपनी विकास यात्रा में छायावाद से चलकर मार्ग में पड़ने वाले अनेक वादों–व्यक्तिवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता आदि से सम्पर्क रखता हुआ तथा उनसे बहुत कुछ ग्रहण करता हुआ आगे बढ़ा है। इसलिये नवगीत में आधुनिक काव्य की विभिन्न विशेषताओं का समन्वय सहज स्वाभाविक रूप में दिखता है। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की भाँति वह एकाएक आरोपित 'वाद' नहीं है, अपितु वह सहज स्वाभाविक रूप में विकसित है, इसलिए उसकी जड़ें बहुत गहरी हैं और वह अधिक स्थिरता, गम्भीरता एवं स्थायित्व प्राप्त कर सका है।

नवगीत के पक्ष में एक विशेष बात यह निःसंकोच कही जा सकती है कि भले ही उसने विभिन्न आयातित काव्य आन्दोलनों से आवश्यकतानुसार प्रभाव ग्रहण किया हो किन्तु फिर भी वह अपनी परम्परा एवं अपने परिवेश से गहराई से जुड़ा रहा है। इस संदर्भ में **वीरेन्द्र मिश्र** का कथन उल्लेखनीय है–''नवगीत अपनी परम्परा से जुड़ी हुई एक जीवन शक्ति है। कविता की तरह पश्चिम के दर्शन पर आधारित–आयातित मूल्यों का प्रतिबिम्ब नहीं। नवगीत आस्थाशील अनुभूतियों का निबन्ध समवेत स्वर है।''

नवगीत ने साहित्य, समाज और जीवन के प्रति भी स्वस्थ, व्यापक एवं संतुलित दृष्टिकोण का परिचय दिया है। साहित्य के क्षेत्र में उसने आधुनिक युग के अनुरूप बौद्धक चिन्तन को अपनी अभिव्यक्ति का आधार बनाया है, किन्तु ऐसा करते समय वह रागात्मकता की उपेक्षा करना आवश्यक नहीं समझता। फलस्वरूप 'राही के शब्दों में–मेरी कोशिश यह है कि वस्तु तो बौद्धिक हो जिससे वह हमारे युग की सच्चाई के अधिक निकट होगी किन्तु अभिव्यंजना रागात्मक होनी चहिए। बौद्धिक अनुभूतियों को पचाकर और उन्हें संवेदनात्मक रूप देकर ही कविता में व्यक्त किया जा सकता है। अन्यथा कविता में काव्यात्मकता का संचार नहीं होगा बौद्धिकता और रागात्मकता की भाँति ही वैयक्तिकता एवं सामाजिकता, कल्पना एवं यथार्थ, वस्तु एवं शिल्प का भी समन्वय इनमें दृष्टिगोचर होता है।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि नवगीतकारों ने आधुनिकता की चुनौती को स्वीकार करते हुए भी उसके पाश्चात्य पुरोधाओं के वर्चस्व को स्वीकार नहीं किया। प्रयोगवादियों की भाँति उन्होंने आधुनिकता का मानदण्ड केवल पाश्चात्य भौतिकतावाद, सार्त्र के अस्तित्ववाद, फ्रायड के यौनवाद एवं अंग्रेज़ी कविता के बिम्बवाद एवं प्रतीकवाद अथवा फ्रेंच चित्रकला के अतियथार्थवाद को ही स्वीकार नहीं किया अपितु उसने भारतीय परिवेश के अनुरूप आधुनिक भाव–बोध एवं व्यापक चिन्तन पर आधारित विचारों एवं मूल्यों को आधार बनाया है। वस्तुतः नवगीतकार विदेशों से आयातित आधुनिकता एवं आरोपित बौद्धिकता का विरोधी है, जिसकी अभिव्यक्ति उसके काव्य में भी अनेक स्थलों पर हुई है, यथा–

1. हमको क्या लेना है, परदेशी केशर से,

   बूढ़े हिमपात सड़ते तालाबों में खिले हुए बासी जलजात से,

हम को तो लिखने है गीत नये/पिघले इस्पात से।

–बाल स्वरूप राही

2. यह कब हुआ कि हमने अपने अनुभव से सीखा हो

कुछ उधार के लिए भाव, कुछ ओढ़ लिया चिन्तन को। **–पुष्पा राही**

28.8 नवगीत की विषय–वस्तु – नवगीत की विषय–वस्तु का क्षेत्र बहुत व्यापक है; उसमें प्रकृति, नारी सौन्दर्य, प्रेम, विरह आदि के परम्परागत विषयों का तो निरूपण हुआ है किन्तु साथ ही दाम्पत्य, पारिवारिक, सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन की विभिन्न स्थितियों का भी अंकन सहजता से हुआ है। यहाँ पर भी उल्लेखनीय है कि परम्परागत विषयों को भी नवगीतकारों ने नई दृष्टि से ग्रहण करते हुए नये रूप में प्रस्तुत किया है। यथा–प्रकृति एवं नारी के सौन्दर्य एवं प्रेम का चित्रण छायावादी काव्य में भी अतिशय गम्भीरता से हुआ है, किन्तु उसमें सर्वत्र कल्पना की प्रमुखता होने के कारण वह वास्तविकता से दूर प्रतीत होता है जबकि नवगीत में कल्पना के स्थान पर यथार्थ का आश्रय ग्रहण किया गया है। इस दृष्टि से सर्वप्रथम इनके प्रकृति–चित्रण को देखा जा सकता है। प्रकृति पर मानवीय भावनाओं का आरोपण करने की प्रवृत्ति परम्परागत गीत एवं नवगीत दोनों में मिलती है, किन्तु फिर भी नवगीत में कल्पना का रंग गहरा नहीं है कि उससे प्रकृति का यथार्थरूप सर्वथा आवृत हो जाये। नवगीतकारों ने प्रकृति को निजी भावनाओ के रंग मे रंगकर इस भांति प्रस्तुत किया है जिससे प्रकृति और मानव दोनों का अस्तित्व घुल–मिल सा गया है। यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं–

चाँदनी :

दूध से नहा रही निर्वसना चाँदनी

किरण में निचोड़ धवल मर–मर की शिला पर

वसन को सुखा रही निर्वसना चाँदनी **– चन्द्रसेन "विराट"**

संध्या :

वही शाम पीले पत्तों की गुमसुम और उदास,

वही रोज का मन खोजने का एहसास

टांग रही है मन को एक नुकीले खालीपन से **– नरेश सक्सेना**

रात्रि :

स्याह–स्याह रात ने कहा मुझे

लाल–लाल प्रातः अभी दूर है। **– वीरेन्द्र मिश्र**

कहीं–कहीं प्रकृति मानवीय भावनाओं एवं क्रिया–कलापों के आरोपण से इस तरह अतिरंजित हो गई है

कि वह कवि की अनुभूति को व्यक्त करने का माध्यम बन गई है। यहाँ प्रभात का एक दृश्य प्रस्तुत है–

'गगन से धरा पर सुबह छन रही है, किरण डोर खींच बिना तन रही है,

दिये बुझ गए हैं, नयन जल गये हैं, सपन उठ गये हैं, नयन मिल गये हैं।

हवा देखकर ही सुनाना तराना, सुमन ने कहा पर भ्रमर ने न माना।' **–वीरेन्द्र मिश्र**

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि नवगीत में प्रकृति का सौन्दर्य एवं वैभव कम नहीं है किन्तु वह मानवीय भावनाओं से सर्वत्र ओत–प्रोत है।

नारी का चित्रण पूर्ववर्ती गीति–काव्य में प्रेयसी के रूप में ही अधिक हुआ है। जबकि नवगीत में वह सखी, सहचरी, पत्नी एवं अन्य रूपों में भी चित्रित हुई है। पुरूष और नारी का सम्बन्ध नवगीत में कोरी कल्पना पर आधारित न होकर यथार्थ की भूमि पर है, इसलिए इसमें नारी केवल पूजा की वस्तु न रहकर शारीरिक एवं मानसिक तृप्ति का भी साधन बन गई। नारी एवं पुरूष के दैनिक संसर्ग के अनेक चित्र नवगीतकारों ने प्रस्तुत किए हैं, किन्तु उनकी विशेषता यह है कि उनमें चित्रण अत्यन्त संकेतात्मक ढंग से किया गया है जिससे उनमें कहीं भी स्थूलता, शारीरिक नग्नता या अश्लीलता प्रत्यक्ष नहीं होती अपितु सम्पूर्ण अनुभूति प्राकृतिक बिम्बों एवं प्रतीकों के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप में व्यंजित होती है। इसी प्रकार विरह की अभिव्यंजना भी नवगीत में हुई किन्तु इसका आधार काल्पनिक प्रेयसी न होकर वास्तविक पत्नी है। दूसरे, उसका विरह कल्पना और वेदना के उस व्यापक एवं गम्भीर रूप का भी स्पर्श नहीं करता जोकि छायावाद में दृष्टिगोचर होता है; न तो इसमें विरही की आह से गीत फूटते हैं और न ही उसके अश्रुओं से कोई गंगा बहती है। उनका विरह सीधा, सादा और स्पष्ट है, जोकि जीवन के यथार्थ से पूरी तरह जुड़ा हुआ है। यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं–

1. चन्द्रमा उगा करवा चौथ का

   तुमने भी अर्ध्य दिया होगा मेरे लिए

   निर्मल उपवास किया होगा मेरे लिए

   प्रियतम ! परदेस न सो सका।

   भरी–भरी आँख ही संजो सका। **–उमाकान्त मालवीय**

2. टूटे आस्तीन का बटन/या कुर्ते के खुले सिवन

   कदम–कदम पर मौके, तुम्हें याद करने के।

   फूल नहीं बदलते गुलदस्तों के / धूल मेजपोश पर जमी हुई,

   जहाँ–तहाँ पड़ी दस किताबों पर, घनी सौ उदासियाँ थमी हुई ।

   –वही, 'नवगीत दशक' 1/89

यहाँ पत्नी की याद का निरूपण सर्वथा यथार्थ रूप में किया गया है जोकि जीवन की वास्तविकता पर आधारित है।

जहाँ छायावादी कवि की दृष्टि नारी के केवल एक ही रूप–प्रेयसी या पत्नी पर ही केन्द्रित थी वहाँ नवगीतकार ने उसके अन्य रूपों को भी लिया है। इसलिए इनके काव्य में केवल दाम्पत्य जीवन की ही नहीं पारिवारिक जीवन की भी झलक मिलती है। डॉ0 शान्ति सुमन के शब्दों में – (छायावाद में), आत्मरति के कारण परिवार के अन्य सम्बन्ध क्षीण हो गये थे। छायावादोत्तर काल में परिवार भाव को जागृत करने की चेष्टा हुई। सुख–दुःख के क्षणों में परिवार का महत्त्व महसूस किया गया पर लगातार अस्तित्ववाद, दुःखवाद एवं व्यक्तिवाद के विचलन ने इस सम्बन्ध पर कशाघात किए। पत्नी–प्रेमिका के सम्बन्ध में द्वन्द्व की स्थिति बनी रही। नवगीत ने पहली बार पिता, पुत्र, पत्नी, भाई, बहन, माँ तथा अन्य सामाजिक सम्बन्धों का पुनर्संस्कार किया। सम्बन्ध की इस प्रगाढ़ता को नवगीतकार ने जैसा अप्राण महसूस किया वह पहले की रचनाओं में दुर्लभ है।'' इसके यहां कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं–

गृहस्थ जीवन :

''माँ की परछाई–सी लगती गोरी दुबली शाम,

पिता सरीखे दिन के माथे चूने लगता धाम।

उजले–पीले कई–कई संदर्भ सलोने–से

टूटी जिद पर गुस्से लगते काँच–खिलौने–से

नूपुर पहन बहन का हँसना, फरना सारा गाम ।।'' **–डॉ० शान्ति सुमन**

यहाँ माँ, पिता, बहन से युक्त परिवार की झलक प्रकृति के विभिन्न दृश्यों के माध्यम से प्रस्तुत की गई है। इसी प्रकार सोम ठाकुर ने बुआ, जीजी आदि का चित्रण भारतीय जीवन के सन्दर्भ में अत्यन्त यथार्थ रूप में किया है –

' कहाँ गये बड़ी बुआ वाले वे आरते,

कहाँ गये गेरू–काढ़े सतिये द्वार के,

कहाँ गये थापे वे जीजी के हाथों के,

कहाँ गये चिकने पत्ते बन्दरबार के ।' **–'नवगीत दशक'–पृ० 41**

इस प्रकार हम देखते हैं कि नवगीत में भारतीय गार्हस्थ्य एवं पारिवारिक जीवन के विभिन्न दृश्यों का चित्रण आकर्षक रूप में हुआ है जो कि इसके रचयिताओं की व्यापक चेतना का द्योतक है।

नवगीत में सामाजिक–जीवन की विभिन्न स्थितियों, परिस्थितियों , विषमताओं विकृतियों आदि का चित्रण भी यथार्थ रूप में हुआ है। नवगीत में चित्रित समाज सामान्यतः भारतीय मध्य वर्ग से सम्बन्धित है। इसलिए इसमें इस वर्ग की आशाओं, आकांक्षाओं, निराशाओं, कुंठाओं एवं विभिन्न विकृतियों का भी चित्रण स्वाभाविक रूप में हुआ है। आज के मध्य वर्गीय समाज में जीवन की मधुरता की अपेक्षा निराशाजन्य कटुता की ही प्रधानता है। आर्थिक

विषमताओं के कारण मध्य वर्ग के सपने प्रायः यथार्थ की धरती से टकराकर चकनाचूर हो जाते हैं। इस स्थिति का अंकन अलग–अलग कवियों ने किया है; जैसे–

'घिस गये जिन्दगी के सारे मनसूबे

दफ्तर की सीढ़ी चढ़ते और उतरते।' **–बालस्वरूप राही**

कुछ को चूहे खा गये/कुछ को झींगुर चाट गए,

नये–नये संकल्पों के/जो भी जाल हमने बुने। **–कुँअर बेचैन**

मध्यवर्गीय जीवन की विभिन्न स्थितियों के साथ ही महानगरीय जीवन का बोध भी, नवगीत में घनीभूत रूप में व्यक्त हुआ है। शहरी जीवन की कृत्रिमता, दिखावटीपन, औपचारिकता, यांत्रिकता, घुटन, संत्रास आदि के सम्बन्ध में तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त हुई है। यथा –

नगर–जीवन का सर्वांगीण बोध :

''इन ओढ़े हुए मुखौटों पर संशय

यह महज़ औपचारिकता, यह अभिनय

जीविका हेतु यान्त्रिकी व्यस्तताएँ

अपराध, पतन या नैतिक हत्याएँ

नारे, सभा, जुलूस, प्रदर्शन–क्रोध

त्रास, तनाव, यह उत्पीड़क युगबोध।'' **–चन्द्रसेन विराट**

अजनबीपन :

बाँह से जुड़ती न कोई बाँह

जैसे आए हों हम किसी बन्दी शिविर में **–भगवान स्वरूप**

टूटते हुए रिश्ते :

भीड़ से होकर गुजरते हुए रिश्ते

मोड़ पर नींबू निचोड़े दूध जैसे फट रहे हैं। **–उमाकान्त मालवीय**

नवगीत में सामाजिक चेतना के साथ–साथ आर्थिक वैषम्य एवं राजनैतिक भ्रष्टाचार का भी उद्‌घाटन अत्यन्त सशक्त रूप में हुआ है। अनेक गीतकारों ने विभिन्न सन्दर्भों में राजनैतिक स्थितियों पर तीखे व्यंग्य किये हैं। यहाँ कुछ उक्तियाँ प्रस्तुत हैं–

चाटुकारिता :

आ गए फिर चारणों के दिन

लौट आये चारणों के दिन

सिर धूने चाहें गिरा पछताय

फूल क्या, सौगन्ध भी असहाय। **–उमाकान्त मालवीय**

नेताओं के आश्वासन :

बड़े–बड़े आश्वासन हैं/तोता मैना के किस्से।

लाठी, गोली, अश्रुगैस/इतना ही जन के हिस्से।

जनता की भूमिका यही/जूठन से मात कुछ बिने। **–'सुबह रक्त पलाश की, पृ० 51**

बहुमत :

भारत के माने है/केवल कौरव सभा

बहुमत का मतलब/धृतराष्ट्र है। **वही, पृ० सं० 40**

वस्तुतः विभिन्न राजनीतिक स्थितियों की प्रतिक्रिया तीखी आलोचनात्मक एवं व्यंग्यात्मक शैली में व्यक्त करना नवगीतकार के स्वभाव का अंग है। इसलिए उसने आधुनिक राजनीति की विद्रूपताओं का उद्घाटन सशक्त रूप में किया है। यहां तक कि उसने आपातकालीन स्थिति के सम्बन्ध में भी अन्य वर्ग के कवियों की भांति मौन की नीति न अपनाकर उसकी भर्त्सना संकेतात्मक ढंग से की है; देखिए–

देहरी मत लाँघ जाना तुम/धूप ने कर्फ्यू लगाया है।

X X X

''कल मरे थे बेवजह चार, एक बिन्दी खा गया अखबार''

''सत्य क्या है देवता जाने/ मरे हैं या हो गये हैं गुम''

धूप ने कर्फ्यू लगाया है। **–मिट्टी बोलती है (रमेश रंजक) पृ० 23**

यहाँ आपातकाल में पत्र–पत्रिकाओं पर लगे हुए प्रतिबन्ध का चित्रण व्यंग्यात्मक रूप में हुआ है तो साथ ही सत्ताधारी नेताओं के द्वारा जनता पर किए जाने वाले अत्याचारों का भी निरूपण द्रष्टव्य है–

चन्द बुलडोजर, सड़क की पीठ पर तैनात

हाँफती–सी काँपती–सी, आदमी की जात। **–वही, पृ० 11**

इस प्रकार हम देखते हैं कि नवगीत की चेतना अत्यन्त व्यापक है; वह जन–जीवन की सामान्य स्थितियों

से लेकर उच्च वर्ग की विभिन्न असंगतियों, सामाजिक व आर्थिक जीवन की विषमताओं एवं समकालीन राजनीतिक जीवन की विद्रूपताओं का भी उद्‌घाटन पूर्ण सजगता एवं सशक्तता से करता है। नवगीतकार ने पूर्ण तल्लीनता से अपने युग और समाज की विसंगतियों एवं विकृतयों का उद्‌घाटन करके अपनी सच्ची आधुनिकता का परिचय दिया है। नवगीतकार की विशेषता यह है कि उसकी काव्यात्मकता में कहीं भी कोई कमी नहीं आई है न तो उसकी रचनाओं ने कहीं शुष्क तर्कों का रूप धारण किया है और न ही कहीं बौद्धिक प्रवचनों का। इसका कारण यह है कि उसकी हर उक्ति उसके आत्मानुभव व्यक्तिगत निरीक्षण एवं संवेदनात्मक संस्पर्श से समन्वित है। उसका बोध यथार्थ की भूमि पर आधारित है। उसकी दृष्टि बौद्धिक है किन्तु वह हृदय की रागात्मकता से शून्य नहीं है। इसलिए उसकी उक्तियों के साथ सर्वमान्य का साधारणीकरण होता है।

वैचारिक व्यापकता एवं भावात्मक गम्भीरता के साथ–साथ 'नवगीत' की अभिव्यंजना–शिल्प एवं शैली सम्बन्धी उपलब्धियाँ भी अप्रतिम हैं। यहाँ इसके कतिपय उद्धरण प्रस्तुत हैं–

(क) आंचलिक शब्दावली :

'निंदिया सतावे मोहे संझही से सजनी।'

प्रेम बतकही तनकहूँ न भावे।

(ख) लोक भाषा का प्रयोग :

'निमिया की डार में फर–फर फूल झरे।'

(ग) अनुकरणात्मक एवं ध्वन्यात्मक प्रयोग :

'बदरिया झिमिर–झिम बरसे,

जैसे मोतियन लर टूटे।'

(घ) आधुनिक उपमान :

जैसे कोई महानगर में ढूँढे नया मकान।'

(ड.) सांस्कृतिक संदर्भों पर आधारित उपमान :

'धूल किसी रावणरथ पर, रोती सीती–सी अम्बर में।'

'चिन्तन की लक्ष्मण–रेखा को,

थोड़ा आज लाँघना होगा।'

इसी प्रकार नवगीत में विशेषण–विपर्यय एवं विशेषण–वक्रता के द्वारा उसकी लाक्षणिकता एवं व्यंजकता में पर्याप्त वृद्धि की गयी है; यथा–'लूले संकल्प', 'बीमार यादें', 'घिसे हुए मनसूबे' आदि।

शिल्प की दृष्टि से नवगीत में अनेक सार्थक प्रयोग किये गये हैं। नवगीत के लिए, नई कविता के गीत,

अतिगीत, मुक्तगीत जैसी संज्ञायें दी गई हैं। किन्तु सभी में गेयता की अनिवार्यता पर बल दिया गया है। नवगीत टेक और तुक जैसी पारंपरिक रूढ़ियों का आग्रही नहीं है। लय प्रवाह से आगे बढ़कर वह ध्वनि प्रवाह में भी अपनी पूर्णता अनुभव करता है। संरचना की दृष्टि से नवगीत में कल्पनातीत विविधता है। शब्दों, मुहावरों, कहावतों आदि के सार्थक प्रयोग से नवगीत में कल्पनातीत विविधता है। शब्दों, मुहावरों , कहावतों आदि के सार्थक प्रयोग से नवगीतों की अर्थ गर्भता बढ़ी है। नवगीतकारों ने अपने–अपने अंचलों की लोक धुनों जनबोलियों में प्रयोग किये हैं। लोक धुनों पर आधारित गीतों में माधुर्य की वृद्धि हुई है। नवगीत के शिल्प की लक्षणीय विशेषता यह है कि वह गीत की अन्तर्वस्तु का सहज अनुगामी है। प्रत्येक संप्रेष्य वस्तु अपने सहज संप्रेषण का शिल्प–विधान कर लेती है।

नवगीत ने अपनी प्रकृति के अनुसार गीत को परिभाषित करने का भी प्रयास किया है। नवगीत का गौरवगान करने के स्थान पर कुछ नया रचनात्मक कार्य करने का पक्षधर है। आज जटिल जीवन की व्यथा असह्य हो गई है। मुक्ति के मार्ग अवरूद्ध हो गये हैं। ऐसी विकट स्थिति में गीत का दायित्व बहुत बढ़ गया है। आज गीत रंजन का नहीं निर्माण का माध्यम है। राजेन्द्र गौतम रचनाकारों का आह्वान करते हुये कहते हैं–

शोर को हम गीत में बदलें। इन निरर्थक शब्द दूहों का

खुरदरापन ही घटे कुछ तो, उमस से दम घोटते छिन

सुखद लमहों में बँटे कुछ तो, चुप्पियों का यह विषैलापन

लयों के नवगीत में बदलें।

शोर को गीत में बदलने और लय के नवगीत बनाने की आवश्यकता इसलिए भी अनुभव की जा रही है कि आज के अर्थप्रधान युग में कोमल भावनाओं की घोर उपेक्षा हो रही है। कोमल भावों और मार्मिक अनुभूतियों के संवाहक गीतों की उपेक्षा का अर्थ है मानवीय संवदेना की उपेक्षा। इस बोध को स्पष्ट करते हुये मुकुट सक्सेना कहते हैं–

ग्लोबल कल्चर का युग आया, हरा लेंस पहने

मुखिया बनकर अर्थ लगा हर घर–घर में रहने

उसके बंद मिल दरवाज़े, जिन तक गीत गए।

गीत हृदय के घाव का मरहम है। यह आत्मा का संगीत है। निर्मल प्रसन्न मन की भाषा है। गीत के लिये दरवाजों का बंद होना मानवता का अशुभ लक्षण है। ज्ञानवती सक्सेना गीत की प्रकृति को स्पष्ट करते हुये कहती हैं–

बंजारा भी पथ पर गाए/जीवन वह जो सबको भाए

नींद लगे तो लोरी–लोरी/चोट लगे तो मरहम मरहम।

वीरेन्द्र कुमार बसु गीत के प्रति आस्था व्यक्त करते हुये कहते हैं–

आज नहीं तो कल आएगा/गीतों का स्वर फिर भाएगा।

हिय की हूक न होगी निष्फल/गीतों के संग मन गाएगा।

28.9 सारांश

नवगीत आज की सर्व स्वीकृत काव्य–विधा बन गई है। किन्तु अपने वांछित विकास के लिये अपनी कमज़ोरियों से सावधान रहना होगा झंडा बरदारी, शिविर बद्धता, आत्मा स्थापन की प्रवृत्ति अहो रूपं अहो ध्वनिः की दलीय संकीर्णता, स्वार्थमय दोहन की नीति आदि से नवगीत के विकास को हानि पहुँचेगी। इसी प्रकार प्रतिभाहीन असमर्थ गीतकारों के प्रवेश या हस्तक्षेप से नवगीत की छवि धूमिल होगी। समीक्षकों को भी वस्तुनिष्ठ और उदार नीति अपनानी होगी। समीक्षा की दिशा से सबसे बड़ा खतरा यह रहता है कि दृष्टि के पूर्वग्रह दूषित होने के कारण वे अपनी दृष्टि के अनुकूल कमज़ोर रचनाओं को चुनकर, उन्हीं के साक्ष्य पर अपना निर्णय घोषित कर देते हैं। इसी प्रकार प्रशंसा करने की स्थिति भी अपने दुरारूढ़ तर्कों को आरोपित कर देते हैं। इससे विधा विशेष के प्रति भ्रांत धारणाएँ उत्पन्न होती हैं। इस संदर्भ में आवश्यक होगा कि समर्थ नवगीतकार स्वयं भी अपने पक्ष को स्पष्ट करें।

28.10 कठिन शब्द

1. स्वीकृत 2. अनुकूल 3. दोहन 4. शिविर 5. दुरारूढ़

6. तर्क–वितर्क 7. संसर्ग 8. पुनसंस्कार 9. पूर्ववर्ती 10.संक्षोभ

28.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्रश्न. – नवगीत आज की सर्वस्वीकृत विधा है। स्पष्ट करते हुए इसकी प्रवृत्तियों का उल्लेख कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न.– नवगीत का आरम्भ और नामकरण कब और कैसे हुआ? स्पष्ट करें।

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न. – नवगीत के स्वरूप एंव वैशिष्टय पर प्रकाश डालें।

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न. – नवगीत के प्रचार एवं प्रसार पर प्रकाश डालें।

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न. – नवगीत की उपलब्धियो का उल्लेख करें।

_____

_____

_____

_____

_____

28.12 पठनीय पुस्तकें

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ० नगेन्द्र
2 हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
3 हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामसजन पाण्डे
4 आधुनिक साहित्य की प्रवृतियाँ – नामवर सिंह
5. आधुनिक हिन्दी साहित्य – विकास के विविध आयाम – पुष्पपाल सिंह
6. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका – लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय
7. हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी – नंद दुलारे वाजपेयी
8. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ० बच्चन सिंह

.....

गद्य विधाएँ : हिन्दी निबन्ध

29.0 रूपरेखा

29.1 उद्देश्य

29.2 प्रस्तावना

29.3 हिन्दी निबन्ध : विधा और विकास

29.4 निबन्ध और उसके पर्याय

29.5 निबन्ध परिभाषा

29.6 निबन्ध तत्व

29.7 निबन्ध के प्रकाार

29.8 हिन्दी निबन्ध का विकास

29.9 सारांश

29.10 कठिन शब्द

29.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

29.12 पठनीय पुस्तके।

29.1 उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख के अध्यायनोपरातं आप –

– गद्य की विभिन्न विधाओं के बारे में जानेगें।

– गद्य की विधा निबन्ध की परिभाषा उसके पर्याय एवं इस विद्या का विकास कैसे हुआ समझेगें।

– निबन्ध के वर्गीकरण से परिचित होगें।

29.2 प्रस्तावना

साहित्य मानवीय चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम है । अनुभूति का सम्बन्ध जहाँ मानव के हृदय की संवेदनशीलता से है वही चिन्तन उनके जीवन–परिवेश में उठने वाली उसकी स्थिति बोध से उत्पन्न जिज्ञासाओं का बौद्धिक समाधान है । मानवीय चेतना के इस समन्वयात्मक रूप ने उसके जीवन–विकास के विविध चरणों में क्रमशः विचारों को पारस्परिक आदान–प्रदान द्वारा सामाजिक बन्धनों में दृढ़ता प्रदान की होगी । इसी अनुभूतियुक्त चिन्तन ने अपनी सामाजिक प्रस्तुति के निमित्त जो अभिव्यक्ति का माध्यम चुना वही साहित्यिक शैलीगत भेदों के उत्स का कारण बना । रामचन्द्र तिवारी जी की मान्यता है कि 'हृदय की सम्वेदनशील वृत्तियाँ विशिष्ट छन्द, स्वर, लय, गति प्रवाह तथा ध्वनि के आधार पर मूर्त होकर पद रचना में सौष्ठव ला देती हैं । शब्दों में पाद सौन्दर्य आ जाता है। वे कोमलता, मधुरता, सरलता और कभी परुषता में बँधकर थिरक उठते हैं । सम्वेदनात्मक वृत्तियों की यह अभिव्यक्ति–शैली सामान्यतः पद्य कही गई है । दूसरी और चिन्तन, जटिल समस्याओं के बौद्धिक समाधान, तर्को की शृंखला, विचारों के क्रम, नियमों की मर्यादा तथा सूक्ष्मताओं की सीमाओं में बँधकर मूर्त होता है । शब्द रूपों में संयम आ जाता है । वाक्य–रचना में अर्थ–तत्त्वों की स्थिति बोध के लिए सम्बन्ध–तत्वों की परम्परा–विहित प्रणाली का अनुसरण किया जाता है । चिन्तन की छन्द युक्त इस अभिव्यक्ति शैली को सामान्यतः गद्य कहा गया है ।

यद्यपि हिन्दी गद्य आज साहित्य की एक सशक्त–प्रौढ़ विद्या है । निबन्ध, आलोचना, उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी आदि के साथ–साथ रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी, आत्मकथा, यात्रा, डायरी, साक्षात्कार, एकभाषा गद्यगीत प्रभूति बहुविध रूपों में भावक–समाज के प्रभावित करते हुए नित् नूतन रूपों में ढलकर विषय के पथ पर अग्रसर है । विकासोन्मुखी इस साहित्यिक शैली का हिन्दी के साहित्येतिहास के प्रथम चरणों में वह रूप नहीं मिलता जो आधुनिक काल के समय में हुआ ।

परम्परा से जब हिन्दी उत्स के आधार स्त्रोत पर विचार करते हैं तो संस्कृत–साहित्यशास्त्र में 'छन्द' को आधार मानते हुए पद्य और गद्य साहित्य के दो भेद किए गए हैं । आचार्य भामह, दण्डी, वामन से लेकर विश्वनाथ तक सभी ने छन्द मुक्त रचना को गद्य के अन्तर्गत मानते हुए उसके आख्यायिका, वृत, कथा आदि प्रभेदों का उल्लेख किया है । आचार्य विश्वनाथ ने छन्द–बद्धता रहित शब्दार्थ योजना को गद्य मानते हुए सूत्र रूप में कहा 'वृत्तगन्धोज्झित' । साथ ही मुक्तक, वृत्त गन्थि, उत्कलिदा प्राय और पूर्णक इसके भेदो की मानवायीय आचार्य वामन ने गद्य की विशेषताओं को दुर्ज्ञेय तथा उसकी रचना को कठिन बताते हुए 'गद्यं कविता निकषं वदन्ति' इसे कवियों की कसौटी के रूप

में मान्यता दी । वस्तुतः गद्य जीवन के वैचारिक प्रधान बौद्धिक चिन्तन की अभिव्यक्ति का माध्यम है । यह ऐसा माध्यम है जिसका प्रयोग जाने–अनजाने प्रायः सभी सामाजिक करते हैं । इसी दृष्टि से ब्रजेश्वर वर्मा जी ने कहा है कि 'जिस शब्दार्थ युक्त भाषा का साधारण बातचीत में प्रयोग किया जाता है, वही गद्य है । संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा मे आचार्य भामह ने भी प्रकृत और अनाकुल शब्दार्थ को प्रेषित करने वाली शैली को 'गद्य' कहा था । पद्य का सम्बन्ध रागात्मक कल्पना से अधिक रहता है जबकि 'गद्य' मूलतः विचार तर्क का चिन्तन प्रधान होता है ।

प्रयुक्ति की दृष्टि से 'गद्य' दो सामाजिकों के बीच साधारण वार्तालाप से लेकर बड़ी बड़ी गोष्ठियों के कलापूर्ण भाषणों तक व्यावहारिक रूप से प्रयुक्त होता है । लिखित रूप में पारस्परिक पत्र व्यवहार से लेकर शास्त्र और विज्ञान के विभिन्न ज्ञानानुशासनों के विवेचनात्मक, विश्लेषण पूर्ण अनुसंधान प्रबन्धों (थीसिसों) तक में इसकी प्रयुक्ति होती है । इस प्रकार लिखित रूप में इसके बहुपक्षीय रूप आज के सामाजिकों द्वारा व्यवहृत होते है । साहित्यिक विधा के रूप में लेख, निबन्ध, प्रबन्ध के साथ–साथ आधुनिक हिन्दी साहित्य मे कहानी, उपन्यास, नाटक, एकांकी, वो प्रमुख रूप हैं जिसके रूप में 'गद्य' विधा का विराम माना जाता है । साहित्यिक विधाओं की दृष्टि से कहानी, उपन्यास, नाटक एकांकी की गणना उपयोगी ललित साहित्य के अंतर्गत की जाती है जबकि लेख, निबंध, आलोचना में साहित्यिक गद्य का रूप दिखाई देता है ।

29.3 हिन्दी निबन्ध : विधा और विकास

हिन्दी गद्य साहित्य की विभिन्न विधाओं में 'निबन्ध; आधुनिक युगीन हिन्दी साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा है। यद्यपि 'निबन्ध' शब्द नया नहीं है– परम्परा से संस्कृत का तत्सम शब्द नि+बन्ध (बांधना) + धञ् (संग्रह) या नि+बन्ध (बांधना) अच् रूप में व्युत्पन्न है, जिसका प्रयोग याज्ञवल्क्य स्मृति में – 'निबन्धों द्रव्यमेव' के रूप में हुआ है । यहां का सन्दर्भ इस शब्द का प्रयोग बन्धन के अर्थ में है । श्री मद्भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय के पाँचवे श्लोक में भी यह शब्द बांधने के सन्दर्भ में ही प्रयुक्त हुआ है । इससे स्पष्ट होता है कि संस्कृत में इस शब्द का प्रयोग लिखे हुए भोजपत्रों को संवारकर बाधनें की प्रक्रिया के लिए होता था । इस शब्द के साथ ही प्रबन्ध – प्र+बन्ध+ अच्– का प्रयोग ग्रन्थ रचना के सन्दर्भ में होता था । आगे चल कर ये दोनों ही शब्द अपनी प्रयुक्ति यात्रा में अर्थ परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरते हुए आज नये अर्थों में प्रयुक्त होते हैं । प्रबन्ध से अभिप्राय आज के सन्दर्भ में ऐसी गद्य रचना से है जिसमें लेखक किसी विषय विशेष का सांगोपांग विस्तार के साथ अपनी भाषा शैली में विवेचन करता है । इस रूप में यह शोध प्रबन्ध का समानार्थी माना जाता है । जबकि निबन्ध एक ऐसी गद्य विधा के लिए प्रयुक्त होता है जिसमें गद्य का निजी रूप दृष्टिगोचर होता है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी की मान्यता है कि 'साहित्य की अन्यविधाओं में तो गद्य की भाषा एक माध्यम मात्र है, लेकिन निबन्ध में तो वह अपनी पूर्ण शक्ति एवं सजधज के साथ व्यक्त होती है ।'

29.4 निबन्ध और उसके पर्याय

निबन्ध के पर्याय के रूप में लेखक, सन्दर्भ, रचना या प्रस्ताव संज्ञा का प्रयोग भी प्रायः होता

है । पर ये दोनों ही शब्द निबन्ध के मूल सन्दर्भ से अलग हैं । 'लेख' यूं तो समस्त लिखित सामग्री के लिए व्यवहार में आता है पर विशिष्ट सन्दर्भ में यह उस गद्य रचना के लिए प्रयुक्त होता है जिसमें लेखक प्रमुख तथा निर्वैयक्तिक ढंग से किसी विषय पर शास्त्रीय ढंग से प्रकाश डालता है । इसे अंग्रेजी में आर्टीकल (Artical) कह सकते हैं । 'सन्दर्भ' किसी रचना विशेष के दुरूहस्थलों के अर्थ से सम्बन्धित है । रचना का मूल अर्थ कृति से है । प्रस्ताव में किसी विषय विशेष से सम्बन्धित प्रस्ताव पर विचार किया जाता है । जबकि निबन्ध आधुनिक युग में अंग्रेजी एस्से (Essay) का पर्याय है । यह निबन्ध विधागत रूप में ऐसा साहित्यिक माध्यम बन चुका है जिसमें गद्य की विविध शैलियों के निखार और विकास की सम्भावनाएँ विचारकों को दिखाई देती हैं इसी कारण 'निबन्ध को गद्य की कसौटी' कहा जाता है । हिन्दी साहित्य कोश (भाग 1) में कहा गया है 'निबन्ध लेखक एक ऐसे पथ का अनुसरण करता है, जो किसी का जाना–समझा नहीं है । उसे अपनी भाषा की शक्ति से ही प्रमाणित करना पड़ता है कि यह अनजाना पथ उसके लिए सर्वथा परिचित और अपना हो' इसी दृष्टि से जय नाथ 'नलिन' जी ने निबन्ध को व्यक्ति की मानसिक चेतना और भावात्मक अनुभूति का लिखित रूप है और जन विकास का यथार्थ पत्रक'' मानते हुए स्पष्ट किया कि 'निबन्ध किसी देश की जनसत्तात्मक विचार स्वातन्त्रय और उदार सामाजिकता का लेखन है ।' इससे स्पष्ट होता है कि निबंध को गद्य के विकास का मापदंड माना जाता है ।

29.5 निबन्ध परिभाषा : हिन्दी के आधुनिक काल में विकसित इस गद्य विधा पर पाश्चात्य साहित्य परम्परा विशेष कर अंग्रेजी का प्रभाव सर्वाधिक है । अंग्रेज़ी के एस्से (Essay) शब्द की व्युत्पति फ्रांसीसी शब्द 'एसाई' से मानी जाती है जिसका अर्थ 'प्रयत्न' है । इस रूप में फ्रांसीसी लेखक मौण्टेन महोदय ने निबन्ध को आत्माभिव्यक्ति का प्रयत्न कहा है । अंग्रेज़ी साहित्य में इस विधा के सूत्रधार में लार्ड बेकन ने इसे बिखराव युक्त चिन्तन मानते हुए dispersed meditations कहा । जानसन महोदय ने a loose sally of the mind माना है जबकि अलेक्जेडर स्मिथ इसे गीतिकाव्य के निकट मानते रहे । पाश्चात्य ये सभी समीक्षक अपने–अपने भावानुरूप निबन्ध की विशेषताओं के आधार पर पारिभाषित करते रहे । विलियम हेंजलिट और चार्ल्स लैम्ब महोदय ने इस विधा में आत्माभिव्यक्ति को महत्त्व दिया। उन्नीसवीं शती में आकर आक्सफोर्ड डिक्शनरी में 'किसी विशिष्ट विषय पर एक सीमित दायरे में लिखे गए गद्य–विधान' को निबन्ध कहा गया । इसके पश्चात् परवर्ती काल के निबन्धकारों ने जिस शब्द विभिन्न विषयों के सन्दर्भ को इस विधा में प्रस्तुत किया उससे तो यही स्पष्ट होता है कि इस विधा के सम्बन्ध में जो वैयक्तिक भावाभिव्यक्ति की बात हडसन महोदय ने कही थी वही सत्य रही ।

पाश्चात्य विद्वानों की भांति आधुनिक हिन्दी समीक्षकों ने भी 'निबन्ध' विधा की विशेषताओं को दृष्टि मे रखते हुए इसकी परिभाषा देकर अन्य गद्य विधाओं से इसके विलगाव का स्वरूप स्पष्ट किया है । बाबू गुलाब राय की मान्यता है कि 'निबंध उस गद्य रचना को कहते हैं, जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीवन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो ।' जय नाथ 'नलिन' जी की मान्यता है कि 'निबन्ध स्वाधीन चिन्तन और निश्छल अनुभूतियों का सरल, सजीव और मर्यादित

गद्यात्मक प्रकरण है । भगीरथ मिश्र जी ने निबंध की सटीक व्यंजना करते हुए स्पष्ट किया है कि 'निबन्ध वह गद्य रचना है, जिसमें लेखक किसी भी विषय पर स्वच्छन्दता पूर्वक परन्तु एक विशेष सौष्ठव, संहिति, सजीवता और वैयक्तिकता के साथ अपने भावों, विचारों और अनुभवों को व्यक्त करता है ।' उपर्युक्त सभी मतों का समाहार करते रामचन्द्र तिवारी जी ने निबन्ध में लेखक की रूचि एवं मनः प्रवृत्ति के अनुसार आत्यव्यंजना को मूलभूत विशेषता माना है। उनकी मान्यता है कि 'निबंध में विषय के स्थान पर लेखक का व्यक्तित्व ही पाठक के मन' को प्रभावित करता है ।

29.6 निबन्धः तत्व : निबन्ध के मूलरूप से विद्वानों ने कहीं तो प्रस्तावना, विवेचन और समाप्ति या उठान, विकास और परिणाम तत्त्व माने हैं । यह विचार श्री ब्रह्मदत्त शर्मा जी के हैं । दशरथ ओझा जी ने गद्य रचना, लेखक के व्यक्तित्व का आभास, रोचकता को अनिवार्य माना है । कुछ विद्वान भावों के पुट के साथ औपचारिकता के अभाव को निबन्ध के तत्त्वों के रूप में मान्यता देते हैं । सभी विद्वानों के विचारों को समन्वित करने पर यह स्पष्ट होता है कि निबन्ध में वैयक्तिकता, वैचारिकता, स्वच्छन्दता, कलात्मक शैली तथा स्वतः पूर्ण आकार का होना आवश्यक है ।

वैयक्तिकता से अभिप्राय लेखक के व्यक्तित्व अथवा निजीपन की छाप से है । साहित्य के अन्य रूपों की अपेक्षा निबन्ध में लेखक का व्यक्तित्व अधिक समाया रहता है। इस व्यक्तित्व का निर्माण लेखक के अध्ययन, मनन व चिन्तन द्वारा होता है जिसका प्रभाव समग्रतः निबन्ध में दिखाई देता है ।

निबन्ध में जो विचार होते हैं वे कोई विचार न होकर हृदय और बुद्धि के योग से समन्वित विचार होते हैं । इन्हीं से लेखक की वैचारिकता स्पष्ट होती है । वैचारिकता के साथ–साथ स्वच्छन्दता भी निबन्ध का एक विशेष पक्ष है । लेखक के स्वकीय भाव प्रवणता से निबन्ध की महत्ता बढ़ती है । इससे विचारों में प्रौढ़ता, स्वच्छन्दता और परिपुष्टता आती है । विजय वेदालंकार जी की मान्यता है कि 'निबन्ध लिखने वाले की स्वच्छन्दता उसकी अपनी शक्ति है । विषय चाहे जो हो, निबंधकार विचारों को व्यक्त करने में स्वतन्त्र है ।'

निबन्ध को गद्य की कसौटी के रूप में मान्यता दी जाती है । गद्य का व्यवहार तो कोई भी कर सकता है पर निबन्ध लेखन परिष्कार और परिमार्जन का कार्य है । इस विधा पर वही लेखनी चला सकता है जो इसकी कलात्मक शैली में अपने विचारों को भावक समाज के सम्मुख प्रस्तुत कर सकता हो । निबन्धकार सरल और सजीव शैली द्वारा अपनी भाव प्रस्तुति को प्रभावोत्पादक व रोचक बना बोधगम्य कराने में समर्थ होता है । निबन्ध –कथ्य की सम्प्रेषणीयता शैली की कलात्मकता–जिसमें विचारानुकूल भाषा की प्रयुक्ति प्रमुख होती है –से ही सम्भव है ।

निबन्ध का अपने आप में पूर्ण होना भी आवश्यक है, उसका आकार छोटा या बड़ा हो सकता है । निबन्ध का विषय–क्षेत्र सीमित होता है इस कारण उसे एक बद्ध व सुगठित रूप में अपने आप में पूर्ण होना आवश्यक है ।

उपयुर्क्त तत्त्वों का सुसंगठित रूप ही निबन्ध की विशेषता शक्ति को सही रूप में विषय–प्रस्तुति में सहायक बनाता है ।

29.7 निबन्ध के प्रकार

निबन्ध एक ऐसी गद्य विधा है जिसका प्रकार में वर्गीकरण करना सहज नहीं । प्रत्येक समीक्षक का इस दृष्टि में अपना–अपना निजी दृष्टिकोण है । कुछ विद्वानों ने वैयक्तिक, निर्वैयक्तिक भेद किए हैं तो कुछ विद्वान आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ रूप में निबन्धों को बाँटते हैं । विषय वैविध्य के आधार पर बाबू गुलाब राय का वर्गीकरण निबन्ध के सभी प्रकारों का समाहार करने में समर्थ है । उनके अनुसार निबन्ध वर्णनात्मक, विवरणात्मक, विचारात्मक तथा भावात्मक चार प्रकार के हो सकते हैं ।

किसी प्राकृतिक वस्तु, स्थान, क्षेत्र या किसी मनोहर आह्लादकारी दृश्य की प्रस्तुति वर्णनात्मक निबन्ध के रूप में की जा सकती है । इस कोटि के निबन्धों में निबन्धकार के नेत्रों की परख अधिक प्रभावी होती है । मस्तिष्क व तर्क के स्थान पर कल्पना का अवलंब इस प्रकार के निबन्धों में अधिक होता है । ऐसे निबन्धों में भाषा का सहज प्रवाह और वर्णन पक्ष सूचनापरक होते हुए भी पाठक को अखरता नहीं । इस प्रकार के निबन्धों में कल्पना की सज्जा निबन्धकार की कला को निखारने में सहायक होती है ।

विवरणत्मक निबन्ध में गतिशील वस्तुओं, काल और परिस्थितियों का वर्णन होता है। संस्मरणों पर आधारित ऐसे निबन्धों में शिकार, पर्वतारोहण, दुर्गम यात्राएं आदि के छुपे पक्षों की खोज का विवरण अधिक होता है । विवरणात्मक निबन्धों को कथात्मक, घटनात्मक, जीवनचरित्रात्मक उपभागों में विभाजित किया जा सकता है । विवरणात्मक निबन्धो में कौतूहल, कल्पना और अनुभूति का योग अधिक गहराई से दिखाई देता है ।

विचारात्मक निबन्धों में बौद्धिक विवेचन की प्रधानता रहती है । इनमें हृदय पक्ष की अपेक्षा मस्तिष्क तत्त्व अधिक प्रभावी होता है । इसी कारण इस प्रकार के निबन्धों में दार्शनिक आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक विषयों की विवेचना होती है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी की मान्यता है कि 'शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वही कहा जा सकता है जहाँ एक–एक अनुच्छेद में विचार दबा–दबाकर ठूंसे गये हों और एक एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार खण्ड के लिए हो ।' इस प्रकार के निबन्धों को ही आलोचनात्मक, गवेषणात्मक, विवेचनात्मक आदि उपभागों में विभाजित किया जा सकता है । समास प्रधान शैली में लिखित विचारात्मक निबन्धों में विचारों की एक ऐसी सुसम्बद्ध शृंखला होती है कि उनमें से एक वाक्य तो क्या एक शब्द भी आगे पीछे नहीं किया जा सकता ।

भावात्मक निबन्धों में बुद्धि तत्त्व की अपेक्षा भाव तत्व की प्रधानता होती है । इनमें हृदय पक्ष अधिक प्रभावी होता है । इस प्रकार के निबन्धों में रागात्मकता की प्रधानता होने के कारण धारा, तरंग और विक्षेप शैली का प्रयोग होता है । बाबू गुलाब राय का कहना है 'धारा शैली में भावों की धारा प्रवाहमय रहकर प्रायः एक गति से चलती है किंतु तरंग शैली में वे भाव लहराते हुए प्रतीत होते हैं – तरंग की भाँति उठते और गिरते प्रतीत होते हैं। विक्षेप शैली में वह कुछ उखड़ी उखड़ी रहती है उसमें तारतम्य और नियन्त्रण का अभाव रहता है ।'

भावात्मक निबन्धों की सबसे बड़ी पहचान लेखक के भाव के साथ पाठकीय संवेदना का

एकात्म हो जाना होती है । इस प्रकार के निबन्धों में रस और भावों की व्यंजना प्रधान रूप से परिलक्षित होती है ।

उपर्युक्त प्रकारों के अतिरिक्त विषयनिष्ठ, विषयीनिष्ठ, हास्य व्यंग्य प्रधान, ललित आदि और भी निबन्ध प्रकारों का उल्लेख विद्वानों ने किया है पर ये सभी विषयवस्तु व प्रस्तुति पक्ष की दृष्टि से इन चारों भेदों में ही आ जाते हैं ।

29.8 हिन्दी निबन्ध का विकास

हिन्दी साहित्येतिहास के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि गद्य विधाओं का विकास आधुनिक युग से ही हुआ । इस दृष्टि से निबन्ध भी गद्य की एक आधुनिक विधा है । इसकी विधा की परम्परा भी हिन्दी साहित्येतिहास के आधुनिक युग के उन्मेष से होता है। भारतेन्दु हरीशचन्द्र के कृतित्व में सर्वप्रथम इस विधा के सूत्र मिलते हैं यद्यपि लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय जी की मान्यता है कि 'निबन्ध नाम से पुकारी जाने वाली अनेक रचनाएं निबन्ध नहीं, लेख हैं और इसी दृष्टि से उन्होंने पं. बाल कृष्ण भट्ट जी को हिन्दी का पहला निबन्धकार स्वीकार किया है । भारतेन्दु युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन', जगमोहन सिंह, अम्बिकादत व्यास, राधाचरण गोस्वामी आदि लेखकों की रचनाओं को वार्ष्णेय जी लेख रूप में मान्यता देते हैं । इनसे अलग श्री रामनाथ गौड़ व शिवनाथ जी ने श्री सदासुख लाल जी के निबन्ध विधा का प्रारम्भ माना है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने भी निबन्धों का उत्स भारतेन्दु युग से ही माना है ।

भारतेन्दु युग (सन् 1857–1900 ई) में अंग्रेज़ी साहित्य के सम्पर्क से भारतीय जीवन में पत्र–पत्रिकाओं के प्रचार तथा साहित्यिक जगत् का जन–सामान्य से सहयोग के रूप में एक नवीन चेतना के साथ नये रूप में प्रस्तुत हुआ । इस युग धारा में गद्य के विकास से एक नवीन विधान के रूप में पाठक का परिचय निबन्ध विधा से हुआ । इस युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, श्री प्रताप नारायण मिश्र, श्री बालकृष्ण भट्ट, श्री बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', लाला श्री निवास दास, श्रीराधा चरण गोस्वामी, श्री मोहन लाल विष्णु लाल पंडया, श्री काशी नाथ खत्री, श्री चन्द्र भूषण, ठाकुर जगमोहन सिंह, श्री ज्वाला प्रसाद, तथा श्री अम्बिकादत व्यास आदि के निबन्ध मिलते हैं ।

भारतेन्दु युग के निबंधकारों ने समाजसुधार, राजनीति, धर्म, आर्थिक स्थिति, आध्यात्म, अतीत का गौरव, महापुरुषों का जीवन चरित्र आदि विषयों पर विचार करते हुए निबंध – साहित्य का सृजन किया । इस युग के निबन्ध प्रायः सामाजिक समस्याओं के साथ–साथ इतिहास तथा मनोवैज्ञानिक भावों पर विचार व्यक्त किए । भारतेन्दु युगीन निबंधकारों में श्री बालकृष्ण भट्ट का स्थान सर्वप्रथम है । उन्होंने सजीव भाषा में शिष्ट–हृदय और कल्पना के सुन्दर समन्वय के साथ जीवनोपयोगी शिक्षा द्वारा सामयिकता को पाठक वर्ग के सम्मुख प्रस्तुत किया ।

इस युग विशेष के निबन्धों में गद्य–विकास की प्रारम्भिक स्थिति होने के कारण वर्णनात्मकता का विशेष आग्रह रहा । श्री राधा चरण गोस्वामी ने सामाजिक विषयों पर अधिक लेखनी चलाई जबकि श्री काशीनाथ खत्री ने प्रायः नैतिक एवं सामाजिक विषयों पर अधिक ध्यान दिया । भारतेन्दु युगीन

निबन्ध साहित्य के सन्दर्भ में श्री राम विलास शर्मा जी का मत बड़ा सटीक है 'जितनी सफलता भारतेन्दु युग के लेखकों को निबन्ध–रचना में मिली उतनी कविता और नाटक में नहीं मिली ।'

हिन्दी सहित्येतिहास में भारतेन्दु युग के बाद आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी की 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादन पद पर आसीन होते ही एक नये युग का सूत्रपात होता है। बाबू श्याम सुन्दर दास जी ने द्विवेदी जी को 'हिन्दी का सबसे बड़ा उन्नायक' माना है और इसी दृष्टि से हिन्दी साहित्येतिहासकारों ने आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को 'युग गुरु' मानते हुए सन् 1900 से 1920 ई. तक के काल खंड को 'द्विवेदी युग' के नाम से सम्बोधित किया । इस युग में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के साथ–साथ गोविन्द नारायण मिश्र, श्री बालमुकुन्द गुप्त, श्री माधव प्रसाद मिश्र, श्री श्याम बिहारी तथा श्री शुकदेव बिहारी (मिश्रबन्धु) मिश्र, गोपालराम गहमरी, सरदार पूर्ण सिंह, श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, बाबू श्याम सुन्दर दास, श्री जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, श्री रामचन्द्र शुक्ल, श्री पद्मसिंह शर्मा, पं. कृष्ण बिहारी मिश्र, बाबू गुलाब राय, पं. गंगा प्रसाद अग्निहोत्री, श्री माधव राव सप्रे, श्री सत्यदेव, श्री काशी प्रसाद, डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, श्री गणेश शंकर विद्यार्थी, श्री लालता प्रसाद शर्मा, श्री बदरीनाथ भट्ट, श्री हनुमानदास पौद्दार, श्री ब्रजरत्न दास, श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय, श्री पदुमलाल पुन्नालाल, श्री मन्नन द्विवेदी, श्री माखनलाल चतुर्वेदी प्रभृति विद्वानों के नाम उल्लेखनीय है ।

भारतेन्दु युग के पश्चात् द्विवेदी युगीन निबन्धों में प्रायः उन सभी भावनाओं, विचारों एवं शैलियों का विकास हुआ जिसका उदय भारतेन्दु काल में हुआ था । द्विवेदी युगीन निबन्ध साहित्य में साहित्य व भाषा, वैज्ञानिक आविष्कार, पुरातत्त्व एवं इतिहास, भूगोल, जीवन–चरित, आध्यापन तथा अन्य जीवनोपयोगी विषयों पर लेखकों ने अधिक विचार किया । द्विवेदी युगीन निबन्ध–लेखकों ने लेखन–शैलियों में भी पर्याप्त विस्तार किया । वर्णनात्मक, विवरणात्मक, भाषात्मक तथा विचारात्मक इन सभी रूपों में निबन्ध रचना हुई। यह ठीक है कि ये सभी रूप अभी अपनी शैशवावस्था में थे पर यही रूप परवर्ती काल में व्यवस्थित एवं प्रौढ़ रूप में विकसित हुए । हिन्दी साहित्येतिहास में द्विवेदी युग भाषा सम्बन्धी सुधारों के लिए विषेश रूप से उल्लेखनीय है । इस दृष्टि से निबन्ध विधा में भी शैलीगत प्रयोगों की स्वाभाविक परम्परा विद्यमान रही । इस युग के लेखकों ने व्यास और समास शैली का ही विशेष प्रयोग किया । वियोगी हरि जी ने इस युग के अपने निबन्धों के द्वारा शैली का प्रयोग किया।

द्विवेदी युगीन हिन्दी निबंधों में सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याओं के प्रति भी जागरूकता दिखाई देती है। रूप की दृष्टि से वर्णनात्मक निबंधों में यथातथ्य व कल्पक प्रधान वर्णन की प्रमुखता दिखाई देती है । विवरणात्मक निबन्धों मे कथात्मक, घटनात्मक तथा जीवन चरित्रात्मक कम दिखाई देते हैं । कथात्मक निबन्धों में आत्म, स्वप्न तथा रूपकात्मक कथा विवरण मिलते हैं । इस युग में पौराणिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक तथा धार्मिक सभी प्रकार के महापुरुषों के जीवन परिचयात्मक निबन्ध भी लिखे गए । भावात्मक निबंधों में भावुकता का आधिक्य मिलता है । इस युग में विशेष रूप से विचारात्मक निबंधों का विवेचनात्मक एवं आलोचनात्मक दोनों रूपो में विशेष विकास हुआ ।

द्विवेदी युगीन विचारात्मक निबन्धों में गम्भीर मनोभावों के विवेचन में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

जी का नाम तो सर्वविदित है । आपके निबन्धों में बौद्धिक विलक्षणता एवं सहृदयता दोनों का योग लक्षित होता है । आलोचनात्मक निबन्धों में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के साथ–साथ बाबू श्याम सुन्दर दास, डॉ. पीताम्बर दत्त, लाला भगवान दीन, मन्नन द्विवेदी आदि विद्वानों नें उल्लेखनीय योगदान दिया है । इस प्रकार इस युग के हिन्दी निबंन्ध साहित्य मे विषय चयन मे पर्याप्त विस्तार दिखाई देता है । विचार प्रधान निबंध इस युग की एक महती उपलब्धि है । द्विवेदी युगीन निबन्धकारों ने इस विधा को समृद्ध करने के लिए अन्य भाषाओं में लिखित गम्भीर विचारात्मक निबन्धों का अनुवाद भी हिन्दी में किया । अंग्रेजी बंगला और मराठी के श्रेष्ठ निबन्धों का अनुवाद हिन्दी में इस युग में विशेष रूप से हुआ ।

इससे स्पष्ट होता है कि इस युग में हिन्दी निबन्ध साहित्य का बहु विधि विकास हुआ । परवर्ती काल की निबन्धकीय विशिष्टता को इस युग ने सुदृढ़ पृष्ठभूमि प्रदान की। विषय निरूपण और अभिव्यंजना सौष्ठव दोनों ही दृष्टियों से इस युग में निबन्ध जिज्ञासा और निर्णय की प्रौढ़ता के परिचायक ही द्विवेदी युग के उत्तरार्द्ध से आचार्य रामचन्द्र गुप्ता, अयोध्या सिंह उपाध्याय हरि औध, बाबू श्याम सुन्दर दास, बाबू गुलाब राय, वियोगी हरि, पदुम लाल पुन्नालाल आदि ने निबंध साहित्य परम्परा को अपने योगदान से जो पुष्टि प्रदान की वो किसी से छुपी नहीं है । बाबू बाल मुकुन्द गुप्त के 'शिव शम्भु का चिद्ठा' व्यंग्यात्मक निबंधों की अक्षय निधि है । प. पद्मसिंह शर्मा जी ने तुलनात्मक प्रणाली से परिचित करवाया। इस प्रकार इस युग के निबन्धों में विविधता, मौलिकता, गम्भीरता, अभिव्यक्ति की सहजता आदि गुणों का सहज वर्णन मिलता है ।

द्विवेदी युग के बाद हिन्दी साहित्येतिहास में सन् 1938 ई तक का काल 'छायावादी' या 'स्वच्छन्दतावादी' काल कहलाता है । हिन्दी निबन्ध साहित्य में इसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के सर्वोपरि होने के कारण 'शुक्ल युग' के रूप में जाना जाता है । आचार्य शुक्ल जी के चिन्तामणि भाग–1 तथा 2, से संग्रहीन निबन्धों में उनकी प्रतिभा का जो रूप मिलता है उससे वे आज भी हिन्दी की इस विधा विशेष के शीर्षस्थ स्थान के अधिकारी बने हुए हैं। इस युग विशेष में पूर्ववर्ती द्विवेदी युगीन के उत्तरार्द्ध के निबन्धकारों ने परिपक्व रूप में हिन्दी निबन्ध साहित्य का अभिवादन तो किया है उनके साथ श्री चतुर सेन शास्त्री, श्री रामकृष्ण दास, डॉ रघुवीर, श्री जयशंकर प्रसाद, पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी, सुश्री महादेवी वर्मा, श्री शान्ति प्रिय द्विवेदी, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, पं. नन्द दुलारे वाजपेयी, डॉ धीरेन्द्र वर्मा, डॉ सम्पूर्णानन्द, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', श्री कामता प्रसाद गुप्त, श्री केदार नाथ भट्ट तथा श्री रमाशंकर शुक्ल आदि निबन्धकारों ने भी विशेष योगदान दिया ।

शुक्ल युग के हिन्दी निबन्ध साहित्य में आचार्य शुक्ल के निबन्ध केवल हिन्दी भाषा के ही नहीं अपितु समूचे भारतीय साहित्य की अमूल्य निधि के रूप में मान्य है । छायावादी कवियों में से जिन्होंने भी (प्रसाद, महादेवी आदि) इस विधा में लेखनी चलाई उन्होंने भी विषय अनुभव भावों की अभिव्यक्ति का अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है । प्रसाद जी के 'काव्यकला तथा अन्य निबन्ध' संग्रह में उनकी सूक्ष्म सौन्दर्य चेतना की विशिष्टता दिखाई देती है । 'निराला' जी ने साहित्य और भाषा समस्या के साथ ही सामाजिक विषयों पर भी निबन्ध लिखे हैं । राहुल जी ने भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में सुलझे हुए विचार व्यक्त किए हैं । इसी युग के प्रेमचन्द जी के निबन्ध भी कथा साहित्य

विधा सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट करते हैं । शिवराम शरण गुप्त जी निबंध कवित्व एवं विचार तत्व के समन्वित रूप को प्रस्तुत करते हैं । रामकृष्ण दास जी के निबन्ध भाषात्मक गद्य गीत के रूप मे प्रस्तुत हुए हैं । महादेवी वर्मा के संस्मणात्मक, समीक्षात्मक एवं ललित निबंधों का संकलन 'क्षणदा' भी इस कालखंड की एक उल्लेखनीय रचना है । आप की 'संकल्पिता' सांस्कृतिक एवं विचारात्मक निबंधों का संग्रह है । शान्ति प्रिय द्विवेदी छायावादी काव्य के समर्थ समीक्षक हैं । शिवपूजन सहाय ने व्यक्तिगत निबंध अधिक लिखे हैं । रामकृष्ण गुप्ता 'शिलीमुख समीक्षात्मक एवं सांस्कृतिक विषयों पर सबल रूप से लेखनी चलाते हैं । डॉ० बड़थ्वाल के निबन्ध चिन्तन प्रधान हैं । आचार्य परशुराम चतुर्वेदी जी ने सांस्कृतिक विषयों पर निबन्ध लिखे हैं।

शुक्ल युग के निबन्धकारों नें अपने पूर्ववर्ती निबंधकारों की अपेक्षा अधिक गम्भीरता एवं सूक्ष्मता से इस विधा में भाव विचरण किया है । भाषा शैली एवं अभिव्यंजना की दृष्टि से इस युग का निबन्ध साहित्य पर्याप्त प्रौढ़ है । विचारात्मक निबन्धों का इस युग में पर्याप्त विकास हुआ ।

हिन्दी साहित्येतिहास में छायावाद/स्वच्छन्दतावाद के पश्चात् प्रगतिवादी 1943 ई तक, प्रयोगवादी काल 1953 ई तक तथा स्वतन्त्र लेखन काल जो कि अब तक चल रहा है – के रूप में मान्य हुआ। निबन्ध क्षेत्र में इस सारे आज तक के काल को शुक्ल काल के नाम से जाना जाता है।

हिन्दी शुक्लोत्तर निबंध साहित्य विधा में शुक्ल काल के लेखकों के साथ ही समय – समय पर नए लेखकों ने भी निबन्ध विधा में योगदान दिया है । इनमें श्री सद्गुरु शरण अवस्थी, श्री रामवृक्ष वेनी पुरी, श्री इला चन्द्र जोशी, श्री यशपाल, डॉ. वासुदेवशरण आग्रवाल, डॉ विनय मोहन शर्मा, आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, श्री जतेन्द्र कुमार, डॉ. तजबली पाण्डेय, श्री रामधारी सिंह दिनकर, डॉ. इन्द्रनाथ मदान, डॉ. रमेश कुमार मेघ, डॉ पाण्डेय शशि भूषन, डॉ. नरेंद्र मोहन, डॉ संसार चन्द्र, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, श्री देवेन्द्र सन्यासी, श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. निर्मला जैन, डॉ. विजयेन्द्र स्नातक, डॉ. नामवर सिंह, श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय', डॉ. भागीरथ मिश्र, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, डॉ. धर्मवीर भारती, श्री कुबेरनाथ राय, डॉ. विद्या निवास मिश्र, श्री मोहन राकेश, डॉ. विवेकी राय, डॉ. मैनेजर पाण्डेय, डॉ. वियज पाल सिंह, डॉ. लाल चन्द्रगुप्त मंगल, डॉ. पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', श्री हरि शंकर परसाई, श्री लाल शुक्ल, डॉ. रामविलास शर्मा, बेढ़ब बनारसी, भवानी प्रसाद मिश्र, रमेश चन्द्र शाह– प्रभृति विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं ।

शुक्लोत्तर निबंध साहित्य में समर्थ हस्ताक्षर आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी जी का नाम सर्वोपरि आता है । आचार्य जी ने संस्कृतिक आधारभूमि पर जीवन तथा साहित्य की प्रत्येक समस्या को रेखांकित किया है । आपके निबन्धों में प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक परम्परा का गम्भीर ज्ञान एवं आधुनिक युग की नवीन चेतना का जीवन बोध मिलता है। जैनेन्द्र कुमार आधुनिक चिन्तनशील निबन्धकार हैं। रामधारी सिंह 'दिनकर' विचारक निबंधकार हैं । डॉ. नगेन्द्र साहित्यिक एवं आलोचनात्मक निबंधों से हिन्दी निबंध साहित्य को समृद्ध किया है । अज्ञेय जी ने अपने निबधों में साहित्य सम्बन्धी मान्यताओं को रेखाकिंत किया है । डॉ. मदान ने साहित्य समीक्षा सम्बन्धी निबन्धों में आत्मीयता के साथ जीवन की विसंगतियों को भी प्रस्तुत किया है । डॉ. संसार चंद जी ने काव्य प्रधान निबन्धों से मानवीय विडम्बनाओं को समझाया है । ललित निबन्ध क्षेत्र में विद्या निवास मिश्र, कुबेर नाथ राय, कन्हैया लाल मिश्र, प्रभाकर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं ।

29.9 सारांश

इस प्रकार हिन्दी निबन्ध साहित्य के संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि यह हिन्दी साहित्य की एक ऐसी सशक्त विधा है जिसमें अन्य विधाओं को एक सजग प्रहरी के रूप में विचार करते हुए सही दिशा दिखाने का प्रयास किया है। यह ठीक है कि आज यह विधा आलोचनात्मक अधिक हो गई है । साथ ही संस्मरण, रेखाचित्र, डायरी आदि गद्य की गौरव विधाओं के विकसित होने के कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल या आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी जी जैसे स्वतन्त्र विचार व चिंतन निबन्धकार कम ही दिखाई देते हैं पर फिर भी विजय शंकर मल्ल जी ने ठीक ही कहा है : 'आगे साहित्य में विषय वैविध्य ज्यों–ज्यों बढ़ता जाएगा दोनों प्रकार के – विषय निष्ठ और व्यक्ति निष्ठ जिन्हें परिबन्ध–निबन्ध और निर्बन्ध–निबन्ध कह सकते हैं– निबन्धों की आवश्यकता का अनुभव करने वाले पाठक और उन्हें लिखने वाले लेखक बढ़ते जाएँगे ।' इस कथा की सत्यता तभी सार्थक है जब आज हर हिन्दी विद्यार्थी निबन्ध–लेख, प्रस्ताव, के भेद को सही तरीके से समझ कर 'निबन्ध' पढ़ने–लिखने के लिए प्रस्तुत हो ।

15.10 कठिन शब्द

1. विषयनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ 2. सार्थकता. 3. संस्मरण 4. रेखाचित्र 5. प्रहरी

6. सूक्ष्म, 7.व्यवस्थित 8. आविष्कार 9. निबन्धकीय 10. सम्बोधन

15.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्रश्न. – निबन्ध की परिभाषा देते हुए इसके तत्वों पर प्रकाश डालें।

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न.– निबन्ध के वर्गीकरण पर प्रकाश डालिए।

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न. – निबन्ध विधा का विकास कब और कैसे हुआ? स्पष्ट कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

15.12 पठनीय ग्रंथ

1. नामवर सिंह – छायावाद, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1990
2. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी – ग्रंथावली, भाग–3, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1981

3.	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	–	हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2050
4.	रामस्वरूप चतुर्वेदी	–	हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, 1993
5.	डॉ. नगेन्द्र (सं.)	–	हिन्दी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली 1982
6.	डॉ. जयकिशन प्रसाद	–	हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा।
7.	डॉ. नामवर सिंह	–	आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, राजकमल प्रकाशन – नई दिल्ली,

——————

हिन्दी उपन्यास – उदभव और विकास

30.0 रूपरेखा

30.1 उद्देश्य

30.2 प्रस्तावना

30.3 हिन्दी उपन्यास : उदभव और विकास

30.3.1 उपन्यास शब्द की व्युत्पति

30.3.2 उपन्यास – परिभाषा

30.3.3 उपन्यास – तत्व

30.3.4 उपन्यास – प्रकार

30.3.5 चरित्र – प्रधान

30.3.6 प्रेमचन्द युगीन हिन्दी उपन्यास

30.3.7 प्रेमचन्दोत्तर युग

30.4 सारांश

30.5 कठिन शब्द

30.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

30.7 पठनीय पुस्तकें

30.1 उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनापरांत आप –

– उपन्यास विद्या के विकास के बारे में जानेंगे।

– उपन्यास के कौन – कौन से तत्व हैं? जानेंगे।

– उपन्यासों के वर्गीकरण को जानेंगे।

30.2 प्रस्तावना सुविकसित साहित्य–विधा के रूप में उपन्यास काव्य और नाटक की अपेक्षा नवीनतर साहित्यिक विधा है। नवीनतर होते हुए भी मानव–जीवन के परिवेश के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण अभिव्यक्त करने वाली एक सशक्त विधा है। कहा भी गया है कि "जीवन की यथार्थ व्याख्या से समन्वित होने के कारण उपन्यास आधुनिक युग की सभी साहित्यिक विधाओं में से सर्वाधिक सशक्त एवं पुष्ट विधा है।"

30.3 हिन्दी उपन्यास : उदभव और विकास

30.3.1 उपन्यास शब्द : उपन्यास शब्द 'उप' = समीप तथा न्यास Fiction = थाती, के योग से बना हुआ शब्द है। इस प्रकार व्युत्पति के आधार पर इसका अर्थ हुआ पास में, निकट में रखी हुई वस्तु। इससे स्पष्ट होता है कि यह एक ऐसी साहित्यिक विधा है जिसमें वस्तु कृति या रचना को देख/पढ़ कर जीवन का प्रतिबिम्ब झलकता दिखे। देवराज जी की मान्यता है कि "इसमें हमारी ही कथा हमारी ही भाषा में कही गई होती है।" यू तो यह शब्द 'उपन्यासस्तु वाङ्मुखम्' अमरदोष में मिलता है पर जिस सन्दर्भ में–साहित्यिक विधा विशेष के लिए आज यह प्रयुक्त होता है उसमें प्रकृति अंग्रेजी नावेल (Novel) से अधिक मिलती है। 'नावेल' शब्द का प्रयोग यथार्थवादी कथा साहित्य के लिए होता है। काल्पनिक कथा को फिक्शन (Fiction) कहा जाता है। मराठी में इस विधा को 'नवालिका' अथवा 'कादम्बरी' कहा जाता है। इस प्रकार 'जीवन की यथार्थ व्याख्या' के रूप में उपन्यास विधा को अधिक मान्यता मिली। यद्यपि हिन्दी साहित्येतिहास में विधागत रूप में इस विधा का प्रारम्भिक चरण रोमांस या काल्पनिकता प्रधान अधिक रहा। आगे चलकर उपन्यास में जीवन अपने वास्तविक रूप के निकट उपस्थित होने का प्रयत्न करते हुए अपने जिस रूप में आज हिन्दी जगत में विशिष्टता प्राप्त किए है उससे स्पष्ट होता है कि यह 'गद्य का महाकाव्य' है।

30.3.2 उपन्यास : परिभाषा–उपन्यास हिन्दी साहित्य में आधुनिक युग की उपज है। आधुनिक युग जिसका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी अधिक है। इस दृष्टि से इसके स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपने विचार भी प्रस्तुत किए हैं। आधुनिक युग की परिस्थितियों के प्रतिफलन इस विधा में जो लचीलापन है उसके कारण इसके कई रूप आज साहित्य जगत् में प्रचलित हैं। आज समष्टि को दबा व्यक्ति ऊपर उठता नज़र आ रहा है उसे दृष्टि में रखते हुए इस विधा को **न्यू इंगलिश डिक्शनरी में–**बृहत् आकार गद्य आख्यान या वृतान्त, जिसके अन्तर्गत वास्तविक जीवन के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाले पात्रों और कार्यों को कथानक में चित्रित किया जाता है–के रूप में व्याख्यायित किया गया है।

पाश्चात्य विद्वानों ने इसके सन्दर्भ में जहां **जेम्स स्काट** इसे "विभिन्न प्रवृत्तियों के उद्घाटन का माध्यम" मानते हैं वहीं **'कलाईल'** इसे 'यथार्थ का चित्र' मानते हैं। अब मानना है कि "इसमें अपने समय और उसकी गतिविधि का यथार्थ अंकन रहता हो **थामस हार्डी** ने वस्तु जगत को यथार्थ और कल्पना के माध्यम से प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत

करने वाली रचना को उपन्यास कहा है।

हिन्दी विद्वानों ने भी उपन्यास के विविध प्रभावी पक्षों को दृष्टि में रखते हुए इसके विषय में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। **बाबू श्याम सुन्दर दास जी** की मान्यता है कि "उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।" उपन्यास साहित्येतिहास के प्रकाश स्तंभ **उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द जी** ने माना है कि ""मैं उपन्यास को मानव–चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव–चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।"" **बाबू गुलाब राय** जी का इस सम्बन्ध में कहना है कि ""उपन्यास कार्य–कारण श्रृंखला में बंधा हुआ वह गद्य कथानक है जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित वास्तविक या काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव–जीवन के सत्य का रसात्मक रूप में उद्घाटन किया जाता है।"" **भगवती प्रसाद वाजपेयी** जी ने भी उपन्यास के विषय में कहा है, ""उपन्यास साहित्य भी वह अविकल अक्षुण्ण विधा है जो जीवन के अधिकाधिक निकट पहुँचकर उसमें नव–प्राण संचार ही नहीं करती, उसके सतत प्रबुद्ध और अक्षरणशील बनाती रहती है इसलिए जीवन का जैसा सम्पूर्ण उद्घाटन उपन्यास में सम्भव है, वैसा अन्यत्र नहीं।""

इन सभी परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यास में मानव–जीवन का प्रतिनिधित्व ही अधिक प्रभावी होता है। इसमें मानवीय मनोवेगों का चित्रण गहरे से रहता है। उपन्यास मानव–जीवन के मानसिक संघर्ष का एक ऐसा चित्र है जिसमें यथार्थ, कल्पना के सहयोग से प्रस्तुत होता है पर इसकी कल्पना जीवन के सत्य को अभिव्यक्त करने का साधन होती है। उपन्यास में उपन्यासकार अपनी अभिव्यक्ति–गरिमा से मंडित कर इस प्रकार प्रस्तुत करता है जिससे सहृदय–सामाजिक जीवन भी वास्तविक वस्तु स्थिति को आंकने में समर्थ होता है।

उपन्यासः तत्व–बुद्धिनाथ झा जी की मान्यता है कि उपन्यास का आरंभ चाहे जिस दृष्टिकोण से हुआ हो, अब उसके जीवन का ऐसा निश्चित और लक्ष्य गर्भित रूप हो गया है कि उसको छोड़ देने से वह उपन्यास नहीं रह सकेगा। उपन्यास साहित्य का वह अंग है, जो एक ओर समाज की आभ्यंतरिक प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाल कर उनके व्यापार को सबके सन्मुख उपस्थित करता है और दूसरी ओर निम्न गामी प्रवृत्तियों का दुष्परिणाम दिखाकर कल्याण पथ पर आरूढ़ और अग्रसर होने के लिए लोगों में नई–नई प्रवृत्तियाँ पैदा करता है। ऐसे रूप के लिए उपन्यासकार घटनाओं, पात्रों, मनोवेगों आदि को एक निश्चित उद्देश्य के अनुसार उपस्थित कर सामान्य जीवन का दर्शन कराता है। इस कार्य की पूर्णता के लिए उपन्यास के कथा–साहित्यनुसार छः तत्व बताए गए हैं। – कथावस्तु, पात्र, संवाद, देशकाल, शैली और उद्देश्य। इनमें से वस्तु, चरित्र–चित्रण, शैली और उद्देश्य को प्रमुख माना जाता है। कुछ विद्वानों ने द्वन्द्व या संघर्ष तथा कौतूहल या द्वैधाभाव को भी उपन्यास का तत्व माना है पर ये दोनों रचना कौशल के अंग है। छः तत्वों में से देशकाल को भी प्रायः कथावस्तु का एक अंग माना जाता है। देशकाल कथावस्तु को स्वाभाविक एवं विश्वसनीय बनाता है। उद्देश्य वह परिणाम है जिसे कथावस्तु द्वारा प्राप्त किया जाता है और संवाद तथा शैली उसे प्राप्त करने के साधन बनाते हैं।

उपन्यास के कथानक का निर्माण उन घटनाओं और कार्यों से होता है जिन्हें व्यक्ति करते या झेलते हैं। यही व्यक्ति उपन्यास के पात्र होते हैं। इन पात्रों का पारस्परिक संताप,संवाद के रूप में जाने जाते हैं। उपन्यास का वातावरण औपन्यासिक कथा के स्थान और समय में घटित घटनाओं द्वारा निर्मित होता है और शैली वह विधान है जिसके माध्यम से लेखक अपनी कथा प्रस्तुत करता है। इसके साथ ही लेखक की समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण उसकी

जीवन–दृष्टि होती है। इसी दृष्टि को सामाजिकों तक पहुँचाना लेखक का उद्देश्य होता है।

सम्पूर्ण उपन्यास के कथ्य का आधार जिन उपकरणों पर आधारित होता है वह **कथावस्तु या कथानक** कहलाता है। यह कथावस्तु ""उपन्यासकार का वर्णनीय विषय है।"" इसमें कथा सूत्र (थीम), मुख्यकथानक (प्लाट), प्रासंगिक कथाएं एपीसोड, उपकथानक (अण्डर प्लाट), पत्र, समाचार, डायरी के पृष्ट (डाक्यूमेंटस) आदि उपकरणों की गणना की जाती है। जिनका यथास्थान प्रसंगानुकूल उपयोग लेखक द्वारा किया जाता है। कथा सूत्र (थीम) मुख्य कथा को कहा जाता है। आधुनिक युग में एक विशिष्ट स्थिति में कुछ लेखकों ने इसकी ओर विशेष ध्यान देना छोड़ दिया है जो विशेष स्थिति के रूप में माना जाता है। कथा के विकास में मुख्य कथा को पुष्ट करने के लिए **प्रासंगिक कथाएं** भी आती हैं, ऐसी कथाएं बीच में ही आती हैं और मुख्य धारा के प्रवाह को गति देते हुए बीच में ही लीन भी हो जाती हैं। कई उपन्यासों में मुख्यकथानक के साथ उसके सहायक उपकथानक का भी समावेश होता है। इसका कार्य मुख्य कथा के सूत्रों को स्पष्ट करना होता है। समाचार, पत्र या डायरी आदि का प्रयोग लेखक मुख्य कथा की सत्यता की प्रतीति के लिए करता है।

उपन्यास को मानव–चरित्र का चित्र माना जाता है इसलिए इसका कथानक मानव – जीवन की घटनाओं से सूत्रों को एकत्र करके ही लेखक द्वारा निर्मित होता है। इसमें विस्मयादि द्वारा उत्सुकता जगाने के लिए कल्पना का मिश्रण भी होता है। ""उपन्यासकार अपनी प्रतिभा उच्च से उच्च स्तर पर उठाकर अपने कथानक की रोचकता में भव्यता पैदा कर सकता है।"" देवराज जी का यह कथन औपन्यासिक कथावस्तु की वास्तविकता को स्पष्ट कर देता है।

औपन्यासिक कथावस्तु के विकास क्रम में घटनाओं की संगति होती है। संगति की स्वाभाविकता उपन्यास के कथ्य को स्पष्ट करने में सहायक होती है। पं. बुद्विनाथ जी के अनुसार ""जीवन के प्रकृतपथ का अनुसरण करते हुए, पात्रों का कार्य–क्रम कथानक को निर्दिष्ट परिणाम की ओर ले जाने में समर्थ होता है और उस प्रगति के पथ पर घटनाएं क्रमविहीन और असंभव सी नहीं मालूम है।" संबद्ध कथा की स्वाभाविकता जीवन के वास्तविक पक्ष को उजागर करती है जबकि असम्बद्व पक्ष में जुड़े भावों को मुख्यधारा के साथ जोड़ने के लिए लेखक कल्पना का सहारा लेता है। इन दोनों पक्षों का संयोजन लेखक की प्रतिभा पर आधारित होता है। उपन्यास के कथानक की सुसम्बद्धता तथा उसकी विश्वसनीयता के लिए मनोवैज्ञानिक क्षण, उत्कण्ठा, संघर्ष, भविष्य केत और चरमोत्कर्ष का होना आवश्यक है। प्रायः सफल उपन्यासकार इन सभी का यथासंभव प्रयोग अपने उपन्यास की सफलता के लिए करते हैं।

उपन्यास के **पात्रों** के क्रिया–कलाप से उसकी कथावस्तु का निर्माण होता है। इससे चरित्र–चित्रण की कुशलता को कथावस्तु के संघटन व विन्यास से भी अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। चरित्र–चित्रण का अर्थ प्राकृतिक राग–द्वेष और मनोवेगों के आधार पर उपन्यास के पात्रों का जीवन–व्यापार प्रदर्शित करना। इसी से पात्रों को सजीव और यथार्थ बनाने के लिए उपन्यासकार की कल्पनाशक्ति, मानव मन के सूक्ष्म अध्ययन कलात्मक योजना परखी जाती है। ब्रजेश्वर वर्मा जी की मान्यता है कि चरित्र–चित्रण के द्वारा ही कथानक में वे समस्त खूबियाँ लाई जा सकती हैं, जिनके आधार पर उपन्यासकार अपनी कृतियों में महान उद्देश्य की अवतरणा करके उसे स्थायी मूल्यों से समन्वित कर सकता है। चरित्र–चित्रण की सबसे बड़ी विशेषता पात्रों की सहज, सरल, स्वाभाविक पाठकीय संवेदना से जुड़ने में सहजता से होती है। ब्रजेश्वर जी ने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि "मनुष्य प्रकृति के विभिन्न पक्षों और स्तरों के सूक्ष्म अध्ययन और कम–से–कम शब्दों में चित्र उपस्थित कर सकने की योग्यता ही सफल चरित्र–चित्रण की कसौटी है।" उपन्यास में वर्गगत प्रतिनिधि पात्र, व्यक्तित्व प्रधान पात्र, स्थिर पात्र, गत्यात्मक या परिवर्तनशील पात्रों की संयोजना लेखक द्वारा

होती है। इन पात्रों का प्रत्यक्ष या परोक्ष विधि से चरित्र चित्रण किया जाता है।

चरित्र–चित्रण के अन्तर्गत ही पात्रों के संभाषण या संवाद आते हैं। मनुष्य का परिचय उसकी बातचीत में बड़ी सहजता से मिल जाता है। इसी दृष्टि से उपन्यास में संवाद या कथोपकथन पात्रों को सजीव बनाने तथा कथावस्तु के प्रवाह में नाटकीयता का समावेश एवं उसके प्रभाव को बढाने वाले सिद्ध होते हैं। उपन्यास में इन्हीं के माध्यम से लेखक अपने पात्रों के चरित्र का उद्‌घाटन करते हुए अपने कथ्य की विशिष्टता को स्पष्ट करते ही औपन्यासिक कथोपकथनों में देश–काल और पात्र के अनुकूल स्वाभाविकता मनोविज्ञान की उपयुक्तता और उपन्यास के प्रति पाठकीय रोचकता बढाने वाली सरसता आवश्यक है।

उपन्यास में पात्रों का चरित्र उनकी बातचीत से स्पष्ट होता है। इस स्पष्टता के लिए पात्र की परिस्थिति और वातावरण जिसमें वे अपने कार्य कर रहें हैं का होना भी आवश्यक है। यह आवश्यक माना जाता है कि कथानक की घटनाओं के घटित होने की सम्पूर्ण परिस्थिति उसका स्थान व समय भी पाठक वर्ग के सन्मुख साकार हो। इस कार्य के लिए उपन्यासकार के अपने कथा को **देशकाल तथा वातावरण** का भी पूरा ध्यान रखना पड़ता है। देशकाल तथा वातावरण व्यक्ति के निर्माण में प्रमुख सहायक होते हैं। इसके अन्तर्गत आचार विचार, रहन–सहन, रीति–रिवाज़ के साथ–साथ राजनीतिक व सामाजिक परिस्थितियों का वर्णन आ जाता है। प्रकृति की भावानुकूल पृष्ठभूमि यथार्थता का आभास देने एवं भावों को उद्दीप्त करने तथा उपन्यास में रोचकता व रमणीयता लाने में सहायक होती है। देशकाल का वातावरण के लिए भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन का समग्र परिचय लेखक के लिए आवश्यक है। विशेषकर ऐतिहासिक उपन्यासों में तो इसको विशेष रूप से अधिमानता दी जाती है। आंचलिक और स्थानीय रंग वाले उपन्यासों में भी वातावरण का सजीव–चित्रण आवश्यक तत्व माना जाता है।

उपन्यास–रचना में पात्रों का विन्यास और घटनाओं का संयोग संघटित करने के लिए लेखक वर्णन–विधान की जिस भिन्न रूपता को स्वीकार करता है उसे उपन्यास की **शैली** कहा जाता है। शैली वास्तव में लेखक के व्यक्तित्व का परिचय देती है। उपन्यास की शैली सांकेतिक न होकर विश्वात्मक होती है, क्योंकि इसके माध्यम में उपन्यासकार वातावरण में रस की पूर्ण सृष्टि करता है। शैली के साथ–साथ **भाषा** का भी जुड़ाव होता है। विजय कदमकर के अनुसार ""साहित्य में भाषा–शैली का वही स्थान है जो मनुष्य में उसके स्वरूप, आकृति और वेशभूषा का है। भाषा–शैली चित्रण रसानुभूति के लिए बहुत सहायक है।"" शैली लेखक के व्यक्तित्व की छाप छोड़ती है। कोई तो व्याख्या पसन्द करता है तो अपने कथन को व्याख्यात्मक शैली में प्रस्तुत करता है। कोई अभिनयात्मक ढंग से बात कहने में कुशल होता है कहीं–कहीं तो अंगप्रत्यंग की समग्रता चित्रात्मक ढंग से प्रस्तुत की जाती है। आधुनिक युग में व्यंजना संकेत, प्रतीक और रूपक की शैलियों के प्रयोग भी साहित्य में दिखाई देते हैं। उपन्यासों में कहीं तो वर्णनात्मक शैली को प्रमुखता दी जाती है, इसमें लेखक तटस्थ रहकर जैसे देखता है वर्णन कर देता है। इसके साथ ही कहीं आलोचनात्मक शैली भी मिलती है, जिसमें लेखक एक विचारक के रूप में कथा प्रसंग में अपनी ओर से सिद्धान्त या विचार के रूप में कथा के बीच–बीच में पात्रों के माध्यम से अपने विचार प्रस्तुत करता है। चरित्र–चित्रण और कथानक विस्तार के लिए लेखक संभाषणात्मक शैली का प्रयोग भी अपनी रचना में करते हैं। पत्र या डायरी के रूप में भी सम्पूर्ण कथावस्तु की प्रस्तुति पत्र या डायरी शैली में की जाती है। कहीं–कहीं उपन्यास में कथा–नायक नायिका पूरी कथा 'मैं' के रूप में कहते हैं। इसे उत्तम पुरुषात्मक शैली कहा जाता है।

उपन्यास में जो कथा कही जाती है, उसका कोई न कोई परिणाम होता है। एक सामाजिक होने के कारण

उपन्यासकार अपनी रचना के माध्यम से जो कुछ कहना चाहता है वही उसका उद्देश्य होता है। यह उद्देश्य ही लेखक का **जीवन–दर्शन** है जिसका वह पाठकों पर सफलतापूर्ण प्रभाव डाल सकने की प्रक्रिया से सारा कार्य करता है। उपन्यास के उद्देश्य के रूप में उपन्यास की कथावस्तु और उसके पात्र तथा उसका चरित्र–चित्रण किया जाता है। पहले भले ही किस्सा कहानी या अफसाने के रूप में उपन्यास का उद्देश्य मनोरंजन से कला प्रदर्शन रहा हो पर आज मानव हृदय के भावों और अनुभूतियों की व्यंजना ही उपन्यास का उद्देश्य ठहराता है। पं. बुद्विनाथ झा जी की मान्यता है कि ""उपन्यास का उद्देश्य न केवल यथार्थ का नग्न चित्र उपस्थित करना है, न आदर्श की काल्पनिक कारीगरी दिखलाना है, बल्कि दोनों के मेल से एक ऐसा सुलभ, सुन्दर और सर्वप्रिय जीवन–पथ प्रस्तुत करना है जिस पर यथार्थ और आदर्श का मेल हो जाए।""

16.3.4 उपन्यासः प्रकार–मावन–जीवन का कल्पना समन्वित चित्रण करने के कारण उपन्यास का क्षेत्र आज व्यापक हो गया है। इसका स्वरूप सभी विषयों को अंगीकार करने में समर्थ है, इसी दृष्टि से उपन्यास के विभिन्न भेद और प्रकार आज साहित्य–मंजूषा में संकलित दिखाई देते हैं। उपन्यास के भेद–प्रकार उसकी कथावस्तु, रूप–विधान और उद्देश्य के आधार पर विद्वानों द्वारा किए गए हैं।

कथावस्तु के आधार पर उपन्यास ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक, राजनीतिक, तिलस्मी, जासूसी आदि विभिन्न रूपों में विभाजित किए जाते हैं।

रूपविधान की दृष्टि से उपन्यास घटना प्रधान चरित्र प्रधान, रस प्रधान और नाटकीय चार प्रकार के होते हैं। उद्देश्य की दृष्टि से भी उपन्यास सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक, देशकालपरक व नीतिपरक चार प्रकार के होते हैं। कुछ साहित्यमनीषियों ने घटना प्रधान, सामाजिक, अंतरंग जीवन के तथा देशकाल सापेक्ष व निरपेक्ष के रूप में उपन्यासों के भेद किए हैं। इसके साथ ही कुछ आलोचकों ने प्रकृति के आधार पर बहिर्मुखी, अन्तर्मुखी तथा समन्वित इन रूपों में उपन्यासों को बाँटा है। कुछ प्रसिद्ध प्रमुख प्रकारों का परिचय इस प्रकार हैः–

घटना प्रधान उपन्यासों में तिलस्मी, साहसिक, जासूसी, प्रेमाख्यानक, ऐतिहासिक व पौराणिक उपन्यासों की गणना होती है। **तिलस्मी** उपन्यासों में नायक–नायिका, अय्यार तिलस्म तोड़ना आदि का वर्णन होता है। इनके लिए अद्भुत कल्पनाशक्तिः प्रतिभा व कौशल की आवश्यकता होती है। हिन्दी उपन्यास के इतिहास में देवकीनन्दन खत्री ने विशेषरूप से ऐसे उपन्यास लिखे हैं। **साहसिक** उपन्यास चोर, डाकू, डकैती आदि से सम्बन्धित होते हैं। इस प्रकार के उपन्यास दुर्गाप्रसाद खत्री, चन्द्रशेखर पाठक, जयराम गुप्त आदि ने उपन्यासेतिहास के प्रारम्भिक चरण में रचे हैं। **जासूसी** उपन्यासों में डकैती, चोरी या किसी दुर्घटना का पता जासूस लगाते हैं। ऐसे उपन्यास घटना प्रधान अधिक होते हैं। गोपाल राम गहमरी के उपन्यास इस प्रकार के उदाहरण ही रोमांसिक या प्रेमाख्यानक उपन्यास प्रेम, अधिकार, उत्कण्ठा आदि का चित्रण करते हैं। किशोरी लाल गोस्वामी के उपन्यास इसी श्रेणी के हैं। ऐसे उपन्यासों में प्रेम का चित्रण शोखी, शरारत और चुहल के साथ किया जाता है। इनमें नाटकीयता का पुट अधिक रहता है। रामलाल वर्मा और जी.पी. श्रीवास्तव ने इसी ढंग के उपन्यास लिखें हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों में कथा इतिहास सफल होती है। प्रारम्भ में किशोरी लाल गोस्वामी जी ने इस प्रकार के उपन्यास–लेखन का प्रयास किया पर सही रूप में इस प्रकार के उपन्यास वर्तमान युग की ही देन हैं। इनमें भारतीय इतिहास के निर्धारण का प्रयास किया गया। ऐसे उपन्यासों में ऐतिहासिक तथ्यों, तत्कालीन सामाजिक जीवन, भौगोलिक वातावरण आदि तर्कसम्मत इतिवृत प्रस्तुत किया जाता है। ब्रजनन्दन सहाय, वृन्दावन वर्मा, राहुल

सांकृत्यायन आदि इस प्रकार के उपन्यास रचनाकार है। इसी श्रेणी में पौराणिक उपन्यासों की कथावस्तु पौराणिक पात्रों व घटनाओं पर आधारित होती है।

30.3.5 चरित्र–प्रधान उपन्यास में कथा मनोरंजन और उपदेश का पथ छोड कर मानवीय संवेदना के साथ गहरे में जुड़ती है। ऐसे उपन्यासों में पात्र की विशेषता प्रभावी होती है। ऐसे उपन्यासों में पात्र घटनाओं से प्रभावित तो होते हैं पर अपनी छाप छोड़ने का ढंग उनका निराला होता है। ऐसे उपन्यास मानवीय भावों के अधिक निकट होते हैं। इनका प्रारम्भ प्रेमचन्द के साथ होता है। यद्यपि इनसे पूर्व मन्नन द्विवेदी, हरिओम, विजय कुमार घोष आदि ने ऐसे उपन्यास लिखे हैं पर विशिष्टता प्रेमचन्द जी से ही मानी जाती हैं। चरित्र प्रधान उपन्यासों में वैज्ञानिक सत्य की दुहाई देने वाले **प्राकृतवादी** उपन्यास भी मिलते हैं। **भावनाप्रधान** उपन्यास कवित्व प्रधान होते हैं। **मनोवैज्ञानिक** उपन्यासों में पात्रों के क्रिया व्यापार की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। इन उपन्यासों में पूर्वदीप्ति, चेतना प्रवाह पद्धति तथा कथा के क्रमिक विकास की अवहेलना मिलती है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में अनुभूति की आत्मनिष्ठा अभिव्यक्ति पर अधिक बल दिया जाता है। इन्हीं उपन्यासों में जब अन्तर्मन प्रभावी होता है तो मनोविश्लेषणवादी रूप प्रभावी हो जाता है।

आधुनिक युग में **आंचलिक** उपन्यास भी प्रभावी है। आंचलिक रचनाओं में कोई शिष्ट अंचल व क्षेत्र या उसका कोई एक भाग व गांव ही प्रतिपाद्य या विवेच्य होता है। ऐसे उपन्यासों में स्थानीय दृश्यों, प्रकृति, जलवायु, लोक जीवन के विविध आयाम विशेष रूप से प्रभावी होते हैं। फणीश्वर नाथ रेणु व नागार्जुन आदि की रचनाएं इसी कोटि की हैं।

सांस्कृतिक उपन्यासों में मानव संस्कृति के विविध सोपानों की व्याख्या रहती है। **देशकाल परक** उपन्यासों में लेखक ऐतिहासिक व युगीन सामाजिक समस्याओं का निरूपण करते हुए उपयुक्त समाधान भी प्रस्तुत करते हैं। **नीतिमूलक** उपन्यासों में लेखक मानव–जीवन का यथावत् निरूपण करते हुए अपने कथ्य में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से नैतिक आदर्शों के प्रति विशेष आग्रह रखते हैं। **नाटकीय** उपन्यास प्रायः संवाद प्रधान होते हैं।

हिन्दी उपन्यासः विकास हिन्दी उपन्यास विधा का विकास भारतेन्दु युग से होता है, पर इस विधा में प्रेमचन्द एक ऐसा नाम है जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि हिन्दी उपन्यास–साहित्य में प्रेमचन्द एक ऐसे टीले के समान हैं जिसके दोनों ओर दलान हैं। इसी दृष्टि से हिन्दी उपन्यास को पूर्व प्रेमचन्द, प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्दोत्तर युग के रूप में ही देख जाता है।

पूर्व प्रेमचन्द युग सन् 1877 से 1918 ई तक माना जाता है। इसके पश्चात् सन् 1918 से 1936 ई.तक प्रेमचन्द युग और फिर सन् 1936 के बाद प्रेमचन्दोत्तर युग माना जाता है।

पूर्व प्रेमचन्द युग प्रेमचन्द पूर्व युग में हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भिक रूप दिखाई देता है। इस युग में सामाजिक, ऐतिहासिक व घटना प्रधान तीन प्रकार के उपन्यास मिलते हैं। यह युग हिन्दी साहित्येतिहास में भारतेन्दु युग के सामविक हैं। इस समय के हिन्दी उपन्यास का मूल प्रेरणा बंगला उपन्यासों से मिली। 1877 ई में श्रद्धाराम फिल्लौरी रचित 'भाग्यवती' एक सामाजिक उपन्यास है। यह उपदेशात्मक उपन्यास है। इसके पश्चात् लाला श्री निवास दास के "परीक्षा गुरु" का नाम आया है।

प्रेमचन्द पूर्व उपन्यासों पर प्रत्यक्ष रूप से बंगला और परोक्ष रूप से अंग्रेज़ी उपन्यासों का प्रभाव दिखाई देता है। साथ ही इनमें बीज रूप से प्राचीन भारतीय कथा–साहित्य भी प्रेरक रूप में कार्य करता दिखाई देता है। इस

युग के सामाजिक उपन्यासों में श्रद्धा राम फिल्लौरी तथा लाल श्री निवास दास के अतिरिक्त सर्व श्री बाल कृष्ण भट्ट, राधा कृष्ण दास, लज्जा राम शर्मा तथा किशोरी लाल गोस्वामी के उपन्यास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त श्री ब्रजनन्दन दास व मन्नद द्विवेदी ने भी सामाजिक उपन्यासों की रचना की। इन सामाजिक उपन्यासों में उपदेशात्मक प्रवृत्ति अधिक प्रभावी रहती है।

श्री किशोरीलाल गोस्वामी, गंगा प्रसाद गुप्त, मथुरा प्रसाद शर्मा तथा जयराम दास गुप्त ने विशेष रूप से **ऐतिहासिक** उपन्यासों की रचना की इन सभी में पात्रादि तो ऐतिहासिक हैं पर प्रसंग वर्णन में कल्पनाधिक्य दिखाई देता है। इन उपन्यासों के कथानक प्रणय–कथाओं एवं रहस्यमयी घटनाओं का ताना–बाना अधिक बुनते हैं। ऐतिहासिक उपन्यास परम्परा में बलदेव प्रसादमिश्र, बाबू ब्रजनन्दन सहाय तथा मिश्र बन्धुओं ने भी योगदान दिया है। इन सभी ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास के नाम पर पाठकों के मनोरंजन की सामग्री प्रस्तुत की गई है।

पूर्व प्रेमचन्द युग में **घटना प्रधान** उपन्यासों में तिलस्मी ऐय्यारी उपन्यासों का विशेष योगदान रहा है। ऐसे उपन्यासों का प्रवर्तन हिन्दी में बाबू देवकी नन्दन खत्री द्वारा हुआ। स्न 1888 में लिखित उनकी 'चन्द्रकान्ता' रचना के विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी की मान्यता है कि "पहले मौलिक उपन्यास लेखक जिनके उपन्यासों की सर्वसाधारण में धूम हुई।" 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास का हिन्दी जगत् में अभूतपूर्व स्वागत हुआ। खत्री जी के साथ ही इस क्षेत्र में श्री हरे कृष्ण जौहर जी का नाम भी आता है। किशोरी लाल गोस्वामी, बाबू दुर्गा प्रसाद खत्री, देवी प्रसाद उपाध्याय, गुलाबदास, विश्वेश्वर प्रसाद शर्मा, श्री राम लाल वर्मा जी ने भी इस प्रकार के उपन्यास पाठकों के मनोरंजनार्थ लिखे। भले ही इस प्रकार के उपन्यासों का साहित्यिक महत्व कम रहा पर हिन्दी के प्रचार में इन उपन्यासों का योगदान अद्वितीय है, इस तथ्य को कोई नकार नहीं सकता।

घटना प्रधान उपन्यासों में ही जासूसी उपन्यासों की गणना भी होती है। जासूसी उपन्यासों में चोरी, डकैती, खून, ठगी आदि की भयंकर घटना के सुराग जासूस द्वारा लगा कर उनके रहस्य को सुलझाने का वर्णन होता है। इस दृष्टि से इस युग में श्री गोपाल राम गहमरी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके साथ ही श्री राम लाल वर्मा, जयराम दास गुप्त, राम परसाद लाल आदि ने भी इस क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया।

घटनात्मक उपन्यासों में ही **अद्भुत घटना प्रधान** उपन्यासों की रचना भी इस युग में हुई। इन उपन्यासों में रोमांचकारी रहस्यों की प्रधानता रहती थी। श्री निहाल चन्द वर्मा, पं. विट्ठलदास सागर, श्री बांके लाल चतुर्वेदी आदि ने इस प्रकार के उपन्यासों द्वारा जनरंजन का प्रयास किया है। इस काल में ठाकुर जगमोहन सिंह का 1888 में प्रकाशित 'श्यामा स्वप्न' रोमानी उपन्यास भी आता है। इस उपन्यास में प्रेम कथा का स्वछन्द शैली में वर्णन हुआ है।

पूर्व प्रेमचन्द युग में हिन्दी उपन्यासों में बंगला, मराठी तथा अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद भी खूब हुआ। श्री गदाधर सिंह, बाबू राधा कृष्ण दास, राधाचरण गोस्वामी, बाबू राम कृष्ण वर्मा, बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री ने विभिन्न बंगला उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद किया। गोपाल दास गहमरी जी ने भी अनुवाद किया पर उनके अनुवाद प्रायः भावानुवाद ही होते थे। श्रीमती मल्लिका देवी ने मराठी से हिन्दी में अनुवाद का कार्य किया। लज्जाराम शर्मा जी ने गुजराती से हिन्दी मे अनुवाद किया। उर्दू से हिन्दीं में अनुवाद करने वालों में बाबू राम कृष्ण वर्मा तथा श्री गंगा प्रसाद गुप्त का नाम उल्लेखनीय है। गंगा प्रसाद गुप्त, महावीर प्रसाद पोद्दार और लाला चन्द्र लाल ने अंग्रेजी से उपन्यासों का अनुवाद किया। इस प्रकार प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यास साहित्य में उपदेश प्रधान सामाजिक,

कल्पना प्रधान ऐतिहासिक तथा कौतूहल प्रधान घटना प्रधान उपन्यासों की प्रधानता रही। यथार्थ जीवन की समस्याओं का चित्रण इन उपन्यासों में बहुत ही कम है। इस युग के उपन्यासों में पाठकों को मनोतुष्टि का प्रयत्न भावुकता और रहस्य विधायिनी कल्पना का महत्व ही दिखाई देता है। इस युग के मनोरंजन प्रधान उपन्यास आज इतिहास को वस्तु बनकर रह गए हैं।

30.3.6 प्रेमचन्द युगीन हिन्दी उपन्यास

हिन्दी उपन्यासों के विकास क्रम में सन् 1918 से 1936 ई. तक का समय प्रेमचन्द युग के नाम से जाना जाता है। निश्चित रूप से प्रेमचन्द (1880–1936 ई.) हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में क्रान्ति के अग्रदूत के रूप में अवतरित हुए। प्रेमचन्द ने "तिलस्म–ऐयार एवं जासूस की पिटारी में बंद हिन्दी–उपन्यास को जीवन की वास्तविकता से परिचित कराया।" हिन्दी साहित्य–इतिहास में यह समय 'छायावाद युग' नाम से प्रसिद्ध है। यह युग भाववेग, आदर्शप्रियता, राष्ट्रीय भावना, स्वच्छन्दता आदि नवजागरणीय प्रवृत्तियों की सूचना देने वाला है। इस युग का लेखन पाश्चात्य प्रभाव को स्वीकार करते हुए भी भारतीय संस्कृति के मूलभूत आधारों–आदर्श, संयम, त्याग, उदारता, सेवा, परोपकार आदि को जीवन दर्शन का प्रेरक मानते थे इस युग में विशेष रूप से प्रेमचन्द जी ने हिन्दी उपन्यास को तिलस्म–ऐय्यारी व जासूसी के फन्दों से मुक्ति दिलाकर उसे जीवन की वास्तविकता से परिचित कराया।

यद्यपि प्रेमचन्द जी का 'प्रेमा' व 'रूठी रानी' का प्रकाशन 1907 ई. में ही हो चुका था जिनमें उन्होंने सामाजिक सुधार के संकेत दिए थे पर 1918 में प्रकाशित 'सेवा सदन' एक ऐसा प्रौढ़ उपन्यास है जिसका प्रकाशन हिन्दी उपन्यास साहित्य के लिए एक महत्वपूर्ण घटना के रूप में मान्य है। 'सेवासदन' के बाद 'गोदान' पूर्ण तथा मंगलसूत्र (अपूर्ण) तक निरन्तर उनके उपन्यासों ने जीवन के विविध पक्षों पर सधी हुई दृष्टि से विचार किया। उनके उपन्यासों में व्यक्ति चेतना, समाजमंगल, यथार्थ की अनुभूति, आदर्श की कल्पना, बाह्य घटना, आंतरिक मनोमंथन एवं भाव द्वन्द्व सभी पक्षों का खुलकर दर्शन होता है।

प्रेमचन्द से प्रभावित इस काल खंड (1918–1936) में विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कोशिक', श्री नाथ सिंह, शिव पूजन सहाय, भगवती प्रमाद वाजपेयी, चण्डीप्रसाद हृदयेश, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह आदि ने आदर्शवादी मनोवृत्ति प्रधान उपन्यासों की रचना की। प्रेमचन्द युग में ही वृन्दावन लाल वर्मा जी ने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि वाले उपन्यासों की रचना प्रारम्भ की। भगवती प्रसाद वाजपेयी जी ने मध्यवर्गीय सामाजिक जीवन का मनोविश्लेषणात्मक चित्रण किया। राहुल सांकृत्यायन जी ने ऐतिहासिक रोमानी कथानकों को आधार बनाकर उपन्यास रचना की। सिया रामशरण गुप्त जी ने गांधी दर्शन पर आधारित मनोवैज्ञानिक सामाजिक उपन्यासों की रचना की। आचार्य चतुर सेन शास्त्री, ऋषभचरण जैन, जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा आदि ने भी इसी युग में उपन्यास रचना प्रारम्भ की पर इनका विकसित रूप प्रेमचन्दोत्तर काल में ही हुआ।

प्रेमचन्द युग में ही उषा देवी मित्रा, 'निराला' आदि के उपन्यासों में स्वच्छन्तावादी प्रकृति के दर्शन होते हैं। आचार्य चतुरसेन, पाण्डेय बेचन शर्मा "उग्र" ऋषभचरण जैन आदि ने प्रकृतिवादी प्रकृति के आधार पर समाज के यथार्थ पक्ष को वरीयता प्रदान की।

30.3.7 प्रेमचन्दोत्तर युग

साहित्यकार युग स्रष्टा के साथ–साथ युग दृष्टा भी होता है। इस दृष्टि से प्रेमचन्द जी ने अपने जीवन काल

में आगे आने वाले समय की कल्पना करते हुए स्पष्ट कहा था "यों कहना चाहिए कि भावी उपन्यास जीवन चरित होगा, चाहे किसी बड़े आदमी का यो छोटो आदमी का।.....अभी हम झूठ को सच बनाकर दिखाना चाहते हैं, भविष्य में सच को झूठ बनाकर दिखलाना होगा।" प्रेमचन्द जी का यह कथन उनके परवर्ती समाज में यथार्थ बन कर उभरा है। सन् 1936 के बाद विश्व में और भारत वर्ष में बहुत बड़े परिवर्तन हो चुके हैं। 1939 से 1945 तक का विश्व युद्ध, इस बीच 1940–41 में कांग्रेस का सत्याग्रह, तथा बंगाल का अकाल 1942 का भारत छोड़ो आंदोलन, 1947 में भारत विभाजन के साथ मिली आज़ादी, 26 जनवरी 1949 भारतीय संविधान का निर्माण 26 जनवरी 1950 को भारत का सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य के रूप में उदय, इस बीच कश्मीर पर कबीलाई हमला, चीन के साथ युद्ध, पाकिस्तान के साथ युद्ध फिर बंगलादेश का अस्तित्व में आना, एमरजेन्सी लगना, उत्तरी क्षेत्रों में आतंकवाद का दौर और कहीं पर नक्सलवादियों का ज़ोर ये सभी ऐसी घटनाएँ हैं जिन्होंने साहित्यिक विधाओं को किसी–न–किसी प्रकार से कुछ कहने को मजबूर किया है। अन्य विधाओं के साथ हिन्दी उपन्यास भी अपने भीतर समय की आवाज़ को समेटे हुए इस प्रेमचन्दोत्तर काल की एक विशिष्ट विधा के रूप में अपनी सहभागिता निभाता दिखाई देता है।

हिन्दी उपन्यास का प्रेमचन्द युग हिन्दी साहित्येतिहास में 'छायावाद' के नाम से जाना जाता है। प्रेमचन्दोत्तर युग भी इसी प्रकार छायावादोत्तर विभिन्न धाराओं–प्रगतिवाद (1957–1943 ई.), प्रयोगवाद (1943–1953 ई.) और फिर 1947 ई. के पश्चात् के इतिहास की विविध धाराओं को स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य और 2000 ई. के बाद के साहित्य से इक्कीसवीं सदी के साहित्य के रूप में सम्बोधित किया जाता है।

प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास के स्वतन्त्रता पूर्ण तथा स्वातन्त्र्योत्तर काल के उपन्यास के रूप में देखा जा सकता है। स्वातन्त्र्योतर काल को बीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध तथा इक्कीसवीं सदी का प्रारम्भिक काल के रूप में देखा जा सकता है। इस सारे कालखंड में हिन्दी उपन्यास के विविध रूप मिलते हैं। प्रेमचन्द द्वारा चलाई गई **सामाजिक** धारा की परम्परा में भगवतीचरण वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी, उपेन्द्रनाथ अश्क, अमृत लाल नागर, उदयशंकर भट्ट, कंचन लता सब्बरवाल आदि के नाम आते हैं।

प्रेमचन्दोत्तर काल का प्रथम चरण हिन्दी साहित्येतिहास में प्रगतिवाद के रूप में मान्य है। प्रगतिवाद में मार्क्सवादी धारा से साम्यवाद विशेष रूप सें प्रभावी रहा। मार्क्सवादी विचारधारा के दर्शन समाजवादी यथार्थ के चितेरे यशपाल के उपन्यास साहित्य में मिलते हैं। मार्क्सवाद के साथ ही फ्रायडीय मनोविश्लेषण का प्रभाव भी जैनेन्द्र के उपन्यासों में दिखाई देता है। अज्ञेय जी ने जहाँ मनोविज्ञान को प्रमुखता दी वहीं इलाचन्द्र जोशी ने मनोविश्लेषणात्मक पद्धति से उपन्यास रचना की। धर्मवीर भारती जी ने अपनी औपन्यासिक रचनाओं में मनोवैज्ञानिक आधार को ग्रहण किया। नरेश मेहता, रघुवंश, प्रभाकर माचवे इसी परम्परा का अनुमोदन करते हैं।

यशपाल, रामेश्वर शुक्ल अंचल, मन्मथनाथ गुप्त, रांगेय–राघव, भैरव प्रसाद गुप्त, अमृत राय आदि उपन्यास लेखकों ने सामाजिक यथार्थवादी उपन्यासों की रचना की है।

प्रेमचन्दोत्तर काल में ऐतिहासिक उपन्यासों की एक समृद्ध परम्परा दिखाई देती है। इन उपन्यासों में इतिहास सम्बन्धी नया दृष्टिकोण मिलता है। इस परम्परा में वृन्दावन लाल वर्मा का अप्रतिम स्थान है। आचार्य चतुर सेन शास्त्री, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव आदि ने भी अपनी लेखनी से इस धारा को पुष्ट किया है। इस परम्परा में आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, रघुवीर शरण मित्र, आनंद प्रकाश जैन के नाम भी उल्लेखनीय हैं। शिव प्रसाद रूद्र ने जहां काशी की ऐतिहासिकता को प्रस्तुत किया है वहीं पद्मा सचदेव ने अपने उपन्यास में जम्मू नगर की परम्परा

को प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार नागर जी ने लखनऊ के इतिहास को प्रस्तुत किया है।

प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासों में **आंचलिकता** की प्रवृत्ति विशेष रूप से उभर कर सामने आती है। आंचलिक उपन्यासों में किसी पिछड़े हुए अज्ञात अंचल या किसी अपरिचित या अर्द्धपरिचित जाति के जीवन को पूरी सहृदयता के साथ चित्रित किया जाता है। यद्यपि इस प्रकार के उपन्यासों का नामकरण फणीश्वर नाथ रेणु कृत 'मैला आंचल' की भूमिका से होता है पर इनका रूप नागार्जुन, देवेन्द्र सत्यार्थी, रूद्रकाशिदेय, उदयशंकर भट्ट, रांगेय राघव, राजेन्द्र अवस्थी बलभद्र ठाकुर, रामदाशमिक, शैलेश मटियानी, केशव प्रसाद मिश्र, यमुनादत्त वैष्णव व राही मासूम रजा आदि के उपन्यासों में भी मिलता है। हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में राष्ट्र के भूखंड मे फैलते हुए नूतन प्रकाश का ऐसा प्रभाव दिखाई देता है जिसके आलोक में उन क्षेत्रों की छुपी हुई सौन्दर्य भावना से जगत् को परिचय कराने का सफल प्रयास किया गया है।

प्रेमचन्दोत्तर विशेषकर स्वातन्त्रयोत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य में डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल, डॉ. देवराज, नरेश मेहता, दुष्यन्त कुमार, निर्मल वर्मा, पद्मा सचदेव, मृणाल पाण्डेय, शिवानी, चन्द्र कान्ता, राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, जगदीश चन्द्र, कृष्ण चन्द्र शर्मा मिक्खु, मन्नू भंडारी, श्री लाल शुक्ल, ममता कालिया, मुद्राराक्षस, कान्ताभारती, मृदुला गर्ग, अब्दुल बिस्मिल्लाह, महेन्द्रभल्ला, शशिप्रभा शास्त्री, मैत्रेयी पुष्पा, कृष्णासोबती, कुसुमकुमार नरेन्द्र कोहली आदि कई ऐसे नाम आते हैं, जिन्होंने मानवीय संवेदना को बहुत गहरे से मापते हुए मानव चरित्र के इस चित्र की बड़ी सफलता से सहृदय सामाजिकों के सम्मुख प्रस्तुत किया है।

आज हिदी उपन्यास का टेकनीक की दृष्टि से भी विशेष विकास हुआ है। आत्मकथात्मक शैली, डायरी शैली, पत्र शैली, रेखाचित्र–रिर्पाताज शैली इन सभी को समन्वित कर एक विशिष्ट शैली के साथ उपन्यास लोक मन के अन्तर्जगत् की गहन अनुभूतियों को बाह्य वर्जनाओं से मुक्त कर साहित्य जगत् में विशिष्ट स्थान का अधिकारी बना हुआ है।

30.4 सारांश

आज हिन्दी गद्य विधाओं में उपन्यास निश्चित रूप से एक विकसित कथा रूप है। इसका भविष्य आशाप्रद है और विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि इस विधा के अध्येताओं को इस विधा के सृजक निश्चित रूप से सामाजिक यथार्थ से परिचित करा उन्हें विवेकपूर्ण जीवन की मान्यता पर चलने की प्रेरणा देने में समर्थ सिद्ध होंगे।

30.5 कठिन शब्द

1 संवेदना 2 समृद्ध 3 मान्यता 4 प्रेरणा 5 सृजक 6 सम्मुख 7 मनोविश्लेषण 8 प्रत्यक्ष 9 गर्भित 10 अंकन

30.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्रश्न – उपन्यास की परिभाषा देते हुए इसके तत्वों पर प्रकाश डालिए

_____

_____

_____

प्रश्न – उपन्यास शब्द की व्युत्पति, एवं परिभाषा देते हुए इसके विकास पर प्रकाश डालिए

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न – 'चरित्र प्रधान' उपन्यास कौन से होते हैं? स्पष्ट करें।

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न – 'आचंलिक उपन्यास कौन से होते हैं? स्पष्ट करते हुए किसी एक आंचलिक उपन्यास का संक्षिप्त रूप से लेख लिखिए

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न – 'ऐतिहासिक उपन्यास' कौन से होते हैं? स्पष्ट करते हुए हिन्दी साहित्य के प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यास एवं उपन्यासकारों का परिचय दीजिए

_____

_____

_____

_____

_____

30.6 पठनीय ग्रंथ

1. नामवर सिंह – छायावाद, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1990
2. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी – ग्रंथावली, भाग–3, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1981
3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2050
4. रामस्वरूप चतुर्वेदी – हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, 1993
5. डॉ. नगेन्द्र (सं.) – हिन्दी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली 1982
6. डॉ. जयकिशन प्रसाद – हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा।
7. डॉ. नामवर सिंह – आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, राजकमल प्रकाशन – नई दिल्ली,

.....

हिन्दी नाटक – उदभव और विकास

31.0 रूपरेखा

31.1 उद्देश्य

31.2 प्रस्तावना

31.3 हिन्दी नाटक : उदभव और विकास

31.3.1 नाटक : शब्द व परिभाषा

31.3.2 नाटक के तत्व

31.3.3 कथावस्तु

31.3.4 नाटक : प्रकार

31.3.5 नाटक : उत्पत्ति

31.3.6 हिन्दी नाटक : विकास

31.4 सारांश

31.5 कठिन शब्द

31.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

31.7 पठनीय पुस्तकें

31.1 उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरांत आप–

– नाटक विद्या के बारे में जानेगे।

– नाटक शब्द की व्युत्पति एवं इसके विकास के बारे में जानेंगे।

– नाटक के तत्वों के बारे में जानेंगे।

– नाटक के प्रकार के बारे में जानेंगे

31.2 प्रस्तावना

साहित्य की अन्यान्य विधाओं की भांति नाटक भी मानवीय जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करने की एक समर्थ विधा है, पर अन्य विधाएं जहाँ श्रवणेन्द्रिय अधिक हैं वहीं नाटक चक्षुरिन्द्रिय से सम्बन्धित है। इस कारण इसमें जीवन की अभिनयात्मक व्याख्या रहती है। सुरेन्द्र चन्द्र गुप्त जी की मान्यता है कि "मानव–जीवन की अनुकृति होने के कारण यह अत्यन्त लोक प्रिय साहित्य–विधा है।"

31.3.1 नाटक : शब्द व परिभाषा : परम्परा से 'नृत्' धातु के प्राकृत रूप 'नट' से उत्पन्न मात्र विक्षेपण एवं अभिनय के भाव की अभिव्यक्ति करने वाली विधा 'नाट्य' के रूप में प्रसिद्ध हुई। दशरूपक में स्पष्ट किया गया है कि "अवस्थानुकृतिर्नाट्यं" अर्थात् अवस्था के अनुकरण को नाट्य कहते हैं। अवस्था को अभिव्यक्ति घटनाओं से मिलती है। घटना से अभिप्राय कार्य है। वही कार्य महत्त्वपूर्ण होता है जो मानव–समाज का ध्यान अपनी ओर केन्द्रित करने में समर्थ होता है। इसी दृष्टि से विजय वेदालंकार जी की मान्यता है कि "नाटक में लक्ष्ययुक्त, क्रमबद्ध, परस्पर सम्बन्धित घटनाएँ अर्थात् एक कथा होती है। यह कथा ऐतिहासिक, कल्पित या मिश्रित होती है। इन घटनाओं को जब अभिनेता रंगमंच पर प्रदर्शित करता है तो उसे नाटक कहते हैं।" इनसे पूर्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने नाटक को "नट लोगों की क्रिया" माना था। बाबू गुलाब राय जी की मान्यता है कि "नाटक में जीवन की अनुकृति को शब्दगत संकेतों में संकुचित करके उसको सजीव पात्रों द्वारा एक चलते–फिरते सप्राण रूप में अंकित किया जाता है। नाटक जीवन की सांकेतिक अनुकृति नहीं है वरन् सजीव प्रतिलिपि है।....नाटक में फैले हुए जीवन–व्यापार को ऐसी व्यवस्था के साथ रखते हैं कि अधिक–से–अधिक प्रभाव उत्पन्न हो सके।"

नाटक को अभिव्यक्तिपरक अनुकरण मानते हुए रघुवंश जी की मान्यता है कि 'नाटक की उत्पत्ति मानव–जीवन की क्रीड़ात्मक प्रवृत्ति से सम्बन्धित है।" पाश्चात्य विद्वानों ने भी नाटकों के पर्याय ड्रामा (Drama) की व्याख्या करते हुए उससे अनुकरणात्मक क्रीड़ा द्वारा सुखानुभूति की प्राप्ति माना है। बोल्टन महोदय की मान्यता है कि "Drama, at its best, is an exercise of the imagination not only for writer, product and actor but also for the audience"

इस प्रकार नाटक में रचनाकार पात्रों द्वारा विशिष्ट परिस्थितियों का परिचय मानव–समाज के साथ कराने का प्रयास करता है। यह एक ऐसी साहित्यिक विधा है जिसमें वास्तविकता का अनुकरण जीवित पात्रों तथा जीते–जागते साधनों के साथ किया जाता है। इसमें अनुकरण और सम्भाषण के आधार पर मानवीय मनोवृत्तियों का अभिव्यक्तिकरण किया जाता है। विजय वेदालंकार जी मानते हैं कि "नाटक समाज का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। नाटक को समाज के निकट आना पड़ता है। समाज के शिक्षित और अशिक्षित दोनों वर्ग नाटक से मनोरंजन प्राप्त करते हैं। शिक्षित वर्ग

के लिए तो नाटक बोधगम्य है ही, परन्तु अभिनीत होने के कारण प्रत्यक्ष और मूर्त्त होने से वह अशिक्षित वर्ग के लिए भी बुद्धिगम्य हो जाता है।"

31.3.2 नाटक के तत्त्व : नाटक निरूपण निर्वाह के लिए नाटकीय तत्त्व के विभिन्न अंग निर्धारित किए गए हैं। भारतीय दृष्टि से वस्तु, नेता और रस यह तीन तत्त्व नाटक के स्वीकार किए जाते हैं। जबकि पाश्चात्य दृष्टि से इन तत्त्वों की संख्या सात तक पहुंच जाती है। कथावस्तु (Plot), पात्र और चरित्र–चित्रण (Character), संवाद (Dialouge), देशकाल व वातावरण (Atmosphere and Environment), उद्देश्य (Purpose), भाषा–शैली (Language and Style) तथा अभिनय (Stage Acting)

यद्यपि इन सभी की समन्वति भारतीय तत्त्वों में हो जाती है पर आज जिस रूप में हिन्दी में नाटक विधा की गणना होती है उसमें पाश्चात्य दृष्टि प्रभावी होने के कारण सातों तत्त्वों का विवेचन ही प्रायः किया जाता है।

31.3.3 कथावस्तु (Plot) : नाटक के मूल भाव की जिस तत्त्व में प्रस्तुति होती है वह उसकी कथावस्तु या कहानी या कथानक कहलाता है। इसका विस्तार ही नाटक के मूल कथ्य को आगे बढ़ाता है। यह कथा वस्तु या इतिवृत्त प्रख्यात, उत्पाद्य या मिश्र तीन प्रकार का हो सकता है। प्रख्यात वृत्त इतिहास–पुराण या समाज की वास्तविक घटना से लिया जाता है। उत्पाद्य लेखक की कल्पना द्वारा प्रसूत होता है। जबकि मिश्र में प्रख्यात व कल्पना का मिश्रण होता है। मुख्य चरित्र के आधार पर कथावस्तु आधिकारिक और प्रासंगिक दो प्रकार की होती है। आधिकारिक कथावस्तु का सीधा सम्बन्ध नाटक के फलभोक्ता नायक से होता है। इस मुख्य कथा के प्रवाह को गति देने के लिए प्रसंगानुकूल कुछ प्रासंगिक या गौण कथाएँ भी सहायक रूप में आती थी। यह दो प्रकार–पताका और प्रकटी की होती है। पताका कथायें दूर तक मुख्य कथा का साथ देती हैं वही प्रकटी थोड़े काल तक ही साथ चलती हैं।

नाटक की 'फल' प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण रचना में कार्य का विस्तार होता है। यह विस्तार क्रमशः पांच अवस्थाओं में होता है :

"अवस्था पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिमि।
आरम्भयत्न प्राप्त्याशानियताप्तिफलागगयाः।।"

अर्थात् आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम्। फल की सिद्धि हेतु उत्सुकता 'आरम्भ' है, जिसके पश्चात् फल प्राप्ति के लिए यत्न किया जाता है। प्राप्त्याशा में विघ्न निवारण और फल प्राप्ति की सम्भावना बनती है और फिर विघ्न–बाधाएँ दूर होने पर फल प्राप्ति का निश्चय नियताप्ति है। सम्पूर्ण फल की प्राप्ति फलागम् अवस्था में होता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी संघर्ष और घटनाओं के आधार पर कथाविकास की–प्रारम्भ (Exposition), संघर्ष का विकास (Rising Action), चरम सीमा (Crisis), उतार या निगति (Denoument) तथा उपसंहार या परिणति (Catastrophe)–पाँच अवस्थाएँ मानी हैं।

कथावस्तु को मुख्य फल की ओर अग्रसर करने में चमत्कार पूर्ण अंश जो–'प्रयोजन सिद्धि हे तव' :–के रूप में मान्य है उन्हें अर्थ प्रकृति कहा जाता है–

"बीज बिन्दुपताकाख्यप्रकरी कार्यलक्षण। :।
अर्थ प्रकृतयः पञ्च ता एता परिटीर्तिताः।।"

प्रयोजन की सिद्धि हेतु बीज, बिन्दु, पताका, प्रकटी तथा कार्य पांच अर्थ प्रकृतियाँ नाट्क की वस्तु योजना में सहायक होती हैं। यहां नाटक में फल की प्राप्ति का इष्ट बीज, कथा का फैलाव बिन्दु, मुख्य कथा की सहायिका पताका, मुख्य कथा में प्रसंगवश सहायिका प्रकटी तथा परिणाम कार्य कहलाता है।

नाटक की कथावस्तु की अवस्थाओं तथा अर्थ प्रकृतियों को जोड़ने के लिए सन्धियों का विधान किया गया है।

"मुख प्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृति।
मुखं बीज समुत्पत्तिर्नानार्थरससंभवा।।"

मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा निर्वहण ये पांचों संधियां क्रमशः आरम्भ और बीज, यत्न और बिन्दु प्राप्त्याशा और पताका, नियताप्ति और प्रकटी तथा फलागम् और कार्य के मध्य सहयोग कर कथावस्तु की गति के प्रवाह दिए रहती है।

अभिनेयता की दृष्टि से परम्परा से वाच्य और सूच्य दो प्रकार की कथावस्तु की योजना की जाती है। कार्यावस्था, अर्थ प्रकृति और सन्धियों को वाच्य श्रेणी में रखा जाता है। कहीं ऐसे प्रसंग भी नाटक की कथावस्तु में आ जाते हैं जिनका मंचन संभव नहीं होता ऐसी घटनाओं को सूचना द्वारा बताया जाता है। इसे ही 'सूच्य' कहा जाता है। इस 'सूच्य' को अर्थोपक्षेपक भी कहा जाता है। इसमें यदि पूर्व अथवा बाद में होने वाली घटना की सूचना दी जाए तो उसे 'विष्कम्पक' कहा जाता है। पर्दे के पीछे से दी गई सूचना चूलिका कहलाती है। अगले अंक की सूचना अंकावतार कहलाती है। अंक के अंत में अगले अंक की सूचना अंक मुख और दो अंकों के बीच में निम्न पात्रों द्वारा अभिनय कथा की सूचना प्रवेशक कहलाती है। अर्थोपक्षेपक में नाटक में रसहीन वस्तुओं की केवल सूचना दी जाती है।

कथावस्तु के पश्चात् नाटक में पात्रों का स्थान आता है। पात्रों के आश्रय में घटनाएँ घटित होती हुई कथावस्तु का निर्माण करती हैं। नाटक का प्रमुख पात्र नायक होता है और उसके सामने नायिका का रूप स्थित होता है। अभिनय के समय नाटकीय पात्र का रूप धारण कर अभिनेता पात्र यथार्थ पात्र के जीवन–व्यापार को प्रदर्शित करता है। नाटक के प्रमुख नायक में बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा तथा कला के प्रति समर्पण होना आवश्यक माना जाता है। परपरा के नायक को धीर ललित, धीरशान्त, धीरोदात तथा धीरोद्धत चार रूपों में माना जाता है। ये भेद प्राचीन नाट्य परम्परा के हैं। आज आधुनिक आदर्शों से अनुप्राणित नाटक–नायक के रूप में नई मान्यताएं स्थापित हो रही हैं। इनके अनुसार नाटक में मानवीय गुणों का रूप ही मान्य होता है। आज नाटक के सभी पात्र युग बोध के अनुरूप जीवन के आस–पास के अधिक निकट होते हैं। ऐतिहासिक तथा पौराणिक सन्दर्भों में नाटक के पात्र परम्परा से लिए जाते हैं।

नाटक के पात्रों का चरित्र–चित्रण नाटकीय अभिनय के रूप में प्रत्यक्ष होता है। नाटककार स्वयं पात्रों के विषय में कुछ नहीं कहता। कथावस्तु की घटनाओं और कथोपकथनों द्वारा नाटक के पात्रों का चरित्र सामाजिकों के समक्ष स्पष्ट होता है। नाटक में दो पात्रों के मध्य पारस्परिक वार्तालाप, या पात्र के स्वगत कथा द्वारा पात्रों की मानसिकता व चारित्रिक विशेषता स्पष्ट होती है। कहीं–कहीं अन्य पात्रों के कथनों में भी किसी पात्र के चरित्र का परिचय मिलता

है। इसके साथ ही पात्र विशेष की चारित्रिक विशेषताओं का परिचय उसके क्रिया–कलापों द्वारा भी स्पष्ट होता है।

नाटक दृश्य काव्य है। इसमें संवाद या कथोपकथनों द्वारा ही मूल कथ्य की प्रस्तुति का विकास होता है। नाटककार और सामाजिक के विचारों के मध्य कथोपकथन ही संवाहक की भूमिका निभाते हैं। धीरेन्द्र वर्मा जी की मान्यता है कि, "कथोपकथन नाटक में पात्रों को जीवन्त रूप में स्थित करते हुए उनकी प्रकृति को प्रत्यक्ष रूप में प्रकट करता है।" कथोपकथनों वे माध्यम से ही नाटक के चरित्र चित्रण में पूर्णता आती है। नाटक के पात्रों के पारस्परिक संवाद प्रभावशाली, अर्थपूर्ण, अभिनययोग्य, संक्षिप्त व हृदयस्पर्शी होने चाहिए। इन्हें सर्वश्राव्य, नियत श्राव्य तथा अश्राव्य तीन रूपों में बाँटा गया है। नाटक में प्रायः कथोपकथन पात्र के स्वयं के चरित्र के उद्घाटक होते हैं, साधारण तथा प्रसंग को गति इन्हीं से मिलती है। इन्हीं के माध्यम से दूसरे पात्रों की चारित्रिक विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं। नाटकार का मन्तव्य भी इन्हीं के माध्यम से समाज तक पहुँचता है।

सर्व, नियत तथा अश्रव्य के अतिरिक्त नाटकों में अपवादित, जनान्तिक, स्वगत तथा आकाशभाषित रूप में भी संवादों का उल्लेख मिलता है।

नाटक में देशकाल तथा वातावरण इसलिए आवश्यक है कि इसी से पात्र अपने युग का सच्चा प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। दृश्यविधान, वेशभूषा, अभिनय की सजीवता इसी तत्त्व पर आधारित होती है। देशकाल के अन्तर्गत रीतिरवाज, रहन–सहन, वेशभूषा, शिष्टाचार युग तथा क्षेत्र विशेष की भाषा शैली आदि सभी की गणना होती है। इस दृष्टि से नाटक में काल, स्थान और क्रिया की तीन नाट्य–अन्वितिया–समय की एकता (Unity of Time), स्थान की एकता (Unity of Place), तथा कार्य की एकता (Unity of action) की गणना भी की जाती है। इन्हें संकलनत्रय भी कहा जाता है। नाटक में समय, स्थान व कार्य की एकता का ध्यान रखने से ही नाटककार युग–क्षेत्र विशेष के वास्तविक रूप को प्रस्तुत करने में समर्थ हो सकता है। नाटक में प्रस्तुत घटना को सही रूप में उपस्थित करने के लिए संकलनत्रय का विशेष महत्त्व स्वीकार किया जाता है।

नाटक की भाषा सजीव, सरल और स्पष्ट होनी चाहिए पर यह नहीं कि सहज सरल करते हुए नाटककार उसमें कलात्मकता का समावेश न करें। भाषा की कलात्मकता ही नाट्यवस्तु व पात्रों की सजीवता का प्रमाण बनती है। सफलता, सरलता, स्वाभाविकता, अलंकरण, लाक्षणिकता, प्रवाह, मुहावरों लोकोक्तियों की संयुक्ति भाषा को जीवंत रूप प्रदान करती है। नाटक की भाषा में शिष्टता अनिवार्य है अन्यथा अशिष्ट भदेस रूप में प्रस्तुत होगा। नाटक की भाषा पात्रानुकूल होनी चाहिए। नाटककार का बहुमुखी व्यक्तित्त्व ही नाटक की भाषा के साथ–साथ उस शैली को साकार करता है जिसमें नाटक की प्रस्तुति होती है। नाटककार में यदि कविभावुकता है तो उसकी भाषा–शैली भी कवित्वपूर्ण होगी। इस प्रकार भाषा की अभिव्यक्ति का ढंग नाटककार भी मनोभावना को स्पष्ट करने में समर्थ होता है।

नाटक का उद्देश्य मानव–जीवन की रोचक रूप में व्याख्या करना है। उद्देश्य की अभिव्यक्ति या तो मुख्य पात्र की उक्तियों के माध्यम से की जाती है या पात्रों के व्यवहार और वार्तालाप के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा उसका बोध हो सकता है। आजकल कथावस्तु को जीवन अथवा समाज की किसी समस्या से सम्बन्धित रखने पर बल दिया जाता है। इससे स्पष्ट है कि समस्या की अभिव्यक्ति और उसका समाधान नाटक के उद्देश्य के रूप में मान्य है।

नाटक दृश्य काव्य है इस कारण अभिनेयता भी उसका एक आवश्यक तत्त्व है। अभिनय को नाटक से अलग

नहीं किया जा सकता। 'अभिनयति हृदयगत् भावान् प्रकाशयति' के अनुसार मन के भावों की अभिव्यक्ति या किसी व्यक्ति का प्रकृत अनुकरण प्रदर्शन अभिनय के अन्तर्गत आता है। अनुकरण का आधार संकेत, वाणी, वस्त्र और वेशभूषा है। नाट्यशास्त्र के अनुसार इसी आधार पर आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्विक चार प्रकार का अभिनय माना जाता है। आंगिक का सम्बन्ध विभिन्न शारीरिक अंगों के द्वारा अनुकरण है जबकि वाचिक का सम्बन्ध वाणी से है। आहार्य का सम्बन्ध वेशभूषा और साज–सज्जा से जुड़ता है जबकि सात्विक अभिनय में अश्रु, कथा, रोमांच आदि का अनुकरण कोई सफल अभिनेता ही कर सकता है।

इस प्रकार नाटक के विभिन्न तत्त्व समग्रतः इस साहित्यिक विधा की कलात्मकता की रक्षा करते हुए 'काव्येषु नाटक श्रेष्ठम्' उक्ति को सार्थक करते हैं। नाटक पात्रों के अभिनय द्वारा सामाजिकों की आत्मीयता कथ्य के साथ जोड़ने में जिस प्रकार से न सफल प्रयास करता है उससे 'भावक अपनी अहंता को मूल अनेकता में एकता का अनुभव करने लगते हैं।' इसमें इतिहास और भाव दोनों का सुन्दर समन्वय हो जाता है। आज नाटक जीवन की अभिव्यक्ति के रूप में एक सशक्त साहित्यिक विधा के रूप में मान्य है।

31.3.4 नाटक : प्रकार–परम्परा से नाटक अपनी कथावस्तु के अन्त में प्राप्त रूप के अनुसार सुखान्त या दुखान्त दो प्रकार का माना जाता रहा है। जहां नायक अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेता है उसे सुखान्त तथा जहां उसे अभीप्सित की प्राप्ति नहीं होती उसे दुखान्त रूप में माना जाता रहा है। पाश्चात्य मनीषी इन्हें क्रमशः कामदी (Comedy) तथा त्रासदी (Tragedy) के रूप में मान्यता देते हैं। इन दो रूपों के अतिरिक्त पाश्चात्य परिवेश में मैलोड्रामा, हीरोइक ड्रामा, फार्स आदि प्रकार भी विवेचित होते हैं। कामदी (Comedy) में-Comedy of Errors, Comedy of manners, Sentimental Comedy तथा Comedy of character or Humours भेद भी किए जाते हैं।

भारतीय पम्परा में नाट्य–भेद 'रूपक' के अन्तर्गत विवेचित है। रूपक और उपरूपक के भेदोपभेद के अन्तर्गत 'नाटक' का विशेष स्थान दिया गया है :

"प्रकृतित्वादथान्येषां भुयोरसपरिग्रहात्।
संपूर्णलक्षणत्वाच्च पूर्व नाटकमुच्यते।।"

नाटक को दशरूपक में सब रूपकों का मूल माना गया है। वैसे रूपक के–नाटक, प्रकरण, अंक, व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम और ईहामृग–दस भेद मान्य है। दशरथ ओझा जी के अनुसार "नाट्य पर आधृत दृश्यकाव्य रूपक कहलाते हैं और नृत्या पर आधृत उपरूपक।" उपरूपक विधा का विवेचन संस्कृत काव्यशास्त्र विवेचन परम्परा में 'भाव प्रकाश' व 'साहित्यदर्पण' से होता है इनमें पूर्व मात्र रूपक विवेचन ही उपलब्ध होता है। आचार्य अभिनव गुप्त ने डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, माणिका, प्रेक्षणक, रासाडीड़, हल्लीशक, रासक आदि का उल्लेख तो किया है पर इनके लक्षणादि की विवेचना नहीं की। परवर्ती काल में सट्टक, श्रीगपित, गोष्ठी, नर्त्तनक, नाट्यरासक भाण, मणिका, दुर्मीलिता आदि अट्ठारह उपरूपकों की गणना की गई।

आधुनिक काल में पाश्चात्य प्रभाव के कारण जिस रूप में इस विधा का विकास हुआ है उसमें, समस्यामूलक, विचार प्रधान, प्रतीकात्मक, एकांकी, रेडियो, गीतिनाट्य, भाव नाट्य, प्रहसन आदि रूपों का प्रचलन दिखाई देता है।

वैसे विषय की दृष्टि से ऐतिहासिक–पौराणिक तथा सामाजिक नाटक के दो भेद किए जाते हैं। रंगमंच की दृष्टि से अभिनयात्मक और पाठ्य नाटक के दो भेद किए जाते हैं।

पौराणिक नाटकों में कथावस्तु पौराणिक सन्दर्भों से ली गई होती है जबकि ऐतिहासिक नाटकों के कथ्य सूत्र इतिहास से गृहीत होते हैं। सामाजिक या नैतिक समस्याओं को समस्या नाटक में उठाया जाता है जबकि विचार प्रधान नाटक का लक्ष्य बौद्धिक आनन्द प्रदान करना होता है। ऐसे नाटक भावक–समाज के भावों का कम ही स्पर्श करते हैं। शिक्षाप्रद या प्रचारात्मक नाटक धर्ममत, राजनैतिक, साम्प्रदायिक या किसी पक्ष विशेष के सिद्धान्तों का प्रचार अधिक करते हैं। प्रतीकात्मक नाटकों में विचारों या भावों का प्रतिनिधित्व पात्रों के माध्यम से किया जाता है। इनके द्वारा मानव–मन की आन्तरिक भावनाओं, संघर्षों या भाववेगों का प्रतीकों के माध्यम से चित्रण किया जाता है।

31.3.5 नाटक : उत्पत्ति–'नाटक' एक प्राचीन विधा है। इसके बीच किस रूप में पल्लवित हुए इस सम्बन्ध में धार्मिक तथ्य लौकिक दो मत प्रचलित हैं। धार्मिक मतानुसार दैवी उत्पत्ति तथा वेद और रामायणादि पर आधारित मत मान्य है। दैवी उत्पत्ति मतानुसार ब्रह्मा ने ऋग्वेद से कथा, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्व वेद से रस ग्रहण कर पंचम वेद नाट्यवेद की रचना कर उसका ज्ञान आचार्य भारत को दिया। दशरूपक में कहा गया है :

उद्धत्योद्धत्य सारं यमखिलिनिगमान्नाट्यवेदं विरिच–
श्चक्रे यस्य प्रयोगं मुनिरपि भरतस्ताण्वं नीलकण्ठः।
शर्वाणी लास्यमस्य प्रतिपिदमपरं लक्ष्य कः कर्तुमीष्ठे,
नाट्यानां किंतु किंचित्प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि।।

इससे स्पष्ट होता है कि संस्कृत परम्परा में 'नाटक' के दैवी रूप में उत्पन्न माना जाता है।

वेद रामायणादि को लेकर लिए गए मतानुसार बलि या यज्ञ के अवसर पर जो अभिनयात्मक ढंग से मन्त्रोच्चार होता था उसी का परवर्ती काल में नाटक विधा के रूप में विकास हुआ। मैक्समूलर, कै वी. हर्टेल, हरप्रसाद शास्त्री, आदि विद्वान इस मत का समर्थन करते हैं।

लौकिक रूप से नाटकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध नाटकों की उत्पत्ति लोक–जीवन में प्रचलित स्वांगों आदि में हुई है। इसमत की कार्नो, हिलेब्रा, पिशेल, रित्रवे आदि ने मान्यता दी है। दैवी और लौकिक के अतिरिक्त कुछ विद्वान नाटकों की उत्पत्ति यूनानी नाट्य कला से भी मानते हैं। पर अधिकांश विद्वान भारत में नाटक की परम्परा को प्राचीन मानते हुए दैवी और लौकिक मत को ही अधिमान देते हैं।

31.3.6 हिन्दी नाटक : विकास–हिन्दी साहित्येतिहास के प्रथम तीनों कालों में आज की प्रचलित नाटक विधा का सर्वथा अभाव रहा। पद्यात्मक तथा वर्णन के रूप में जो कृतियां–विद्यापति कृत पारिजत हरण, लछिराम कृत करुणाभरण, गुरु गोबिन्द सिंह जी कृत विचित्र नाटक, हृदयराम भल्ला कृत हनुमान नाटक, व्रज वासीदास का प्रबोधचन्द्रोदय आदि–नाटक की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। लोक जीवन में स्वांग, नौटंकी, लीला, रास, यक्षगान आदि रूपों में नाट्य परम्परा तो मिलती है पर साहित्यिक विधागत रूप में नाटक का प्रारम्भ भारतेन्दु युग से ही होता है।

आधुनिक युग में हिन्दी नाटक–साहित्य के विकास को भारतेन्दु, प्रसाद तथा तथा प्रसादोत्तर तीन भागों में बांटा जाता है। यद्यपि भारतेन्दु जी के पिता श्री गोपाल चन्द्र गिरधर दास कृत नहुष (1859 ई.) में नाट्य–रीति का पालन मिलता है पर इस विधा का विधिवत प्रचलन भारतेन्दु जी से ही होता है। रामविलास शर्मा जी की मान्यता है कि "भारतेन्दु ने अपने मौलिक और अनूदित नाटकों के जरिये एक साथ कई काम किये। उन्होंने नाटकों द्वारा नई हिन्दी को लोकप्रिय बनाया, पारसी रंगमंच का विरोध किया तथा प्राचीन नाटकों का उद्धार किया।"

भारतेन्दु जी ने नाटक ही नहीं अपितु निजी अध्ययन एवं अनुभव के आधार पर 1883 ई. में हिन्दी नाट्यशास्त्र की रचना भी की। अपने 1868 ई. में संस्कृति विद्या–सुन्दर नाटक का अनुवाद किया। इसके पश्चात् आपने सत्य हरिश्चन्द्र, श्री चन्द्रावली नाटिका, विषस्थ विषमौषधम् भारत दुर्दशा, नीलदेवी, अन्धेर नगरी, प्रेम जोगिनी, सती प्रताप तथा भारत जननी, नाटकों की रचना की। आपके नाटक सामाजिक, राजनैतिक, पौराणिक तथा प्रेम तत्त्व सम्बन्धी है। आपके नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी युगानुरूप अभिव्यक्ति में ही भारतेन्दु के सहयोगियों में श्री निवासदास कृत रणधीर और प्रेममोहिनी, राधाकृष्णदास कृत दुखिनी बाला, पद्मावती, धर्मालाप, किशोरी लाल गोस्वामी कृत मयंक मंजरी, रावकृष्णदेवशरण कृत माधुरी रूपक का उल्लेख साहित्येतिहास ग्रन्थों में मिलता है। इनके अतिरिक्त खड्गबहादुर मल्ल, देवकीनन्दन त्रिपाठी, अम्बिकादत्त व्यास, बलदेव प्रसादमिश्र, लाला काशीनाथ खत्री, कार्तिक प्रसाद खत्री, अन्नतराम पाणें आदि के नाम भी गिनाये जा सकते हैं।

भारतेन्दु जी ने जहां अपने नाटकों में जीवन की व्यापक समस्याओं का चित्रण किया है वहीं अन्य नाटककारों ने भी सामाजिक समस्याओं को उठाते हुए अपने युग का चित्र प्रस्तुत किया है भारतेन्दुयुगीन सामाजिक समस्या प्रधान नाटकों में बाल–विवाह, स्त्री की विवशता एवं दीनता, समाज में शिष्टाचार का ह्रास आदि विषयों को ग्रहण किया गया है। कलात्मक प्रकर्ष का अभाव होते हुए भी उपदेशात्मकता के रूप में इन रचनाओं–दुखिनी बाला, विधवा, विवाह, विडम्बना, कलिकौतुक रूपक, भारत ललना आदि–में राधाकृष्ण दास, देवकीनन्दन त्रिपाठी, तोताराम, प्रतापनारायण मिश्र, खड्ग बहादुर भल्ल आदि ने युगीन सामाजिक समस्याओं को सहृदय सामाजिकों के सम्मुख प्रस्तुत किया है।

भारतेन्दु युग में राष्ट्रीय भावना प्रधान नाटकों की रचना भी हुई। इस भाव में भारतेन्दु जी कृत 'भारत दुर्दशा' का नाम लिया जा सकता है। इस प्रकार के नाटकों में खड्ग बहादुर मल्ल कृत भारत आरत, अम्बिकादत्त व्यास का 'भारत सौभाग्य', देवकीनन्दन त्रिपाठी कृत 'भारतहरणं', प्रताप नारायण कृत 'भारत दुर्दशा' जगत नारायण कृत भारतदुर्दिन तथा बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' कृत 'भारत सौभाग्य' का नाम लिया जा सकता है। 'प्रेमघन' जी की रचना इस युग की राष्ट्रीय भावना के ओत–प्रोत प्रतिनिधि रचना कही जा सकती है।

इस युग–विशेष में रोमानी प्रेम–भाव प्रधान नाटकों की झलक भी दिखा देती है। भारतेन्दु कृत 'विद्यासुन्दर' तथा 'चन्द्रावली' में प्रेम की मार्मिक व्यंजना मिलती है। इनके अतिरिक्त श्री निवास दास कृत 'रणधीर–प्रेम मोहिनी', नानक चन्द्र कृ. 'चन्द्रकला', कृष्ण देव शरण सिंह कृत 'माधुरी रूपक', शालिग्राम रचित 'लावण्यमयी सुदर्शन' आदि नाटकों में रोमानी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं।

भारतेन्दु युगीन नाट्य–विधा की सबसे बड़ी सम्पत्ति हास्य–व्यंग्य प्रधान प्रहसन नाटकों के रूप में मिलती है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'अंधेर नगरी' तथा विषस्यं विषमौषधम जैसी रचनाओं द्वारा भारतेन्दु जी ने जिस विशिष्ट विधा का सूत्रपात किया उसे देवकीनन्दन त्रिपाठी, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, किशोरी

लाल गोस्वामी तथा गोपालराम गहमरी ने सामाजिक कुरीतियों पर व्यंग्य करते हुए पुष्ट किया। 'जयनारसिंह की', 'कलयुगी जनेऊ', 'बूढ़े मुंह मुहासे', 'चौपट चपेट', लल्ला बाई आदि इस काल के विशिष्ट प्रहसन है।

भारतेन्दु युग में कमलाचरण मिश्र कृत 'अद्भुत नाटक' रतन चंद कृत 'न्याय सभा' तथा शंकरानन्द कृत 'विज्ञान' नाटकों में मानवीय मनोवृत्तियों तथा भावों को जिस प्रकार से प्रस्तुत किया गया है उनमें प्रतीकात्मक पद्धति का दर्शन होता है।

भारतेन्दु युग में पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों की रचना भी हुई है। भारतेन्दु जी की 'चन्द्रावली', हरी हरदत जी का 'महारास', सूर्य नारायण का 'श्यामानुराग नाटिका' इसके उदाहरण ही इसके अतिरिक्त चन्द्र शर्मा तथा कार्तिक प्रसाद खत्री ने 'उषाहरण' प्रसंग को आधार बना नाटकों की रचना की है। देवकीनन्दन खत्री, शीतल प्रसाद त्रिपाठी, ज्वाला प्रसाद मिश्र ने 'सीता बनवास' प्रसंग पर नाटक लिखे हैं। अमर सिंह, महाराणा प्रताप आदि ऐतिहासिक पात्रों को भी चरितनायक के रूप में इस युग के नाटककारों ने प्रस्तुत किया है।

इस युग में संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेज़ी में अनुवाद कर नाटकों को भी लोक मानस से परिचित कराया गया। भारतेन्दु जी के अतिरिक्त अनुवाद के क्षेत्र में राजा लक्षमण सिंह, लाला सीताराम, लाला शालिग्राम, नन्दलाल, विश्वनाथ दूबे, ज्वाला प्रसाद मिश्र, शीतला प्रसाद, मथुरा प्रसाद उपाध्याय, बद्रीनारायण, उदितनारायण आदि ने विभिन्न नाटकों का अनुवाद हिन्दी में किया है। इस प्रकार भारतेन्दु युग के हिन्दी नाटककारों ने हिन्दी नाटक के विकास में अपूर्व योगदान दिया है।

भारतेन्दु के पश्चात् आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में द्विवेदी युग का समय आता है। इस काल में नाटकों के शिल्प में कोई खास उपलब्धि दिखाई नहीं देती। पूर्ववर्ती परम्परा के आधार पर राधाचरण गोस्वामी, शिवनन्दन सहाय, गंगा प्रसाद, नारायण सहाय आदि ने पौराणिक संदर्भों को लेकर नाटकों की रचना की। इस विधा में माखन लाल चतुर्वेदी कृत 'कृष्णार्जुन युद्ध' तथा हरी दास माणिक कृत 'पाण्डव प्रताप' लक्ष्मी प्रसाद कृत 'उर्वशी' आदि प्रसिद्ध रचनाएं है। गंगा प्रसाद गुप्त, वृन्दावन लाल वर्मा, कृष्ण प्रकाश सिंह आदि ने ऐतिहासिक पात्रों या घटनाओं पर आधारित नाटकों की रचना की। भगवती प्रसाद, जीवानन्द शर्मा, कृष्णानन्द जोशी आदि ने सामाजिक जीवन के आधार पर वृद्धविवाह, भारत विजय, उन्नति वहां में होगी आदि नाटकों की रचना की।

द्विवेदी युग के मुहम्मद मिया रौनक, मुंशी विनायक प्रसाद, सैयद मेंहदी हसन, आगा मोहम्मद हक्ष आदि ने रोमानी नाटकों की रचना की है। बद्रीनाथ भट्ट, गंगा प्रसाद श्रीवास्तव आदि ने प्रहसनों की रचना इस युग में की है। सदानन्द अवस्थी लाला सीताराम, कविरत्न सत्यनारायण ने विभिन्न भाषाओं में नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया है।

द्विवेदी युग के सन्ध्या काल में जयशंकर प्रसाद की करुणामय, राज्यश्री रचनाएं विशेष उल्लेखनीय हैं क्योंकि द्विवेदी युग के छायावादी काल में प्रसाद जी के सहयोग से हिन्दी नाटक के विकास का एक नया युग प्रारम्भ होता है जिसे हिन्दी नाटक के इतिहास का एक विशिष्ट मोड़ माना जाता है। इसी कारण भारतेन्दु के पश्चात् हिन्दी नाटक के विकास में प्रसाद युग को ही मान्यता मिलती है हिन्दी साहित्येतिहास का छायावादी काल हिन्दी नाटक के इतिहास में प्रसाद युग के नाम से भी जाना जाता है। जय शंकर प्रसाद (सन् 1891–1937) का आगमन हिन्दी–नाट्य–साहित्य में एक युगान्तर प्रस्तुत करता है। "उनके नाटकों से हिन्दी नाट्य साहित्य प्रौढ़ता को प्राप्त करता है।" यह कथन सर्वथा

सत्य है क्योंकि बाबू गुलाब राय के अनुसार 'उन्होंने नाटकों में मौलिक क्रान्ति की।' प्रसाद जी ने हिन्दी नाट्य साहित्य मंजूषा को चौदह पूर्ण रत्न प्रदान किए। प्रसाद जी को विशेष सफलता ऐतिहासिक नाटकों की रचना में मिली। उनकी मान्यता थी "मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।" सज्जन से ध्रुवस्वामिनी तथा आग्रिमित्र (अपूर्ण) तक के नाटकों में अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं। इन नाटकों की कथावस्तु महाभारत युद्धोपरान्त से लेकर हर्षवर्द्धन के राज्यकाल तक के भारतीय इतिहास से ली गई है। यह काल भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग है। इन नाटकों में प्रसाद जी ने जिस प्रकार भारतीय संस्कृति के उत्कर्ष का चित्रण किया है उससे नगेन्द्र जी ने उन्हें सांस्कृतिक नाटककार के रूप में अधिमानता दी है। दुर्गाशंकर सिन्धु जी की मान्यता है कि "प्रसाद के सभी नाटकों में देशानुराग का आधिक्य है और उनके अधिकांश पात्रों में बलिदान का उल्लास, राष्ट्र निर्माण का संकल्प तथा उनके प्रयत्नों में सफलता का गौरव है।"

सज्जन, प्रायश्चित, कल्याणी परिणय, करुणालय, यशोधर्मदेव, राज्य श्री, विशारक, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, कामना, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, एक घूंट, ध्रुवस्वामिनी तथा अग्निमित्र (अपूर्ण) प्रसाद जी के नाटक है। प्रसाद जी के अतिरिक्त चन्द्ररात्र भंडारी, भंवरलाल सोनी, हरिकृष्ण प्रेमी, लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि ने ऐतिहासिक नाटकों की रचना की। इस युग में मिश्र जी ने आगे चलकर हिन्दी नाट्य साहित्य को एक नई दिशा दी।

प्रसाद युग में अम्बिका दत्त त्रिपाठी, राम चरित उपाध्याय, गंगाप्रसाद अरोड़ा, गौरी शंकर, वियोगी हरि, गोकुल चंद वर्मा, लक्ष्मीनारायण शर्मा, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध तथा किशोरी दास वाजपेयी जी ने धार्मिक–पौराणिक नाटकों की रचना की। सामाजिक नाटकों के क्षेत्र में विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक, सुदर्शन, ईश्वरी प्रसाद शर्मा, बैजनाथ चावल वाला, केदारनाथ बजाज, रामेश्वरी प्रसाद, बेचन शर्मा 'उग्र', प्रेमचन्द्र, जमुनादास मेहरा, गोविन्द वल्लभ पंत, छविनाथ पाण्डेय आदि नाटककारों के नाम आते हैं। इस युग में मैथिलीशरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा, उदयशंकर भट्ट जी ने गीतिनाट्य लिखकर नाट्यसाहित्य का संवर्द्धन किया। जी. पी. श्रीवास्तव ने दुमदार आदमी, चाल बेदब, चोर के घर छिछोर आदि नाटकों हास्यव्यंग्य प्रधान नाट्यविधा की धारा को पुष्ट किया। प्रसाद युग में प्रसाद जी का कोमल मानव जीवन के अन्तर्गत चलने वाली सद् एवं असद् वृत्तियों के शाश्वत संघर्ष को मूर्त करने का प्रयत्न करने वाला प्रतीकात्मक नाटक है। ऐसे नाटकों में भगवती प्रसाद वाजपेयी, सेठ गोविन्द दास, कुमार हृदय, शंभुनाथ सिंह तथा लक्ष्मीनारायण लाल जी ने भी छलना, नवरस, नक्शे का रंग, धरती और आकाश तथा मादा कैक्टस लिख कर उल्लेखनीय योगदान दिया।

प्रसाद युग में भी अनूदित नाटकों की परम्परा मिलती है। मैथिलीशरण गुप्त, अतर चंद कपूर, हरदयालु सिंह आदि ने संस्कृत नाटकों का अनुवाद किया है। संस्कृत के अतिरिक्त अंग्रेज़ी, रूसी, फ्रांसीसी आदि भाषाओं के नाटकों के अनुवाद भी हिन्दी में हुए। भारतीय भाषाओं में विशेषकर बंगला भाषा के द्विजेन्द्र लाल राय तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा गिरीश चन्द्र घोष आदि के जनप्रिय नाटकों का अनुवाद भी हिन्दी में हुआ। इस प्रकार प्रसाद युग में हिन्दी नाटक साहित्य विशेष रूप से समृद्ध हुआ।

प्रसादोत्तर हिन्दी नाटक साहित्य में पूर्ववर्ती नाट्यधाराओं के साथ–साथ एक क्रान्तिकारी परिवर्तन के रूप में **समस्या नाटकों** का विकास भी दिखाई देता है। प्रसादोत्तर–छायावादोत्तर–युग हिन्दी साहित्योतिहास में प्रगतिवाद,

प्रयोगवाद और स्वतंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य के साथ–साथ अब इक्कीसवीं सदी के साहित्य के रूप में विभाजित किया जाता है। प्रगतिवाद युग का समय 1938–1943 ई. तथा प्रयोगवाद–युग का समय 1943–1953 ई. माना जाता है। **प्रगतिवाद–युग** में हिन्दी नाटक रंगमंच और जीवन के यथार्थ के साथ जुड़कर नयी दिशा की ओर उन्मुख हुआ। इस युग में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने नाटक को रोमांस के कटघरे से मुक्त करवा उसे आधुनिक भाव बोध के साथ जोड़ा। सेठ गोविन्द दास, लक्ष्मी नारायण मिश्र, उद्यशंकर भट्ट, जगन्नाथ दास मिलिन्द नाटककार भी इस युग के उल्लेखनीय नाटककार ही **प्रयोगवाद युग** में नाटककारों ने आधुनिक जीवन की जटिलता को अपना कथ्य का आधार बनाया है। इस युग के नाटककारों रूढ़ियों से मुक्त जीवन दृष्टिकोण को लेकर लोकमानस सम्मुख प्रस्तुत हुए है। विष्णु प्रभाकर, जगदीश चन्द्र माथुर, गिरिजाकुमार माथुर, हरि कृष्ण प्रेमी, उदय शंकर भट्ट आदि ने जीवन की नई दिशा का संकेत अपने नाटकों में किया है। **स्वातन्त्र्योत्तर** हिन्दी नाटक साहित्य में मनोरंजन के विविध माध्यमों के विकास के कारण एक नया परिवर्तन दिखाई देता है। 1947 ई० के बाद 2000 तक के हिन्दी साहित्य में तक नई शती के हिन्दी साहित्य में जो कथ्य और शिल्प की दृष्टि से रचा गया उसका प्रभाव हिन्दी नाटक–विधा में भी दिखाई देता है। "इस युग के साहित्य में युगीन जीवन की अभिव्यक्ति के लिए प्राचीन परिपाटी के स्थान पर नये मानदण्ड अपनाए गए। उन पर जी की इस उक्ति का दर्शन कोणार्क, अंधायुग, आषाढ़ का एक दिन आदि नाटकों में दिखाई देता है इस युग के नाटककारों ने सामाजिक युग से जुड़े रंग तत्वों को विशेष अधिमानता दी। इस समय के नाटकों में लोक कथा की ओर झुकाव के साथ–साथ नयी तकनीकों का प्रयोग भी दिखाई देता है"

प्रसादोत्तर हिन्दी नाटक परम्परा में **पौराणिक** सन्दर्भों को लेकर उदयशंकर भट्ट, चतुरसेन शास्त्री श्रीमती तारा मिश्रा, हरी शंकर सिन्हा आदि ने नाटकों की। रचना की ऐतिहासिक सन्दर्भों को लेकर श्यामाकान्त पाठक, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, कैलाश नाथ भटनागर, परिपूर्णानन्द, वृन्दावन लाल वर्मा, हरि कृष्ण प्रेमी, रामकुमार वर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय है। प्रसादोत्तर ऐतिहासिक नाटक परम्परा में उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण सिंह, वृन्दावन लाल वर्मा, जगदीशचन्द्र माथुर का प्रमुख स्थान है। **समस्या प्रधान** नाटक लेखकों में प्रेमसहाय सिंह, भगवती प्रसाद वाजपेयी लक्ष्मी नारायण सिंह, सूर्य नारायण शुक्ल, पृथ्वी नाथ शर्मा आदि द्वारा नाटकों के सामाजिक और पारिवारिक जीवन को अनेक समस्याएं उठायी गई है। विनोद रस्तोगी के नाटकों में पुराने मूल्यों का विघटन दिखाई देता है।

नये युग में नाटक बुद्धिवादी दृष्टिकोण से लिखे गए हैं। आज का नाटककार कृत्रिमता, आडम्बर, पाखंड और खोखले आदर्शों का साथ न देकर स्वतन्त्र नैसर्गिकता को प्रमुखता देते हुए नाटक लिख रहा है। पिछली सदी के उत्तरार्द्ध में साठोत्तरी समय में प्रसारण सुविधाओं के विस्तार से जिन नाटककारों की विशिष्टता के साथ रेखांकित किया जाता है उनमें मोहन राकेश और धर्मवीर भारती का नाम विशेष है। इनके अतिरिक्त भीष्म साहनी, मणिमधुकर, शंकर शेष, विपिन अग्रवाल, लक्ष्मीकांत वर्मा, सुरेन्द्र वर्मा आदि ने जो कथ्य शिल्प और मंचीय स्तर पर जो प्रयत्न किए हैं उनमें रंगमंच के साथ–साथ सामाजिक युग में जुड़े रंग तत्वों से पूर्ण नाटक हिन्दी जगत् में प्रस्तुत हुए हैं।

सन् 1970 ई. के पश्चात् हिन्दी नाटक विधा में प्रतीकात्मक ढंग से सामाजिक विडम्बनाओं पर व्यंग्य प्रदर्शन का रूप ज्ञानदेव अग्निहोत्री द्वारा शुतुरमुर्ग से माना जाता है। विपिन कुमार (अग्रवाल अमृतराय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना आदि ने नाटकों द्वारा सामाजिक और राजनीतिक अन्याय के विरुद्ध एक साधारण आदमी की असाधारण खीज और गुस्से को प्रस्तुत किया है। लक्ष्मीकांत शर्मा ने अपने नाटक रोशनी एक नदी हैं में एक सार्थक तलाश में लगे इंसान

की ओर संकेत किया है। दया प्रकाश सिन्हा, लक्ष्मीरनारायण लाल, सुशील कुमार सिंह, हमीदुल्ला, नरेन्द्र कोहली आदि ने इस समय में अपने नाटकों द्वारा लोक मानस के भावों को अभिव्यक्ति दी है।

आज हिन्दी नाटक में जीवन का कोई क्षेत्र अछूता नहीं रहा। पौराणिक और ऐतिहासिक प्रसंगों की नयी दृष्टि से अभिव्यक्ति, सामाजिक युग के औद्योगिक विकास के अभिशाप और आर्थिक विषमताओं से टूटते जीवन मूल्यों और विघटित मानवीय सम्बन्धों की सशक्त अभिव्यक्ति आज के प्रयोगधर्मी नाटकों में मिलती है।

आज के **सामाजिक** हिन्दी नाटकों में सुशील कुमार सिंह, दयाप्रकाश सिन्हा, सुरेन्द्र वर्मा, मृदुला गर्ग, बृजमोहन शाह आदि ने सामाजिक–राजनीतिक सन्दर्भों को कथ्यानुभव के नये मुहावरें में ढाल कर प्रस्तुत किया है। ऐतिहासिक सन्दर्भों में **मिथकीय** दृष्टि से पारम्परिक मिथकों के नये प्रयोग लक्ष्मी नारायण लाल, जयशंकर त्रिपाठी, ललित सहगल, सुरेन्द्र वर्मा आदि के नाटकों में दिखाई देते हैं। **राजनीतिक** समस्याओं को लेकर शरद जोशी, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, भीष्म साहनी, स्वदेश दीपक, रमेश उपाध्याय आदि ने नाटक लिखे हैं। नये युग के साथ विसंगतियां भी खासी जुड़ गई है। इस दृष्टि से **असगंत–एसर्ड** नाटक भी हिन्दी नाटककारों द्वारा लिखे गए हैं। ऐसे नाटकों में व्यवस्था का विरोध दिखाई देता है। स्वप्न या फंतासी में लेखकों ने हरकत भाषा में भावों की विशिष्टता को उकेरने का सफल प्रयास किया है। मुद्राराक्षस, विपिन कुमार अग्रवाल, ब्रजमोहन शाह, शंकर शेष, कवि मधुकर, वियु कुमार आदि ने नाटकों में इसे देखा जा सकता है। **काव्यनाटकों** में वीरेन्द्रनारायण, रामेश्वर सिंह कश्यप, विनोद रस्तोगी, चन्द्रशेखर, हंसकुमार तिवारी आदि ने उल्लेखनीय योगदान दिया है।

नुक्कड़ नाटक भी आज जननाट्य मंच द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है। कन्नड़, मराठी, बंगला आदि भारतीय भाषाओं से हिन्दी में नाटकों का अनुवाद भी हुआ है। आज हिन्दी नाटक का जो रूप दिखाई देता है उसमें समग्र जीवन की धड़कन सुनाई देती है। आज हिन्दी नाटक की अपनी परम्परा व पहचान है उसे शैली या शिल्प की दृष्टि से किसी अन्य दृष्टि की ओर देखना नहीं पड़ता।

भारतेन्दु युग से लेकर आधुनिक हिन्दी नाटक के विकास में विविधता के दर्शन होते हैं। पर जो रूप आज इस विधा का है उससे स्पष्ट होता है कि यह हिन्दी की एक सशक्त विधा है और इसमें मानवीय संवेदना की युगानुरूप भावना की प्रस्तुति हो रही है।

31.5 कठिन शब्द

1 काव्य नाटक 2 विविधता 3 मानवीय संवेदना 4 युगानुरूप 5 विशिष्टता

6 जटिलता 7 नैसर्गिकता 8 मनोवृत्ति 9 प्रौढ़ता 10 व्यंजन

31.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्रश्न – नाटक की परिभाषा देते हुए इसके तत्वों पर प्रकाश डालिए।

_____

_____

_____

_____

प्रश्न – नाटक की उत्पत्ति कहाँ से हुई? स्पष्ट करते हुए इसके विभिन्न भेदों पर प्रकाश डालें।

_____

_____

_____

_____

31.7 पठनीय पुस्तकें

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ० नगेन्द्र

2 हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

3 हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामसजन पाण्डे

4 आधुनिक साहित्य की प्रवृतियाँ – नामवर सिंह

5. आधुनिक हिन्दी साहित्य – विकास के विविध आयाम – पुष्पपाल सिंह

6. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका – लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय

7. हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी – नंद दुलारे बाजपेयी

8. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ० बच्चन सिंह

हिन्दी कहानी : उदभव और विकास

32.0 रूपरेखा

32.1 उद्देश्य

32.2 प्रस्तावना

32.3 हिन्दी कहानी : उदभव और विकास

32.3.1 कहानी और उसके पर्याय

32.3.2 कहानी : परिभाषा

32.3.3 कहानी : तत्व

32.3.4 कहानी : भेद प्रकार

32.3.5 घटना का कथानक प्रधान

32.3.6 वातावरण प्रधान

32.3.7 हिन्दी कहानी : विकास यात्रा

32.4 सारांश

32.5 कठिन शब्द

32.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

32.7 पठनीय पुस्तकें

32.1 उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरांत आप

– गद्य साहित्य की विद्या 'कहानी' की व्युत्पति एवं विकास को जानेंगे।

– कहानी के तत्वों को जानेंगे।

– कहानी के भेद एवं किसके आधार पर उनके भेद किए जा सकते है इसे समझेंगे।

– कहानी का विकास कैसे हुआ जानेंगे।

32.2 प्रस्तावना

माँ कह दे एक कहानी!
बेटा समझ लिया क्या तुमने,
मुझको अपनी नानी।
कहती है मुझसे यह चेटी,
तू मेरी नानी दी बेटी,
वह माँ लेटी ही लेटी
इक राजा था इक रानी,
माँ कह दे एक कहानी।।

मैथिलीशरण गुप्त जी की यह पंक्तियाँ कहानी की पुरातनता को स्पष्ट करती है। इस सन्दर्भ में दुर्गाशंकर मिश्र जी की मान्यता है कि "वस्तुतः कहानी कहने और सुनने की प्रवृत्ति मनुष्य में अत्यंत प्राचीन है।" सुरेश चन्द्र गुप्त भी मानते हैं कि "कथा के श्रवण और तदनन्तर अपने परिचित समाज में उसके प्रसार के प्रति मनुष्य प्रारम्भ से ही विशेष प्रयत्नशील रहा है।" इसका प्रारम्भ तब से माना जा सकता है जब सामाजिकता के प्रारम्भ में मनुष्य को किसी वस्तु या घटना का विवरण दूसरे को सुनाने की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी। अपने मनोभावों, अनुभवों या मान्यताओं को दूसरे तक पहुँचा, अपने अनुभव से दूसरों को परिचित कराने के उद्देश्य से जिस विधा का जन्म हुआ उसे ही परवर्ती काल में 'कहानी' के नाम से जाना गया। वस्तुतः कहानी आत्माभिव्यक्ति के रूप में एक ऐसी साहित्यिक विधा है जो विभिन्न परिस्थितियों, भावों तथा विचारधाराओं का रोचक परिचय देने के साधन के रूप में मानव–समाज में न जाने कब से किसी न किसी रूप में प्रचलित है।

32.3.1 कहानी और उसके पर्याय–हिन्दी गद्य की अधिकांश विधाओं की भाँति प्रचलित रूप में कहानी भी हिन्दी साहित्येतिहास के आधुनिक युग की देन है। इसको कथा, आख्यायिका, गल्प, किस्सा प्रभृति अभिधानों से जाना गया। आ + ख्या + ण्वुल = आख्यायिका का अर्थ अमरकोष के अनुसार 'आख्यायिकोयलब्धार्था' अर्थात् जिसका विषय ज्ञात या सत्य ही कहा गया है। यह ऐसी कहानी, वृतांत्त या किस्सा है जो पुरावृत्त कथन के रूप में मान्य है। सीमित अर्थ में जहां यह शब्द ऐतिहासिक पूर्व वृत्त कथा का द्योतक है वही व्यापक अर्थ में किसी भी प्रकार की कहानी को संकेतित करता है।

कथ् धातु से व्युत्पत्त 'कथा' शब्द 'जो कहा जाए' को संकेतित करता है। इस रूप में कहने वाले के साथ ही सुनने वाले की स्थिति भी सम्मिलित हो जाती है। जो कुछ भी कहा जाए कथा के अन्तर्गत नहीं आता। धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार "कथा का विशिष्ट अर्थ हो गया है किसी ऐसी कथित घटना का कहना, वर्णन करना जिसका निश्चित परिणाम हो।" कथा की उत्पत्ति उस समय हुई होगी जब किसी वस्तु या घटना का विवरण दूसरे को सुनाने अथवा दूसरे तक पहुँचाने की आवश्यकता मनुष्य को हुई होगी। एतदर्थ विवरणात्मक रूप में ही कथा का प्रारम्भ हुआ होगा। इस विवरण के वर्णन में कहने वाले की स्वानुभूति की संवेदना का योग भी होता है यह "बाह्य वस्तु न रहकर, कहने वाले की आत्माभिव्यक्ति के रूप में प्रकट होते है, अतः उनका समावेश साहित्य के अन्तर्गत हो जाता है।" ऐसी मान्यता पं. बुद्धिनाथ झा की है। अपने विचार को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं "कथा–साहित्य का अभिप्राय ऐसे वाङ्मय से है, जिसमें कल्पना या अनुभूति, रूप–प्राप्ति की भावना से अनुरंजित होकर, कृत्रिम या यथार्थ पात्रों को उपलब्ध करके, आप ही अभिव्यक्त होती है।"

'गल्प' शब्द बंगला साहित्य का है जो लघुकथा का द्योतन कराता है। लघु कथा का विकास दृष्टान्तों के रूप में हुआ है जिनमें नैतिक और धार्मिक सुर प्रमुख होते थे। इस प्रकार के दृष्टान्तों का प्रचुर प्रयोग वैदिक साहित्य तथा परवर्ती बौद्ध जातकों, पंचतंत्र हितोपदेश आदि में मिलता है। बंगला साहित्य के यह शब्द आंग्ल शार्ट स्टोरी (Short story) के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ। इसी आंग्ल शब्द का हिन्दी पर्याय आधुनिक काल में कहानी के रूप में प्रचलित है। 'किस्सा' का शब्द है कहानी आज हिन्दी साहित्य में सर्वाधिक प्रचलित शब्द है। यह एक ऐसी साहित्यिक विधा है, जो हिन्दी साहित्य कोश (भाग–1) के अनुसार "बंगला के माध्यम से पाश्चात्य साहित्य से आया है। अंग्रेज़ी में जिसे 'शार्ट स्टोरी'" कहते है, वही बंगला में 'गल्प' तथा हिन्दी में 'कहानी' नाम से प्रचलित है। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जी के अनुसार "कहानी कहने की प्रथा कोई नई चीज़ नहीं है पर कहानी नामक नया साहित्य आधुनिक युग की देन है। यह भी प्रेम और यातायात के नवीन साधनों की सहायता से विकसित हुआ है और लोकप्रिय बना है।"

32.3.2 कहानी : परिभाषा–आधुनिक हिन्दी गद्य की समर्थ व लोकप्रिय विधा के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए कई प्रकार से परखते हुए विद्वानों ने इसकी परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं। अपने गतिशील रूप के कारण पाश्चात्य व बंगला साहित्य से प्रभावित इस विधा को एडगर एलन पो ने पाठक पर प्रभाव डालने के लिए एक ही बैठक में पढ़ा जाने वाला वर्णन माना है "A short story is narrative short enough to be read in a single sitting, written to make an impression on the reader" पाश्चात्य मनीषी हडसन इसमें 'चरित्र की अभिव्यक्ति' को प्रमुखता देते हैं। सर ह्यूवाल पोल ने कहानी को घटना प्रधान मानते हुए इसमें आकस्मिकता का होना आवश्यक माना है।" उसमें घटनाओं का क्षिप्रगति के साथ अप्रत्याशित विकास होता है, जिसके मूल में कौतूहल, चरम बिन्दु और सन्तोषजनक अन्त की स्थिति रहती है। एलरी सिजविक महोदय की मान्यता है कि "A short story is just like a horse race. It is the start and finish which count most." हिन्दी मनीषियों ने भी इस विधा को समझते हुए परिभाषित किया है। बाबू श्यामसुन्दर दास ने "आख्यायिका के रूप में इसको "एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को लेकर लिखा गया नाटकीय आख्यान" माना है। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की मान्यता है कि : "घटनात्मक इकहरे चित्रण का नाम कहानी है।" साथ ही उन्होंने 'रस' को इसका आवश्यक गुण माना है। बाबू गुलाब राय के अनुसार "छोटी कहानी एक स्वतः पूर्ण रचना है जिसमें एक तथ्य या प्रभाव को अग्रसर करने वाली व्यक्ति–केन्द्रित घटना या घटनाओं के आवश्यक, परन्तु कुछ–कुछ अप्रत्याशित ढंग से उत्थान–पतन और मोड़ के साथ पात्रों के चरित्र पर

प्रकाश डालने वाले कौतूहलपूर्ण वर्णन हो।" ललिता प्रसाद शुक्ल ने कहानी को "घटना या चरित्र विशेष का संक्षिप्त रस युक्त चित्रण है।"

हिन्दी कहानी विधा के पुरोधा मुंशी प्रेमचन्द्र ने कहानी विधा के सन्दर्भ में कहते हुए कहानी को एक "ऐसी रचना माना है जिसमें जीवन के किसी एक अंग या मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहता है। उसके चरित्र, उसकी शैली, उसका कथा–विकास सब उसी एक भाव की पुष्टि करते हैं।" उपन्यास भी कथा साहित्य का ही एक रूप है इस दृष्टि से कहानी को एक गमला है, जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है"–कहते हुए उपन्यास को विस्तृत तथा कहानी को संक्षिप्त पर तीक्ष्ण प्रभाव वाली माना है।

हिन्दी कहानी के रचना–विधान पर विचार करते हुए जगन्नाथ प्रसाद शर्मा मानते हैं कि "कहानी गद्य–रचना का कथा–सम्पृक्त वह स्वरूप है जिसमे समाज लघु–विस्तार के साथ एक ही विषय अथवा तथ्य का उत्कृष्ट संवेदन इस प्रकार किया जाए कि वह अपने में सम्पूर्ण हो और उसके विभिन्न तत्व एकोन्मुख होकर प्रभावान्विति में पूर्ण योग दे सके।"

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि कहानी मानव की किसी एक विशेष परिस्थिति, अनुभूति अथवा मनः स्थिति को सौन्दर्य और रसमय भाव से स्पष्ट करने वाली गद्य–विधा है। यह छोटे आकार वाली ऐसी गद्य–रचना है जिसमें जीवन की स्थिति का प्रभावपूर्ण वर्णन होता है। इसका प्रभाव अपनी तीव्र गत्यात्मकता से सहृदय सामाजिक के भावों को उद्वेलित करने में समर्थ होता है।

32.3.3 कहानी : तत्त्व–कहानी में हिन्दी कथा के तत्त्वों के अनुरूप छः तत्व होते हैं। यद्यपि कथा–विधा के 'उपन्यास' भेद के भी छः तत्त्व ही होते है पर कहानी की सीमा छोटी होती है अतः उसमें तत्त्वों का समावेश भी तद्नुकूल किया जाता है। कहानी में घटित घटनाएं ही उसकी कथा वस्तु को स्पष्ट करती हैं। घटनाओं को अपने कार्य से गति देने वाले पात्र तथा उनकी परस्पर बातचीत संवाद कहलाती है। कहानी में प्रस्तुत वातावरण का मेल देशकाल तथा परिस्थिति द्वारा स्पष्ट होता है। कहानी प्रस्तुति का ढंग शैली है और लेखक की प्रत्यक्ष रूप में स्वदृष्टिकोण प्रस्तुति कहानी का उद्देश्य होता है।

कहानी का प्रमुख आधार कथानक या कथावस्तु कहलाता है। किसी व्यक्ति के अनुभवों, कार्यकलापों या जीवन–घटनाओं पर ही कहानी लिखी जाती है। कहानी की कथावस्तु में अनावश्यक बातों को स्थान नहीं दिया जाता। यह सादा, संक्षिप्त, सरल व रोचक होना चाहिए। कहानी में जो कुछ कथनीय होता है वही उसका मूल होता है, उसी के आलोक में कहानी की संवेदना जगती है। इसमें स्वाभाविकता और क्रमबद्धता का होना अनिवार्य है। कहानी के कथानक में जीवन की वास्तविकता का प्रभावी होना आवश्यक है क्योंकि "जीवन और समाज से हटकर कहानी का कोई अस्तित्व" वेद प्रकाश जुनेजा स्वीकार नहीं करते। विजय वेदालंकार की मान्यता है कि "कहानीकार संसार में व्याप्त सुख–दुखादि भाव या संवेदना पर दृष्टि रखते हुए उनमें से किसी भी भाव को ग्रहण करने में समर्थ है।" कहानीकार मात्र बाह्य–पक्ष का ही चितेरा नहीं होता वह मानव मन की अन्तःग्रन्थियों से भी भाव ग्रहण करता है। प्रसिद्ध कहानीकार सुदर्शन की मान्यता है "वर्तमान युग का कहानी–लेखक बाहर का कहानी–लेखक नहीं, अन्दर का कहानी–लेखक है। दुनिया को देखने वाले बहुत हो चुके हैं, अब दिल और घर को देखने वालों की आवश्यकता नहीं।"

कहानी की कथावस्तु में अनावश्यक विस्तार नहीं होना चाहिए। आल ब्राइट महोदय की मान्यता है : "The story should conclude unless there is a special reason, why it must not" कहानी की कथावस्तु या कथानक में संक्षिप्ता के साथ–साथ प्रवाह, संवेदना, स्वतः पूर्णता, मौलिकता, रोचकता आदि का प्रमुख रूप से होना आवश्यक है। इन गुणों के साथ ही संभवता का होना भी आवश्यक हो यह ऐसा गुण है जिससे कल्पित होते हुए भी कहानी की कथावस्तु सत्य–सी प्रतीत होती है, घटित न होते हुए भी घटने की संभावना से संयुक्त रहती है।

कहानी के कथा सूत्रों को प्रस्तुत करते समय एक निश्चित क्रम के निर्वाह की आवश्यकता होती है। इन्हें प्रारम्भ, आरोह–विकास, चरम सीमा तथा अवरोह–समाप्ति चार सोपानो के साथ कौतूहल के रूप में जाना जाता है।

कहानी के शीर्षक और प्रारिम्भक अनुच्छेदों में रोचकता/कौतूहल का होना अनिवार्य है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी ऐसा होने पर ही पाठक सहज ही कहानी को पढ़ने के लिए प्रस्तुत होता है। कहानी के पात्रों से परिचय प्राप्ति ही घटना क्रम से परिचय कराती है जिससे पाठक के समक्ष पात्रों के मनोविकास के रूप में कहानी के कथ्य का आरोह रूप स्पष्ट होता है। इसी विकास के साथ कथावस्तु आगे की ओर गतिमान होती है। कथानक के सौन्दर्य का चरम रूप कहानी कथ्य में उस समय उपस्थित होता है जहां पाठक कथा क्रम के प्रति उत्सुकता के भाव से उसमें लीन होता है और अंत क्या होगा ? इसकी आशा–आशंका के बीच अपनी मानसिकता को उलझता हुआ पाता है। चरम के अभाव में कथावस्तु निष्प्राण सी प्रतीत होती है, इस कारण इसका होना कथानक के लिए आवश्यक है। कथानक के सौन्दर्य का उद्घाटन होने के पश्चात् कहानी अवरोह की ओर उन्मुख हो जाती है। इस अवरोह समाप्ति में कहानीकार उस कहानी में प्रस्तुत अपने दृष्टिकोण का संकेत भी दे देता है। आधुनिक काल में चरम की स्थिति पर ही पाठक को चमत्कृत करते हुए कहानी की समाप्ति कर दी जाती है। कहानी की कथावस्तु में विशेष प्रकार के मोड़ों से शाखा–प्रशाखा लाने के लिए स्थान नहीं होता। इस कारण इसकी गति में एक तेज़ धारा की गति होती है।

मनोविज्ञान और यथार्थ चित्रण को साकार करने के लिए कहानी का दूसरा तत्व पात्र और उनका चरित्र–चित्रण विशेष स्थान का अधिकारी ही कहानी के छोटे आकार के कारण इसके पात्रों की संख्या भी सीमित होती है। पात्र के सर्वाधिक प्रभावपूर्ण पक्ष, और उसके व्यक्तित्व के सर्वाधिक पुष्ट तत्व की झलक ही कहानी में दिखाई जाती है। कहानी के पात्रों का सजीव होना आवश्यक है साथ ही कहानीकार उनके चरित्रों को संक्षिप्त, स्पष्ट और संकेतात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करता है। कहानी के पात्रों का चरित्र–चित्रण कहानीकार वर्णनात्मक, संवाद, सूक्ष्म सांकेतिक व अवान्तर कथानक प्रणालियों द्वारा करता है।

वर्णानात्मक प्रणाली प्रत्यक्ष या विश्लेषणात्मक प्रणाली है। इसमें लेखक स्वयं पात्रों के चरित्र पर वर्णन के माध्यम से प्रकाश डालता है। संवाद प्रणाली के अन्तर्गत पात्रों के पारस्परिक संवादों द्वारा कथा के विकास के साथ पात्र के चरित्र का स्पष्टीकरण किया जाता है। इस रूप में कथाक्रम में नाटकीयता का प्रभाव दिखाई देता है।

वर्णनात्मक प्रणाली से अल्प सूक्ष्म सांकेतिक प्रणाली में पात्रों की चारित्रिक कृतियों के उल्लेख से पात्रों के चारित्रिक गुणों का बोध होता है। इस रूप में लेखक व्यंजना के माध्यम से पात्र की मानसिकता का सूक्ष्म रूप से प्रस्तुतिकरण करता है।

अवान्तर–प्रणाली के अन्तर्गत लेखक मुख्य कथानक के साथ छोटी–छोटी घटनाओं को जोड़ते हुए पात्रों के चारित्रिक रूप को स्पष्ट करता है।

कहानी में कथावस्तु के साथ–साथ चरित्र–चित्रण को गति प्रदान करने के लिए कथोपकथन भी कहानी का अनिवार्य तत्व है। इसे पात्रों के मध्य पारस्परिक संवाद के रूप में माना जाता है। कथोपकथन या संवाद में रोचकता, सजीवता और स्वभाविकता की ओर विशेष ध्यान दिया जाना आवश्यक है। पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालते हुए ये कथा के विकास में भी सहायता देते हैं। कहानी के संवादों का संक्षिप्त, सजीव, चमत्कारपूर्ण एवं परीस्थिति के अनुकूल होना आवश्यक है। कथोपकथन का कलात्मक होना पाठक पर प्रभाव डालने में समर्थ होता है। कथोपकथन में संगति लाने के लिए यह आवश्यक है कि वे पात्र, वातावरण, स्थान और समय के अनुकूल हो।

देशकाल तथा वातावरण की कहानी में भी अपेक्षा रहती है। भले ही कथा साहित्य के उपन्यास रूप में इसके लिए पर्याप्त स्थान होता है पर कहानी के संक्षिप्त वस्तु प्रस्तुति–विधा होने के कारण इसको विस्तार से नहीं अपितु सांकेतिक व संक्षिप्त रूप में ही निभाती है। कहानी में देश, काल और वातावरण का निर्वाह पात्रों की मानसिक स्थिति के अनुरूप होना चाहिए। पात्रों के वार्तालाप, वेशभूषा और रीति रिवाज का वर्णन इसी तत्व के अन्तर्गत आते हैं।

कहानी की भाषा सरल और सुबोध होनी चाहिए। यदि भाषा सरल व सहज होती है तो सामान्य पाठक तक के ध्यान को भी अपनी ओर खींच सकने में समर्थ होती है। मुहावरों के प्रयोग से कहानी में सजीवता व स्वाभाविकता आ जाती है। भाषा चित्रमय और प्रवाहपूर्ण होने के साथ–साथ पात्रानुकूल प्रयुक्त होनी चाहिए। कहानी की कथन–शैली लेखक द्वारा अपनायी गई विशिष्ट प्रणाली होती है। शैली ही लेखक के कथ्य को सम्प्रेषित करने का प्रबल साधन है। शैली के अन्तर्गत भाषा की स्पष्टता, अलंकारिकता, वाक्य रचना, शब्द शक्ति विशेषकर लक्षणा तथा व्याख्या सभी का होना आवश्यक है।

कहानी की भाषा–शैली कहानी को प्रभावपूर्ण बनाने का साधन है। अतः इसका गागर में सागर भरने वाला गुण अपेक्षणीय है। विषय वस्तु और शैली का घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः लेखक अपने कथ्य के अनुरूप ही वर्णनात्मक या विवरणात्मक शैली का चयन करता है।

वर्णनात्मक में किसी प्राकृतिक दृश्य का वर्णन या स्थायी गुण का चित्रण होता है। विवरणात्मक में घटना चक्र और मानवीय अवस्थाओं का चित्रण किया जाता है। विवरण द्वारा लेखक अपने कथ्य के प्रति पाठक के मन में उत्सुकता बनाए रख कर कहानी के कथानक को गति देता है।

शैली की स्वाभाविकता कहानी का प्राणतत्व है। भगीरथ मिश्र जी की मान्यता है "संक्षिप्त और स्वाभाविक शैली कहानी–कला का आवश्यक अंग है। शैली पर लेखक की छाप होती है, जिससे उसके आदर्श, विचार और अध्ययन की झलक मिलती है। कहानी में वर्णानात्मक तथा विवरणात्मक शैली के अतिरिक्त संलाप, आत्म चरित्र, पत्र, डायरी शैली का प्रयोग भी मिलता है संवादशैली में कहानी की कथा अहं चरित्रों का विकास कथोपकथनों/संवादों के माध्यम से किया जाता है। इस शैली में कहानी के कथानक में नाटकीय सौन्दर्य का विकास होता है। आत्मचरित्त शैली में कहानी का कोई पात्र सारी कथा उत्तम पुरुष (मैं) में कहता है। इस शैली में कथा नायक के अतिरिक्त अन्य चरित्रों का चित्रण प्रायः स्वाभाविक रीति से नहीं हो पाता। पत्र शैली में सारी कहानी पत्रों द्वारा कही जाती है और डायरी शैली

में डायरी के पत्रों से ही सारी कथा योजना होती है। पत्र और डायरी शैली में कथानक को समझना ज़रा कठिन होता है।

साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति कहानी–लेखक के रचना–विषयक दृष्टिकोण का भी विशेष महत्व होता है। वैसे तो कहानी मनोरंजन के लिए कही–लिखी जाती है परन्तु उसमें कोई न कोई उद्देश्य निहित रहता है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में कहानीकार के कथ्य में छुपा रहता है। कहानी का वैशिष्ट्य इस बात में है कि वह पाठक की अनुभूतियों को उद्‌बुद्ध करती हुई अन्त में उद्देश्य को प्रकट करे। कहानी में जीवन की मार्मिक अनुभूतियों की सहज व्याख्या रहती है। प्रेमचन्द जी की मान्यता है कि "सबसे उत्तम कहानी वह होती है जिसका आधार किसी सत्य पर हो।" इससे स्पष्ट है कि कहानीकार का जीवन दर्शन उसके उद्देश्य में निहित रहता है जिसे वह अपनी कहानी के तथ्य, पात्रों के संवादों, चीजों आदि के माध्यम से प्रबुद्ध पाठक वर्ग के सम्मुख प्रस्तुत करता है। कहानीकार का दृष्टिकोण भले ही प्रगतिशील, सुधारवादी या मनोविश्लेषणात्मक या कोई अन्य चाहे जैसा हो पर यह आवश्यक है कि वह समाज के लिए स्वस्थ हो।

आज का युग जीवन की जटिलता का परिचायक है ऐसे रहस्यमय समय में जहां चारों ओर शंकित दृष्टिकोण का बोलबाला है, अविश्वास का भाव मानव–समाज को एक एसे चौराहे पर ले आया है जहाँ सामाजिक दिग्भ्रमित हो ठिठका खड़ा है लेखक वर्ग का दायित्व मानवीय उदात्त भावनाओं की जागृति के लिए और भी बढ़ जाता है। इस दृष्टि से कहानीकार भी मनोरंजन के साथ–साथ एक विशिष्ट उद्देश्य भी कहानी के माध्यम से पाठक–वर्ग के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। यही जीवन दर्शन मानवतावादी भावों का उत्प्रेरक होता है।

उपर्युक्त तत्त्वों के साथ ही कहानी का '**शीर्षक**' भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह कहानी के प्रतिपाद्य, मूलभाव या विचार और रचनाकार की व्यक्तिगत प्रवृत्तियों का परिचायक होता है। इस दृष्टि से प्रतिपाद्य बोधता, आकर्षण, विषयानुकूलता, निश्चय बोधता आदि कहानी शीर्षक के प्रमुख गुण माने जाते हैं। शीर्षक भावात्मक, तथ्योद्‌बोधक, इतिवृत्तात्मक और सम्बन्धवाचक होता है। कहानी के शीर्षक और कहानी के कथानक का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित होता है। शीर्षक, कथ्य–नायक, प्रधान घटना या पात्रों की मनोवृत्ति या भावना के आधार पर होता है। वेदप्रकाश जुनेजा के अनुसार "कहानी शीर्षक के आकार का कोई निश्चित नियम नहीं है। एक शब्द से लेकर पाँच–छह शब्दों के समूह या एक वाक्य के रूप में भी शीर्षक हो सकते हैं।"

32.3.4 कहानी : भेद/प्रकार : कहानी जीवन का चित्र प्रस्तुत करती है अतः उसके विषय भी जीवन के पक्षों की विविधता के अनुरूप कई हो सकते हैं। इसी दृष्टि से कहानी विधा के भेदों को विभिन्न विद्वानों ने प्रस्तुत किया है। कुछ लोग घटना, चरित्र, वातावरण तथा भाव प्रधान संज्ञा कहानी के चार भेद करते हैं। कुछ लोग सैद्धान्तिक, ऐतिहासिक, सुधारात्मक, अदभुतरम्य, हास्यपूर्ण, प्रेम, मनोवैज्ञानिक, आंचलिक और बाल जीवन से सम्बन्धित कहानी के भेद रखते हैं। आज तो लघुकथा के रूप में भी कहानी का नया रूप दिखाई देता है। कहानी के रचना लक्ष्य के आधार पर आदर्शवादी और यथार्थवादी भेद भी किए जाते हैं। इस प्रकार कहानी के भेद कहानीकला के तत्त्वों, विषय वस्तु व शिल्प की दृष्टि से किए जाते हैं।

32.3.5 घटना या कथानक प्रधान कहानी के अन्तर्गत घटना, चरित्र और कार्य प्रधान कहानियाँ आती हैं। इन तीनों रूपों में लेखक कहानी में अपनी संवेदनाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति करता है। **घटना प्रधान** कहानियों में

घटनाएँ ही कथानक निर्माण में प्रमुख होती है। इस प्रकार की कहानियाँ हिन्दी कहानी के इतिहास की प्रारम्भिक कहानियाँ है क्योंकि इस प्रकार की कहानियों में दैव घटना या संयोग का सहारा लिया जाता है। इन कहानियों के विकास का अगला पड़ाव हिन्दी में कार्य प्रधान कहानी के रूप में दिखाई देता है। इस प्रकार की कहानियों में जासूसी, रहस्यपूर्ण तथा अद्‌भुत कहानियाँ आती हैं।

चरित्र प्रधान कहानियों का मुख्य उद्देश्य चरित्र–चित्रण तथा चरित्र–विश्लेषण होता है। इस दृष्टि से ऐसी कहानियों का मुख्य आधार मनोविज्ञान होता है। ऐसी कहानियां घटनाओं की स्थूलता से चारित्रिक सूक्ष्मता की ओर अधिक झुकी होती हैं। इनमें विशुद्ध व्यक्ति विश्लेषण तथा आत्म–विश्लेषण की प्रकृति दिखाई देती है। ऐसी कहानियाँ ही आगे मनोविश्लेषणात्मक रूप में प्रस्तुत होती हैं।

32.3.6 वातावरण प्रधान कहानी कल्पनालोक की वस्तु न होकर जीवन के वातावरण सापेक्ष्य रूप को प्रस्तुत करती है। सामाजिक दैनिक जीवन के कार्यव्यापार में किसी–न–किसी परिवेश या वातावरण से प्रेरणा ग्रहण करता है। इसी प्रेरणा को कहानी की संवेदना के साथ वातावरण प्रधान कहानी में प्रस्तुत किया जाता है। ऐसी कहानियों में प्रकृति तथा रूप–चित्रण का भाव प्रधान होता है। **सामाजिक कहानियों** में वातावरण–निर्माण उनमें ऐकान्तिक प्रभाव और स्वाभाविकता के साथ सौन्दर्य की अवतारणा होती है, इसी से पाठक के मन पर कहानीकार के उद्देश्य का प्रभाव परीलक्षित होता है। **ऐतिहासिक कहानियों** में इसे एक आवश्यक तत्त्व के रूप में मान्यता दी जाती है, क्योंकि वातावरण के अभाव में ऐतिहासिक कहानियों में स्पष्टता नहीं आ सकती। एक प्रकार से वातावरण ऐतिहासिक परिवेश का प्राण तत्त्व है। इसी से कहानीकार का उद्देश्य स्पष्ट होता है।

भाव–प्रधान कहानी में चरित्र, घटना या कार्य व्यापार पर अधिक बल नहीं होता। ऐसी कहानियों का मुख्य बिन्दु कहानी में निहित भाव होता है। इसी भाव के आधार पर समूची कहानी का ढांचा खड़ा किया जाता है। भाव प्रधान कहानियां प्रायः **प्रतीकवादी** कहानियों का रूप धारण कर लेती हैं। ऐसी कहानियाँ प्रायः सूक्ष्म तत्त्वों तथा भावनाओं को साकार रूप देने में सफल होती हैं। डॉ. लाल की मान्यता है कि "अमूर्त्त विषयों और मनुष्य के अन्तः सौन्दर्य तथा मानसिक संघर्षों के चित्र प्रस्तुत करने में ऐसी कहानियाँ अत्यंत शक्तिशाली सिद्ध होती हैं।"

ऐतिहासिक कहानियां जातीय गौरव, राष्ट्र प्रेम, आदर्श स्थापना और वीर पूजा की भावना को सामाजिक रूप तक पहुँचाने का कार्य करती हैं। इन कहानियों में साधारणतया कथावस्तु की स्पष्टता, बहुलता, चित्रण–वर्णन में भावुकता एवं कवित्वपूर्ण उद्‌भावना, नाटकीय स्थितियों की अवतारणा और संघर्ष का वेग विशेष रूप से सहेजी जाती है।

आधुनिक कहानी कथा का विकास सामाजिकता के प्रतिनिधित्व के कारण **सामाजिक कहानी** के रूप में दिखाई देता है। ऐसी कहानियों में सामाजिकता का प्रत्येक पक्ष इतने यथार्थ रूप में प्रस्तुत होता है जिसमें कहानी जीवन को परखने का सबल साधन बनकर पाठक–वर्ग में लोकप्रिय विधा बनी हुई है। इस वर्ष की कहानियों का उपजीव्य सारा समाज, हर व्यक्ति और इन दोनों की पूरी गतिविधि के भीतर समाया होता है। ऐसी कहानी का प्रत्येक पक्ष मानवीय जीवन से बहुत गहरे से जुड़ा होता है आज के समाज की प्रत्येक मानसिकता ऐसी कहानी में सजीव रूप धारण करती है। सामाजिक कहानियाँ व्यक्तिगत जीवन का पारिवारिक जीवन के साथ–साथ व्यापक सामाजिक जीवन से सम्बन्धित होती है। जहां व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित कहानियों में पात्रों के चरित्र, मनोभाव तथा विश्लेषण के चित्र मिलते है

वहीं पारिवारिक जीवन से सम्बन्धित कहानियों में परिवार सम्बन्धी समस्याओं के परिवेश में सामयिक एवं परम्परा के संघर्ष–चित्र उभरते हैं। व्यापक समाज के सन्दर्भ में समस्त सामाजिक शक्तियों, संस्थाओं तथा संस्थानों से व्यक्ति की संघर्षमयी कहानियाँ आती हैं।

मनोवैज्ञानिक कहानियों में सर्वथा सजीव और स्वाभाविक पात्रों की कहानीकार आत्मानुभूति के धरातल पर इस रूप में प्रस्तुति करता है कि पाठक का चरित्र से सहज ही साधारणीकरण हो जाता है। ऐसी कहानियों में चेतन पात्रों की मानसिक स्थिति का चित्रण उसके कार्य व्यापारों और कर्म–प्रेरणाओं के अनुकूल किया जाता है। प्रेमचन्द की मान्यता "सबसे उत्तम कहानी वह होती है जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो" – इस प्रकार की कहानियों की महत्ता प्रतिपादित करने में समर्थ है। ऐसी कहानियों में व्यक्ति के स्वभाव का चित्रण प्रमुख होता है। इनके चरित्र साधारण न होकर विशिष्ट होते हैं।

मनोवैज्ञानिक कहानियों के विकास क्रम में **मनोविश्लेषणात्मक** कहानियों की गणना भी होती है। ऐसी कहानियाँ मनुष्य के अन्तर्जगत् की भावनाओं को प्रस्तुत करती हैं। मनोविश्लेषण यह मानता है कि मनुष्य के बाह्य जीवन के सभी कार्य व्यापार उसके अन्तर्जगत् से प्रेरित एवं निर्देशित होते हैं। इसी संश्लिष्ट गूढ़ अन्तर्जगत् को आधार बना कर लिखी गई कहानियाँ मनोविश्लेषणवादी कहानियाँ कहलाती हैं। इन कहानियों में आत्मविश्लेषण, मानसिक ऊहापोह, अवचेतन विज्ञप्ति तथा संकेतों व कार्यों द्वारा भाव पुष्टि का रूप दिखाई देता है।

साहसिक कहानियों में रोमांचकारी कार्यों की स्थापना का दर्शन होता है। जंगल तथा शिकार सम्बन्धी कहानियाँ इसी प्रकार की कहानियाँ हैं। ऐसी कहानियों में अद्‌भुत यात्राओं का वर्णन अधिक होता है। रोमांस में आदर्श, उदात्त व आधारित प्रेम की स्थापना होती है। जिन कहानियों में इस प्रकार के वर्णन होते हैं उन्हें **रोमांचित** कहानी कहते हैं। इसी प्रकार कार्य प्रधान जहां से ऐय्यारी, हस्त लाघव तथा बुद्धि कौशल का प्रभाव दिखाई देता है उसे **जासूसी कहानी** कहा जाता है।

आजकल विशिष्ट अंचल या क्षेत्र को लेकर **आंचलिक कहानियां** भी लिखी जा रही है। आंचलिकता की सिद्धि के लिए स्थानीय दृश्यों प्रकृति, जलवायु, त्योहार, लोक जीवन में विविध पक्ष और स्थानीय बोली का प्रभाव भी ऐसी कहानियों में दिखाई देता है।

इस प्रकार कहानी के विविध रूप मानवीय भावानुरूप होते हैं। विभिन्न पक्षीय जीवन का चित्र उपस्थित करने वाली इस साहित्यिक विधा के रूप भी उतने ही हो सकते हैं जितने मानव जीवन के चित्र।

32.3.7 हिन्दी कहानी : विकास यात्राआधुनिक हिन्दी गद्य की एक समर्थ एवं लोकप्रिय विधा 'कहानी' के जन्म और विकास के सम्बन्ध पद्मसिंह शर्मा कमलेश जी की मान्यता है कि इसमें "प्राचीन भारतीय कथा साहित्य, लोक कथाओं और पाश्चात्य कहानियों – तीनों का सम्मिलित योग रहा है।" यद्यपि आधुनिक कहानी प्रत्येक दृष्टि से प्राचीन परम्परा की भारतीय कहानियों से अलग है। जातक कथाएं, सिहांसन बत्तीसी आदि की परम्परा से आज की कहानी का किसी भी दृष्टि से मेल नहीं है। प्राचीन कहानियाँ–कथाएं या आख्यान रूप में धर्म, सम्प्रदाय या नैतिक दृष्टिकोण से युक्त थी जबकि आधुनिक कहानी "जीवन की गूढ़तम परिस्थितियों, अनेक घटनाओं के कार्यों, युग–मानव की बढ़ती हुई आवश्यकताओं, बदलते हुए सांस्कृतिक दृष्टिकोणों तथा युग के समुपस्थित संघर्षों को प्रस्तुत करके न केवल पाठक

को युग और उसकी उलझनों से ही अवगत कराती है, वरन् समष्टि और व्यष्टि के सम्बन्ध और मानसिक वृत्तियों–भूखों और पिपासाओं का भी उद्‌घाटन करके उनका समुचित रूप–चित्र प्रस्तुत करती है।" वेद प्रकाश जुनेजा ने इस प्रकार आधुनिक हिन्दी कहानी के उस स्वरूप को स्पष्ट कर दिया है जो इसे प्राचीन परम्परा से विलगाता है।

हिन्दी साहित्येतिहासों में आधुनिक युग यद्यपि भारतेन्दु युग (सन् 1857 ई. के लगभग) से मानते हैं। वैसे साहित्येतिहास ग्रन्थों में सन् 1857 से 1947 ई. तक के समय के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम से लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति तथा 1947 ई. से अब तक स्वातन्त्र्योत्तर युग दो भागों में भी बांटा जाता है। सन् 1950 ई. से प्रजातंत्रीय व्यवस्था का प्रारम्भ भारत के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में मान्य है। स्वतन्त्रता पूर्व के हिन्दी साहित्य को भारतेन्दु, द्विवेदी, स्वच्छन्दतावादी (छायावादी) प्रगतिवादी, तथा प्रयोगवादी भागों में बांटा जाता है। इसमें भी हिन्दी साहित्य के रीतिकाल के अन्तिम चार दशाब्दियों सन् 1800–1843 ई. को पूर्व भारतेन्दु या रीति और आधुनिक काल के सन्धि युग के रूप में देखा जाता है। इस काल (सन् 1800–1843 ई.) में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना तथा उसमें सर्वप्रथम श्री सदासुख लाल, सैयद इंशा अल्ला खा, लल्लू लाल तथा सदल मिश्र द्वारा हिन्दी गद्य का विकास हुआ। फोर्ट विलियम कालेज के अतिरिक्त समाज सुधारक आन्दोलनों–ब्रह्मसमाज, आर्य समाज आदि तथा ईसाई मिशनरी प्रचारकों ने भी गद्य के विभिन्न रूपों के विकास में योगदान दिया। सैयद इंशा अल्ला खा ने सन् 1803 के लगभग "रानी केतकी की कहानी" लिखी तो सही पर उसे आधुनिक कहानी का किसी भी प्रकार रूप नहीं कहा जाता। लल्लू लाल जी ने बैताल पच्चीसी, सिंहासन बत्तीसी आदि का हिन्दी में अनुवाद किया। सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' आख्यान लिखा। मुंशी सदासुख लाल जी ने भी प्राचीन श्रीमद्‌भागवत् का अनुवाद किया। सन् 1845 ई. के आसपास राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द ने 'राजाभोज का सपना', 'वीर सिंह का वृतान्त', 'आलसियों का कीड़ा' आदि कथात्मक रचनाएं दी पर उन्हें 'कहानी' नहीं कहा जा सकता। ईसाई प्रचारकों व आर्य समाज के प्रचारकों ने भी कथात्मक रचनाएं लिखी पर उनमें उपदेश व सम्प्रदाय प्रचार की भावना ही अधिक रही। इस प्रकार भारतेन्दु पूर्व युग में आधुनिक कहानी के बीज नहीं मिलते।

विविध हिन्दी गद्य विधाओं के विकास का प्रारम्भिक चरण भारतेन्दु युग (सन् 1857–1900 ई.) से माना जाता है। 19वी. सदी के उत्तरार्ध अंश में यूरोप के लेखकों व बंगला साहित्य के माध्यम से कहानी विधा ने हिन्दी में कदम तो रखे पर इन कदमों की आहट 20वीं सदी के प्रारम्भ में (सन् 1900 ई. के बाद) ही सुनाई देती है। इंशा अल्ला खाँ (रानी केतकी की कहानी) तथा शिव प्रसाद सितारे हिन्द (राजा भोज का सपना) के साथ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न) रोचकता से पूर्ण कृतियाँ थी, पर वे कथा थी कहानी नहीं। इनके साथ ही मुंशी नवल किशोर द्वारा 1880 ई. में सम्पादित 100 कहानियों का संग्रह 'मनोहर कहानी', 1888 ई. में अम्बिका दत्त व्यास की 'कथा कुसुम कलिका' तथा इससे पूर्व 1886 ई. में चण्डी प्रसाद सिंह की 'हास्य रतन' लोक प्रचलित शिक्षा, नीति, हास्य प्रधान कथाएं हैं, जो किसी भी प्रकार आधुनिक कहानी का प्रतिनिधित्व नहीं करती। भारतेन्दु युग में कथाएं या आत्मकथाएं तो थीं पर उन्हें कहानी नहीं कहा जा सकता। साथ ही इस युग में कहानी का महत्त्व भी नहीं दिया गया। भवदेव पाण्डेय का कहना है : "भारतेन्दु युग के एक अत्यन्त प्रतिष्ठित साहित्यकार तथा सम्पादक थे चौधरी बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन'। अगर तद्‌युगीन हिन्दी साहित्य के इतिहास का पुनः सर्वेक्षण दिया जाये तो अस्पष्ट नहीं रहेगा कि 'प्रेमघन' ही भारतेन्दु स्कूल के हेडमास्टर थे। अपने युग की तरफ से जो निर्णय इन्होंने दे दिया, वह भारतेन्दु स्कूल के सभी सदस्यों के लिए मान्य था। हिन्दी–कहानी लेखन का विरोध करते हुए उन्होंने फैसला सुनाया – कुछ परिश्रम स्वीकार

कर मस्तिष्क लड़ा विशुद्ध भाषा और भाव के संग विद्या और शिक्षा पाने से भाषा का उपकार सम्भव है, न कि केवल ऐसी कहानियाँ लिख डालने से जैसा कि लोग प्रायः जबानी कहा करते हैं और जिनके पढ़ डालने के पीछे नेत्रों को कुछ कष्ट होने या समय व्यर्थ जाने के अतिरिक्त पाठकों को और कुछ लाभ न हो ? 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिका में प्रकाशित 'प्रेमघन' जी के विचारों से स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु युग में आज की कहानी जैसी विधा के लिए कोई स्थान न था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्वीकार किया है – "अंग्रेज़ी की मासिक पत्रिकाओं में जैसी छोटी–छोटी आख्यायिकाएँ या कहानियाँ निकला करती हैं, वैसी कहानियों की रचना 'गल्प' नाम से बंग भाषा में चल पड़ी थी।" ऐसी कहानियों का प्रारम्भ हिन्दी में सन् 1900 ई. में 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन के साथ प्रारंभ हुआ।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक रूप में जिस गद्य–विधा को 'कहानी' रूप में स्वीकार किया जाता है उसका प्रारम्भ सन् 1900 ई. में 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन के साथ हुआ। सन् 1900 से 1910 ई. तक के कहानी के पहले दशक में प्रयाग से प्रकाशित 'सरस्वती', काशी से प्रकाशित 'सुदर्शन' तथा विलासपुर से प्रकाशित 'छत्तीसगढ़ मित्र' पत्रिकाओं में क्रमशः श्यामसुन्दरदास व महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र तथा रामराव चिचोलकर व माधवराव सप्रे के सम्पादकत्व में विभिन्न कहानियाँ प्रकाशित हुई। कहानी के इस प्रकाशन को भवदेव पाण्डेय 'समय का दबाव' मानते हैं। इस समय में कहानी के प्रारम्भिक रूप 'आख्यायिका' से 'गल्प' होते हुए 'कहानी' बना। प्रारम्भ में जो कथा श्रोता प्रधान थी वही अब कहानी के रूप में पाठ–प्रधान बन गई।

पाठ प्रधान कहानी का पहला प्रमाण क्या था ? यह प्रश्न विभिन्न साहित्येतिहास्कारों ने उठाया है। कहानी विकास के प्रथम पांच वर्षों में (सन् 1900–1905 ई.) में कुछ कहानियाँ तो बंगला, अंग्रेज़ी, फारसी और संस्कृत से अनूदित की गई पर कुछ कहानियाँ मौलिक सी लगती है :

सन्	कहानी	लेखक	पत्रिका
1900	इन्दुमती	किशोरी लाल गोस्वामी	सरस्वती
	सब मिट्टी हो गया	माधव प्रसाद मिश्र	सुदर्शन
	चन्द्रलोक की यात्रा	केशव प्रसाद सिंह	सरस्वती
	अनूठा स्वप्न	वी वी वर्णमाला	सुदर्शन
	आपत्तियों का पहाड़	केशव प्रसाद सिंह	सरस्वती
1901	प्रेम का फुहारा	गिरिजा कुमार घोष	सरस्वती
	मन की चंचलता	माधव प्रसाद मिश्र	सुदर्शन
1902	प्लेग की चुड़ैल	लाला भगवान दास	सरस्वती
	विश्वास का फल	माधव प्रसाद मिश्र	सुदर्शन
	गुलबहार	किशोरी लाल गोस्वामी	सरस्वती
1903	ग्यारह वर्ष का समय	रामचन्द्र शुक्ल	सरस्वती
	पण्डित और पण्डितानी	गिरिजा दत्त वाजपेयी	सरस्वती

1905	तीक्ष्ण छुरी	लक्ष्मीदत वाजपेयी	सरस्वती
	एक शिकारी की सच्ची कहानी	निजाम शाह	

इनके अतिरिक्त कुछ और कहानियाँ चन्द्रदेव से मेरी बात, पति का प्रेम, आदि के नाम भी मिलते हैं। यह कहानियाँ आख्यायिका या गल्प रूप में अंग्रेज़ी या बंगला आख्यायिका या गल्प से प्रभावित अधिक थी। कई विद्वान पं. माधव प्रसाद मिश्र कृत मन की चंचलता, तो कुछ किशोरी लाल गोस्वामी की इन्दुमती को आधुनिक हिन्दी की प्रथम कहानी मानते हैं। कुछ लोग शुक्ल जी की 'ग्यारह वर्ष का समय' को यह गौरव देने की बात करते हैं पर इनमें से अधिकांश अंग्रेज़ी, बंगला या संस्कृत, फारसी में उपलब्ध कथ्य सूत्रों से प्रभावित हैं।

सन् 1906 ई. से 1910 ई. के मध्य हिन्दी कहानी का बदला रूप मिलता है। पं. वेंकटेश नारायण कृत 'एक अशरफी का आय कहानी', यशोदानन्दन अखौरी की 'इत्यादि की आत्म–कहानी', महेन्द्रलाल गर्व की 'पेट की आत्म–कहानी' पार्वती नन्दन कृत 'मेरा पुनर्जन्म' व 'एक के दो दो' तथा राजेन्द्र बाला घोष 'बंगमहिला' कृत 'दुलाईवाली' व 'कुम्भ में छोटी बहू' मधुमंगल कृत 'भुतही कोठरी' तथा वृन्दावन लाल वर्मा की 'राखी बन्द भाई' से वर्णनात्मक शैली की कहानियों का रूप प्राप्त होने लगता है। इनमें विशेष रूप से बंग महिला तथा पार्वती नन्दन की कहानियों में आधुनिक कहानी–विधा के गुण मिलते है। सन् 1909 ई. में जय शंकर प्रसाद जी ने काशी से 'इन्दु' पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया और उसमें उनकी कहानी 'ग्राम' छपी। सन् 1911 ई. में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जी की 'सुखमय जीवन' कहानी प्रकाशित हुई और फिर कहानी विधा की धारा एक निश्चित गति से आगे बढ़ने लगी। आधुनिक कहानी का पूरा ढांचा 1907 ई. में प्रकाशित राजेन्द्र घोष, बंग महिला की दुलाई वाली से दिखाई देने लगता है, यद्यपि गोस्वामी, माधव राव सप्रे, रामचन्द्र शुक्ल की रचनाओं में उसके सूत्र अवश्य मिलते हैं पर उनका पूरा निरूपण दुलाईवाली में ही मिलता है।

हिन्दी कथा साहित्य (उपन्यास, कहानी) के ऐतिहासिक विकास रूप में 'प्रेमचन्द' एक ऐसा नाम है जिनके विषय में प्रसिद्ध है कि "हिन्दी कथा–साहित्य में प्रेमचन्द एक ऐसे टीले की तरह हैं जिसके दोनों ओर ढलान है।" इस दृष्टि से हिन्दी कहानी साहित्य के इतिहास को भी 'प्रेमचन्द' का आधार देते हुए, पूर्व प्रेमचन्द युग, प्रेमचन्द युग और प्रेमचन्द पश्चात् युग के रूप में ही माना जाता है। हिन्दी कहानी साहित्य के इतिहास में प्रेमचन्द का समय सन् 1916 ई. में उनकी कहानी 'पंच परमेश्वर' से लेकर 1936 ई. तक का है। इस प्रकार 1900–1916 ई. का काल हिन्दी कहानी का पूर्व प्रेमचन्द काल है और 1936 ई. के पश्चात् प्रेमचन्दोत्तर काल है।

सन् 1900 से 1916 ई. के मध्य हिन्दी कहानी साहित्य में किशोरी लाल गोस्वामी से लेकर चन्द्रधरशर्मा गुलेरी की कहानियाँ आती हैं। 1900 ई. में 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ जिस साहित्यिक विधा को नव गति प्राप्त हुई थी उससे पाठ प्रधान कहानी की ओर सामाजिकों का ध्यान आकर्षित हुआ। 1909 ई. में काशी से इन्दु पत्रिका के साथ जयशंकर प्रसाद जी की भावपूर्ण कहानियों ने इस विधा को एक नई दिशा दी। प्रसाद जी की 'ग्राम' तथा 'रसिया बालम' कहानियाँ भावुकता प्रधान है। इसी समय में 'राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह तथा पारसनाथ त्रिपाठी ने भाव पूर्ण कहानियों की परम्परा को आगे बढ़ाया।' कमलेश जी की मान्यता है कि "इन कहानियों में भावुकता और मनोविज्ञान का अपूर्व सम्मिश्रण था।" पं. विश्वम्भर नाथ जिज्जा की कहानी क्षेत्र में देन उल्लेखनीय है। इस समय में प्रेमचन्द, धनपत राय के नाम से उर्दू में कहानियाँ लिख रहे थे। उनकी कहानियाँ 'जमाना' पत्रिका में छपती थी। 'सरस्वती' में

उनकी हिन्दी कहानी 'सौत' 1915 में प्रकाशित हुई। पूर्व प्रेमचन्द युग में भावात्मक रागात्मकता की प्रधानता हिन्दी कहानियों में दिखाई देती है। वातावरण की चित्रोपमता के साथ इस समय में कहानी लेखन में राय कृष्ण दास, विनोद शंकर व्यास, चण्डी प्रसाद हृदयेश, जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' उल्लेखनीय हैं।

पूर्व प्रेमचन्द हिन्दी कहानी में बंग महिला के अतिरिक्त श्रीमती यशोदा देवी की देन भी उल्लेखनीय है। उन्होंने बालोपयोगी तथा महिलोपयोगी साहित्य की रचना की, इसी सन्दर्भ में आपने कुछ ऐतिहासिक पौराणिक आख्यानों को कथा रूप में प्रस्तुत किया। मुक्ता, सुशीला आदि कहानियों में उन्होंने समकालीन सामाजिक वृत्तियों पर प्रकाश डाला है। श्रीमती प्रियम्वदा देवी ने भी इस काल में कहानियां लिखी पर वे आगे प्रेमचन्द युग में भी सक्रिय रही। श्रीमती शारदा कुमारी ने भी सन् 1914 ई. से कहानी क्षेत्र में 'बिहूला' नामक कहानी से कदम रखा।

पूर्व प्रेमचन्द में इस क्षेत्र में कदम रख कर प्रेमचन्द युग में भी चलने वाली लेखिकाओं में कुन्ती देवी, श्रीमती जमनी देवी, श्रीमती जमुना देवी, ठुकुरानी शिव मोहिनी, सुशीला देवी के नाम भी आते हैं। इन सभी की कहानियाँ पारिवारिक व नारी समस्या–बाल विवाह, बाल–विधवा आदि को लेकर लिखी गई हैं।

पूर्व प्रेमचन्द युग की हिन्दी कहानियों में अधिकांशतः घटनात्मकता व आकस्मिकता के तत्वों की प्रधानता है। यद्यपि प्रसाद, पारस नाथ त्रिपाठी, वृन्दावन लाल वर्मा, ज्वालादत शर्मा, राजाराधिकारमण प्रसाद सिंह आदि कहानी लेखक विभिन्न शैलियों का प्रयोग ही कर रहे थे, पर कोई निश्चित आदर्श उनके सामने न था। हां इतना तो निश्चित है कि "हिन्दी कहानी के विकास में महावीर प्रसाद द्विवेदी जी के सम्पादकत्व में 'सरस्वती' पत्रिका ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसी काल में 'जमाना' के धनपतराय मुंशी प्रेमचन्द बने जिन्होंने कहानी को मनोविज्ञान के आधार पर चरित्र प्रधान रचना बनाने का सराहनीय कार्य किया। सन् 1916 ई. में प्रेमचन्द की पंचपरमेश्वर कहानी से हिन्दी कहानी विधाधारा को एक नया मोड़ मिलता है और उसकी गति में एक नया रूप दिखाई देता है जिसे **प्रेमचन्द युग** कहा जाता है।

जून 1916 ई. को सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित प्रेमचन्द की 'पंच परमेश्वर' कहानी से हिन्दी साहित्य की धारा में एक नया मोड़ दिखाई देता है। प्रेमचन्द ने कहानी में घटनाओं से अधिक चरित्र को महत्व दिया। इस चारित्रिक महत्ता को तत्युगीन पाठक वर्ग ने जो अपनापन दिखाया उसमें कहानी विधा को एक नई दिशा मिली। प्रेमचन्द ने कहानी को मनोभावों के साथ जोड़ा। उनकी इस शैली ने उनके समसामयिक कहानी लेखकों को प्रभावित किया। ज्वालादत्त शर्मा, विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक, पदुमलाल पुन्ना लाल बख्शी आदि लेखकों ने चारित्रिक भाव प्रदान कहानियां लिखी। सन् 1918 ई. में काशी से 'हिन्दी गल्प माला' के प्रकाशन ने इस विधा को और भी गति प्रदान की।

प्रेमचन्द ने सौत, पंचपरमेश्वर से लेकर कफ़न तक लगभग 300 कहानियों में समाज के सभी वर्गों को चित्रित किया। प्रेमचन्द के साथ ही बदरीनाथ भट्ट, 'सुदर्शन, चतुर सेन शास्त्री, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र', कृष्णकान्त मालवीय और शिवरानी देवी की कहानियाँ मूल रूप से समाजवादी दृष्टिकोण से प्रभावित रही। वृन्दावन लाल वर्मा इस समय के एक सफल ऐतिहासिक कहानीकार हैं। प्रेमचन्द युग में चरित्र, वातावरण, कथानक तथा कार्य प्रधान कहानियाँ लिखी गई।

जी.पी. श्रीवास्तव, अन्नपूर्णानन्द, बेढब बनारसी, कान्ता नाथ पाण्डेय 'चोंच' ने इस युग में हास्य प्रधान व्यंग्यात्मक

कहानियों द्वारा पाठकों को प्रभावित किया।

प्रेमचन्द की कहानियों के साथ–साथ इस युग में जयशंकर प्रसाद की कहानी कला भी अपना महत्त्व रखती है। मूलतः कवि होने के कारण प्रसाद की कहानियों में भाव पक्ष प्रबल है। भावुकता होते हुए भी उनकी कहानियों में घटनाक्रम चरित्र–चित्रण को अधिमानता दी गई। प्रसाद ने 69 कहानियों की रचना की। अब पहली कहानी 'छाया' व अन्तिम 'सालवती' मानी जाती है। आपकी कहानियाँ भाव प्रधान आदर्शवादी कहानियाँ हैं। उनके पात्रों के अन्तर्भाव बड़ी सफलता से पाठकों का ध्यान खींच लेते हैं। प्रसाद की कहानी कला से प्रभावित उनके सामयिक रामकृष्णदास, चण्डीप्रसाद हृदयेश, विनोद शंकर व्यास, बाल कृष्ण शर्मा 'नवीन', वाचस्पति पाठक, भगवती प्रसाद वाजपेयी, गोविन्द वल्लभ पंत प्रसिद्ध हैं।

प्रेमचन्द युग के उतरार्द्ध में सन् 1927 ई. के लगभग जैनेन्द्र एक ऐसे विचारक कहानीकार के रूप में हिन्दी जगत् में अवतीर्ण हुए जिन्होंने रूढ़ मान्यताओं पर प्रश्न चिह्न लगा कर पाठक वर्ग को चमत्कृत करते हुए प्रभावित किया। सात भागों में संकलित जैनेन्द्र की कहानियों में व्यक्ति को महत्त्व दिया गया। वेद प्रकाश जुनेजा के अनुसार "उन्होंने व्यक्ति को महत्त्व देकर उसी को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। इसके लिए वे बाह्य से अन्तस की ओर गए।" यहीं से हिन्दी कहानी मनोवैज्ञानिक कहानी के रूप में पाठक वर्ग के सम्मुख प्रस्तुत हुई। ऐसी कहानियों के पात्र अन्तर्मुखी, घात–प्रतिघात और अन्तर्द्वन्द्व से युक्त हैं। जैनेन्द्र की कहानियों का प्रभाव प्रेमचन्दोत्तर काल की हिन्दी कहानी में विशेष रूप से दिखाई देता है। अज्ञेय, इलाचन्द्रजोशी, राम प्रसाद पहाड़ी, भगवती चरण वर्मा, भुवनेश्वर प्रसाद, मोहन लाल महतो, वियोगी, कमला चौधरी व उषा देवी मिश्र ने भी मनोवैज्ञानिक कहानियों की मंजूषा को रख दिया है।

प्रेमचन्द युग के अन्तिम चरण में हिन्दी कहानियों की नई दिशा स्पष्ट होने लगी थी। सुधारवादी युग के होने के कारण प्रेमचन्द प्रायः आदर्शवादी रहे, पर उनका आदर्शवाद जब 'कफन' की यथार्थ भूमि पर खड़ा होता है तो एक परिवर्तन उस युग की आकांक्षा बन कर उभरता है। जैनेन्द्र, यशपाल, इलाचन्द्र जोशी, उपेन्द्र नाथ अश्क आदि कहानियों में इसका सुर सुनाई देना शुरू हो जाता है।

प्रेमचन्द युग में भी कई ऐसी महिलाओं की कहानियाँ मिलती हैं जिन्हें साहित्येतिहासकारों ने आँकने में कंजूसी दिखाई है। कमला बाई किवे ऐसी ही लेखिका हैं। 1935 में उनकी कहानी 'कृष्णा बाई' 'चांद' पत्रिका में प्रकाशित हुई। श्रीमती गोपाल देवी ने बाल मनोविज्ञान का ध्यान रखते हुए बाल कथाएं लिखीं। सुभद्रा कुमारी चौहान के कहानी संग्रह 'उन्मादिनी' तथा 'बिखरे मोती' इस समय में आते हैं। सुभद्रा कुमारी चौहान की कहानियों में पारिवारिक चित्रों की अवधारणा मिलती है। आपने नारी–जीवन की समस्याओं को अधिमानता दी है।

सन् 1937 ई. से आगे हिन्दी कहानी का प्रेमचन्दोत्तर काल माना जाता है। सन् 1937 से आज के इस समय को 1947 ई. में भारत की स्वतन्त्रता के साथ जोड़ते हुए **स्वतन्त्रता** पूर्ण तथा **स्वातन्त्र्योत्तर**– इन दो भागो में बांटा जा सकता है। स्वातन्त्र्योत्तर काल को भी 1950 ई. से 1999 ई. के बीसवी सदी के उत्तरार्द्ध तथा तत्पश्चात् 2000 से आगे के काल को 21वीं सदी का प्रारम्भिक चरण या डेढ़ दशक के रूप में सम्बोधित किया जा सकता है। यह विभाजन इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि इस समय में समाज की स्थितियों में लगातार परिवर्तन आते गए। स्वतन्त्रता पूर्व के विभिन्न आन्दोलन, स्वतन्त्रता काल में भारत–विभाजन, तत्पश्चात् पलायन–विस्थापन के कारण

आई समस्याएं, सन् 1950 के संविधान की स्वीकृति और फिर राजनीति के बदलते रंग, औद्योगीकरण, महानगर बोध, अलगाव आदि की विसंगति, विदेशी आक्रमण, पाश्चात्य संस्कृति का अधिक हावी होकर और अन्याय आर्थिक विसंगतियां, नव धनाढ्यों का दिखावा और सदी का बदलाव, पीढ़ियों का टकराव आदि कई ऐसे प्रसंग हैं जिन्होंने हिन्दी कहानी को प्रभावित किया। साथ ही साहित्य में 'विमर्श' (दलित, स्त्री, जनवादी) ने भी बड़े बदलाव इस विधा में प्रस्तुत किए हैं। साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब माना जाता है इस कारण साहित्य की अन्य विधाओं की भांति कहानी ने भी सामाजिक बदलावों के अक्स को अपने भीतर समेटा है, और उनका पूरा लेखा–जोखा प्रबुद्ध पाठक वर्ग के सम्मुख प्रस्तुत किया है।

हिन्दी साहित्येतिहास में सन् 1936 ई. के बाद 1943 ई. तक का समय मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित प्रगतिवाद के नाम से जाना जाता है। इस काल में लेखक ठोस धरती पर आ कर भौतिकवादी सिद्धान्तों से प्रभावित होकर रचना करने लगे। इस काल में जन शोषण का विरोध, समसामयिक समस्याओं के प्रति जागरूकता तथा सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्रण मिलता है। प्रेमचन्दोत्तर कहानी लेखकों ने वर्ग पात्रों के स्थान पर व्यक्ति पात्रों की स्थापना की। इस रूप में विचारधारा के बीच यद्यपि प्रेमचन्द युग के कई कहानीकारों में मिलने शुरू हो गए थे पर उनका अंकुरित रूप इस काल में दिखाई देता है। यशपाल का भौतिकवादी दृष्टिकोण उनकी कहानियों में झलकता है। यशपाल की मान्यता रही "हमारी कल्पना का आधार जीवन की ठोस वास्तविकताएँ ही होती हैं।" इसी आधार पर उन्होंने 1939 से लेकर 1943 तक तीन कहानी संग्रह दिए। यद्यपि उनकी कहानियों के संग्रह सोलह है और वे 1969 ई. तक लिखते रहे। यशपाल जी के साथ इस काल खंड में चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, कांतिचन्द्र सौनरिक्सा, उपेन्द्र नाथ अश्क, कृष्णचन्द्र, सत्यजीवन भारतीय, रांगेयराघव, प्रभाकर माचवे, सत्यवती मलिक, सद्गुरु शरण अवस्थी, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा ऐसे ही कहानीकार हैं।

सन् 1939 ई. में द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिका का भी इस काल में प्रभावी रहा। 1939 ई. से 1947 ई. तक का समय इस युद्ध को ही केन्द्र बिंदु बनाए रहा। हिन्दी साहित्येतिहास में 1943 ई. के बाद 1953 ई. तक का समय मशीन और गति प्रधान होने के कारण 'प्रयोग' का समय रहा। इस बीच भारत स्वतन्त्र तो हुआ पर विभाजन की विभीषिका भोगते हुए। 1942 ई. का भारत छोड़ो आन्दोलन और फिर स्वराज्य की चाहना के आन्दोलन सामाजिक चेतना को जागरूक किए थे, उसी प्रकार साहित्य में घोर अहंनिष्ठ व्यक्तिवाद, अतिबौद्धिकता, यथार्थ की प्रतिष्ठा के साथ भाषा के उपमानों व प्रतीकों की नवीनता के प्रयोग इस काल में सामने आते हैं। इस समय की हिन्दी कहानी में मनोविश्लेषणात्मक दृष्टिकोण की प्रधानता दिखाई देती है। अज्ञेय इस प्रकार के प्रमुख कहानीकार हैं। आपकी कहानियों में मनोवैज्ञानिकता के साथ सामाजिक संघर्ष और विद्रोह का तीखापन दिखाई देता है। जैनेन्द्र जी की कहानियाँ भी इस काल में पूर्ववर्ती धारा को और प्रबल रूप में प्रस्तुत करती हैं। साथ ही विष्णु प्रभाकर, भगवती प्रसाद वाजपेयी, इलाचन्द्र जोशी, देवी दयाल चतुर्वेदी, जानकी वल्लभ शास्त्री, अक्षय कुमार जैन, कौशल्या अश्क, रामवृक्ष बेनीपुरी आदि कहानीकारों ने युगीन समस्याओं को कहानियों द्वारा प्रस्तुत किया। सुभद्रा कुमारी चौहान की कहानियाँ भी इस काल में राष्ट्रीय चेतना के साथ पारिवारिक समस्याओं को भी प्रस्तुत करती हैं। उषा देवी मित्रा की कहानियाँ भावुकता एवं कल्पना प्रधान हैं पर सामाजिक जीवन के यथार्थ का बोध कराती हैं।

इस काल में वृन्दावन लाल वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, भगवत शरण उपाध्याय ऐतिहासिक कहानियों के भंडार की

श्री वृद्धि कर रहे थे। श्री राम शर्मा ने शिकार सम्बन्धी अनुभवों के आधार पर रोमांचक कहानियां लिखी। श्रीमती कमला त्रिवेणी शंकर पारिवारिक तथा सामाजिक क्षेत्रों से कथानक लेकर चरित्र–चित्रण प्रधान कहानियां लिखी। तेज रानी पाठक ने अपनी कहानियों में मानवीय व्यावहारों के विविध यथार्थवादी चित्र अंकित किए हैं तारा पाण्डे की कहानियों के जीवन की सामान्य घटनाएं मिलती हैं। श्रीमती स्वर्ण लता देवी, सुशीला आग्य, प्रेम भटनागर मालती शर्मा, चन्द्र कुमारी मिश्र आदि की कहानियों में नारी जीवन की यथार्थ समस्याओं को उठाया गया है।

स्वातन्त्र्योत्तर कहानीकारों ने आज के जीवन की विविधता एवं समस्याओं की जटिलता का खुल कर चित्रण किया है। स्वातन्त्र्योत्तर प्रारंभिक काल में देश के विभाजन की विभीषिका का चीत्कार भीष्म साहनी, मोहन राकेश, चन्द्र गुप्त विद्यालंकार की कहानियों में सुनाई देता है। 'अमृतसर आ गया है', 'मलबे का मालिक', 'मास्टर साहब', इनकी ऐसी कहानियाँ हैं जो कि विभाजन की विभीषिका को सूक्ष्म रूप में उपस्थित करती हैं। सन् 1952 ई. के आसपास इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'कहानी' से हिन्दी में 'नई कहानी' आन्दोलन शुरू होता है। इस समय के साहित्यकार ने विभाजन के बाद जिस यांत्रिकता, आर्थिक संकट और वैचारिक दवाब को झेला था उसमें उसका कई मान्यताओं के प्रति मोह भंग हो गया। कहानी को 'नई कहानी' के रूप में डॉ. नामवर सिंह ने मान्यता दी। इस कहानी में परिवेशगत जागरूकता, के साथ–साथ रचना प्रक्रिया के प्रति बदलता दृष्टिकोण दिखाई देता है। श्री कान्त वर्मा, रवीन्द्र कालिया, दूधनाथ सिंह, ज्ञान रजंन, गंगा प्रसाद विमल आदि की कहानियों में 'नई कहानी' आन्दोलन की विशेषताएँ दिखाई देती है। इनकी कहानियों में जनमानस में प्रचलित रूढ़ियों के प्रति नयी चेतना का प्रसार दिखाई देता है। अछूतोद्धार साम्प्रदायिक सद्भाव, ग्रामविकास, नवयुवा वर्ग के रोज़गार की तलाश आदि के प्रति कहानीकारों ने आवाज़ उठाई है। अमर कांत, शैलेश मटियानी, उषा प्रियम्वदा, राजेन्द्र यादव, कृष्णा सोबती, शिव प्रसाद सिंह, धर्मवीर भारती, महीप सिंह, निर्मल वर्मा, कमलेश्वर, श्री कांत, मधुकर सिंह, लक्ष्मी नारायण लाल ने वैचारिकता की दृष्टि से नए जीवन मूल्यों को लेते हुए 'नई कहानी' की संवेदना को गति दी।

नई कहानी आन्दोलन स्वातन्त्र्योत्तर युग में आधुनिक हिन्दी कहानी के इतिहास का पहला आन्दोलन था। इसमें यथार्थ की निकटता को परिवेश के माध्यम से परख कर प्रस्तुत किया गया। स्वातन्त्र्योत्तर काल में हिन्दी कहानी के क्षेत्र में विस्तार हुआ। आम आदमी के निकट आती हुई कहानी अंचल विशेष व परिवेश को चित्रित करने में अपने कथ्य की सार्थकता अनुभव करने लगी। मूल सांस्कृतिक प्रकृति को ढूंढती हुई कहानी के जनमानस से लोक पक्ष को उजागर करने का प्रयत्न आंचलिक कहानी के रूप में दिया। फणीश्वर नाथ 'रेणु' की 'तीसरी कसम' उर्फ 'मारे गए गुल्फाम' तथा 'आदिम रात्रि की महक' ऐसी कहानियों का उदाहरण ही रेणु के अतिरिक्त मार्कण्डेय, राजेन्द्र अवस्थी, शैलेश मटियानी, शिव प्रसाद सिंह आदि ने भी ऐसे कहानियां लिखी। इन कहानियों में प्रकृति के गोद में बसे जनपद और वहां की समस्याओं का सम्पूर्ण परिवेश प्रस्तुत हुआ है।

सन् 1960 के बाद की हिन्दी कहानी को साठोतरी कहानी कहा गया। यह अकहानी या अकथा के रूप में भी जानी जाती है। 'अकहानी' पर पश्चिमी 'एण्टीस्टोरी' आन्दोलन का प्रभाव दिखाई देता है। इसमें केवल व्यक्तिगत अनुभव को ही महत्त्व दिया जाता है। महेन्द्र भल्ला, रवीन्द्र कालिया, ज्ञानरंजन इस धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। मूल्यहीनता और विघटन का प्रमुख इन कहानियों में दिखाई देता है। कमलेश्वर अकहानी आन्दोलन को 'ऐयाश प्रेतो का विद्रोह' कहते हैं।

साठोत्तरी कहानीकारों में से कुछ ऐसे भी हैं जिन्होंने राजनीतिक खेमों से बाहर रहकर रामदरश मिश्र, जगदीशचन्द्र, मन्नू भंडारी आदि ऐसे ही कहानीकार हैं जिन्होंने जनमानस की आवाज को पहचाना। 1960 ई. के बाद 1962 में हिन्दी चीनी भाई–भाई नारे की निःसारता, 1965 में भारत पाक युद्ध ने भारतीय जनमानस में जो भारतीयता का भाव भरा उसने कहानी को पूरे जीवन के साथ जोड़ दिया। सत्तर के दशक की कहानी को रमेश कुन्तल मेघ 'तत्काल और फिलहाल के समय बोध के जरिए जीवन का साक्षात्कार करने वाली कहानी' मानते हैं। 1970 में महीप सिंह जी सचेतन और सहज कहानी का आन्दोलन चलाया। समस्त मर्यादाओं एवं जीवन मूल्यों में उपस्थित विघटन से त्रस्त समाज कुण्ठाओं से ग्रस्त था। इस दृष्टि से 'जीवन से भागने वाले मानवों को जीवन की ओर प्रेरित करने का भाव' लेकर महीप सिंह ने अपने साथियों सहित सचेतन कहानी का रूप प्रस्तुत किया। यह आन्दोलन यथार्थपरक व कहानियों का आन्दोलन है। महीप सिंह के साथ–साथ ममता कालिया, मन्नू भंडारी, मोहन राकेश, सुधा अरोड़ा, हिमांशु जोशी, धर्मेन्द्र गुप्त, मनहर चौहान आदि ने कहानी के इस रूप को स्वीकार किया।

सचेतन के साथ ही समान्तर कहानी की बात भी की जाती है। 'कथा' पत्रिका के प्रवेशांक के दूधनाथ सिंह की कहानियों में यह परम्परा चलती है। समान्तर कहानी में यान्त्रिकता और औद्योगीकरण से संप्रस्त मानवीय चेतना को कहानी का कथ्य बनाया गया है। मधुकर सिंह, कुसुम अंसल, रवीन्द्र कालिया, सुरेश सेठ, गुरबचन सिंह, आदि की कहानियों के अस्तित्व के प्रति जागरूकता, राजनैतिक असंगतियों का विरोध, व्यक्तित्व की स्वीकृति पाने की इच्छा का स्वर सुनाई देता है।

सन् 1968 में अमृतराय ने 'सहज कहानी' आन्दोलन का सूत्रपात किया। "सहज कहानी में हमारा अभिप्राय उस मूल कथा रस से है जो कहानी की अपनी खास चीज़ है" अमृतराय ने मन–भावनाओं को सहज ही प्रधानता देते हुए कहानी को प्रेरित किया। मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, उषा प्रियम्वदा, निर्मल वर्मा, श्रीकांत वर्मा, काशीनाथ सिंह आदि ने बड़ी ईमानदारी से अपनी कहानियों में सहज मानवीय मनोवृत्तियों को नियंत्रित किया है।

1970 ई. के बाद साठोत्तरी कहानी में कमलेश्वर, कामतानाथ, रमेश उपाध्याय, नरेन्द्र कोहली, धर्मेन्द्र, मणिमधुकर, निरूपमा सोबती, मृदुला गर्ग आदि ने कमलेश्वर के सम्पादकत्व में 'सारिका' पत्रिका के एक समान्तर आन्दोलन के रूप में कहानियाँ लिखीं। इस आन्दोलन में आम आदमी और विशेषकर आर्थिक समस्याओं को केन्द्र में रख कर कहानियाँ लिखी गई। इसी समय में 'विचार कहानी' आन्दोलन का रूप भी मधुमालती, धूमकेतु, इब्राहीम शरीक, प्रदीपदत्त, गिरिराज किशोर, आलमशाह एवं सुभाष पंत आदि की कहानियों में मिलता है।

सन् 1920–1980 ई. के मध्य के आपात काल की घोषणा और उस समय की क्रूरताओं के प्रति रोष प्रकट करते हुए भी गोविन्द मिश्र, सुरेश सेठ, ज्ञानरंजन, मृणाल पांडे, रमेश चन्द्र शाह, अब्दुल बिस्मिल्लाह आदि ने राजनीतिक चरित्र के दोगलेपन को लेकर कहानियाँ लिखीं।

सन् 1979 ई. में राकेश वत्स 'सक्रिय कहानी' का नारा दिया। राकेश वत्स ने आदमी की चेतनात्मक ऊर्जा और जीवंतता की कहानी को सक्रिय कहानी कहा। रमेश बतरा, चित्रा मुद्गल, धीरेन्द्र अस्थाना, जीतेन्द्र सूद, मंजुलभगत आदि ने इस आधार बिंदु पर कहानियाँ लिखी हैं। आठवें दशक की हिन्दी कहानी जन मानस को पीड़ित करने वाली समस्याओं से टकराती नज़र आती है। ये समस्याएँ कितनी भी भयप्रद, जटिल, तनावपूर्ण क्यों न हो उनमें मानव अपनी दृढ़ता से संभाल सकता है अमर कांत, भीष्म साहनी, ज्ञानरंजन आदि की कहानियों से यही संदेश मिलता है।

बीसवीं सदी के अन्तिम दो दशकों में कहानी के तेवर बदलते हुए दिखाई देते हैं। युग की आवाज़, मानवीय चेतना के स्वर को मुखरित करते हुए सामाजिक विशेषकर, राजनीतिक टकराहट की विभीषिका को आंकते हुए तथा नई शताब्दी के आगमन के साथ उठते कई विमर्श, प्रश्नों के साथ चलते हुए शरद जोशी, रोहितख, मानूखोलिया, मेहरूनिसा परवेज़, ओम गोस्वामी, रतन लाल शांत, काशीनाथ सिंह, मालती जोशी, मंजुल भगत, आर्यमान, कुसुम अंसल, गंगा प्रसाद विमल और भी न जाने कितने कहानीकार भारतीय जीवन की चेतना की भारतीयता के भाव को आज की विडम्बना में मानवीय अस्तित्व के प्रति जनमानस को जागरूक करते हुए जिस प्रकार अपनी लेखनी से जुड़े है उससे इतना तो निश्चित है कि हिन्दी कहानी युग बोध से समझते हुए युगानुरूप अपने को टालते हुए जीवन की गति के साथ जैसे चल रही है उसमें इसके सम्मुख अनंत संभावनाओं के द्वारा खुलते दिखाई देते हैं।

32.5 कठिन शब्द

1. युगबोध 2. आगमन 3. निश्चित 4. सक्रिय 5. युगानुरूप 6. संभावना 7. अनंत 8. मुखरित 9. विमर्श।

32.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्रश्न – कहानी की परिभाषा देते हुए इसके तत्वों पर प्रकाश ड़ालिए।

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न – कहानी की विकास यात्रा पर लेख लिखिए।

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न – कहानी के भेदों पर प्रकाश डालिए।

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न – प्रेमचंद पूर्व कहानी की क्या स्थिति रही है ? प्रकाश डालिए।

_____

_____

_____

_____

_____

32.6 पठनीय पुस्तकें

1. नामवर सिंह – छायावाद, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1990
2. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी – ग्रंथावली, भाग–3, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1981
3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2050
4. रामस्वरूप चतुर्वेदी – हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, 1993
5. डॉ. नगेन्द्र (सं.) – हिन्दी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली 1982
6. डॉ. जयकिशन प्रसाद – हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा।
7. डॉ. नामवर सिंह – आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, राजकमल प्रकाशन – नई दिल्ली,

.....

हिन्दी आलोचना : उदभव और विकास

33.0 रूपरेखा

33.1 उद्देश्य

33.2 प्रस्तावना

33.3 हिन्दी आलोचना : उदभव और विकास

33.3.1 आलोचना : शब्द और पर्याय

33.3.2 आलोचना : परिभाषा

33.3.3 आलोचना : उद्देश्य

33.3.4 आलोचना : प्रकार

33.3.5 हिन्दी आलोचना : विकास के चरण

33.4 सारांश

33.5 कठिन शब्द

33.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

33.7 पठनीय पुस्तकें

33.1 उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरांत आप–

– आलोचना शव्द की व्युत्पति एवं इसके पर्याय को जानेंगे।

– आलोचना के उद्देश्य को जानेंगे।

– आलोचना के विभिन्न रूपों को जानेंगे।

– आलोचना के विकास के विविध चरणों को समझेगें।

33.2 प्रस्तावना

साहित्य मनुष्य के भावों और विचारों की समष्टि है । इस रूप में इसकी प्रत्येक विधा मानव जीवन का आख्यान है । इस पथ का पथिक साहित्यकार कहलाता है और – 'साहित्यकार जीवन की जटिलता, संकुलता एवं अगाध रूपों में सौंदर्य का दर्शन करता है तथा उसे समझकर आत्मसात् करता है फिर वह उसे अपनी रचना में अभिव्यक्ति देता है' इस प्रकार साहित्यकार के कर्म को प्रस्तुत करते हैं। विजय वेदालंकार जी की मान्यता है कि आलोचना में रचनाकार की इसी रचना का आख्यान होता है । 'बाबू श्याम सुन्दर राय जी ने भी इस सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है' साहित्यक्षेत्र में, ग्रंथ को पढ़कर उसके गुणों और दोषों का विवेचन करना और उसके सम्बन्ध में अपना मन प्रकट करना आलोचना कहलाता है ।'

33.3 हिन्दी आलोचना : उदभव और विकास

33.3.1 आलोचना : शब्द और पर्याय : वस्तुतः लोचृ–आ + लोच् + अन + आ = आलोचना या आ+ लोच् + ल्युट (अन) = आलोचन – धातु से निस्रत आलोचना शब्द के लोचृ का अर्थ है देखना। इस व्युत्पति परक आलोचना के अर्थ से स्पष्ट होता है कि किसी वस्तु या कृति का सम्यक् मूल्यांकन करना ही आलोचना का धर्म है । परम्परा से संस्कृत काव्यशास्त्र में कविकर्म पर प्रकाश डालना ही आलोचना का मूल उद्देश्य माना गया है । अंग्रेज़ी में इसके समानार्थी क्रिटिक (Critic) शब्द का मूल भाव क्राइट (Krites) अर्थात् 'अलग करना' है । इससे स्पष्ट होता है कि 'पाश्चात्य देशों में भी साहित्यगत उत्तमोत्तम बातों को जानना और समाज को उसका ज्ञान कराना आलोचना का उद्देश्य माना गया है ।' लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय जी के उपर्युक्त शब्द आलोचना के स्वरूप को स्पष्ट करने मे सार्थक सिद्ध होते हैं । हिन्दी और उसके अग्रेज़ी पर्याय से आलोचना का उद्देश्य साहित्यकार के साहित्यिक कृतित्व के सम्यक् विवेचन के रूप में स्पष्ट होता है । पाश्चात्य समीक्षक डब्ल्यू. बी वर्स फोल्ड की मान्यता है कि 'आलोचना कला और साहित्य के क्षेत्र में निर्णय की स्थापना है । (Criticism is the exercise of judgement in the province of art and literature) हिन्दी में आलोचना के सन्दर्भ में समालोचना, समीक्षा, मीमांसा या विवेचना आदि का उल्लेख मिलता है पर आलोचना का ही रूप प्रायः किया जाता है ।

33.3.2 आलोचना : परिभाषा – आलोचना का मूलकार्य सर्जनात्मक साहित्य की विशेषताओं का उद्घाटन करना है। इस रूप में साहित्यकार जहां समाज के भीतर की भावनाओं का चित्रण करता है वहीं आलोचना साहित्य–पाठक को रचना की वास्तविकता से परिचित कराता है । इस रूप में साहित्य की पहचान

ही उसका दायित्व ठहरता है । इसी दृष्टि से विभिन्न विद्वानों ने इस साहित्यिक विद्या की परिभाषा देते हुए उसकी वास्तविकता को स्पष्ट करने का प्रयास किया है ।

परम्परा से संस्कृत काव्य के अनुशीलन के लिए जिस शास्त्र के ज्ञान को आवश्यक माना गया वहीं आलोचना का उद्‌य माना जा सकता है । आचार्य राजशेखर ने काव्य मीमांसा में कहा है 'शब्द और अर्थ के सहभाव को बताने वाली विद्या (शास्त्र) साहित्य विद्या है । इस विधा की चौंसठ उपविद्याएँ हैं, जिन्हें विद्वान कला कहते हैं । उपविद्याएँ या कलाएँ काव्य का जीवन है ।' आचार्य विश्वनाथ ने भी साहित्य शास्त्र के रूप में सैद्धान्तिक आलोचना का स्वरूप स्पष्ट किया है । इसके अन्तर्गत काव्य विधा के सभी अंगों–उपायों पर विस्तृत चर्चा मिलती है । इसी दृष्टि से प्राचीन काल से ही कवि–शिक्षा की परम्परा मिलती है । आचार्य भामह के अनुसार कवि कर्म में प्रेरित होने के लिए 'शब्दार्थ का ज्ञान प्राप्त कर शब्दार्थवेत्ताओं की सेवा कर तथा अन्य कवियों के निबन्धों (काव्य–कर्यो) को देखकर काव्य–क्रिया में प्रवृत्त होना चाहिए । आचार्य वामन ने भी कवि के लिए लोकव्यवहार, शब्द शास्त्र, अभिघान, कोश, छन्दशास्त्र, कला के साथ–साथ काव्य शास्त्र का उपदेश करने वाले गुरुओं की सेवा आवश्यक मानी है । इस प्रकार स्पष्ट होता है कि आलोचना जहां कवि का मार्ग दर्शन करती है वहीं पाठक को भी रचना कथ्य से परीचित कराती है ।

हिन्दी आलोचना का आधुनिक रूप पाश्चात्य मनीषियों के चित्तन से अधिक प्रभावित है । इस दृष्टि से ड्राइडन महोदय की परिभाषा उल्लेखनीय है । उन्होंने आलोचना को ऐसी कसौटी माना है 'जिसकी सहायता से किसी रचना का मूल्यांकन किया जाता है। वह उन विशेषताओं का लेखा प्रस्तुत करती है, जो साधारण तथा किसी सभ्रान्त पाठक को आनन्द प्रदान कर सके।'

कालोइल महोदय ने पुस्तक कथ्य की प्रतिक्रिया को आलोचना माना है जबकि मैथ्यू आर्नल्ड आलोचना मे आलोचक को तटस्थ रहकर कृति के गुण दोषों का परिचय देने वाला माना है । पाश्चात्य विद्वानों ने आलोचना को कृतिकार का उद्देश्य स्पष्ट करने का साधन माना हैं । एडीसन महोदय रचना के निहित सौन्दर्य के उद्‌घाटन को आलोचना का उद्देश्य मानते हैं । जानसन महोदय आलोचक को निर्देश देते है कि 'उसका कार्य तो विवेक के आलोक में जो दिखाई दे, उसका उद्‌घाटन करना और सत्य के निर्देश में जो निर्णय हो उसका आख्यान करना' ही उसका धर्म है ।

हिन्दी आलोचना का पूर्वरूप तो संस्कृत काव्यालोचन रहा । उत्तर मध्य काल तक जितने भी रीति–शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ मिलते हैं उनमे साहित्य कथ्य के 'कीरति भविति भूति मल सोई । सुरसरिसय कहे हित होई' के रूप में स्वीकार किया गया । रीतिकालीन रीतिशास्त्र तो संस्कृत काव्य शास्त्र को ही लेकर चला । साथ टीका पद्धति में काव्यांगों का लक्षण लेकर रचना की व्याख्या पद्धति में आलोचना का रूप दिखाई देता है । आधुनिक युग मे आकर आलोचना का जो रूप विकसित हुआ उसमें पाश्चात्य प्रभाव को लेकर सैद्धान्तिक पक्ष के साथ व्यावहारिक रूप को अधिक महत्त्व दिया गया । इस दृष्टि से आचार्य सीता राम चतुर्वेदी जी ने आलोचना की परिभाषा देते हुए कहा है 'दर्शनीय वस्तु, व्यक्ति या विषय को देखकर उसमें निहित दृष्टव्य तत्त्वों को अन्यों के लिए सुलभ करने की प्रक्रिया आलोचना है।' बाबू श्याम सुन्दर दास जी ने तो 'साहित्य को जीवन की व्याख्या मानते हुए 'आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या' माना है । भगवत स्वरूप मिश्र जी की

मान्यता है कि 'वस्तु के यथार्थ रूप की जिज्ञासा, और उसे जानने का प्रयत्न मानव का स्वभाव है । वह ज्ञानपूर्वक जीता है । जगत् के प्रति बौद्धिक और रागात्मक प्रतिक्रियाएँ ही उसका जीवन है। यही जगत् को समझना है और यही आलोचना है ।' लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय जी ने माना है कि 'आलोचना कला को जीवन में सर्वोच्च स्थान प्रदान करती है । वस्तुतः सच्ची आलोचना कला का ही एक प्रधान अंग है । उसका चरम लक्ष्य वही है, जो जीवन का अन्तिम लक्ष्य है ।' वस्तुतः आलोचना उस कला की सजगता है जिसे विद्वानों ने जीवन की सजगता के रूप में मान्यता दी हुई है । इस दृष्टि से आलोचना रचना में निहित उस कथ्य को सहृदय सामाजिक से परिचित कराने का माध्यम है जिससे रचना की गुणवत्ता से पाठक वर्ग परिचित होता है । इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में स्पष्ट कहा गया है 'आलोचना का अर्थ वस्तुओं के गुण–दोषों की परख करना है, चाहे वह परख साहित्य क्षेत्र में की गई हो, या ललितकला क्षेत्र में । इसका स्वरूप निर्णय में सन्निहित रहता है ।'

33.3.3 आलोचना उद्देश्य – उपर्युक्त परिभाषाओं से यह तो स्पष्ट है कि आलोचना जहां रचना के मर्म से पाठक को परिचित कराती है वही रचना का मूल्यांकन भी करती है । भगीरथ मिश्र जी की मान्यता है कि 'आलोचना का मूल उद्देश्य कवि या कलाकार की कृति की पूर्ण व्याख्या करते हुए उसके मूल्य एवं महत्त्व का निरूपण करना है ।' कुछ विद्वानों ने नैतिक मान्यताओं के आधार पर सत् और असत् साहित्य का विश्लेषण कर आलोचना का उद्देश्य कुरूचिपूर्ण साहित्य की अभिवृद्धि को रोचक भी मानते हैं, पर 'कला कला के लिए मानने वाले इसका विरोध करते है ।

आलोचना साहित्य में नैतिकता, के प्रत्यक्ष परोक्ष चित्रण की दृष्टि से उसका कलात्मक दृष्टि से मूल्यांकन करते हुए उसकी समाज के लिए उपादेयता पर विचार करने का प्रबल साधन है । यही उसका प्रमुख उद्देश्य भी है जिसकी पूर्ति के लिए इस पथ के अनुगामी के लिए कुछ आवश्यक गुण भी अपेक्षित है ।

आलोचक कौन ?

प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान विन्सले महोदय के अनुसार 'आलोचक में विस्तार पूर्ण दृष्टि, संतुलित मस्तिष्क, मानव मन का सूक्ष्म ज्ञान तथा सहानुभूति और जागरूक तटस्थता आवश्यक है ।' (To be a critic of literature is to possess or widevision, balanced mind, and inexhaustible in sight into the deepest secrets of human mind, it needs to be sympathetic and yet alort to watch the wisdom unfaultering.) इसके साथ ही विद्वानों ने यह माना है कि आलोचक को यह देखना चाहिए कि कोई भी कला या रचना समाज को किस प्रकार परिष्कृत कर सकती है साथ ही समाज में किस प्रकार चिरन्तन सत्य की प्रतिष्ठा करते हुए समाज में नई विचार धारा प्रवाहित कर सकती है । इस कार्य के लिए आलोचक का उत्तरदायित्व साहित्यकार व पाठक दोनों के प्रति दोहरी जिम्मेदारी निभाना होता है । आलोचना में आलोचक स्वस्थ मन से कला या साहित्य का अध्ययन कर उसके सौन्दर्य की परख करता है । इस कारण उसमें प्रतिभा, सहृदयता, निष्पक्षता, विद्वता, अन्तर्द्वष्टि का

होना आवश्यक माना जाता है ।

प्रतिभा कारयित्री और भावयित्री दो प्रकार की होती है । वस्तुतः मनुष्य की नवोन्मेषशालिनी शक्ति ही प्रतिभा होती है । इसे काव्य हेतु में सर्वप्रथम गिना जाता है। इसी के सहारे आलोचक अपने कथन/निर्णय को सामर्थ्य पूर्ण बना सकता है ।

सहृदयता साहित्य को समझने के लिए आवश्यक तत्व है । इसके अभाव में रचना की परख नहीं हो सकती । सहृदय ही साहित्य का रसास्वादन करने में समर्थ होता है । इसीलिए आलोचक का सहृदय होना आवश्यक माना गया है ।

आलोचक कई बार न्यायाधीश की भूमिका भी निभाता है । इसलिए उसका निष्पक्ष होना आवश्यक है । तभी तो वह रचना के सही कथ्य को पाठक वर्ग के सम्मुख प्रस्तुत कर सकेगा । इसके साथ ही साहित्य की सम्पूर्ण समस्याओं के ज्ञान के साथ–साथ अन्यान्य सामाजिक सन्दर्भों से भी उसका परिचय अनिवार्य है । अन्यथा वह रचना मे प्रस्तुत सत् का उद्घाटन नहीं कर सकेगा । उसकी विद्वता ही उसे रचना को समझने में सहायक होती है। रचनाकार द्वारा रचना में प्रस्तुत जीवनाभिव्यक्ति की पहचान आलोचक अन्तर्दृष्टि द्वारा ही कर सकता है ।

इन उपर्युक्त गुणों के साथ ही आलोचक के गुण ग्राहकता का होना भी अनिवार्य है। इन्ही गुणों से युक्त आलोचक निष्पक्ष व सही आलोचना द्वारा सामाजिको को साहित्यिक रचना मे निहित कथ्य की वास्तविकता से परिचित करा सकता है ।

33.3.4 आलोचना : प्रकार – जिस प्रकार साहित्यिक क्षेत्र में अलग–अलग विचार धाराओं को लेकर विभिन्न वादों का प्रादुर्भाव होता रहा है उसी प्रकार दृष्टिकोण भेद से आलोचना में भी विभिन्न रूप मिलते हैं । मूलतः आलोचना के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दो प्रकार होते हैं। व्यावहारिक आलोचना मे विभिन्न पद्धतियों के कारण कई उपभेद हो जाते हैं । इन उपभेदों के विषय में लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय जी की मान्यता है कि 'एक साहित्यिक या कलात्मक कृति किस रूप में किसी व्यक्ति में प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है, उस पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है, इसी तथ्य पर आलोचना के प्रकार आधारित रहते हैं । आलोचना के वर्गीकरण की समस्या 'दृष्टिकोण' पर निर्भर है । दृष्टिकोण का आधार मनोवैज्ञानिक दार्शनिक, ऐतिहासिक, काल्पनिक, वैज्ञानिक, निर्णयात्मक, सामाजिक, वैयक्तिक आदि कोई भी हो सकता है, अथवा कभी रीति, कभी विषय को भी आधार बनाया जा सकता है ।'

हिन्दी आलोचना जिन विविध रूपों में आधुनिक काल में प्रचलित है मध्यकाल तक परम्परित संस्कृत काव्यशास्त्रीय परिपाटी पर ही आधारित होने के कारण सैद्धान्तिक आलोचना के रूप में ही प्रचलित रही । सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत साहित्य के विविध रूपों–कविता, नाटक आदि – के रचना सिद्धान्तों का निर्धारण किया जाता है । सुरेशचन्द गुप्त जी के अनुसार 'सैद्धान्तिक आलोचना के लिए आलोचक एक ओर रचनात्मक साहित्य के गुण दोषादि के आधार पर सिद्धान्त निरूपण करता है, दूसरी ओर उपलब्ध साहित्यशास्त्र के

लाभान्वित होता है और तीसरी ओर नवीन साहित्य धाराओं – छायावाद, नयी कविता, आंचलिक उपन्यास आदि – के विषय में लेखकों की धारणाओं से प्रेरणा ग्रहण करता है ।' इस प्रकार की आलोचना में आलोचक स्वप्रतिभा व प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर सिद्धान्तों का निर्माण करता है । परम्परा से संस्कृत में कव्यशास्त्र या अलंकार शास्त्र इसी पद्धति की आलोचना के निर्धारक रूप हैं । संस्कृत मे आचार्य भरत से लेकर पंडित जगन्नाथ तक की काव्यशास्त्रीय रचनाएं इस पद्धति की उद्घोषक है । इनमें रस, अलंकार, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि और औचित्य के साथ काव्यगुण, काव्यदोष, शब्दशक्ति आदि की विवेचना की गई है जिनके आधार पर किसी भी कृति को परखा जा सकता है । संस्कृत की इस परम्परा में आचार्यों ने प्रयोगात्मक पक्ष पर अधिक बल नहीं दिया । हिन्दी आलोचना की प्रारंभिक अवस्था में यही आधार विद्यमान रहा । मध्यकालीन विशेष कर उत्तरमध्यकालीन आचार्य कवियों ने इसी परम्परा का पालन करते हुए अपनी सैद्धान्तिक पक्षीय रचनाएँ लिखी । आधुनिक काल में भी बाबू श्याम सुन्दर दास की, 'साहित्यलोचन', पं. रामदहिन मिश्र जी की 'काव्यदर्पण', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी की 'रसमीमांसा', सूर्यकान्त जी की 'साहित्य मीमांसा', महावीर प्रसाद द्विवेदी जी का 'रसज्ञ रंजन', बाबू श्याम सुन्दर दास ' रूपक रहस्य', बाबू गुलाब राय 'काव्य के रूप' तथा सिद्धान्त और अध्ययन', भागीरथ मिश्र 'साहित्य निकष', रामअवध द्विवेदी 'साहित्य रूप', पदुमलाल पुन्ना लाल बख्शी 'हिन्दी साहित्य विमर्श' के साथ डॉ नगेन्द्र, तारक नाथ बाली, निर्मला जैन, शंकर देव अवतरे, सात्यदेव चौधरी, गोविन्द त्रिगुणायत, आनंद प्रकाश दीक्षित, राजेन्द्र द्विवेदी, कन्हैयालाल पौद्दार आदि विद्वानों ने भी भारतीय काव्य शास्त्र की संस्कृत परम्परा के साथ आधुनिक युग में पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों पर भी मनन–चिन्तन करते हुए हिन्दी की आधुनिक सैद्धान्तिक समीक्षा के स्वरूप विवेचन में उल्लेखनीय योगदान दिया है ।

हिन्दी की व्यवहारिक आलोचना पद्धति के अन्तर्गत आलोचना की अनेक पद्धतियों का समावेश हो जाता है । इस पद्धति में अलोचक का दृष्टिकोण प्रभावी होता है यह दृष्टिकोण साहित्य को परखने के विभिन्न ज्ञानानुशासनों के आधार पर आधृत होता है। वार्ष्णेय जी की मान्यता है कि 'जितने प्रकार के विषय होंगे उतने ही प्रकार की आलोचना भी जन्म लेगी । आधुनिक साहित्य में अनेक प्रकार की आलोचना प्रणालियों का प्रयोग हुआ है और हो रहा है । आलोचकों के वर्गों और उनके विभिन्न दृष्टिकोण के कारण आलोचना के अनेक वर्ग दृष्टिगोचर होते हैं ।' ऐसी आलोचना प्रणालियो में शास्त्रीय, प्रभावात्मक, निर्णयात्मक, मनोविश्लेषणात्मक, ऐतिहासिक, मार्क्सवादी, व्याख्यात्मक, तुलनात्मक, मनोवैज्ञानिक, अनुभवात्मक, वैज्ञानिक, अभिव्यंजनावादी, नैसर्गिक, जीवन वृतान्तीय, कार्यात्मक, क्रियात्मक, तात्विक, भौतिकवादी, आत्मगत आदि अनेक की गणना होती है । इनमें से निम्न प्रमुख है :

शास्त्रीय आलोचना में रचनागत भाव सौन्दर्य और कलापक्ष का विश्लेषण रहता है। इसके लिए आलोचक द्वारा भारतीय अथवा पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का सुविधानुसार प्रयोग किया जाता है । हिन्दी में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का मिश्रबन्धुओ ने इसी प्रणाली मे साहित्यिक कृतियों का अध्ययन किया है। आचार्य द्विवेदी ने 'विक्रमा के देव चरित चर्चा' व 'नैषधचरित' तथा मिश्र बन्धुओं ने 'हझीर दृढ' काव्य पर और श्रीधर की भूषण के काव्य पर की गई आलोचना इसी कोटि की है ।

सैद्धान्तिक आलोचना में जब आलोचक कृति या कृतियों की आलोचना करते हुए निष्कर्ष देता है तो निर्णयात्मक आलोचना का रूप सामने आता है । इसमें आलोचक न्यायाधीश के समान कृति के विषय में अपना निर्णय देता

है । इस पद्धति के अन्तर्गत आलोचक की दृष्टि इस बात पर भी रहती है कि आलोच्य कृति में युग–विशेष का चित्रण करते समय क्या लेखक ने उसके साहित्यिक मूल्य को सीमित कर दिया है या उसे शाश्वत मूल्यों में जोड़ते हुए उसे कालजयी बना दिया है । सूर–सूर तुलसी ससि, उड़गन केशव दास । अबके कवि खद्योतसम जह तहँ कर प्रयास' । जैसी उक्तियाँ ऐसी ही पद्धति का उदाहरण है । इस आलोचना पद्धति को जहां सैद्धान्तिक मर्यादाओं के साथ जोड़ा जाता है वही रचनाजनित व्यक्तिगत प्रभावों का समावेश भी इसमें रहता है । आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने रचना सम्बन्धी अपने विचारों को निर्णयात्मक ढंग से ही प्रस्तुत किया है ।

जब आलोचक कृति की अन्तरात्मा में प्रवेश कर उसके उद्देश्य व विशेषताओं का उद्‌घाटन करता है तो उसकी आलोचना व्याख्यात्मक आलोचना कहलाती है। इस पद्धति में आलोचना साहित्यिक कृतियों की बन्धन रहित व्याख्या का प्रयास करती है । इस पद्धति का मूल सिद्धान्त निरपेक्ष मानदण्डों पर आधारित होता है । इसमें आलोचक कृति के सौन्दर्य का उद्‌घाटन करते हुए, उसका विवेचन और विश्लेषण करता है । उस विवेचन कृति में प्रस्तुत गूढ़ भावों को सरल बनाकर पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है । कृति और कृतिकार के साथ इस आलोचना मे पूर्ण न्याय, सजीवता व रोचकता बनी रहती है । हिन्दी मे इस पद्धति का सूत्रपात आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने दिया जिन्होंने तुलसी, सूर और जायसी पर इतिहास, समाज, अर्थ, जीवन आदि को दृष्टि में रखते हुए आलोचना की । इनके अतिरिक्त बाबू श्याम सुन्दर दास, आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. नगेन्द्र जी इस प्रणाली के समर्थक है।

जब आलोचना में आलोचक के हृदयोल्लास की भावपूर्ण अभिव्यक्ति होती है तो उसे प्रभाववादी आलोचना कहा जाता है । इसमें किसी विशिष्ट पद्धति को नहीं अपनाया जाता अपितु कृति के प्रभाव की प्रधानता रहती है । तार्किक दृष्टि से किसी कृति के प्रति व्यक्तिगत प्रतिक्रिया ही इस आलोचना का प्रथम सोपान है । इसे आत्यगत या प्रभावाभिव्यंजक भी कहा जाता है । इस आलोचना पद्धति में सहज, आंतरिक प्रतिक्रिया, कृति का स्वेच्छापूर्णज्ञान और मूल्यांकन रहता है । इस आलोचना में आलोचक में तीव्र संवेदनशीलता, चित्त की गतिशीलता, भावानुभूति, कल्पनाशक्ति आदि गुणों की अपेक्षा रहती है । लक्ष्मी सागर वर्ष्णेयजी के अनुसार 'वास्तव में प्रभावात्मक आलोचना पद्धति द्वारा हम साहित्य की शक्ति पहचानने में समर्थ हो सकते हैं, वह इसमें नवीन कलात्मक चेतन को जन्म दे सकती है ।' इस पद्धति मे हृदय अधिक प्रभावी रहता है । राधाचरण गोस्वामी जी की आलोचना में इस पद्धति के दर्शन अधिक होते हैं । जैनेन्द्र जी भी ऐसी पद्धति के समर्थक हैं ।

ऐतिहासिक आलोचना में कृति का मूल्यांकन उसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में किया जाता है । लेखक के रचना सन्दर्भ में विशेष रूप से उसके सामयिक काल का अध्ययन करते हुए कृति का मूल्यांकन इस पद्धति की विशिष्टता है । इस पद्धति में आलोचक साहित्य को समाज का प्रतिबिम्ब मानते हुए परखता है । इस पद्धति में पाश्चात्य आलोचक तेन का नाम विशेष रूप से लिया जाता है । इस प्रकार की आलोचना में युग की आत्मा को समझना प्रमुख ध्येय रहता है । रचनाकार समाज से किस प्रकार प्रभावित होकर अपने भावों को किस प्रकार अभिव्यक्त कर रहा है उन्हें देखना इस पद्धति का मूल उद्देश्य है ।

जब आलोचक रचना के प्रभाव की अभिव्यक्ति को अधिक प्रभावी मानते हुए उसकी उपयोगिता आदि

पर विचार नहीं करता तो वह पाश्चात्य समीक्षक बेनेदेत्तो क्रोचे से प्रभावित आलोचना सिद्धान्तों को अपनाते हुए अभिव्यंजनावादी आलोचना करता है । इसी प्रकार जब आलोचक रचना के गुण दोषों पर ही केन्द्रित होती है तो गुणदोषात्मक आलोचना कहलाती है । यह पद्धति रूढ़ि पर अधिक दृष्टि रखते हुए कृति की परख करती है । इसमें लेखक की नवीन विशेषताओं और अन्तः प्रकृति के विश्लेषण पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता । जब कला के प्रति आलोचक की सहज, स्वाभाविक, निरपेक्ष प्रतिक्रिया प्रस्तुत होती है तो नैसर्गिक आलोचना का रूप स्पष्ट होता है । इसमें रचना की उत्कृष्टता को ही परखा जाता है इसे सहज, स्वाभाविक आलोचना भी कहा जाता है ।

आलोचना के क्षेत्र में जब एक ही रचनाकार की दो विभिन्न कृतियों या दो विभिन्न भाषायी रचनाकारों या दो विभिन्न समान भाषी रचनाकारों की रचनाओं की तुलना की जाती है तो ऐसे समय में तुलनात्मक आलोचना प्रभावी होती है । इस पद्धति में विचारों और प्रकारों की दृष्टि से तुलना की जाती है । इस पद्धति में आलोचक का बहुज्ञ होना आवश्यक है क्योंकि तुलनात्मक आलोचना में साहित्य अभिव्यंजना का साधन मात्र ही नहीं होता बल्कि सामाजिक चेतना का दर्पण होता है । इस रूप में आलोचक को कृतियों के साथ जुड़कर उनके परिवेश को देखते हुए तुलना करनी होती है । किसी के प्रति विशेष रूप से आकृष्ट आलोचक ऐसी आलोचना नहीं कर सकते । हिन्दी में पद्मसिंह शर्मा जी ने इस प्रकार की पद्धति को अपनाया है । यह आलोचना पद्धति तभी श्रेयस्कर सिद्ध हो सकती है जब आलोचक तटस्थ भाव से दोनों पक्षों की सहानुभूति में समीक्षा करे ।

रचनाकार के अन्तर्मन के भावों को रचना में परखने का प्रयास मनोवैज्ञानिक आलोचना के अन्तर्गत किया जाता है । यह पद्धति लेखक द्वारा प्रस्तुत रचनागत पात्रों की मानसिकता का उद्‌घाटन करती है । इस आलोचना में रचनाकार के आन्तरिक भावों की सूक्ष्म प्रस्तुति को परखा जाता है । मनोवैज्ञानिक प्रणाली से साहित्यिक कृति की रचना प्रक्रिया के समय लेखकीय मानसिकता को समझने में काफी सहायता मिलती है । मनोविश्लेषणात्मक पद्धति में कृति में कृतिकार के मन की व्याख्या की जाती है । मनोविज्ञान जहां लेखक की सहज–प्रक्रिया की खोज में सहायक सिद्ध होता है वहीं कृति विशेष पर लेखन की मनः स्थिति के प्रभावों को भी परखा जा सकता है ।

आधुनिक युग द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से अधिक प्रभावित हुआ है । इस दृष्टि से वर्ग संघर्ष के आधार पर कलाकार के जीवन और साहित्य की क्रियात्मकता और गतिशीलता को परखने का प्रयास मार्क्सवादी आलोचना में होता है । इस पद्धति के सिद्धान्त कार्लमार्क्स के सिद्धान्तों से अधिक प्रभावी है । इस पद्धति की भौतिकवादी, प्रगतिवादी, सोवियतसमीक्षा पद्धति या सामाजिक यथार्थवादी आलोचना भी कहा जाता है । इस पद्धति में पूंजीवादी व्यवस्था के विरूद्ध सर्वहारा वर्ग के भाव की अभिव्यक्ति को ही साहित्य सृजना का मूल स्वीकार करते हुए कृति की आलोचना की जाती है । इस पद्धति में आलोचक कला और साहित्य द्वारा जन क्रान्ति की अवतारणा देखना चाहते हैं । समाजवादी और पूंजीवादी समाज की मान्यताओं के स्थान पर श्रमिक वर्ग के अधिनायकत्व में निर्मित वर्गहीन समाज की मान्यताओं का ही साहित्यिक प्रस्तुति उसकी सफलता की परिचायक है । आलोचना पद्धति साहित्यिक रचना की आर्थिक उपयोगिता को अधिक महत्त्व देती है । उपयोगितावादी दृष्टिकोण के साथ यह प्रणाली सम्प्रेषण को अधिक महत्त्व देती है । भौतिक यथार्थवाद के साथ

अनुभूति की गहराई और संवेदना को भी इस प्रणाली मे महत्त्व दिया जाता है ।

आलोचना प्रणालियो में रचनात्मक आलोचना को क्रियात्मक आलोचना भी कहा जाता है । इस प्रणाली के अन्तर्गत आलोचक के हृदय के कलाकार की कृति का पुनरुत्पादन ही मुख्य है । इसे साहित्यिक आलोचना के समय की माना जाता है । अनुभवात्मक आलोचना में कृति का निरीक्षण, विश्लेषण और वर्गीकरण आलोचक द्वारा किया जाता है। यह पद्धति व्यक्तिगत अनुभवों को व्यवस्थित और वैज्ञानिक रूप प्रदान कर साहित्यकार की मूलभावना को स्पष्ट करने का प्रयास करती है । हिन्दी साहित्य में चिन्तन प्रधान आलोचना का सूत्रपात आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा हुआ। इसमें वैज्ञानिक पद्धति पर लेखक के काल, जीवन, चरित्र, वातावरण, परिवेश, लोक समूह, आदि को दृष्टि में रखकर कृतियों को परखा जाता है। इस प्रकार आलोचक के विविध रूप दृष्टिगत होते हैं जिनमें आलोचक के व्यक्तिगत दृष्टिकोण को सामने रखकर उनके द्वारा कृति–विशेष की आलोचना कर उसकी उपादेयता को अलग–अलग दृष्टि कोणों से पाठक वर्ग के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है।

33.3.5 हिन्दी आलोचना : विकास के चरण

हिन्दी आलोचना का वास्तविक विकास आधुनिक युग में ही हुआ है । हिन्दी में भारतेन्दु युग से पूर्ण उत्तरमध्यकाल–रीतिकाल– तक साहित्य शास्त्र की पुष्ट परम्परा संस्कृत काव्य शास्त्र पर ही आधारित थी । भागीरथ मिश्र जी के अनुसार – 'आधुनिक युग से पूर्व भी हिन्दी आलोचना के कुछ रूप प्रचलित थे जिनका सम्बन्ध संस्कृत काव्यालोचन से था।' कहकर इस बात की पुष्टि की है । आधुनिक काल या पूर्व आदिकाल का काव्य तो संस्कृत की सैद्धान्तिक परम्परा को ही मान्यता देता है । मध्यकाल में भक्तिरस में तो वैष्णव मत कवि भी संस्कृत काव्य शास्त्रीय आधार को ही मान्यता देते हैं । मध्यकाल का उत्तरार्द्ध–रीतिकाल लक्षण–लक्ष्य ग्रन्थों की परिपाटी को ही मान्यता देता है ।

भारतेन्दु युग से पाश्चात्य प्रभाव के कारण जीवनमूल्यों में आए परिवर्तन के साथ हिन्दी साहित्य में भी परम्परित मान्यताओं में परिवर्तन परिलक्षित होने लगता है इसी के प्रभाव से शास्त्रीय सैद्धान्तिक लक्षण–लक्ष्य ग्रन्थों के स्थान पर प्रयोगात्मक/व्यावहारिक आलोचना का स्वरूप अधिक प्रभावी होने लगा । रामचन्द्र तिवारी जी की मान्यता है कि 'वैज्ञानिक अनुसंधान, औद्योगिक क्रान्ति, राष्ट्रीय एकता, जनतान्त्रिक जीवन व्यवस्था, विचार–स्वातन्त्रय, जीवन के प्रति बौद्धिक एवं उपयोगिता वादी दृष्टिकोण आदि नवीन मान्यताओं से हिन्दी का साहित्यकार परिचित, प्रेरित एवं प्रभावित हुआ । परिणामस्वरूप हमारे परम्परागत साहित्य संस्कार बदलने लगे । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इस जागरण–युग की साहित्य–चेतना के अरूणोदय बनकर आए । उन्होंने जीवन और साहित्य के प्रति सुधारवादी दृष्टिकोण अपनाया । उन्हें परम्परागत संस्कृत समीक्षा – शास्त्र में युगानुकूल परिवर्तन कहने में संकोच न हुआ ।' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को भले ही 'रसवादी' आलोचक माना जाता है पर उन्होंने नाटक विधा को लेकर युग–प्रवृति के अनुकूल परिवर्तन को मान्यता देते हुए आधुनिक युग चेतना को अधिक महत्व दिया । इसमें उन्होंने माना कि मानवी वृत्तियाँ परिवर्तनशील है, इसी को ध्यान में रख कर साहित्य रचना प्रभावी हो सकती है।

आधुनिक युग में हिन्दी आलोचना के विकास में तत्युगीन पत्र–पत्रिकाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही

है । कवि वचन सुधा (1868), हरिश्चन्द्र चन्द्रिका (1873) में भारतेन्दु जी ने पुस्तक–समीक्षा के रूप में आलोचना को नया रूप दिया । इनके अतिरिक्त 'हिन्दी प्रदीप' (1877), 'भारतमित्र' (1877), 'ब्राह्मण' (1883), 'आनन्द कादम्बिनी' (1881) आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित आलोचनाएं शुरू में परिचयात्मक रही और फिर क्रमशः उनका स्तर गम्भीर होता गया । पं. बाल कृष्ण भट्ट जी ने 'हिन्दी प्रदीप' तथा पं. बदरी नारायण चौधरी जी ने 'आनन्द कादम्बिनी' में पुस्तकों की आलोचना प्रकाशित की । पं. कुन्दन लाल की 'कवि और चित्रकार' में भी 'नवीन ग्रन्थों की आलोचना' शीर्षक के साथ सामयिक पुस्तकों की आलोचनाएं प्रकाशित होती थीं । इस प्रकार भारतेन्दु युग में हिन्दी आलोचना में सत् साहित्य के प्रोत्साहन का भाव अधिक दिखाई देता है ।

भारतेन्दु युग में पुस्तकीय आलोचना के साथ ही पूर्ववर्ती लक्षण ग्रन्थीय आलोचना का रूप भी दिखाई देता हैं। जगन्नाथ प्रसाद भानु तथा मुरारिदान आदि की रचनाएं इसी का प्रमाण है ।

हिन्दी आलोचना की अविच्छन्न परम्परा का सूत्रपात द्विवेदी युग से प्रारम्भ हेाता है। इस काल में 1897 ई. से नागरी प्रचारिणी पत्रिका के प्रकाशन के साथ हिन्दी आलोचना के इतिहास का नया अध्याय प्रारम्भ होता है । इस पत्रिका के प्रथम वर्ष में पं. गंगा प्रसाद अग्निहोत्री का 'समालोचना', बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकार का 'समालोचनादर्श' व पं अम्बिका दत्त व्यास का 'गद्य काव्य मीमांसा लेखों के प्रकाशन से आधुनिक आलोचना के सिद्धान्तों को एक स्पष्ट आकार मिलना शुरू हुआ । सन् 1900 ई. में सरस्वती तथा सुदर्शन व 1902 ई. में समालोचक पत्रिकाओं के प्रकाशन के साथ हिन्दी आलोचना के विकास को विशेष गति मिली । 'सरस्वती' पत्रिका का इस क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान रहा । इसके प्रकाशन के प्रथम वर्ष में कार्तिक प्रसाद खत्री, किशोरी लाल गोस्वामी, राधाकृष्ण दास, बाबू श्याम सुन्दर दास तथा रत्नाकर जी सम्पादक समिति के सदस्य थे । इन सभी ने 'आदिक ग्रन्थादिको की यशोचित' शीर्षक से आलोचना का स्थाई स्तंभ प्रारम्भ किया 1903 ई. में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी सम्पादकीय दायित्व संभालने के साथ ही आलोचनात्मक साहित्य लिखने के लिए अत्यधिक प्रोत्साहन मिलना प्ररम्भ हुआ । स्वयं द्विवेदी जी ने पुस्तकों की परिचयात्मक आलोचना द्वारा हिन्दी आलोचना को नई दिशा दी । द्विवेदी जी के साथ ही मिश्रबन्धु, लाला भगवान दीन, पद्म सिंह शर्मा, किशोरी लाल गोस्वामी, कृष्णबिहारी मिश्र, बदरीनाथ भट्ट, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, मोहन लाल विष्णु लाल पंड्या ने हिन्दी आलोचना के विकास को विशेष गति प्रदान की । मिश्र बन्धुओं द्वारा 'मिश्रबन्धु विनोद' तथा 'हिन्दी नवरत्न' ग्रन्थ हिन्दी आलोचना के विकास को आधार प्रदान करते है । मिश्र बन्धुओ ने यद्यपि तुलनात्मक आलोचना की शुरूआत की पर उसको व्यवस्थित रूप पं. पद्म सिंह शर्मा ने दिया इस युग मे रीतिकालीन कवि 'देव और विहारी' को लेकर पं कृष्ण बिहारी मिश्र और लाला भगवानदीन जी ने खूब तुलना कर अपने–अपने पक्ष को सबल बनाने का प्रयास किया ।

द्विवेदी युग में ही बाबू श्याम सुन्दर दास ने साहित्यालोचन ग्रन्थ की रचना की । इसके साथ ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के आलोचनात्मक लेख इसी युग में प्रारम्भ हुए सन् 1901 ई में उनके साहित्य सम्बन्धी विचार सरस्वती में प्रकाशित हुए । 'आनन्द कादम्बिनी' में 'अपनी भाषा पर विचार' लेख से भी उनकी प्रखर आलोचना शक्ति का आभास मिल जाता है । यद्यपि शुक्ल जी की आलोचना की पूर्ण प्रखरता 1920 ई के पश्चात् दिखाई देती है पर उसका आभास 1901 ई से ही मिल जाता है ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के आविर्भाव के साथ ही हिन्दी आलोचना में एक नये युग का प्रारम्भ माना जाता है । पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी के अनुवाद ''भारतीय पक्ष को अपने ढंग से प्रस्तुत करने वाले और उसके मानदण्ड से देशी–विदेशी सभी प्रकार की विचार–सरणियो को माप लेने वाले सबसे पहले भारतीय समीक्षक शुक्ल जी ही है ।'' इससे निश्चित हो जाता है कि शुक्ल जी से ही हिन्दी आलोचना को निश्चित आदर्श का सिद्धान्त प्राप्त हुआ । उन्होंने सैद्धान्तिक, व्यावहारिक तथा ऐतिहासिक आलोचना के रूप में अपने कृतित्त्व में हिन्दी आलोचना का विकास किया चिन्तामणि (भाग 1,2) तथा 'रसमीमांसा' के साथ ही हिन्दी साहित्य का इतिहास, जायसी श्री ग्रन्थावली तथा भ्रमर गीतसार की भूमिका और गोस्वामी तुलसी दास में उनकी आलोचना के विविध रूप दिखाई देते है । शुक्ल जी ने 'रस' के पोषक तत्त्व के रूप मे रीति, अलंकार, गुण आदि से स्वीकार करते हुए काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था पर अधिक बल दिया । शुक्ल जी रस, नीति के साथ–साथ लोकमंगलवादी आलोचक माने जाते हैं ।

शुक्ल जी के समसामयिक हिन्दी आलोचक थे बाबू श्यामसुन्दर दास, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, कृष्ण शंकर शुक्ल, ब्रजरत्न दास, रामनरेश त्रिपाठी, पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, गिरिजा दत्त शुक्ल 'गिरीक्ष' बाबू गुलाब राय प्रभृति विद्वानों के नाम आते हैं । सेठ कन्हैयालाल पोद्दार तथा रमाशंकर शुक्ल जी ने बाबू श्यामसुन्दर दास जी के अनुसार ही हिन्दी आलोचना के सैद्धान्तिक पक्ष को महत्ता दी । बख्शी जी ने 'विश्व साहित्य' के माध्यम से सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया । सेठ गोविन्द दत्त, रामकुमार वर्मा, पुरुषोतम लाल आदि ने भी परिचयात्मक आलोचना ग्रन्थों की रचना की ।

शुक्ल जी के समय में ही हिन्दी साहित्य में 'छायावादी' धारा का वर्ग दिखाई देता है । इस 'वाद' विशेष का सम्यक मूल्यांकन, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' व महादेवी वर्मा जी द्वारा अपनी कृतियों की भूमिकाओं या अलग से लिखकर भी छायावादी कविता के सौन्दर्य पक्ष का सम्यक् विश्लेषण किया गया ।

द्विवेदी युग के पश्चात् छायावादी/स्वच्छन्दतावादी काल में हिन्दी आलोचना का प्रतिनिधित्व पं. नन्द दुलारे वाजपेयी द्वारा होता है । आपने भारतीय रस सिद्धान्त को पाश्चात्य संवेदनीयता से जोड़कर हिन्दी आलोचना पथ को एक नई दिशा दी । छायावादी/ स्वच्छदतावादी आलोचना को पाश्चात्य रोमांटिक आलोचना के साथ जोड़ा जाता है । इस आलोचना को सौष्ठववादी आलोचना भी कहा जाता है । सौन्दर्य सृष्टि को काव्य का उद्देश्य मानते हुए जयशंकर प्रसाद जी ने 'काव्य कला तथा अन्य निबन्ध' सग्रंह में अपनी मान्यताएं स्पष्ट की इस काल में आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, शांति प्रिय द्विवेदी, डॉ. नगेन्द्र,, देवराज, डॉ. रामकुमार वर्मा, रामधारी सिंह 'दिनकर', जानकी वल्लभ शास्त्री, लक्ष्मी नारायण सुधांशु आदि विद्वानों के नाम भी आते हैं । जिन्होंने हिन्दी आलोचना के विविध रूपों का संज्ञप लिया । इसी समय में आलोचना का प्रभाववादी रूप भी दिखाई देता है। इस में सहृदय आलोचक कृति के प्रभाव को ग्रहण करता है । शान्ति प्रिय द्विवेदी, पं. भगवत शरण उपाध्याय आदि इस पद्धति के समर्थक हैं ।

छायावादी आलोचना के बाद प्रगतिवादी समाजशास्त्रीय आलोचना, मनोवैज्ञानिक–मनोविश्लेषणवादी–अन्तश्चेतना वादी आलोचना तथा ऐतिहासिक/सांस्कृतिक आलोचना पद्धतियों का विकास हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में दिखाई देता है । इनके साथ ही शास्त्रीय एवं सैद्धान्तिक आलोचना के साथ–साथ गवेषणात्मक/शोधपरक आलोचना का विकास भी उल्लेखनीय है ।

प्रगतिवादी, समाजशास्त्रीय आलोचना का मुख्य आधार रहा । मार्क्सवादी दर्शन में द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सिद्धान्तों का प्राधान्य रहा । इसमें पूंजीवाद को मिटाने और साम्यवाद की स्थापना के लिए सर्वहारा वर्ग के प्रति सहानुभूति का भाव अधिक गहरा है। इस दृष्टि से कृति की आलोचना करने वालों में शिवदान सिंह चौहान, डॉ रामविलास शर्मा, रांगेय राघव, नामवरसिंह का महत्वपूर्ण स्थान है । अमृतराय की आलोचना भी मार्क्सवादी चिन्तन का प्रयास दिखाई देता है । प्रकाश चन्द्रगुप्त की जनवादी चेतना मे भी मार्क्स की विचार धारा प्रभावी है ।

मनोवैज्ञानिक/मनोविश्लेषणात्मक –अन्तश्चेतनावादी आलोचना का उदय फ्रायड के मनोविश्लेषणात्मक विचारों से प्रभावित है । कला और साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त होने वाली अवचेतन मन की दमित वासनाएं अर्द्ध चेतन में प्रविष्ट होकर कृतित्त्व की प्रेरणा बनती है । रचनाकार की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति उन्ही मान्यताओं को कृति के माध्यम से अभिव्यक्त होती है । इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य की आलोचना करने वालों मे इलाचन्द्र जोशी, देवराज तथा 'अज्ञेय' आदि के नाम आते हैं । डॉ नगेन्द्र रसवादी होते हुए भी मनोविज्ञान को रसवाद का पूरक माना है ।

हिन्दी के ऐतिहासिक/ सांस्कृतिक आलोचना में कृति का मूल्यांकन इतिहास एवं संस्कृति के विस्तृत फलक को दृष्टि में रख कर किया जाता है । आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, पं. परशुराम चतुर्वेदी, पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि ने इसी दृष्टि से हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में हिन्दी साहित्यिक कृतियों को परखा है । ऐतिहासिक आलोचना मानव–समुदाय की चिन्तन शीलता को देश काल के अनुसार परिवर्तित होते हुए भी परम्परा से बंधा हुआ देखा है । इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य में शोधात्मक विश्लेषण भी प्रस्तुत हुए हैं ।

द्विवेदी युगीन शास्त्रीय सैद्धान्तिक आलोचना की प्रवृत्ति हिन्दी साहित्यतिहास में परवर्ती काल में भी दिखाई देती है । इस क्षेत्र में आलोचकों ने रीतिकालीन लक्षण ग्रन्थों की परम्परा में नवीन विवेचना पूर्ण लक्षण ग्रन्थों की रचना की । साथ ही कुछ विद्वानों ने संस्कृत और पाश्चात्य काव्यशास्त्र का समन्वय कर नवीन सिद्धान्त ग्रन्थों का प्रणयन किया। इस पद्धति में लक्ष्मीनारायण सुधांशु, राम कुमार वर्मा, सीताराम चतुर्वेदी, एस. पी. खत्री, केसरी नारायण शुक्ला, धीरेन्द्रवर्मा, तारक नाथ बाली, रवीन्द्र सहाय वर्मा, भगीरथ मिश्र, आदि विद्वानों के नाम लिए जा सकते हैं ।

अनुसंधान परक आलोचना का विकास विभिन्न विश्व विद्यालयों के शोधपरक उपाधियों (पी एच. डी, डी. फिल., डी. लिट्) के लिए प्रस्तुत होने वाले शोध प्रबन्धों के रूप में हुआ । हिन्दी में भारतीय विश्वविद्यालयों मे शोध–उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध प्रबंध का प्रारम्भ 1934 ई में पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के शोध के कार्य से निरन्तर आज तक चल रहा है ।

33.4 सारांश

1947 ई में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हिन्दी में विभिन्न प्रभावों के कारण यथार्थवाद, आधुनिकतावाद, अतिआधुनिकतावाद आदि विभिन्न वादों का प्रादुर्भाव हुआ है । इस नवीन चेतना के साहित्यिक कृतित्त्व की आलोचना के लिए भी नये प्रतिमानों की खोज को आवश्यक माना गया । इस दृष्टि से गिरिजा कुमार माथुर, रघुवंश, लक्ष्मीदत्त वर्मा आदि विद्वानों के कार्य को देखा जा सकता है । विजय देव नारायण साही, रंजीत साहा, जगदीश गुप्त राम स्वरूप चतुर्वेदी आदि ऐसे विद्वान हैं जिन्होंने काव्य आलोचना पद्धतियों को गति दी है । रमेश कुन्तल मेघ सौन्दर्य शास्त्र के आधार पर साहित्यिक रचनाओं की परख करते हैं । इन्द्रनारायण दास आधुनिक दृष्टि कोण के परिधायक का रवीन्द्र श्रीवास्तव, पंडित शशि भूषन 'शीतांषु' शैली वैज्ञानिक पद्धति से कृति को परखने का प्रयास करते हैं । सन् 1960 ई के बाद हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में यह अनुभव किया गया कि सृजन कार्य की पहचान केवल कला के स्वायत्त संसार के नियमों में नहीं हो सकती और न केवल रचना को बाहरी सामाजिक मानदण्डों से परखा जा सकता है बल्कि रचना के भीतर–बाहरी तत्वों की समग्र परख के लिए दोनों में सन्तुलित मूल्यांकन दृष्टि का तालमेल रखती है । इस दृष्टि से मैनेजर पांडेय, सुधा जितेन्द्र, मनमोहन सहगल, ब्होरा, आनन्द प्रकाश दीक्षित, गजानन माधव मुक्तिबोध, चन्द्रभानु सोनवणे, अशोक वाजपेयी, लालचंद्र गुप्त मंगल, प्रभृति विद्वानों के कार्य को देखा जा सकता है । अब 21 वीं सदी से प्राचीन मान्यताओं के सन्दर्भ के नए परिवेश के साथ जोड़कर ही साहित्यिक आलोचना का विकास हो रहा है । इस सन्दर्भ में विभिन्न विश्वविद्यालयों के हिन्दी विषयों में विशेषकर तथा साथ ही मुक्त रूप से भी हिन्दी से वो कार्य कर रही हैं । विभिन्न पत्रिकाएं भी इस कार्य में सहायक हैं ।

33.5 कठिन शब्द

1 सैद्धान्तिक 2 लक्षण 3 समन्वय 4 परिवर्तित 5 समुदाय 6 मानदंड़ 7 प्रवृत्ति 8 स्वायत्त 9 सौन्दर्य 10 अन्तर्मुखी

33.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्रश्न – आलोचना शब्द की व्युत्पति कहां से हुई है, स्पष्ट करते हुए इसके विभिन्न भेदों पर प्रकाश डालें।

_____

_____

_____

_____

प्रश्न – हिंदी आलोचना के विकास के विविध चरण कौन से हैं ? विस्तार पूर्वक चर्चा कीजिए।

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न – आलोचना के विविध रूपों पर प्रकाश डालें।

_____

_____

_____

_____

_____

प्रश्न – आलोचना के विविध रूपों पर प्रकाश डालें।

_____

_____

प्रश्न – आलोचना का उद्देश्य क्या होता है स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न – हिंदी आलोचना के उद्‌भव व विकास पर टिप्पणी करें।

प्रश्न – हिंदी की सैद्धान्तिक आलोचना पर प्रकाश डालें।

_____

_____

_____

_____

_____

33.7 पठनीय पुस्तकें

1. नामवर सिंह – छायावाद, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1990
2. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी – ग्रंथावली, भाग–3, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1981
3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2050
4. रामस्वरूप चतुर्वेदी – हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, 1993
5. डॉ. नगेन्द्र (सं.) – हिन्दी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली 1982
6. डॉ. जयकिशन प्रसाद – हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा।
7. डॉ. नामवर सिंह – आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, राजकमल प्रकाशन – नई दिल्ली,

.....

कथेत्तर गद्य साहित्य : जीवनी

34.0. भूमिका

34.1. उद्देश्य

34.2. प्रस्तावना

34.3. जीवनी : परिभाषा एवं स्वरूप

34.4. जीवनी : परम्परा और विकास

34.5. जीवनी : तत्व

34.6. प्रश्नावली

34.7. सन्दर्भग्रन्थ

34.1. उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

- जीवनी साहित्य के बारे में जानेंगे।
- जीवनी के उद्‌भव और विकास से अवगत होंगे।
- जीवनी साहित्य की परंपरा से परिचित होंगे।
- जीवनी के विभिन्न तत्वों से अवगत होंगे।

34.2. प्रस्तावना

किसी व्यक्ति के जीवन की वास्तविक घटनाओं पर आधारित कलात्मक प्रस्तुति जीवन साहित्य कहलाता है। यह मनुष्य के आंतरिक एवं बाहरी रूप को कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करती है। जीवनी में संपूर्ण जीवन का चित्रण होता है। सत्यता, प्रासादात्मकता, रोचकता, वैज्ञानिकता, संक्षिप्तता, सुसंगठितता आदि का ध्यान जीवनी लिखते समय रखा जाता है।

जीवन की विभिन्न तात्कालिक परिस्थितियों एवं घटनाओं का विवेचन भी जीवनी के माध्यम ये किया जाता है।

34.3. परिभाषा एवं स्वरूप

साहित्य में जीवन का विस्तृत वर्णन होता है, जीवन का गूढ़तम समस्याओं एवं उलझनों का उसके सौन्दर्य और विभूतियों का साहित्य में स्पष्ट रूप से विवेचन होता है। इसीलिए जीवन और साहित्य का धनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्य का मूल प्रेरणा स्त्रोत मनुष्य जीवन है और साहित्य जीवन को व्यक्त करने का साधन है।

वैसे तो साहित्य के सब रूपों में किसी न किसी रूप में मानव जीवन का उल्लेख होता है। अतः सारा ही साहित्य जीवनी है। यहाँ हमारा अभिप्राय 'जीवनी' के सामान्य अर्थ से नहीं है प्रत्युत व्यक्ति विशेष जी जीवनी से है। इसके लिए सामान्य मानव समाज में से किसी विशिष्ट व्यक्ति को चुन लिया जाता है और अधिक गहराई तथा वास्तविकता से उसके जीवन की घटनाओं एवं परिस्थितियों का अध्ययन किया जाता है। जब लेखक इस अध्ययन के परिणामस्वरूप अपनी प्रतिक्रियाओं को इतिहास रूप में वर्णित करता है तब वह हर प्रकार के साहित्य का निर्माण करता है अपने अर्थ में जीवनी शब्द इसी साहित्यिक रूप का परिचायक है।

वास्तव में जीवनी घटनाओं का अंकन नहीं वरन् चित्रण है। वह साहित्य की विधा है और उसमें साहित्य और काव्य के सभी गुण हैं। वह एक मनुष्य के अन्तर और बाह्य स्वरूप का कलात्मक निरूपण है। ''जिस प्रकार चित्रकार अपने विषय का एक ऐसा पक्ष पहचान लेता है जो विभिन्न पक्षों में ओतप्रोत रहता है और जिसमें नायक की सभी कलाएँ और छटाएँ समन्वित हो जाती हैं उसी प्रकार जीवनीकार अपने नायक के आपे की कुन्जी समझकर उसके आलोक में सभी घटनाओं का चित्रण करता है।'' इस परिभाषा के अनुसार 'जीवनी' में लेखक के आन्तरिक और बाह्य स्वरूप का विवेचन कलात्मक रूप से होता है।

जीवन चरित्र जीवन की ऐतिहासिक घटनाओं का स्थूल साहित्यिक उल्लेख भी नहीं है, जीवनी साहित्य एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन है। ''मनुष्य की मुद्रा और भावना उसके मन की क्रिया–प्रतिक्रियाएँ और जीवन के क्रम में उसके मस्तिष्क के विकास का अध्ययन एक अत्यंत गूढ़ विषय है। मनुष्य का व्यक्तित्व मानसिक क्रियाओं का परिणाम है। इन मानसिक क्रियाओं का अध्ययन और उनका सफल चित्रण जीवनी साहित्य का अनिवार्य विषय है।

जीवनी शब्दों में संगृहित ज्ञात प्रमाण है। इसमें मानवीय स्वभाव एवं भावनाओं का ऐसा प्रवाहित रूप से दृढ़ वर्णन होता है जैसे किसी पारे जैसा तरल पदार्थ के बहाव का होता है।

इससे स्पष्ट है कि जीवनी में मनुष्य जीवन के उत्थान पतन, सभी पक्षों का धारावाहिक रूप से वर्णन होता है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जीवनी में लेखक व्यक्ति के आन्तरिक और बाह्य व्यक्तित्व का स्पष्ट रूप से विवेचन करता है, उसके वर्णन में एक विशेष प्रकार की कलात्मकता होती है, जो उसे गद्य की अन्य विधाओं से पृथक करती है। इतिहास की अपेक्षा इसमें अधिक वैयक्तिकता होती है और साहित्य के अन्य रूपों की अपेक्षा इसमें वास्तविकता होती है। अतः जीवनी की परिभाषा इस प्रकार हो सकती है – जब कोई लेखक कुछ वास्तविक घटनाओं के आधार पर श्रद्धेय व्यक्ति की जीवनी कलात्मक रूप से प्रस्तुत करता है तो साहित्य का वह रूप 'जीवनी' कहलाता है।

34.4. परम्परा और विकास

भारतीय साहित्य में जीवनी लिखने की वैसी वस्तुपरक परम्परा नहीं रही है जैसी कि पाश्चात्य देशों में पायी जाती है। कहने मात्र के लिए तो स्वतंत्रता–प्राप्ति से पूर्व भी हिन्दी–साहित्य में जीवन चरित कहलायी जाने वाली कुछ कृतियाँ मिल जाती हैं, किन्तु सही अर्थों में जीवनी में निरूपित चरित्र नायक के प्रति वस्तुपरक दृष्टिकोण तथा जीवनी लेखन का कलात्मक अभिव्यक्ति का उनमें नितान्त अभाव है। इसके विपरीत पश्चिमी देशों में ईसा की प्रथम–द्वितीय

शताब्दी में ही ईसाई संतों, राजनीतिक व्यक्तियों, सुप्रसिद्ध साहित्यकारों तथा वरिष्ठ पत्रकारों की न केवल आधिकारिक जीवनियाँ ही लिखी गयी हैं, अपितु सर्जनात्मक कला की दृष्टि से भी वे साहित्य की अन्य किसी भी विधा से कम महत्वपूर्ण नहीं है। इस तथ्य की पुष्टि करते हुए अमृतराय ने लिखा है, ''यह एक अटल सच्चाई है कि हमारे यहाँ जीवनियों का एक सिरे से अकाल है, जबकि योरप की ज़बानों में यह चीज़ आसमान पर पहुँची हुई है। कोई बड़ा–साहित्यकार नहीं है, कलाकार नहीं है, वैज्ञानिक नहीं है, जननायक नहीं है, जिसकी कई–कई जीवनियाँ एक से एक अच्छी न हों।''

भारत में जीवनी साहित्य के उद्‌भव एवं विकास की कमी के प्रमुख कारण भारतीय जीवन–दृष्टि में खोजे जा सकते हैं। विश्वहित की भावना ही सदैव जीवन का आदर्श रहा है। आत्म प्रकाशन के स्थान पर आत्मगोपन को महत्व रहा है, जबकि जीवनी साहित्य गोपन के स्थान पर प्रकाशन में विश्वास रखता है। कृष्णानन्द गुप्त ने इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है, ''हमारे देश के प्राचीन साहित्यकारों ने अपने विषय में कभी कुछ कहने की आवश्यकता नहीं समझी। यहाँ तक कि दूसरों के सम्बन्ध में भी वे सदैव चुप रहे हैं। इसी से हमारे यहाँ आधुनिक युग में जिसे इतिहास कहते हैं, वह नहीं है, जीवन चरित भी नहीं है और आत्मकथा नाम की तो चीज़ बिलकुल ही नहीं है।'' इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि भारतीय जीवन–दृष्टि व्यष्टिमूलक होने के स्थान पर समष्टिमूलक रही है। जीवनी के इस अनिवार्य तत्व 'व्यष्टिवाद' की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए विश्वनाथप्रसाद सिंह ने लिखा है, ''जीवनी और आत्मकथा के लिए लौकिक दृष्टिकोण के अतिरिक्त व्यष्टिमूलकता भी होनी चाहिए, जिसका अभाव लौकिक संस्कृत में भी रहा। भारतीय मनीषियों की चेतना इस काल में भी समष्टिमूलक ही रही। वे समष्टि में ही अपना व्यष्टि विलीन कर देने के पक्षपाती थे।'' इसी चिन्तन के फलस्वरूप संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य में जीवनी–साहित्य का अभाव रहा। हिन्दी–जीवनी के विकास को इस प्रकार अंकित किया जा सकता है –

(क) आरम्भिक काल

हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल में जीवनी का प्रारम्भिक रूप चरितकाव्यों के रूप में देखा जा सकता है। सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक दृष्टि से यह युग विरोधों तथा व्याघातों के युग रहा है। इस युग में समाज में अनेक अन्तः–विरोधी कुरीतियाँ एवं विसंगतियाँ पनप रही थी, धार्मिक क्षेत्र में रूढ़िवादी तत्त्वों और गतिशील तत्त्वों में द्वन्द चल रहा था, राजनितिक दृष्टि से भारत अनेक छोटे–छोटे राज्यों में विभक्त था जिनमें प्रायः युद्ध–प्रिय और सुरा–सुन्दरी–सेवी शासकों का आधिपत्य था। वातावरण में तलवारों की खट–खट और पायलों की छम–छम का स्वर व्याप्त था। कवि लोग राजाओं के आश्रय में रहते थे और अपने आश्रय–दाताओं के शौर्यपूर्ण एवं विलासी व्यक्तित्व को अपनी काव्य साधना का इष्ट बनाकर, आजीविका कमाते थे। आदिकालीन कवियों ने अपने आश्रयदाताओं के गुणों का उत्कर्ष दिखाने के लिए ऐतिहासिक सत्य की अवहेलना की है, उनके वंश का गौरव दिखाने के लिए मूल पुरूषों की अप्रमाणिक तालिका गिनाई है और अपने चरितनायक को विजयी प्रदर्शित करने के लिए झूठे युद्धों और दिग्विजयों की कल्पना ही नहीं की, अपितु ऐतिहासिक तथ्यों को भी तोड़ा–मरोड़ा है। इसी कारण आलोच्य युग को 'चारण–काल' भी कहा जाता है। इस युग के चारणों द्वारा रचित ऐतिहासिक ग्रन्थों को 'ऐतिहासिक चरित काव्य' कहा जाता है जिसमें से 'पृथ्वीराज रासो', 'हम्मीर रासो', 'जयचंद प्रकाश' इत्यादि प्रमुख हैं।

(क) मध्यकाल

हिन्दी–साहित्य के मध्यकाल में संत, महात्माओं एवं भक्तों के जीवन चरित लेखन की प्रवृति को बड़ा प्रोत्साहन मिला। आलोच्य युग के प्रारम्भ में ही मुस्लिम शासक अलाउद्दीन खिलजी द्वारा उत्तरी भारत पर आधिपत्य स्थापित कर लेने के पश्चात परजित हिन्दू राजाओं तथा हिन्दू जनता के लिए ईश्वर–भक्ति की शरण में जाने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह गया था। अतः इस युग में भी अनेक महात्मा अवतरित हुए, जिन्होंने हिन्दुओं के भग्न हृदय को

सम्भाला और उन्हें भक्ति–मार्ग की ओर अग्रसर होने के उपदेश दिए। इस युग में भक्ति की चार धाराएँ बह निकलीं –

1. संत काव्यधारा 2. सूफ़ी काव्यधारा 3. रामभक्ति काव्यधारा 4. कृष्णभक्ति काव्यधारा। आलोच्य युग में कबीर, तुलसी, सूर जैसे भक्त कवियों और मीरा जैसी भक्तिन कवयित्री की रचनाओं से हिन्दी–साहित्य धन्य और धनी हो उठा। इन महान् विभूतियों के चरित्रों ने न केवल देश, जाति तथा धर्म को प्रभावित किया, अपितु समस्त मानव जाति के लिए नवीन आदर्श मार्ग प्रशस्त किया। समय–समय पर हिन्दी–साहित्य में इन विभूतियों के प्रति श्रद्धा और सम्मान व्यक्त करने के लिए इनके जीवन चरित लिखे गये। संतों के जीवन चरित 'परचई' के नाम से विख्यात हुए, यथा 'कबीर जी की परचई', 'नामदेव जी की परचई', 'रैदास जी की परचई' तथा 'मूलकदास जी की परचई' इत्यादि। भक्तों के जीवनचरित–नाभादास कृत 'भक्तमाल' स्वामी गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' तथा 'अष्टसखान की वार्ता' इत्यादि में संकलित हैं।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' महाप्रभु वल्लभाचार्य के पौत्र तथा विट्ठलदास के चतुर्थ पुत्र स्वामी गोकुलनाथ द्वारा रचित है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' की भाँति 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' भी पुष्टिमार्गीय ब्रज भाषा–साहित्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना है। इसमें भी कवि ने दो सौ चौरासी वैष्णव भक्तों के सत्प्रसंगों को संकलित किया है जिसमें सम्बद्ध व्यक्तियों के प्रति गुरू–निष्ठा, भगवत्परायणता, अनन्यता, त्याग, सहिष्णुता तथा उदारता आदि पर प्रकाश पड़ता है। 'अष्टसखान की वार्ता' भी हिन्दी में वार्ता–लेखन में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इस रचना में अष्टछाप के आठ कवियों के चरित्र की कुछ विशेषताओं को एक स्थान पर संग्रहित किया गया है।

उपर्युक्त सभी मध्यकालीन वार्ता–ग्रन्थों की रचना का उद्देश्य वैष्णव चर्चा के माध्यम से पुष्टिमार्गी सिद्धान्तों के प्रति लोगों की आस्था उत्पन्न करके वैष्णव धर्म की वृद्धि एवं पुष्टि करना रहा है। इसलिए इनमें तथ्यात्मकता का अभाव है। अतः इन्हें जीवनी की कोटी में नहीं रखा जा सकता।

वार्ता–ग्रन्थों के अतिरिक्त इस काल के उत्तर पक्ष में आचार्य केशवदास द्वारा रचित 'वीरसिंह देव चरित' (1607ई०), ' जहाँगीर–जस–चन्द्रिका' (सन् 1621), सूदन कृत 'सुजान चरित' तथा चन्द्रशेखर कृत 'हम्मीर हठ' (सन्1845) भी चरितकाव्य–परम्परा में ही आते हैं।

(ग) आधुनिक काल

आधुनिक काल में जीवनी–साहित्य प्रचुर मात्रा में लिखा गया है। इसलिए इस काल में रचित जीवनी–साहित्य का समुचित एवं व्यवस्थित रूप में अध्ययन करने के लिए दो भागों में विभाजित करना उचित होगा –

1. स्वतंत्रता पूर्व काल में हिन्दी–जीवनी का विकास
2. स्वतंत्रता–प्राप्ति के उपरान्त हिन्दी–जीवनी का विकास

1. स्वतंत्रता पूर्व काल में हिन्दी–जीवनी का विकास –हिन्दी जीवनी का उत्कर्ष भी साहित्य की अन्य विधाओं के समान आधुनिक काल में भारतेन्दु हरिशचन्द्र के साहित्य सृजन से ही हुआ। इस युग में जीवनी–साहित्य ने अपनी पुरानी केंचुली को उतार फेंका और एक नव रूप में अपना परिचय दिया। जीवनी गद्य–साहित्य की एक विधा के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी। राष्ट्रीय पृष्ठभूमि ने जीवनी–लेखन के लिए एक विशिष्ट भावभूमि तैयार की और भारतेन्दु युग से लेकर स्वतंत्रता–प्राप्ति के पूर्व तक विभिन्न व्यक्तियों द्वारा लिखित अनेक जीवनियाँ प्रकाश में आयीं। इन जीवनियों में मुख्यतः संत–महात्माओं, राजा–महाराजाओं, विदेशी शासकों, समकालीन राष्ट्रीय नेताओं, देशभक्त–क्रान्तिारी युवाओं तथा सुप्रसिद्ध साहित्यकारों के जीवनचरित का अंकन राष्ट्रीय पृष्ठभूमि के आलोक में हुआ है।

'जागरण–युग' के प्रणेता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने साहित्य की अन्य विधाओं के साथ जीवनी–लेखन में भी अपनी कलम चलाई, उन्होने 'चरितावली' (रचनाकाल सन् 1871–1889) में विभिन्न क्षेत्रों के महत्वपूर्ण व्यक्तियों के संक्षिप्त

जीवन चरित्र प्रस्तुत किये। तदुपरान्त 'पंच पवित्रात्मा' (सन्1884) में मुस्लिम धर्माचार्यों–महात्मा मुहम्मद, मुहम्मद अली, बीबी फातिमा, इमाम हसन और इमाम हुसैन – की संक्षिप्त जीवनियां लिखीं। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जीवन चरित सम्बन्धी पाँच पुस्तकें लिखीं जिनमें से 'प्राचीन पंडित और कवि', 'सुकवि संकीर्तन' तथा 'चरित चर्चा' उल्लेखनीय हैं।

इस युग के धर्मिक और सामाजिक क्षेत्र के जन–नायकों में स्वामी सत्यानन्द कृत 'श्रीमद् दयानन्द प्रकाश' (सन्1918) एक महत्वपूर्ण जीवनचरित है। राजनीतिक पुरूषों की जीवनियों में शिवनारायण टण्डन द्वारा लिखित 'पंडित जवाहर लाल नेहरू' (1937) जगपति चतुर्वेदी द्वारा लिखित 'लाला लाजपत राय' (1933ई०), श्री ब्रजेन्द्र शंकर द्वारा लिखित 'श्री सुभाष बोस' (1938ई०), मन्मथनाथ गुप्त द्वारा लिखित 'चन्द्रशेखर आज़ाद' (1938ई०), रामनाथ लाल 'सुमन' द्वारा लिखित 'मोती लाल नेहरू (1939ई०)', तथा घनश्यामदास बिड़ला द्वारा प्रणित 'बापू' (1940ई०) उल्लेखनीय है। घनश्यामदास बिड़ला दीर्घकाल तक बापू जी के साथ रहे, इसलिए इनमें प्रामाणिकता के अधिक निष्ठा दिखाई पड़ती है। इसमें गाँधी जी विचारों एवं सिद्धान्तों पर ही अधिक बल दिया गया है।

साहित्यिक विभूतियों पर लिखी हुई जीवनियों में सर्वप्रथम जीवनी कार्तिकप्रसाद खत्री द्वारा लिखित 'मीराबाई की जीवन–चरित्र' (सन्1893) उपलब्ध होता है। हिन्दी साहित्य में सफल जीवनी–लेखक के रूप में श्री शिवनन्दन सहाय का पदार्पण एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। उनके द्वारा प्रणीत 'भारतेन्दु हरिशचन्द्र' विषय वस्तु की पूर्णता एवं भाषा–शैली की सरसता व रोचकता के कारण एक सफल जीवनी है। शिवनन्दन सहाय द्वारा लिखित है दूसरी जीवनी ' गोस्वामी तुलसीदास' सन् 1916 में प्रकाशित हुई। यह जीवनी दो खण्डों में विभक्त है। श्री बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा लिखित तथा सन् 1926 में प्रकाशित 'कविरत्न सत्यनारायण की जीवनी' एक उल्लेखनीय जीवनी है। इस जीवनी का महत्व इसलिए अधिक है कि इसमें साधारण व्यक्ति का जीवनचरित मानवीय रूप में मिलता है। श्रीमती शिवरानी देवी कृत 'प्रेमचन्द–धर मे' आलोच्यकाल की महत्त्वपूर्ण जीवनी है। यह जीवनी संस्मरणात्मक शैली में लिखी गयी है और इसका प्रकाशन सन् 1944 में हुआ है।

2. स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त हिन्दी–जीवनी का विकास –स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त के काल को हिन्दी–जीवनी का 'चरमोत्कर्ष काल' कहा जा सकता है। इस काल में हुए विश्व की वैज्ञानिक प्रगति तथा पाश्चात्य देशों में प्रचलित मानव विकास के विभिन्न आन्दोलनों – मार्क्सवाद, विकासवाद, फ्रायडवाद तथा अस्तित्ववाद इत्यादि ने व्यक्ति जीवन को दूर तक प्रभावित किया। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मान्यताएँ तीव्र गति से बदलने लगी। भौतिकता के प्रति आग्रह के कारण नैतिक मूल्यों में ह्रास प्रारम्भ हुआ। राष्ट्र के प्रति व्यक्ति के मोहभंग की यातनापूर्ण प्रक्रिया प्रारम्भ हुई और उसका परिचय जीवन की कठोर यथार्थता से होने लगा। फलतः मानव–जीवन का अध्ययन भी युगीन पृष्ठभूमि के आलोक में वस्तुपरक रूप में कलात्मक अभिव्यक्ति के साथ होने लगा। यही कारण है कि जीवनी लेखन कला की दृष्टि से इस काल की जीवनियाँ अद्वितीय बन पड़ी हैं।

इस काल में धार्मिक–सामाजिक महापुरूषों, राजनीतिक नेताओं, राष्ट्रीय क्रांतिकारियों तथा सुप्रसिद्ध साहित्यकारों की अनेक जीवनियाँ लिखी गयी हैं। धार्मिक–सामाजिक संत–महात्माओं की जीवनियों में पण्डित ललिताप्रसाद द्वारा लिखित 'श्री हरिबाबा' (सन् 1947), रंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर द्वारा लिखित श्री अरविन्द की जीवनी 'महायोगी', ब्रह्मचारी शिवानन्द आंजनेय द्वारा लिखित तथा सन् 1970 में प्रकाशित अध्यात्म जगत के ज्योतिर्मान नक्षत्र उड़िया बाबा की जीवनी 'हमारे महाराज जी' तथा सुप्रसिद्ध साहित्यकार डा० शिवप्रसाद सिंह द्वारा लिखित तथा सन् 1972 में प्रकाशित श्री अरविन्द की जीवनी 'उत्तरयोगी' उल्लेखनीय हैं।

राजनीतिक महापुरूषों के जीवनी लेखकों में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का नाम सर्वोपरि है। उन्होंने साम्यवादी विचाराधारा के दिशा पुरूषों को अपनी दृष्टि का केन्द्र बनाकर, सन् 1953 में 'स्तालिन' सन् 1954 में 'कार्लमार्क्स' तथा

'लेनिन' और सन् 1956 में 'माओत्से–तुंग' की जीवनियाँ लिखी। इन जीवनियों में उनके अन्तर्बाह्य जीवन का सूक्ष्म विवेचन–विश्लेषण प्रस्तुत न होकर उनके मार्क्सवादी विचारों को ही अधिक प्रतिष्ठता मिली है। लेखक की साम्यवादी विचारधारा में निष्ठा होने के कारण इन जीवनियों का उद्देश्य भी मार्क्सवादी नेताओं तथा मार्क्सवादी विचारधारा के प्रति लोगों की आस्था उत्पन्न करना रहा है। अन्य राजनीतिक महापुरूषों की जीवनियों में रामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा लिखित 'कार्लमार्क्स' तथा जयप्रकाश नारायण की जीवनियाँ अपना विशिष्ट महत्त्व रखती हैं। बेनीपुरी जी ने हृदय रस से आप्लावित होकर असीम आस्था के साथ अपने चरित नायकों के जीवन को उद्घाटित किया है। ओंकार शरद कृत सुप्रसिद्ध समाजसेवी नेता डा० राम मनोहर लोहिया की जीवनी 'लोहिया' (सन् 1971) और स्वर्गीय प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी जी जीवनी 'इन्दिरा गाँधी' (सन् 1885), श्रीशरण द्वारा लिखित तथा सन् 1985 में प्रकाशित श्रीमती इन्दिरा गाँधी की जीवनी 'धरती की बेटी आकाश हो गई' और डा० चन्द्रशेखर द्वारा लिखित तथा सन् 1985 में प्रकाशित ज्ञानी जैल सिंह की 'जीवन–यात्रा' शीर्षक जीवनी स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त के प्रमुख जीवनियाँ हैं।

इस लिखित राजनीतिक व्यक्तियों की जीवनियों पर सामग्र रूप में विचार करने पर स्वतः यह निष्कर्ष निकलता है कि स्वतंत्रता से पूर्व राजनीतिक व्यक्तियों की जीवनियों में जहां लेखक अपने चरितनायक के मानवीय पक्ष की उपेक्षा कर, उनके राजनीतिक कार्य–कलापों को ही जीवनी की समस्त उपलब्धि मानने की भूल कर रहे हैं, वहाँ स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात के काल में जीवनी–लेखकों ने अपने चरितनायकों के अन्तर्बाह्य स्वरूप को उद्घाटित करने का प्रशंसनीय प्रयास भी किया है।

इस युग में कुछ सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारियों की भी सफल जीवनियाँ लिखी गई हैं जिनमें से सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी विश्वनाथ वैषम्पायन द्वारा लिखित 'अमर शहीद चन्द्रशेखर आज़ाद' (1965ई०), प्रो० वीरेन्द्र सिन्धु द्वारा लिखित 'युग द्रष्टा भगत सिंह और उनके मृत्युंजय पुरखे' (1968ई०), धर्मवीर द्वारा लिखित 'लाला हरदयाल' (1970ई०) तथा मन्मथनाथ गुप्त द्वारा लिखित 'क्रान्तिदूत भगत सिंह और उनका युग' (1972ई०) प्रमुख जीवनियाँ हैं।

स्वतंत्रता–प्राप्ति के उपरान्त के काल में लिखित साहित्यिक व्यक्तियों की जीवनियों में सुप्रसिद्ध पत्रकार ऋषि जैमिनी कौशिक 'बरूआ' द्वारा लिखित तथा सन् 1960 में प्रकाशित 'माखन लाल चतुर्वेदी', अमृतराय द्वारा लिखित तथा सन् 1962 में प्रकाशित 'प्रेमचन्द–कलम का सिपाही', डा० रामविलास शर्मा द्वारा प्रणीत तथा सन्1969 में प्रकाशित 'निराला की साहित्य साधना' (प्रथम खण्ड, जीवन–चरित) और श्री विष्णु प्रभाकर द्वारा रचित तथा सन् 1974 में प्रकाशित शरत्चन्द्र की जीवनी 'आवारा मसीहा' प्रमुख हैं।

हिन्दी जीवनी के विकास–क्रम के उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि हिन्दी–जीवनी–लेखन का प्रारम्भ हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल में ही हो गया था। प्रस्तुत काल में ऐतिहासिक चरित–काव्यों के रूप में राजा–महाराजाओं की वीरता तथा शौर्य का अतिरंजनापूर्ण वर्णन मिलता है। 'मध्यकाल' में विभिन्न संतों तथा भक्तों के जीवनचरितों के माध्यम से उनके चरित्र के उज्जवल पक्षों का उद्घाटन करते हुए उनके प्रति श्रद्धाभिव्यक्ति हुई है। 'आधुनिक काल' को हिन्दी जीवनी का 'उत्कर्ष युग' कहा जा सकता है। इस युग में धार्मिक–सामाजिक तथा राजनीतिक पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप आत्मदैन्य का स्थान स्वाभिमान ने और अन्ध गतानुगतिकता का स्थान विवेक ने ले लिया। सर्वत्र व्यक्ति–विशेष के व्यक्तित्व–विशलेषण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई जिसकी अभिव्यक्ति के लिए साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति जीवनी भी गद्य–विधा के रूप में लिखी जाने लगी। इस काल में अनेक राजा–महाराजाओं, विदेशी शासकों, राष्ट्रीय नेताओं, देशभक्त क्रांतिकारी युवाओं तथा सुप्रसिद्ध साहित्यकारों के जीवनचरितों का अंकन राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि के आलोक में होने लगा। स्वतंत्रता–प्राप्ति के पश्चात् भारतीय जीवन–दृष्टि को पाश्चात्य व्यक्तिवादी आन्दोलनों–फ्रायडवाद, अस्तित्ववाद, स्वच्छंदतावाद इत्यादि ने अत्यन्त प्रभावित किया। फलतः भौतिकता के प्रति आग्रह के कारण नैतिक मूल्यों का ह्रास होने लगा। राष्ट्र के प्रति मोहभंग की प्रक्रिया

प्रारम्भ हुई। अब व्यक्ति–विशेष के गुण–दोषों का अध्ययन भी वस्तुपरक रूप में कलात्मक ढंग से होने लगा। इस काल में जीवनी–लेखन के तत्वों तथा मानदण्डों की दृष्टि से अनेक श्रेष्ठ जीवनियाँ लिखी गई।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि हिन्दी का जीवनी–साहित्य, जीवनी–लेखन–कला की दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध हो चुका है और परिणामात्मक तथा गुणात्मक दृष्टि से भी निरन्तर प्रगति की ओर अग्रसर है।

34.5. तत्व

1. वर्ण्य–विषय :

जीवनी साहित्य का यह महत्वपूर्ण तत्व है। इसमे नायक के सम्पूर्ण जीवन का विश्लेषण होता है। नायक के जीवन का यह विश्लेषण लेखक वास्तविक घटनाओं के आधार पर करता है। जहाँ तक नायक का प्रश्न है वह साहित्यिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं ऐतिहासिक कोई भी हो सकता है परन्तु उसका जनता में यथेष्ट स्थान होना आवश्यक है जिसके चरित्र को पढ़कर पाठक कुछ प्रेरणा एवं विशिष्ट ज्ञान गृहण कर सकें।

वर्ण्य विषय को उत्कृष्ट एवं सफल बनाने के लिए उसमें कुछ गुणों का होना आवश्यक है। सर्वप्रथम वर्ण्य विषय में सत्यता का होना आवश्यक है। जॉनसन ने भी इसको स्वीकार किया है। जहाँ इन्होंने अपनी पुस्तक 'One Mighty Torrent' में एक उत्कृष्ट जीवनी के गुणों के विषय में वर्णन किया है वहाँ इस गुण को इन्होंने सर्वप्रथम स्वीकार किया है। ''सर्वप्रथम मेरे विचार में जिसको कि हम कहते हैं सच्चाई है– चित्रित मानव जीवन के चरित्र की सच्चाई। बिल्कुल निष्पक्ष – जोकि न तो उसके पतन का दमन करे न ही उपेक्षा करे जो भी स्पष्ट रूप से समझता हो उसका वर्णन करे। ऐसे उद्देश्य के लिए विश्लेषण एवं समीक्षा की आवश्यकता है। केवल सीधे तत्व ही आवश्यक नही अर्थात् वे ही कार्य को पूरा नहीं कर सकते। विश्लेषण कार्य को पूरा करने के लिए अवश्य किया जाता है। कभी कभी केवल एक चारित्रिक विशेषता की सच्चाई को व्यक्त करने के लिए सारी सामाजिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठ–भूमि देनी आवश्यक हो जाती है और इससे कभी–कभी आत्मा की अत्यन्त कपटी समस्याओं को भी खोजा जाता है। इससे स्पष्ट है कि जीवनी एक मनोवैज्ञानिक प्रमाण पुस्तक ही नहीं है प्रत्युत एक कला है।

इससे स्पष्ट है कि वर्ण्य विषय में सत्यता का होना नितान्त आवश्यक है। 'सत्यता' से यहाँ अभिप्राय घटनाओं की सच्चाई है। लेखक वास्तविक घटनाओं के आधार पर ही नायक के जीवन का चरित्र चित्रित कर सकता है। नायक के चरित्र सम्बन्धी गुण–दोषों का स्पष्ट एवं विस्तृत रूप से वर्णन करने से ही लेखक द्वारा लिखी हुई जीवनी सफल कही जा सकती है। 'जीवनीकार सत्यपथ से कभी विचलित नहीं होता। यह हो सकता है कि दोष–दर्शन में उसके हृदय में सहृदयता की भावना ऐसी हो कि वह यथार्थता की रक्षा करता हुआ चरित्र नायक की दुर्बलताओं का परिहास न करें। जीवनीकार सत्य का पल्ला कभी नहीं छोड़ता। वह इस मर्यादा की रक्षा के लिए सब कुछ त्याग करने को तैयार रहता है। इस प्रकार विवेचन से स्पष्ट है कि वर्ण्य विषय में वास्तविकता एवं सत्यता का होना आवश्यक है। अन्य महत्वपूर्ण विशेषता जोकि वर्ण्य विषय को उत्कृष्ट बना सकती है वह है – प्रसादात्मकता व रोचकता। लेखक को नायक के सम्पूर्ण चरित्र का विश्लेषण इस ढंग से करना चाहिए जोकि पाठक को सरस एवं रोचक प्रतीत हो। नीरस जीवनी पढ़ने के लिए कोई भी पाठक नहीं तैयार होता है। इस प्रकार रोचकता के विषय में होना अत्यन्त आवश्यक है।

तीसरा महत्वपूर्ण गुण वर्ण्य विषय में वैज्ञानिकता का होना है। वही जीवनी सफल कही जा सकती है जिसमें नायक के सम्पूर्ण जीवन का मनोवैज्ञानिक रूप से विश्लेषण होता है। इस वैज्ञानिकता में त्रुटि आने से जीवन चरित्र भी दूषित हो जाता है। मनुष्य जीवन का क्रमिक विकास वैज्ञानिक रूप से प्रस्तुत करना ही जीवनी में लेखक का उद्देश्य होता है। यदि वैज्ञानिकता में कुछ कमी रह जाएगी तो वह जीवन चरित्र काल्पनिक हो जाएगा, इसलिए विषय–वर्णन

में वैज्ञानिकता का होना आवश्यक है।

वर्ण्य विषय में संक्षिप्तता एवं सुसंगठितता का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। लेखक को समस्त जीवन की घटनाओं का क्रमानुसार वर्णन करना चाहिए। ऐसा न हो कि उनमें एकसूत्रता का अभाव हो। घटना का इस ढंग से वर्णन करना चाहिए कि वह सम्पूर्ण जीवन पर प्रकाश भी डाले और साथ में संक्षिप्त रूप से भी कही गई हो।

अतः वही जीवनी सफल कही जा सकती है जिसके वर्ण्य विषय में उपर्युक्त गुणों का समावेश हो।

2. चरित्र–चित्रण :

जीवनी साहित्य का यह विधायक तत्व है। इसमें लेखक अपने नायक का चरित्र चित्रित ही नहीं करता अपितु उसका संश्लेषण–विश्लेषण एवं विवेचन भी करता है। नायक के आन्तरिक एवं बाह्य व्यक्तित्व का विश्लेषण चरित्र–चित्रण में किया जाता है।

जहाँ तक नायक के आन्तरिक विश्लेषण का प्रश्न है उसमें गुण भी होते हैं और दोष भी। गुणों का वर्णन तो सभी कर सकते हैं। पर दोषों का वर्णन कोई ही व्यक्ति कलात्मक रूप से कर सकता है। चारित्रिक त्रुटियों का वर्णन लेखक को इस ढंग से करना चाहिए कि पाठक को यह भी अनुभव न हो कि स्पष्ट एवं कड़वे रूप से नायक की दुर्बलताओं को ही वर्णन करना लेखक का लक्ष्य है। इसमें लेखक को अपनी ही सहानुभूतिशीलता का प्रयोग करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति में गुण–दोष होते हैं, यह अन्य बात है कि किसी में गुण अधिक हो और दोष कम पर दोनों का अवश्य समावेश होता है। वही जीवनी उत्कृष्ट कही जाएगी जिसमें नायक के चारित्रिक गुण–दोषों का विवेचन हो। यदि लेखक केवल नायक के गुणों का उल्लेख ही अपनी जीवनी में कर पाएगा तो वह एक आदर्श जीवनी बन जाएगी जिसका अनुसरण पाठक भी नहीं कर सकेंगे। इस मत का समर्थन ब्रजरत्नदास ने भी किया है।

"मनुष्य तभी मनुष्य रहेगा जब उसके दोष आदि भी प्रकट कर दिए जाएँगे। मनुष्य देवता नहीं है उसमें दोष रहेंगे, किसी में एक है तो किसी में कुछ और हैं। यदि एक महात्मा की जीवनी में से हम दोषों को निकाल देते हैं तो हम एक ऐसा निर्दोष आदर्श उपस्थित कर देते हैं जिसको अनुमान करने का लोग साहस छोड़ बैठेंगे :–
तात्पर्य यह है कि जीवन चरित्र में गुणों का विवेंचन करते हुए दोषों का भी, यदि हो, तो विश्लेषण अवश्य कर देना चाहिए।"

जहाँ तक बाह्य व्यक्तित्व का प्रश्न है लेखक को नायक की बाह्य वेशभूषा का ज्ञान भी पाठक को करवा देना चाहिए। उसके शारीरिक अवयवों का लेखक को अवश्य वर्णन करना चाहिए। बाह्यवेशभूषा के वर्णन से सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि पाठक नायक के समस्त व्यक्तित्व का अनुमान उसकी वेशभूषा से ही लगा लेता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जीवनी में लेखक नायक के आन्तरिक और बाह्य व्यक्तित्व का विश्लेषण स्पष्ट रूप से करता है।

3. देशकाल :

जीवनी साहित्य का यह भी एक महत्वपूर्ण तत्व है। वर्ण्य चरित्र किसी देश या काल में ही अपना जीवन व्यतीत करता है। इसलिए उसके समस्त जीवन की घटनाएँ देश और काल से सम्बन्धित होती हैं। परन्तु अन्य प्रकथनात्मक साहित्य की भाँति जीवनी साहित्य के देशकाल का चित्रण मुख्य रूप से नहीं किया जाता । जीवन साहित्य में तो व्यंग्य रूप से ही इसका चित्रण किया जाता है। जो भी चित्रण किया जाता है अर्थात् जिन भी परिस्थितियों का वर्णन लेखक जीवनी में कर पाते हैं वह नायक के व्यक्तित्व के अनुसार ही होता है।

अतः स्पष्ट है कि नायक के व्यक्तित्व को उभारने के लिए ही लेखक तत्कालीन परिस्थितियों का वर्णन करता है। यदि नायक कोई साहित्यिक व्यक्ति हैं तो उसकी जीवनी में हमें तत्कालीन साहित्यिक परिस्थितियों का अवश्य ही पाठक को ज्ञान होता। यदि नायक राजनैतिक व्यक्ति होगा तो हमें तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों का ज्ञान

हो जाएगा। इस प्रकार यहाँ देशकाल वातावरण से यही अभीप्राय है कि किन–किन परिस्थितियों का सामना करते हुए लेखक का नायक अपने व्यक्तित्व को स्पष्ट करता है।

4. उद्देश्य :

जीवनी साहित्य का यह भी एक महत्वपूर्ण तत्व है। प्रत्येक लेखक का कुछ न कुछ उद्देश्य ज़रूर होता है। वह कोई भी रचना निरूद्देश्य नहीं लिखता। इस प्रकार जीवनीकार का उद्देश्य भी उसकी रचना में प्रकारान्तर से समाविष्ट हो जाता है।

जीवन चरित हमें चरित नायक के शरीर और आत्मा में प्रवेश कराकर एक ऐसे सुरक्षित स्थान पर बैठा देता है जहाँ से हम निष्पक्ष दृष्टि से अधिकार के साथ व्यक्ति के कार्य व्यापार, विचारधारा और इन दोनों के समन्वय को ध्यान से देखकर किसी निर्णय पर पहुँच सकते हैं। व्यक्ति का हृदय और मस्तिष्क एक व्यवच्छेद अथवा अंगच्छेद की भाँति स्फटिक की तरह स्पष्ट दिखाई देता है। किसी ने कविता ही क्यों लिखी ? अथवा उपन्यास ही क्यों लिखा ? कोई राजनैतिक नेता ही क्यों बना ? किसी ने दर्शन क्षेत्र में ही क्यों विजय प्राप्त की ? कोई भक्त ही क्यों बना ? आदि असंख्य प्रश्नों का उत्तर मिल जाएँगें। अत्एव मनुष्य को समझने के लिए उसके जीवन चरित्र का अध्ययन आवश्यक है।

इससे स्पष्ट है कि जीवनीकार नायक के बाह्य एवं आन्तरिक व्यक्तित्व का स्पष्ट रूप से वर्णन करता है। नायक के चरित्र का संश्लेषण विश्लेषण एवं विवेचन करना ही लेखक का उद्देश्य है।

जीवन की घटनाओं के विवरण का नाम ही जीवनी नहीं है। लेखक जहाँ नायक के जीवन में छुपे उसके विकास को, उसके व्यक्तित्व के रहस्य को, उसकी मुख्य जीवन धारा को खोलकर पाठकों के सामने रख देता है वहाँ जीवनी लेखक की कला सार्थक होती है। ऊपर से मनुष्य के दिखाई देने वाले रूप को दिखाकर ही जीवनी लेख कला संतुष्ट नहीं होती। वह उस आवरण को भेदकर अन्तःस्वरूप और आन्तरिक सत्य को प्रत्यक्ष करती है।

जीवनीकार एक चित्रकार के सदृश अपने नायक के व्यक्तित्व को कुन्जी समझकर उसके आलोक में सभी घटनाओं का चित्रण करता है।

इस प्रकार जीवन चरित्र लिखने का एक उद्देश्य तो यह हुआ कि हम मनुष्य के बाह्य व्यक्तित्व के साथ–साथ उसके आन्तरिक व्यक्तित्व को भी जान जाते हैं। दूसरी बात यह है कि दुनिया में विशाल स्मारक भवन एवं मन्दिर आदि तो नष्ट हो जाते हैं, केवल अमर ग्रन्थ ही रह जाते हैं। किसी भी श्रद्धेय व्यक्ति की जीवनी अमरत्व की भावना को लेकर ही लिखी जाती है।

5. भाषा शैली :

शैली अनुभूत विषय–वस्तु के सजाने के उन तरीकों का नाम है जो उस विषय–वस्तु की अभिव्यक्ति को सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण बनाता है। जीवनी लेखन एक अत्यन्त दुरूह कला है। सम्पूर्ण व्यक्ति को शब्दों में चित्रित करना असाधारण कौशल का कार्य है। जीवन चरित्र लिखने की कला इसलिए भी अत्यन्त दुष्कर है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी एक अलग शैली होती है वह प्रत्येक दूसरे व्यक्ति से भिन्न होती है और प्रत्येक व्यक्ति का चरित्र चित्रण एक गूढ़ विषय होता है। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन चरित्र लिखना एक लम्बे समय के अध्ययन और मनन के पश्चात् ही सम्भव है। जीवन सम्बन्धी बातों की छानबीन विवेकपूर्ण परिश्रम का कार्य है। उत्कृष्ट जीवन चरित्र लम्बे और विवेकपूर्ण परिश्रम से ही तैयार हो सकता है। एक व्यक्ति के जीवन भर के वृतान्त को ऐसी रूप–रेखा में उपस्थित करना कि पाठक उस व्यक्ति को पहचान और समझ सके, सरल कार्य नही हैं। इसलिए जीवनी लेखन एक उत्कृष्ट और असाधारण कला है। इस प्रकार जीवनी शैली में कुछ विशेषताओं एवं गुणों का होना आवश्यक है जिससे वह उत्कृष्ट शैली कहला सकती है।

जीवनी शैली में सर्वप्रथम सुसंगठितता का होना आवश्यक है। जीवनीकार को नायक के जीवन की समस्त घटनाओं का इस ढंग से वर्णन करना चाहिए जिससे उनमें एकसूत्रता रहे। ''चरित्र लेखक को नायक की घटनाओं के पुंज में से अपेक्षित तथ्य को ग्रहण करने और अनपेक्षित को त्यागने में ऐसी बुद्धिमत्ता से काम लेना पड़ता है कि सामंजस्य कहीं भी बिगड़ने न पाये और सर्वत्र एकसूत्रता भी बनी रहे।'' इस प्रकार सुसंगठित शैली का होना अत्यन्त आवश्यक है। अन्य महत्वपूर्ण विशेषता जिसका जीवनी शैली में होना अत्यन्त आवश्यक है वह है – निरपेक्षता। जीवन चरित लेखक को बड़े सतुंलन की आवश्यकता होती है। उसका प्रत्येक विवरण पाठक के मन में सत्यासत्य धारणा बनाता है। यदि यह धारणा सत्य पर अवलम्बित न रही तो असत्य के समर्थन से जो हानि समाज में हो सकती है उसका डर सदैव बना रहेगा। अतएव जीवनीकार को निष्पक्ष, अनुभवी, वर्गहीन, दृष्टिकोण धारक, स्पष्ट और सहनशील तथा सहानुभूतिपूर्ण होना चाहिए। इस प्रकार शैली में लेखक के मस्तिष्क की तटस्थता का होना अत्यन्त आवश्यक है।

अन्य महत्वपूर्ण विशेषता सहृदयता का होना है। केवल यही एक ऐसा गुण है जिसके द्वारा हम अन्य व्यक्ति के व्यक्तित्व को समझ सकते हैं। कुछ भी हो हमें यह पूरी तरह से विश्वास है कि लेखक के वास्तविक चरित्र को हम तब तक नहीं समझ सकते जब तक कि लेखक में काफी मात्रा में सहानुभूतिशीलता नही है। ''जीवन में साहित्य को ऊँचा स्थान प्राप्त करवाने के लिए सहानुभूति सर्वप्रथम तत्व है। केवल सहानुभूति से ही हम दूसरी आत्मा को समझ सकते हैं।

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है भाषा ही भावाभिव्यक्ति का साधन है। विषयानुकूल एवं भावानुकूल भाषा ही उत्कृष्ट होती है। भाषा में प्रसाद गुण का होना आवश्यक है। जीवनी को आकर्षक एवं रूचिकर बनाने के लिए उत्कृष्ट भाषा का प्रयोग आवश्यक है। भाषा ही एक ऐसा साधन है जिससे चरित्र के वास्तविक स्वरूप का पता चलता है। इस प्रकार जीवन चरित्र लिखने में सरल, सुबोध, आकर्षक और रूचिकर भाषा का प्रयोग आवश्यक है।

34.6. प्रश्नावली

1. जीवनी साहित्य की परिभाषा एवं स्वरूप पर प्रकाश डालें।

_____

_____

_____

_____

_____

2. जीवनी साहित्य की परम्परा पर प्रकाश डालें।

_____

_____

_____

_____

3. जीवनी साहित्य के उद्‌भव एवं विकास पर प्रकाश डालें।

_____

_____

_____

_____

4. जीवनी के विभिन्न तत्वों का विवेचन कीजिए।

_____

_____

_____

_____

34.7. सन्दर्भ ग्रन्थ

1. हिन्दी साहित्य का इतिहासः– रामसजन पाण्डे।
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास :– हुकम चन्द राजपाल
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास :– रामचन्द्र शुक्ल
4. हिन्दी का गद्य साहित्य :– रामचन्द्र तिवारी
5. आधुनिक हिन्दी का जीवनीपरक साहित्य :– डॉ॰ शान्ति खन्ना
6. गद्य की नई विधाओं का विकासः– माजदा असद

.....

कथेत्तर गद्य साहित्य : आत्मकथा

35.0 भूमिका

35.1 उद्देश्य

35.2 प्रस्तावना

35.3 आत्मकथाः परिभाषा एवं स्वरूप

35.4 आत्मकथाः उद्‌भव एवं विकास

35.5 आत्मकथा : तत्व

35.6 प्रश्नावली

35.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

35.1 उद्देश्यः प्रस्तुत अध्याय के अध्ययनोपरांत आप

- आत्मकथा साहित्य के बारे में जानेंगे।
- 'आत्मकथा' के उद्‌भव एंव विकास से अवगत होंगे।
- आत्मकथा के विभिन्न तत्वों से अवगत होंगे।

35.2 प्रस्तावनाः–

किसी व्यक्ति द्वारा स्वयं लिखित अपने जीवन का इतिहास आत्मकथा कहलाता है। इसका आधार सच्चाई होती है। यह सच्चाई विज्ञान और इतिहास की सच्चाई से भिन्न है। अपने जीवन की घटनाओं को लेखक अपनी परिस्थितियों, परिवेश और दृष्टिकोण के अनुसार ही अभिव्यक्त करता हौ। आत्मकथाकार आत्मकथा के माध्यम से अपने जीवन की झांकी पेश करता है। इसलिए उसका युग और समय भी उसकी आत्मकथा में झाँकता हुआ नजर आता है।

35.3 आत्मकथा : परिभाषा एवं स्वरूप

आत्मकथा गद्य की नवीनतम विधाओं में आत्मकथा गद्य की नवीनतम विद्या है। आत्मचरित्र जीवनी साहित्य का उन्नतिशील अंग है जैसे इस शब्द से ही स्पष्ट है आत्मचरित्र वह चरित्र है जिसमें चरित्रनायक ने स्वयं अपनी जीवनी लिखी हो लेखक स्वयं अपना जीवन चरित्र लिखता है। ''विभिन्न देशों में जब से मनुष्य ने चेतना की अवस्था प्राप्त की है उसी समय से आत्मचरित्र जीवनी साहित्य का अंग हो गया। परन्तु कुछ लोग आत्मचरित्र की विशालता और महानता का क्षेत्र असीम कहने में संकोच नहीं करते। आत्मचरित्र में लेखक जीवन की घटनाओं की महत्ता और विशेषता को मनोभावों की क्रिया–प्रतिक्रिया को पहचानता है'' इससे स्पष्ट है कि आत्मकथा में लेखक अपने जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं को एवं अपनी मानसिक क्रिया–प्रतिक्रियाओं को स्वयं लिखता है।

आत्मकथा जीवन की या उसमें किसी एक भाग की वास्तविक घटनाओं को जिस समय में वह घटित हुई उन समस्त चेष्टाओं को पुनर्गठित करती है। इसका मुख्य सम्बन्ध आत्मविवेचन से होता है, बाह्य विश्व से नहीं यद्यपि व्यक्तित्व को अद्वितीय बनाने के लिए बाह्य विश्व को भी लिया जा सकता है और अनावश्यकतानुसार छोड़ा भी जा सकता है। जीवन को पुनर्गठित करना एक असम्भव कार्य है। एक ही दिन के आगे–पीछे का अनुभव असीम होता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आत्मकथा बीती हुई घटनाओं से बनती है। यह वैयक्तिव जीवन की कुछ स्थितियाँ बना देती है। उनमें सम्बन्ध स्थापित करती है और उनकी व्याख्या करती है। इसके साथ ही वह निःसंदेह और स्पष्ट रूप से अपने और बाह्य विश्व के निश्चित दृढ़ सम्बन्ध को प्रदर्शित करती है।''

इससे स्पष्ट है कि गद्य के बहुत से प्रकारों में आत्मकथा ही केवल एक ऐसा ढंग है जिसमें लेखक अपने विषय में एवं अपने व्यक्तिगत अनुभवों के विषय में कहता है।

इस प्रकार आत्मकथा में लेखक अपने ही व्यक्तित्व का निरीक्षण करता है। इसमें लेखक अपने बीते हुए जीवन का सिंहावलोकन और एक व्यापक पृष्ठभूमि में अपने जीवन का महत्व दिखलाता है। इसमें लेखक का उद्देश्य आत्मनिरीक्षण, आत्मविश्लेषण एवं आत्मकथन ही है। अतः एक व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का इतिहास है, इतिहास ही नहीं बल्कि इसमें वर्णित घटनाओं की क्रिया–प्रतिक्रियाओं का भी उल्लेख है। इस प्रकार विवेचन से स्पष्ट है कि आत्मकथा अपने ही ढंग का पुनर्कथित इतिहास है और इसके साथ ही व्यक्ति के बाह्य विश्व के साथ सम्बन्धित आत्मनिरीक्षण का प्रतिरूप है।

आत्मकथा गद्य का वह रूप है जिसमें लेखक व्यक्तिगत जीवन का विवेचन–विश्लेषण निःसंकोच रूप से प्रस्तुत करता है। इसके साथ ही वह बाह्य विश्व से सम्बन्धित मानसिक क्रियाओं–प्रतिक्रियाओं का विवेचन भी कलात्मक रूप से करता है।

आत्मकथा का लेखक सामान्य व्यक्ति नहीं होता। समाज में प्रतिष्ठा–प्राप्त व्यक्ति ही आत्मकथा लिखने में प्रवृत्त हो सकता है। सामान्यतः मानव अपने से उच्च एवं महान व्यक्ति के प्रति ही कुतूहल अनुभव करता है। जाति में, राष्ट्र में अथवा सम्प्रदाय विशेष में जो व्यक्ति अपने उदात्त चरित्र के कारण प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है, पार्श्ववर्ती जनसमुदाय इसके इतिवृत्त को जानने के लिए उत्सुक हो उठता है। ऐसी स्थिति में वह सम्मानित व्यक्ति अपने अनुयायिओं के सतत अनुरोध से प्रेरित होकर अपने जीवन के सम्बन्ध में उत्सुकता को शान्त करने के लिए 'आत्मकथा'

लिखता है। जिस व्यक्ति का अपने धर्म में, समाज में, सम्प्रदाय में, जाति में, राष्ट्र में कोई विशेष स्थान नहीं वह व्यक्ति अपने हृदय में आत्मकथा लिखने की प्रेरणा ही नहीं अनुभव करता। इससे स्पष्ट है कि 'आत्मकथा' का लेखक प्रतिष्ठित व्यक्ति ही होता है।

इस प्रकार विवेचन से स्पष्ट है कि आत्मकथा का लेखक सर्वमान्य एवं प्रतिष्ठित होना चाहिए। ऐसे व्यक्तियों द्वारा लिखा हुआ जीवन ही जनता को प्रेरणादायक एवं उत्साहवर्द्धक हो सकता है।

35.4 आत्मकथा : परम्परा और विकास

हिन्दी–साहित्य में आत्मचरित्र बहुत कम लिखे गये हैं। प्राचीनतम आत्मचरित्र बनारसीदास जैन लिखित 'अर्द्ध कथा' (1641 ई॰) है। इसके सम्बन्ध में सम्पादक का दावा है कि ''कदाचित् समस्त आधुनिक आर्यभाषा–साहित्य में इससे पूर्व की कोई आत्मकथा नहीं है।'' आत्मचरित्र लिखनेवालों में जिस निरपेक्ष और तटस्थ दृष्टि की आवश्यकता होती है, वह निश्चय ही बनारसीदास में थी। उसने अपने सारे गुण–दोषों को सच्चाई के साथ व्यक्त किया है। यह आत्मकथा पद्य में लिखी गयी है। इसके अतिरिक्त पूरे मध्यकाल में किसी अन्य आत्मकथा का उल्लेख नहीं मिलता। आत्मचरित्र लिखने की परम्परा का विकास आधुनिक युग में ही हुआ है। स्वामी दयानन्द लिखित 'जीवनचरित्र' (संवत् 1917 वि॰), सत्यानन्द अग्निहोत्री लिखित 'मुझ में देव–जीवन का विकास' (1910 ई॰), भाई परमानन्द लिखित 'आप बीती' (1921 ई॰), श्री रामविलास शुक्ल लिखित 'मैं क्रान्तिकारी कैसे बना' (1933 ई॰), भवानीदयाल संन्यासी कृत 'प्रवासी की कहानी' (1939 ई॰), डॉ॰ श्यामसुन्दरदास रचित 'मेरी आत्मकहानी' (1941 ई॰), राहुल सांकृत्यायन कृत 'मेरी जीवनयात्रा' (1946 ई॰), डॉ॰ राजेन्द्रप्रसाद रचित आत्मकथा (1947 ई॰), 'वियोगी हरि कृत मेरा जीवन–प्रवाह' (1948 ई॰), देवेन्द्र सत्यार्थी (1908–2003 ई॰) की तीन खण्डों में प्रकाशित आत्मकथाओं–'चाँद सूरज के बीरन' (1954 ई॰), 'नीलयाक्षिणी' (1985 ई॰) तथा 'नाच मेरी बुलबुल' (1999 ई॰) सेठ गोविन्ददास कृत 'आत्मनिरीक्षण' (तीन भाग, 1958 ई॰), पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' रचित अपनी खबर (1960 ई॰) तथा आचार्य चतुरसेन शास्त्री कृत मेरी आत्मकहानी (1963 ई॰) इस विषय की महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं। इसी क्रम में 'जीवन के चार अध्याय' (1966 ई॰) श्री भुवनेश्वर मिश्र माधव तथा आत्मकथा और संस्मरण (1967 ई॰) महामहोपाध्याय पं॰ गिरधर शर्मा चतुर्वेदी, की कृतियाँ भी स्मरणीय हैं। प्रेमचन्दजी ने 'हंस' के आत्मकथांक में कुछ साहित्यकारों की संक्षिप्त आत्मकथाएँ प्रकाशित की थीं। अब हिन्दी में आत्मचरित्र लिखने की कला विकसित हो गयी है। पिछले 30 वर्षों में कुछ महत्वपूर्ण आत्मकथाएँ प्रकाशित हुई हैं। इनमें 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' (1969 ई॰), नीड़ का निर्माण फिर (1970 ई॰), बसेरे से दूर (1978 ई॰) और दशद्वार से सोपान तक (1985 ई॰), (चार खण्डों में) हरिवंश राय बच्चन; 'यौवन के द्वार पर' (1970 ई॰), डॉ॰ देवराज उपाध्याय; अपनी कहानी (1970 ई॰), वृन्दावन लाल वर्मा; 'मेरी फिल्मी आत्मकथा' (1947 ई०) बलराज साहनी, 'घर की बात' (1983 ई०), डा० रामविलास शर्मा 'मेरा जीवन' (1985 ई॰), शिवपूजन सहाय; 'मेरे सात जनम' (तीन खण्डों में), हंसराज रहबर; 'मेरी जीवन धारा' (1987 ई॰), यशपाल जैन; 'तपती पगडंडियों पर पद यात्रा' (1989 ई॰), कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'; 'आत्म परिचय' (1988 ई॰), 'रेणु'; 'टुकडे, टुकड़े दास्तान' (1986 ई॰), अमृतलाल नागर; अर्धकथा (1988 ई॰), डॉ॰ नगेन्द्र 'तथा सहचर है समय' (1991 ई॰), रामदरश मिश्र की आत्मकथाएँ विशेष रूप से चर्चित हुई हैं। इस सन्दर्भ में कुछ नये प्रयोग भी हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। गर्दिश के दिन (1980 ई॰) शीर्षक से कमलेश्वर के संपादकत्व में हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के बारह रचनाकारों का 'आत्मकथ्य' एक साथ प्रकाशित हुआ है। अनेक रचनाकारों के आत्मकथ्यों का संकलन सम्पादन और प्रस्तुतीकरण एक प्रयोग ही है। इसमें इन रचनाकारों ने अपने जीवन की संघर्ष–कालीन

मानसिकता का उद्‌घाटन किया है। ये आत्मकथ्य पूर्ण आत्मकथा नहीं हैं। इनमें रचनाकारों का अलग–अलग व्यक्तित्व और अलग–अलग मिजाज व्यक्त हुआ है। कुछ ने जीवन से अधिक अपने रचना–संघर्ष को व्यक्त करने की कोशिश की है। किसी विशिष्ट रचनाकार की रचनाओं, उसके सम्पर्क में आने वाले मित्रों के संस्मरणों तथा उसके द्वारा लिखे गये पत्रों को आधार बनाकर किसी दूसरे आलोचक द्वारा उस विशिष्ट रचनाकार की आत्मकथा लिखने का प्रयत्न इस सन्दर्भ में किया जाने वाला दूसरे तरह का प्रयोग है। श्री विष्णुचन्द्र शर्मा द्वारा लिखी गयी मुक्तिबोध की आत्मकथा (1984 ई॰) इसी तरह का प्रयोग है। अपनी शैली के विषय में वे कहते हैं– ''स्व॰ पं॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास बाणभट्ट की आत्मकथा ने मुझे 'मुक्तिबोध' के रचनाकार की भीतरी और बाहरी तथा चेतना के स्तर पर त्रिभुजाकार संश्लिष्ट प्रक्रियाओं के कौशल को पहचानने का गुण सिखाया है। प्रेमचन्द के उपन्यास रंगभूमि से एक व्यक्ति कैसे देशव्यापी चरित्र में रूपान्तरित होता है, यह मैंने सीखा है। फ्रांसीसी जीवनी लेखक हेनरी ट्रायट की जीवनी तोलस्तोय ने मुझे 'मुक्तिबोध' की लक्ष्य के प्रति एकाग्रता और जीवन को बदलने की रचना–प्रक्रिया का पाठ पढ़ाया है। इसका यह अर्थ नहीं कि मैंने मुक्तिबोध की आत्मकथा के रूप में उपन्यास लिखा है। मैंने परम्परा से हटकर मुक्तिबोध की विश्वसनीय जीवनी लिखने की ही कोशिश की है।' कुछ इसी तरह का प्रयोग निराला की आत्मकथा (1970 ई॰) लिखकर सूर्यप्रसाद दीक्षित ने किया है। श्री 'अज्ञेय' की रचनाओं के आधार पर उनके व्यक्तित्व की सर्जना का कुछ ऐसा ही कार्य रामकमल राय ने किया है। पारम्परिक आत्मकथाओं में यौवन के द्वार पर आंशिक आत्मकथा है। इसमें यौवन की मानसिकता और आचरण को ही उभारा गया है। अपनी कहानी में वर्माजी के जीवन–संघर्ष के साथ ही उनकी कृतियों के रचना–सन्दर्भ भी उद्‌घाटित हुए हैं। 'मेरी फिल्मी आत्मकथा' में बलराज साहनी के फिल्मी जीवन के संघर्षों की कहानी कही गयी है। 'घर की बात' डॉ॰ रामविलास शर्मा की विस्तृत आत्मकथा है। इसमें उनके परिवार का सौ वर्षों का इतिहास उजागर हुआ है। परिवार, समाज की इकाई है। समाज से जुड़कर ही वह अपना विशिष्ट आकार ग्रहण करता है। इसलिए इस आत्मकथा में बहुत कुछ ऐसा भी है, जिसे समाज का इतिहास कह सकते हैं। लेखक के ही शब्दों में – ''घर की बात में वैज्ञानिक विवेचन कम, मानवीय सम्बन्धों का चित्रण अधिक है। पत्र, संस्मरण, रेखाचित्र आदि अनेक विधाओं में प्रस्तुत की हुई सामग्री ललित गद्य लेखन की दिशा में एक प्रयोग है। इसमें कंई पीढ़ियों के लेखक और वार्ताकार सम्मिलित हैं।'' मेरा जीवन में शिवपूजन सहाय का निजी जीवन तो उजागर हुआ ही है, अनेक साहित्यकारों, साहित्यिक घटनाओं और प्रसंगों का प्रामाणिक दस्तावेज भी सामने आया है। इसमें श्री सहाय द्वारा समय–समय पर अलग–अलग उद्देश्यों और दृष्टियों से लिखे गये संस्मणों को संकलित और क्रमबद्ध करके एक पुस्तक का रूप दिया गया है। यह संकलन का कार्य उनके सुपुत्र बालेन्दुशेखर मंगलमूर्ति ने किया है। इस आत्मकथा में अनेक अल्पख्यात साहित्यकारों की भी चर्चा है। हिन्दी–साहित्य के आधुनिक युग के इतिहास–लेखन में यह सामग्री बहुमूल्य सिद्ध होगी। हंसराज रहबर के जीवन में अनेक उतार–चढ़ाव आये हैं। उन्होंने सन् 1985 से 1989 तक के अपने जीवन–सन्दर्भों को तीन खण्डों में मेरे सात जनम शीर्षक से लिपिबद्ध किया है। इसमें आधुनिक साहित्यिक गतिविधियों के सम्बन्ध में भी मूल्यवान सामग्री सुरक्षित है। इधर 1998 ई॰ में इसका चौथा खण्ड प्रकाशित हुआ है। श्री यशपाल जैन गाँधीवादी विचारक और पत्रकार हैं। उन्होंने देश–विदेश की यात्राएँ की हैं। उनके सामने स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व से लेकर आज तक पूरा इतिहास खुला हुआ है। उन्होंने मेरी जीवनधारा में अपने जीवन के सुख–दुःख के साथ ही आधुनिक मूल्यहीन समाज की विसंगतियों को भी उजागर किया है। उनके अनुभव को सार्थक अभिव्यक्ति देने वाली कुछ सूक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं। वे कहते हैं– ''वे दिन लद गये जब आदमी का काम बोलता था, अब शब्द बोलता है।'' इस आत्मकथा में बनारसीदास चतुर्वेदी, जैनेन्द्र, विनोबा भावे आदि से जुड़े प्रसंग भी हैं, जो

इसे अतिरिक्त मूल्यवत्ता प्रदान करते हैं। कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' एक प्रसिद्ध स्वतन्त्रता सेनानी, पत्रकार और साहित्यकार हैं। उन्होंने सन् 1933 से 1947 तक विकास (स्वतन्त्रता–संग्राम के दिनों का तेजस्वी पत्र) के लिए जो संघर्ष किया था उसे ही तपती पगडंडियों पर पदयात्रा शीर्षक से लिपिबद्ध कर दिया है। इसमें उनके तेजस्वी, सिद्धान्तवादी और कर्मठ व्यक्तित्व के अनेक पक्ष उजागर हुए हैं। इसमें हिन्दी, पत्रकारिता के विशिष्ट चरित्र और स्वतन्त्रता–संघर्ष में उसकी भूमिका पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है। आत्मपरिचय (1988 ई॰) में 'रेणु' के ऐसे संस्मरणों को संगृहीत किया गया है, जिनमें उनका जीवन और उनका रचना–संघर्ष साकार हो उठा है। 'टुकड़े–टुकड़े दास्तान' में नागर जी ने कहा है– ''मैं पत्थर पर उकेरी गई ऐसी मूर्ति हूँ, जो कहीं–कहीं छूट गयी हो, वस्तुतः जीवन की लम्बी अवधि में समय–समय पर अपने विषय में उन्होंने जो कुछ लिखा था उसे यहाँ संकलित कर दिया गया है। यह क्रम–बद्ध व्यवस्थित आत्मकथा नहीं है, किन्तु इसीलिए यह संवेदना के स्तर पर अधिक मार्मिक और सजीव बन सकी है। इसमें कथा–रस भरा हुआ है। नागर जी का फक्कड़ाना अन्दाज पूरी रचना में व्याप्त है। यह आत्मकथा आधुनिक सांस्कृतिक जागरण का जीवन्त इतिहास कही जा सकती है। चारखण्डों में प्रकाशित हरिवंश राय 'बच्चन' की आत्मकथा स्वयं उन्हीं के शब्दों में एक 'स्मृति–यात्रा–यज्ञ' है। इसमें उनका आरम्भिक जीवन–संघर्ष, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के उनके अनुभव, केम्ब्रिज से डाक्टरेट करके लौटने पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय में उनकी उपेक्षा, उनकी अनुपस्थिति में उनके परिवार का असुरक्षित अनुभव करना, इलाहाबाद रेडियो स्टेशन पर हिन्दी प्रोड्यूसर का उनका अनुभव, विदेश मंत्रालय में आफिसर आन स्पेशल ड्यूटी (हिन्दी) के रूप में राजनयिक कार्यों में हिन्दी के प्रयोग को बढ़ावा देने के लिये किये गये उनके प्रयत्न, सचिवालय के सचिवों की मानसिकता तथा वहाँ से अवकाश लेने के बाद का उनका जीवन–अनुभव एक बृहद् उपन्यास की रोचक शैली में जीवन्त और साकार हो उठा है। इस 'स्मृति–यात्रा–यज्ञ' में प्रकारान्तर से स्वतंत्रता–प्राप्ति के बाद का हिन्दी–भाषा और साहित्य का पूरा संघर्ष ही मूर्त हो गया है। इस आत्मकथा में संस्मरण, यात्रावृत्त, कविता, साक्षात्कार, नैरेशन आदि अनेक विधाएँ और शैलियाँ गुंफित हैं। सबसे बड़ी बात है–लेखक के आत्म–स्वीकार का साहस। धर्मवीर भारती ने ठीक कहा है– ''हिन्दी में अपने बारे में सब कुछ इतनी बेबाकी, साहस और सद्भावना से कह देना–यह पहली बार हुआ है।'' डॉ॰ नगेन्द्र की 'अर्धकथा' में स्वयं उन्हीं के साक्ष्य पर कहा जा सकता है कि इसमें जीवन का 'अर्धसत्य' व्यक्त हुआ है। वे कहते हैं– ''यह मेरे जीवन का केवल अर्धसत्य है–अर्थात उपर्युक्त तीन खण्डों में मैंने केवल अपने बहिरंग जीवन का ही विवरण दिया है। जहाँ तक अंतरंग जीवन का प्रश्न है, वह नितान्त मेरा अपना है– आपको उसका समभागी बनाने की उदारता मुझमें नहीं है।'' 'जहाँ मैं खड़ा हूँ', 'रोशनी की पगडंडियाँ', 'टूटते–बनते दिन' और 'उत्तर पथ' इन चार खण्डों में लिखी गयी रामदरश मिश्र की आत्मकथा 'सहचर है समय' (1991 ई॰) के नाम से प्रकाशित हुई है। इसमें स्वतन्त्रता–प्राप्ति के बाद ग्रामीण परिवेश से निकलकर संघर्ष के रास्ते अपने जीवन का लक्ष्य तलाश करने वाले एक साहित्यकार का पूरा अनुभव–संसार, अपनी व्याप्ति में लगभग आधे भारत को समेटे हुए, साकार हो उठा है। इसमें रामदरश मिश्र ही नहीं आज की पूरी साहित्यिक पीढ़ी है; बनते बिगड़ते गाँव हैं, जिनका जीवन–रस सूख रहा है; उभरते हुए नगर हैं, जिनमें मनुष्यता मर रही है; और सैकड़ों सामान्य लोग हैं, जिनके रोजी–रोटी के लिये किए जाने वाले ऊपरी खुरदुरे संघर्ष के भीतर संवेदना और सहानुभूति की तरल धारा आज भी प्रवाहित हो रही है। सचमुच यह आत्मकथा आज के भारत के सामान्य आदमी के जीवन का दस्तावेज है। इसी परम्परा में इधर आपकी एक आत्मीय क्षणों को व्यक्त करने वाली रचना फुरसत के दिन (2000 ई॰) प्रकाशित हुई है। इसमें विश्वविद्यालय से अवकाश ग्रहण करने से लेकर सन् 1999 ई॰ तक के आपके निजी और पारिवारिक जीवन के दुःख–सुख का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया गया है। सुख इतना

कि मन कविता की पंक्तियाँ गुन–गुनाने लगे और दुःख इतना की उसकी जमी हुई पर्तों को पिघलाने के लिए अंधेरे को सहायक और साथी बनाना पड़े।

पिछले कुछ वर्षों में आत्म कथा–लेखन की परम्परा में एक उल्लेखनीय बात यह हुई है कि अब महिला लेखिकायें भी मुक्त मन से अपनी आत्मकथाएँ लिखने लगी हैं। काल–क्रम से देखा जाय तो 'दस्तक जिन्दगी की' (1990 ई॰) 'और मोड़ जिन्दगी का' (1996 ई॰) इन दो खण्डों में प्रकाशित प्रतिभा अग्रवाल की आत्मकथा सबसे पहले आती है। इसी क्रम में क्रमशः 'जो कहा नहीं गया' (1996 ई॰) कुसुम अंसल, 'लगता नहीं है दिल मेरा' (1997 ई॰) कृष्णा अग्निहोत्री, 'बूँद बावड़ी' (1999 ई॰) पद्मा सचदेव, 'कुछ कही कुछ अनकही' (2000 ई॰) शीला झुनझुनवाला, 'कस्तूरी कुण्डल बसै' (2002 ई॰) मैत्रेयी पुष्पा, 'हादसे' (2005 ई॰) रमणिका गुप्त, 'एक कहानी यह भी' (2007 ई॰) मन्नू भण्डारी, 'अन्या से अनन्या' (2007 ई॰) प्रभा खेतान (1942–2008 ई॰), 'गुड़िया भीतर गुड़िया' (2008 ई॰) मैत्रेयी पुष्पा, 'पिंजरे की मैना' (2008 ई॰) 'चन्द्रकिरण सौनरेक्सा' (1919–2009 ई॰), 'और–और–औरत' (2010 ई॰) कृष्णा अग्निहोत्री, 'आरोह–अवरोह' (2015 ई॰) डॉ॰ सुषम बेदी, 'जमाने में हम' (2015 ई॰) डॉ॰ निर्मला जैन की आत्मकथाएँ प्रकाशित हुई हैं।

कुछ दलित लेखकों का ध्यान भी आत्मकथा लिखने की ओर गया है। अपने अपने पिंजरे भाग (1) (1995 ई॰), भाग (2) (2000 ई॰) मोहन नैमिशायराण, जूठन (1997 ई॰) जूठन भाग दो (2015 ई॰) ओमप्रकाश वाल्मीकि (1950–2013), तिरस्कृत 2002 ई० तथा संतप्त (2006 ई॰) डॉ० सूरजपाल चौहान, 'नागफनी' (2007 ई०) रूप नारायण सोनकर, 'मेरा बचपन मेरे कन्धों पर' 2009 ई० डॉ॰ श्यौराज सिंह बेचैन, 'मेरी पत्नी और भेड़िया' (2010 ई॰) डॉ॰ धर्मवीर, 'मुर्दहिया' (2010 ई॰), तथा 'मणिकर्णिका' (2014 ई॰) डॉ॰ तुलसीराम (1949–2015 ई॰), शिकंजे का दर्द (2012 ई॰) सुशीला टाकभौरे (1954 ई॰) की आत्मकथाओं ने हिन्दी–जगत् का ध्यान आकृष्ट किया है।

प्रसिद्ध साहित्यकारों में–'कहो व्यास कैसी कटी' (1994 ई॰) गोपाल प्रसाद व्यास (1915–2005 ई॰), 'अपनी धरती अपने लोग' (1996 ई॰) डॉ॰ रामविलास शर्मा (1912–2000 ई॰), 'जो मैंने जिया' (1992 ई॰), 'यादों का चिराग' (1997 ई॰), 'जलती हुई नदी' (1999 ई॰)–अलग–अलग शीर्षकों से तीन खण्ड–कमलेश्वर, 'गालिब छुटी शराब' (2000 ई॰) रवीन्द्र कालिया, 'कहि न जाय का कहिए' (2001 ई॰) भगवतीचरण वर्मा (1903–1981ई०), 'मुड़ मुड़ कर देखता हूँ' (2001 ई०) राजेन्द्र यादव (1929–2013 ई॰), 'वह जो यथार्थ था' (2001 ई॰), अखिलेश, 'आज के अतीत' (2003 ई॰) भीष्म साहनी, 'पावभर जीरे में ब्रह्मभोज' (2003 ई॰) अशोक वाजपेयी, 'मैंने मांडू नहीं देखा' (2003 ई॰) स्वदेश दीपक, 'वसन्त से पतझर तक' (2005 ई॰) रवीन्द्रनाथ त्यागी, 'देहरि भई विदेस' (2005 ई॰) सं॰ राजेन्द्र यादव, 'पंखहीन खण्ड–1', 'मुक्त गगन में खण्ड–2' और 'पंछी उड़ गया' (2004 ई॰) विष्णु प्रभाकर, 'एक अन्तहीन तलाश' (2007 ई॰) रामकमल राय (1934–2005 ई॰), 'भूली नहीं जो यादें' (2007 ई॰) दीनानाथ मल्होत्रा, 'सागर के इस पार से उस पार तक' (2008 ई॰) कृष्ण बिहारी, 'मेरी आत्मकथा : कालजयी संघर्षगाथा' (2007 ई॰) डॉ॰ द्वारिका प्रसाद सक्सेना, 'गुजरा कहाँ कहाँ से' (2007 ई॰), 'कहना जरूरी था' (2009 ई॰), 'मैं था और मेरा आकाश' (2011 ई॰) कन्हैयालाल नंदन, 'यों ही जिया' (2007 ई॰) डॉ॰ देवश ठाकुर, 'जोखिम' (2009 ई॰) हृदयेश, 'मेरे दिन मेरे वर्ष' (2009 ई॰) एकान्त श्रीवास्तव, 'पानी बिच मीन प्यासी' (2010 ई॰), 'और कहाँ तक कहें युगों की बात' (2012 ई॰) मिथिलेश्वर, 'माटी पंख और आकाश' (2012 ई॰) ज्ञानेश्वर मूले, 'आलोचक का आकाश' (2012 ई॰) मधुरेश, 'कमबख्त निन्दर' (2013 ई॰), डॉ॰ नरेन्द्र मोहन, 'कितनी धूप में कितनी बार' (2013 ई॰), डॉ॰ महीप सिंह, 'मेरा मुझमें कुछ नहीं' (2013 ई॰), रमेश उपाध्याय, 'आत्म स्वीकृति' (2014 ई॰) नरेन्द्र कोहली, 'डगर डगर पर मगर' (2014 ई॰) हरदर्शन सहगल, 'अस्ति और भवति' (2014 ई॰)

डॉ॰ विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, 'जाग चेत कुछ करौ उपाई' (2015 ई॰) मिथिलेश्वर, 'जीवन प्रवाह में बहते हुए' (2015 ई॰) डॉ॰ लालबहादुर वर्मा, 'क्या हाल सुनावा' (2015 ई॰) डॉ॰ नरेन्द्र मोहन की आत्मकथायें विशेष रूप से चर्चित हुई हैं।

35.5 आत्मकथा : तत्व

वर्ण्य विषयः आत्मकथा साहित्य का यह महत्वपूर्ण तत्व है। जैसा कि आत्मकथा शब्द से ही स्पष्ट है इसमें लेखक अपने सम्पूर्ण जीवन का वर्णन नहीं करता अपितु विश्लेषण भी करता है। इस प्रकार आत्मकथा का विषय, आत्मविवेचन, आत्मविश्लेषण के साथ–साथ विश्व की बाह्य घटनाओं की क्रिया–प्रतिक्रियाओं का वर्णन है। उसी व्यक्ति द्वारा लिखी हुई आत्मकथा प्रभावित करती है अर्थात् पाठक उससे प्रेरणा ग्रहण कर सकता है जिसका लेखक प्रतिष्ठित व्यक्ति हो। इस प्रकार लेखक का जनता में प्रसिद्ध होना आवश्यक है।

वर्ण्य–विषय को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उसमें कुछ गुणों का होना आवश्यक है। सर्वप्रथम विषय में सत्यता एवं यथार्थता का होना आवश्यक है। सत्यता से अभिप्राय है लेखक अपने जीवन का विवेचन इस ढंग से करे कि उसमें किसी भी प्रकार कृत्रिमता न आने पाए। वैसे तो आत्मकथा का विषय ही अनुभूत्यात्मक होता है काल्पनिक नहीं, इसलिए इसमें यथार्थता होती है। ''आत्मकथा में सत्य से अभिप्राय विषयगत सत्य से नहीं कुछ सीमित विषय तक का सत्य है जिससे लेखक का जीवन बढ़ता है एवं जिसके विशेष गुण एवं घटनाओं के परिपक्व होने की दृढ़ता एवं व्यावहारिक गुण एवं आकृति स्पष्ट होती है।''

आत्मकथा लेखक को पूर्ण ईमानदारी और सच्चाई के साथ अपने जीवन का वर्णन करना चाहिए। उसको यह भी नहीं करना चाहिए कि वह केवल गुणों का ही वर्णन करे। ऐसा करने से विषय दोषपूर्ण हो जाता है। आत्मकथा लेखक की यही विशेषता है कि वह अपने विषय को जितना वास्तविक बना सकता है उतना अन्य लेखक नहीं। आत्मकथा लेखक जितना अपने बारे में जान सकता है उतना लाख प्रयत्न करने पर भी कोई दूसरा नहीं जान सकता। इसमें कहीं तो स्वाभाविक आत्मश्लाघा की प्रवृत्ति बाधक होती है और किसी के साथ शीलसंकोच आत्मप्रकाश में रुकावट डालता है। यद्यपि सत्य के आदेश से दोनों ही प्रवृतियाँ निन्द्य हैं। तथापि अनावश्यक आत्म–विस्तार कुछ अधिक अवांछनीय है। शीलसंकोच के कारण पाठक को सत्य और उसके अनुकरण के लाभ से वंचित रखना भी वांछनीय नहीं कहा जा सकता। ''साधारण जीवनी लेखक की अपेक्षा आत्मकथा लेखक को ऊब से बचाने और अनुपात का अधिक ध्यान रखना पड़ता है। उसे अपने गुणों के उद्‌घाटन में आत्मश्लाघा या अपने मुँह मियाँ मिट्‌ठू बनने की दूषित प्रवृत्ति से भी बचना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि विषय तभी उत्कृष्ट एवं परिपक्व बन सकता है यदि लेखक पूर्ण सच्चाई एवं ईमानदारी से अपने विषय में वर्णन करता है।

अन्य महत्त्वपूर्ण गुण जोकि विषय वर्णन को रोचक बनाता है वह है संक्षिप्तता। आवश्यकता से अधिक विस्तार विषय को नीरस बना देता है। इससे स्पष्ट है कि ''आत्मकथा लेखक को इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता है कि वह अनावश्यक घटनाओं का विस्तार न करे, केवल उन्हीं घटनाओं का उल्लेख करे जिनसे उसके व्यक्तित्व के विश्लेषण में सहायता मिले तथा पाठकों के सम्मुख मानव जीवन के यथार्थ सत्य को उद्‌घाटित करने में उनकी उपयोगिता हो।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विषय वर्णन में सत्यता, यथार्थता स्पष्टवादिता, रोचकता के

साथ–साथ स्वाभाविकता आदि गुणों का होना आवश्यक है।

चरित्र–चित्रण

आत्मकथा में लेखक का उद्देश्य अपने ही व्यक्तित्व का विश्लेषण करना होता है। आत्मचरित्र आत्मपरिचय का साधन है। लेखक आत्मचरित्र में अपने मस्तिष्क के विकास का क्रम लिखता है। वह स्वयं अपने मस्तिष्क का अध्ययन करता है, आत्म–निरीक्षण और आत्मविवेचन करता है। इससे स्पष्ट है कि आत्मकथा में लेखक अपने ही चरित्र का चित्रण करता है। चरित्र के सभी पक्षों का विवेचन ही नहीं अपितु विश्लेषण भी आत्मकथा में होता है।

प्रत्येक व्यक्ति के चरित्र में गुण भी होते हैं और दोष भी। इसलिए यदि किसी आत्मकथा के लेखक ने अपनी प्रशंसा करवाने के लिए केवल गुणों का वर्णन अपनी आत्मकथा में किया तो वह दोषपूर्ण माना जाएगा। उसको मानवीय चरित्र न कहकर एक काल्पनिक एवं आदर्श चरित्र कहा जाएगा। यह ठीक है कि आत्मचरित्र में अहंकार और आत्मश्लाघा के दोष से बच सकना कठिन है लेकिन फिर भी आत्मचरित्र 'स्व' के उद्‌गारों, अहंकार, छिछोरी प्रवृत्तियों, व्यक्तिगत ख्याति और क्षमायाचना या उसके सम्बन्ध में सफाई देने की भावना का उल्लेख मात्र नहीं है, यह इससे भिन्न ऊँचा साहित्य है।''

चरित्र चित्रण में जहाँ लेखक अपने चरित्र की सभी न्यूनताओं का वर्णन करता है वहाँ वह अपनी सद्‌भावनाओं से पाठक को अच्छी प्रकार से परिचित करवाता है। अपने समस्त जीवन के विकास का वह बड़ी ईमानदारी से वर्णन करता है। ऐसे व्यक्तियों के चरित्र जिनमें उनके जीवन के उत्थान–पतन का वर्णन स्पष्ट रूप से होता है पाठक के लिए अधिक प्रेरणादायक हो सकते हैं।

जहाँ आत्मकथा में हमें लेखक के व्यक्तित्व का परिचय मिलता है वहाँ उसमें वर्णित कुछ अन्य व्यक्तियों के विषय में भी पाठक को अनुमान हो जाता है। आत्मकथा में लेखक अपने से सम्बन्धित सभी व्यक्तियों का वर्णन करता है। इसके दो लाभ होते हैं– एक तो पाठक को लेखक का व्यक्तित्व और भी स्पष्ट हो जाता है दूसरे उस व्यक्ति के विषय में भी पता चल जाता है। लेकिन यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है कि उन सभी व्यक्तियों का वर्णन लेखक अपने व्यक्तित्व को उभारने के लिए करता है।

देशकाल

वातावरण उन समस्त परिस्थितियों का नाम है जिनसे पात्रों को संघर्ष करना पड़ता है। देशकाल वातावरण का बाह्य स्वरूप है। वातावरण आन्तरिक भी हो सकता है। ''आदमी जिस प्रकार के समाज में रहता है वैसा तो कार्य करता ही है परन्तु उसके भाव–भावना और विचार भी उसकी अनुकूलता में सहायक होते है।''

देश और काल परिस्थितियों का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति पर पड़ता है, इसी प्रकार वर्ण्य चरित्र पर भी पड़ना आवश्यक है। जिस भी प्रकार का चरित्र होगा उस पर वैसा ही प्रभाव पड़ेगा। यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि यदि लेखक साहित्यिक है तो उस पर तत्कालीन परिस्थितियों का विशेषतया साहित्यिक परिस्थितियों का अवश्य प्रभाव पड़ेगा। तब हमें उसकी आत्मकथा मे अवश्य ही तत्कालीन साहित्यिक परिस्थितियों का परिचय मिलेगा। इन परिस्थितियों के वर्णन के बिना उनका व्यक्तित्व उभर नहीं सकता। इस प्रकार गौण रूप से हमें तत्कालीन परिस्थितियों का ज्ञान हो जाता है।

यदि किसी राजनैतिक व्यक्ति की आत्मकथा दृष्टिपात करें तो उनमें विशेषतया राजनैतिक तत्कालीन

परिस्थितियों का अवश्य वर्णन होगा। सामाजिक व्यक्ति की आत्मकथा में तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का अवश्यमेव वर्णन होगा। इसके अतिक्ति कई ऐसे व्यक्ति होते हैं जिन्होंने अपने जीवन में बहुत यात्रा की होती है तो उनकी आत्मकथा में हमें किसी विशेष स्थान एवं देश का वर्णन अवश्य प्राप्त होगा।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आत्मकथा साहित्य में देशकाल का चित्रण व्यंग्य रूप से होता है। इसमें तो लेखक ही मुख्य होता है। वह अंगी होता है और देशकाल अंगभूत होकर रहता है।

उद्देश्य

प्रत्येक लेखक अपनी कृति की रचना किसी न किसी उद्देश्य से करता है निरुद्देश्य रचना कोई भी लेखक नहीं करता। यदि वह अपने उद्देश्य को स्पष्ट रूप से पाठक के सम्मुख नहीं रख सकता तो वह परोक्ष रूप से अवश्य ही संकेत कर देता है आत्मकथा लेखक के उद्देश्य का जहाँ प्रश्न है उसका उद्देश्य अन्य कृतियों से भिन्न होता है। आत्मकथा लेखक का उद्देश्य आत्मविवेचन–आत्मविश्लेषण तो होता ही है परन्तु इसके साथ–साथ वह ख्याति एवं आत्मप्रचार भी चाहता है। इसी उद्देश्य से वह आत्मकथा को लिखता है। इस विषय में चन्द्रावती सिंह ने भी अपने मत का समर्थन किया है। आत्मचरित्र लिखने में अपनी ख्याति, आत्मप्रशंसा और आत्मप्रचार की भावना भी निहित है। यद्यपि अत्यन्त प्राचीन काल से मनुष्य ने अपने को व्यक्त करने के अनेक मार्ग अपनाये है और इस प्रकार अपने जीवन के विशेष अंगों के विज्ञापन के सर्वदा अनेक प्रयत्न किए हैं किन्तु आधुनिक युग में आत्मचरित्र लिखने की प्रथा सभ्य संसार का आविष्कार है। इसमें संदेह नहीं कि ''आत्मचरित्र लिखने की इच्छा प्राकृतिक है। अपने को व्यक्त करने और अपने प्रति दूसरों की सहृदय सद्भावना प्राप्त करने का आनन्द अत्यन्त स्वाभाविक है। यही आत्मचरित्र लिखने का प्राकृतिक मूल–कारण है।''

इसके अतिरिक्त आत्मकथा साहित्य का उद्देश्य होता है। आत्मनिर्माण, आत्म–परीक्षण या आत्मसमर्थन, अतीत की स्मृतियों को पुनर्जीवित करने का मोह या जटिल विश्व की उलझनों में अपने आपको अन्वेषित करने का सात्विक प्रयास। इस प्रकार के आत्मकथात्मक साहित्य के पाठकों में सर्वप्रमुख स्वतः लेखक होता है जो आत्मांकन द्वारा आत्मपरिष्कार एवं आत्मोन्नति चाहता है।

आत्म सम्बन्धी साहित्य लिखने का एक दूसरा उद्देश्य यह भी है कि लेखक के अनुभवों का लाभ अन्य लोग उठा सकें। इन दोनों स्वतःसिद्ध उपयोगों के अतिरिक्त आत्मकथा लेखक के मूल में कलात्मक अभिव्यक्ति की प्रेरणा भी हो सकती है। और अपनी मर्यादा अथवा ख्याति से लाभ उठाने की शुद्ध व्यावसायिक इच्छा भी।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आत्मकथा लेखक का उद्देश्य आत्मविश्लेषण एवं आत्मविवेचन के साथ–साथ बाह्य विश्व के साथ अपने सम्बन्ध का वर्णन करना है।

शैली

भावाभिव्यक्ति की कला को शैली कहते हैं। इसमें अनुभूत विषयवस्तु को सजाने के ढंग होते हैं जिनसे विषयवस्तु की अभिव्यक्ति सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण बनती है। इसलिए लेखक का शैली पर पूर्ण अधिकार होना आवश्यक है। आत्मकथा लेखक को भी शैली सम्बन्धी सभी विशेषताओं से सतर्क होना पड़ता है। आत्मकथा शैली की कुछ अपनी ही विशेषताएँ होती हैं।

सर्वप्रथम इस शैली में प्रभावोत्पादकता का होना आवश्यक है। प्रभावोत्पादकता तभी हो सकती है यदि

लेखक अपने जीवन का वर्णन निःसंकोच रूप से करता है। अमानवीय चरित्रों का कभी भी प्रभाव पाठकों पर नहीं पड़ सकता। वे ही चरित्र प्रभावशाली हो सकते हैं जिनमें मानवीयता है अर्थात् जिनमें जीवन के उत्थान–पतन एवं गुण–दोषों का विवेचन हो। लेखक को यह विवेचन इस ढंग से करना चाहिए कि वह पाठक को रुचिकर प्रतीत हों, तभी वह शैली प्रभावोत्पादक बन सकती है। इस प्रकार निःसंकोच आत्मविश्लेषण शैली को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए आवश्यक है।

अन्य महत्वपूर्ण विशेषता सुसंगठितता एवं लाघवता है। लेखक को अपने समस्त जीवन का वर्णन इस ढंग से करना चाहिए जिससे अनावश्यक विस्तार भी न हो और साथ में गठित भी हो। क्रमानुसार वर्णन अधिक रोचक होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रभावोत्पादकता, लाघवता, निःसंकोच आत्मविश्लेषण, सुसंगठितता आदि गुणों से युक्त ही आत्मकथात्मक शैली श्रेष्ठ एवं परिपक्व हो सकती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक लेखक कई ढंग से अपनी आत्मकथा लिख सकता है। अपनी इच्छानुसार वह निबन्धात्मक शैली को भी अपना सकता है और संस्मरणात्मक शैली को भी। जो भी उसे उपयुक्त लगे उसी को वह ग्रहण कर सकता है।

जहाँ प्रश्न भाषा का है वह तो है ही भावाभिव्यक्ति का साधन। भाषा का भावानुकूल एवं विषयानुकूल होना आवश्यक है। माधुर्य और प्रसाद गुण का भाषा में होना आवश्यक है। शुद्ध एवं परिपक्व भाषा द्वारा ही लेखक अपने विचारों का प्रभाव पाठकों पर डाल सकता है। भाषा को श्रेष्ठ बनाने के लिए शब्दचयन का भी विषय एवं भावानुकूल होना आवश्यक है।

35.6 प्रश्नावली

1. आत्मकथा की परिभाषा देते हुए इसके स्वरूप पर प्रकाश डालें।

_____

_____

_____

_____

_____

2. आत्मकथा के विकास पर चर्चा करें।

_____

_____

_____

_____

_____

3. आत्मकथा के विभिन्न तत्वों पर प्रकाश डालें।

_____

_____

_____

_____

_____

4. आत्मकथा के उद्‌भव एवं विकास पर लेख लिखें।

_____

_____

_____

_____

_____

35.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. हिन्दी साहित्य का इतिहासः– रामसजन पाण्डे।
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास :– हुकम चन्द राजपाल
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास :– रामचन्द्र शुक्ल
4. हिन्दी का गद्य साहित्य :– रामचन्द्र तिवारी
5. आधुनिक हिन्दी का जीवनीपरक साहित्य :– डॉ॰ शान्ति खन्ना
6. गद्य की नई विधाओं का विकासः– माजदा असद

.....

कथेतर गद्य साहित्य : रेखाचित्र

36.0 भूमिका
36.1 उद्देश्य
36.2 प्रस्तावना
36.3 रेखाचित्रः परिभाषा एवं स्वरूप
36.4 रेखाचित्रः उदभव एवं विकास
36.5 रेखाचित्र : विभिन्न तत्व
36.6 प्रश्नावली
36.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

36.1 उद्देश्यः प्रस्तुत अध्याय के अध्ययनोपरांत आप

- रेखाचित्र के स्वरूप को समझेंगे
- रेखाचित्र साहित्य के बारे में जान पायेंगे।
- रेखाचित्र का उद्‌भव कब हुआ इससे अवगत होंगे।
- रेखाचित्र के विभिन्न तत्वों का समावेश रहता है, जानेंगे।

36.2 प्रस्तावनाः–

रेखाचित्र साहित्य गद्य की नवीनतम विद्या है। गद्य की इस विद्या का विकास अधिकतर पत्र –पत्रिकाओं द्वारा ही हुआ है। सन् 1924 से पहले हमें रेखाचित्र प्राप्त नहीं होते इसलिए इसके पश्चात् ही इनका अविर्भाव हुआ। या साहित्य की एक ऐसी विद्या है जिसमें एकात्मक विषय विशेष का शब्द रेखाओं से संवेदनशील चित्र प्रस्तुत किया जाता है।

36.3 रेखाचित्र : परिभाषा एवं स्वरूप

हिन्दी साहित्य में गद्य की अनेक नूतन विधाओं का विकास हुआ है जिनमें रेखाचित्र भी एक नया कला रूप है। रेखा चित्र कहानी से मिलता–जुलता साहित्य रूप है। यह नाम अंग्रेजी के स्केच शब्द की नाम–तौल पर गढ़ा गया है। स्केच चित्रकला का अंग है। इसमें चित्रकार कुछ इनी–गिनी रेखाओं द्वारा किसी वस्तु, व्यक्ति या दृश्य को अंकित कर देता है–स्केच रेखाओं की बहुलता और रंगों की विविधता में अंकित कोई चित्र नहीं है, न वह एक फोटो

ही जिसमें नन्हीं से नन्हीं और साधारण से साधारण वस्तु भी खिंच जाती है। साहित्य में जिसे रेखाचित्र कहते हैं उसमें भी कम से कम शब्दों में कलात्मक ढंग से किसी वस्तु व्यक्ति या दृश्य का अंकन किया जाता है। इसमें साधन शब्द हैं रेखाएँ नहीं। इसीलिये इसे शब्द–चित्र भी कहते हैं। ''रेखाचित्र किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना या भाव का कम से कम शब्दों में मर्मस्पर्शी, भावपूर्ण एवं सजीव अंकन है।'' इससे स्पष्ट है कि रेखाचित्र में किसी भी व्यक्ति का, घटना का एवं भाव का चित्रण कम से कम शब्दों में कलात्मक ढंग से किया जाता है जिससे वह सजीव, भावपूर्ण एवं मर्मस्पर्शी हो। रेखाचित्र के अंकन में संक्षिप्तता एवं लाघवता का होना आवश्यक है।

रेखाचित्र चित्रकला और साहित्य के सुन्दर सुहाग से उद्‌भूत एक अभिनव कला रूप है। ''रेखाचित्रकार साहित्यकार के साथ ही साथ चित्रकार भी होता है। जिस प्रकार चित्रकार अपनी तूलिका के कलामय स्पर्श से चित्रपटल पर अंकित विशृंखला रेखाओं में से कुछ अधिक उभरी हुई रेखाओं को सँवार एक सजीव रूप प्रदान कर देता है, उसी प्रकार रेखाचित्रकार मनःपटल पर विशृंखला रूप में बिखरी हुई शतशत स्मृति रेखाओं में से उभरी हुई रमणीय रेखाओं को अपनी कला की तूलिका से स्वानुभूति के रंग में रंजित कर जीते–जागते शब्द–चित्र में परिणत कर देता है। यही शब्द–चित्र रेखाचित्र कहलाता है।'' इस परिभाषा से स्पष्ट है कि रेखाचित्रकार चित्रकार की भाँति असंख्य घटनाओं में से कुछ प्रभावशाली घटनाओं का वर्णन ही ऐसे ढंग से करता है जिससे वे सजीव एवं प्रभावोत्पादक हों ओर उनके वर्णन से भावों एवं विचारों का स्पष्ट चित्रण हो।

साहित्य में रेखाचत्रिकार को अत्यन्त कठोर साधना का पथ अपनाने की आवश्यकता है। वह ही एक मात्र ऐसा कलाकार है जो अपने चारों ओर फैले हुए विस्तृत समाज के किसी भी अंग तथा पक्ष का चित्रण अपनी लेखनी तूलिका से ऐसा सजीव करता है कि पाठक यह अनुभव करने लगता है कि मै वर्ण्यवस्तु के अत्यन्त सान्निध्य में हूँ। इससे स्पष्ट है कि रेखाचित्रकार का विषय कुछ भी हो सकता है। वह किसी भी व्यक्ति, घटना एवं स्थान का चित्रण कर सकता है, पर वह चित्रण ऐसा होता है जिससे पाठक प्रभावित होता है।

बनारसीदास चतुर्वेदी के अनुसार ''रेखाचित्रकार वही हो सकता है जिससे जीवन का अधिक से अधिक अनुभव हो, इसके साथ ही जिस व्यक्ति ने जीवन के अनेक उतराव–चढ़ाव देखे हों, विद्वान एवं अनुभवी व्यक्ति ही रेखाचित्रकार बन सकता है क्योंकि ऐसा योग्य व्यक्ति ही विचारों एवं भावों का स्पष्ट चित्रण कर सकता है।

''जिस प्रकार रेखाचित्र की दृष्टि जितनी पैनी होगी तथा उसकी अनुभूति जितनी चित्रित सत्य के निकट होगी उतना ही उसके द्वारा अंकित किया गया रेखाचित्र सजीव और प्रभावोत्पादक होगा।''

अतः उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रेखाचित्र न कहानी है और न गद्यगीत, न निबन्ध है और न संस्मरण; रेखाओं में जीवन के विविध रूपों के आकार देने की प्रणाली की विशेषता को अपनाकर ही शब्द द्वारा जीवन के विविध रूपों को साकार करने वाले शब्द चित्रों को रेखाचित्र की संज्ञा प्रदान की गई है। इस प्रकार 'रेखाचित्र साहित्य का वह गद्यात्मक रूप है जिसमें एकात्मक विषय का शब्द–रेखाओं से संवेदनशील चित्र प्रस्तुत किया जाता है।

36.4 रेखाचित्र : परम्परा और विकास

रेखाचित्र गद्य साहित्य की एक नवीनतम विधा है। हिन्दी गद्य साहित्य के विकास के साथ–साथ रेखाचित्र साहित्य का भी विकास आधुनिक काल में हुआ है। भावात्मक प्रतिपाद्य को संक्षेप में मार्मिक रेखाओं द्वारा चित्रित कर देना रेखाचित्र है। रेखाचित्र इस विधा का विकास हिन्दी में अधिकतर हिन्दी पत्र–पत्रिकाओं द्वारा ही हुआ है। 'विशाल

भारत', 'माधुरी', 'हंस' एवं 'सरस्वती' जैसी प्रसिद्ध साहित्यिक पत्र–पत्रिकाओं ने इसके विकास में विशेष रूप से सहयोग दिया है। हिन्दी रेखाचित्र का प्रारंभिक काल (सन 1900 से 1930 तक) और विकास काल (सन 1937 से आज तक) के अन्तर्गत देख सकते हैं।

रेखाचित्र साहित्य : प्रारंभिक काल (1900–1936)

रेखाचित्र विधा यह एक नवीनतम विधा है। इस विधा का विकास भारतेन्दु युग से माना जाता है। लेकिन रेखाचित्र विधा के सभी तत्व भारतेन्दु युग के पश्चात ही हिन्दी साहित्य में दिखाई देते हैं। इसी बात को डॉ. शान्ति खन्ना लिखती है– ''सन 1924 से पहले हमें रेखाचित्र प्राप्त नहीं होते इसलिए इसके पश्चात ही इनका अविर्भाव हुआ है।'' आधुनिक रेखाचित्र का प्रारंभ हमें 1924 के पश्चात ही दिखाई देता है। लेकिन इसके पहले भी रेखाचित्र के कुछ तत्व हमें हिन्दी साहित्य में दिखाई देते है। हिन्दी के आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक अनेक कवियों के कविताओं में चित्रात्मकता दिखाई देती है। इसी चित्रात्मकता का प्रभाव आधुनिक काल के साहित्यकारों पर पड़ा होगा। यह प्राचीन काल का रेखाचित्र का इतिहास हिन्दी गद्य के साथ जुड़ा हुआ है। आधुनिक काल में भारतेन्दु के चरित्र–प्रधान निबंधों में रेखाचित्र का प्रारंभिक रूप दिखाई देता है। किन्तु इन निबंधों में रेखाचित्र की सभी विशेषताएँ नहीं मिल पाती। इन निबंधों में रेखाचित्र के कुछ अंश देखे जा सकते है। इसी प्रकार की रचनाएँ भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट बालमुकुंद गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र तथा रूद्रदत्त शर्मा आदि गद्य लेखकों द्वारा लिखे गये है।

रेखाचित्र साहित्य की वास्तविक शुरूआत पं. पद्मसिंह शर्मा से मानी जाती है। बनारसीदास चतुर्वेदी शर्मा जी के महाकवि अकबर पर लिखे रेखाचित्र को हिन्दी का पहला रेखाचित्र मानते हैं। जो 1924 में प्रकाशित हुआ। पद्मसिंह शर्मा के महाकवि अकबर पर लिखे रेखाचित्र 'पद्मराग' में संग्रहित है। इस रचना में शर्माजी ने नौ रेखाचित्र लिखे हैं। लेकिन इस सभी में 'महाकवि अकबर' पर लिखा रेखाचित्र प्रमुख है। यह रेखाचित्र महाकवि अकबर विषयक चरित्र–चित्रण का सर्वोत्तम दृष्टान्त माना जा सकता है। इनके रेखाचित्रों में यद्यपि रेखाचित्र के वह सभी गुण नहीं हैं, जो वर्तमान रेखाचित्र में मिलने हैं, किन्तु यह रेखाचित्र का प्रथम मौलिक प्रयास अवश्य है। हिन्दी का रेखाचित्र का भवन उन्हीं की बुनियाद पर खड़ा है।

शर्माजी के पश्चात अनेक रेखाचित्र लिखे गये लेकिन वह केवल पत्र–पत्रिकाओं तक सीमित रहे। इन रेखाचित्रों में नगरों का चित्रण प्रमुख रूप से उभरा है। इसमें प्रमुख रूप से संतराम की 'लाहौर', श्री रामाज्ञा द्विवेदी समीर के 'हिन्दी विश्वविद्यालय' एवं 'कानपुर' रेखाचित्र प्राप्त होते हैं। इनमें लेखकों ने शहरों का सचित्र वर्णन किया है। सन 1929 में शीतल सहाय का 'द्वारिकापुरी' रेखाचित्र प्राप्त होता है। इसमें लेखक ने द्वारिकापुरी की महत्त और दर्शनीय स्थानों का वर्णन किया है। सन 1931 में श्री रामनाथ द्वारा लिखा 'कश्मीर में एक मास' एवं मोहनलाल महतो वियोगी द्वारा लिखा 'मैथिलीशरण गुप्त' एवं श्री रामनाथ सुमन द्वारा लिखा सरोजनी नायडू रेखाचित्र प्राप्त होते हैं। इन रेखाचित्र में लेखकों ने इनके जीवन की एक झाँकी सी प्रस्तुत की है। यह सभी रेखाचित्र पत्र–पत्रिकाओं में छपते रहे हैं, लेकिन उनका कोई स्वतंत्र संकलन सामने नहीं आया। सन 1957 में हिन्दी का सर्व प्रथम रेखाचित्र–संग्रह पंत्र श्रीराम शर्मा का 'बोलती प्रतिमा' प्रकाशित हुआ। यही से हिन्दी रेखाचित्र का विकास काल माना गया है।

रेखाचित्रः विकास काल (1837 से आज तक)

हिन्दी में रेखाचित्र विधा की शुरूआत पद्मसिंह शर्मा से मानी जाती है, किंतु रेखाचित्र विधा को सुव्यवस्थित

रूप देने का प्रयास सबसे पहले श्रीराम शर्मा के द्वारा हुआ है। हिन्दी के वह प्रमुख रेखाचित्रकार है। जब हिंदी के अधिकांश लेखक इस विधा के नाम से भी अनजान थे। श्रीराम शर्मा ने सन 1934 में 'एक सड़क का दृश्य' और 'थर्डक्लास' शीर्षक से रेखाचित्र का सृजन किया। सन 1937 में इनका 'बोलती प्रतिमा' रेखाचित्र संकलन प्रकाशित हुआ। यह हिन्दी साहित्य का पहला रेखाचित्र संग्रह है। इस संकलन में बारह रेखाचित्र संकलित हैं। 'बोलती प्रतिमा', 'ठाकुर की आन', 'हरनामदास', 'वरदान', 'पीताम्बर', 'वसीयत', 'फिरोजाबाद की काल कोठरी', 'अपराधी', 'चंदा', 'रतना की अम्मा', 'इकाई का सौदा', आदि रेखाचित्र इस संकलन में संकलित हैं। इस संकलन में ग्रामीण जीवन की रेखाओं को अंकित करने का प्रयास किया है। ग्रामीण परिवेश की सामान्य जनता की पीड़ा तथा दशा का यथार्थ चित्र रेखांकित करने का प्रयास श्रीराम शर्मा ने किया है। श्रीराम शर्मा द्वारा रचित 'वे जीते कैसे हैं?'' 1957 में प्रकाशित दूसरा रेखाचित्र संकलन है। इसके सभी रेखाचित्र भावपूर्ण हैं।

श्रीराम शर्मा के समय अन्य अनेक लेखकों ने रेखाचित्र के विकास में अपना योगदान दिया है। 1935 में बाबूराम सक्सेना का 'वर्धा में तीन दिन' रेखाचित्र 'सुधा' में प्रकाशित हुआ। इसमें वर्धा के मुख्य स्थलों का वर्णन किया गया है। सन 1938 में 'हंस' पत्रिका ने रेखाचित्र पर विशेष अंक निकालकर रेखाचित्र साहित्य के विकास में विशेष सहयोग दिया है। इसी समय लोचनप्रसाद पांडेय कृत 'श्रीपुर के दर्शन' और भुवनेश्वर प्रसाद कृत रेखाचित्र प्रकाशित हुए।

हिन्दी के प्रसिद्ध रेखाचित्रकारों में प्रकाशचन्द गुप्त प्रमुख रेखाचित्र लेखक हैं। आपने 'रेखाचित्र' (1940) एवं 'पुरानी स्मृतियाँ' (1947) शीर्षक से रेखाचित्र लिखे हैं। इन रेखाचित्रों में दिल्ली और आगरे के अनेक महत्त्वपूर्ण स्थानों का चित्रण किया गया है। इनके रेखाचित्र मानवता से प्रेरित होकर लिखे गये है। 'अलमोड़ा का बाजार', 'रानीखेत की रात', 'चीड का वन' आदि प्रकृति चित्रण से संबंधित रेखाचित्र है। इसी समय सद्गुरू शरण अवस्थी ने 'पल्हडः एक स्केच' (1940) रेखाचित्र लिखा। रामवृक्ष बेनीपुरी एक सफल रेखाचित्रकार माने जाते हैं। आपने प्रतीकात्मक एवं रूपकात्मक रेखाचित्र कृतियाँ देखने को मिलती है। इनके रेखाचित्रों से ग्रामीण जीवन का समस्त चित्रण देखने को मिलता है। सन 1949 में कौशल्या अश्क और उपेद्रनाथ अश्क द्वारा 'दो धारा' नाम रेखाचित्र रचना लिखी गई है। रेखाचित्र के विकास में इन कृतियों का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

देवेन्द्र सत्यार्थी एक प्रमुख रेखाचित्रकार है। आपके 'एक युग एक प्रतीक' (1944) 'रेखाएँ बोल उठी' (1949), 'कला के हस्ताक्षर' आदि रेखाचित्र संग्रह रेखाचित्र के विकास को बढ़ाते हैं। आपने साहित्यकार के जीवन को रेखाकिंत करने का प्रयास किया है। 'प्रेमचन्द एक चित्र', 'अज्ञेय से मिलिए', 'होमवती' आदि रेखाचित्र देवेन्द्र सत्यार्थी को एक उच्चकोटि का रेखाचित्रकार साबित करते हैं। प्रेमचन्द पर लिखे रेखाचित्र में वह कहते हैं – ''मूंछे घनी और बड़ी–बड़ी सिर पर गांधी टोपी–सी दोनों तरफ और गर्दन पर निकले हुए बेतरतीब से बाल आँखों में अनुभव की चमक–इन तीनों चीजों का विशेष प्रभाव पड़ा, जब अक्तूबर 1931 में लखनऊ में प्रेमचन्द से भेंट हुई।'' इनके रेखाचित्र के संबंध में डॉ. शांति खन्ना कहती हैं' ''इसके (सत्यर्थी के) रेखाचित्रों के विषय में स्पष्टता देना, स्वाभाविकता, चित्रात्मकता एवं आत्मीयता आदि विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती है।'' देवेद्र सत्यार्थी की तरह ही राजेन्द्रलाल हांडा ने 'वाह कैलाशजी' (1950) नामक रेखाचित्र लिखा है।

हिन्दी साहित्य के गद्य लेखिकाओं में महादेवी वर्मा का स्थान अत्यंन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। वह रेखाचित्र लिखने के कारण ही हिन्दी गद्य साहित्य में पहचानी जाती है। इनके समस्त रेखाचित्रों का संग्रह 'स्मृति की रेखाएँ'

अतीत के चलचित्र और 'श्रृंखला की कडियाँ' शीर्षक से प्रकाशित हैं। उनके रेखाचित्र के नायक ऊँचे वर्ग के न होकर वह सर्वसामान्य समाज के प्रतिनिधी व्यक्ति हैं। इन रेखाचित्रों के माध्यम से महादेवी वर्मा सर्वसामान्य वर्ग के दुःख, पीडा तथा उनके जीवन के अनेक पहलुओं को पकडना चाहती है। वर्माजी इन रेखाचित्रों के माध्यम से सर्वसामान्य जनता के असामान्य गुणों को पकड़ना चाहती है। 'अतीत के चलचित्र' में 'अपनी बात' स्पष्ट करते हुए वर्माजी कहती है– ''उनसे पाठकों का सस्ता मनोरंजन हो सके ऐसी कामना करके इन क्षतविक्षत जीवनों को खिलौनों की हाट में नहीं रखना चाहती है। यदि इन अधूरी रेखाओं और धुँधे रंगों की समष्टि में किसी को अपनी छाया की एक रेखा भी मिल सके तो यह सफल है अन्यथा अपनी स्मृति की सुरक्षित सीमा से इसे बाहर लाकर मैंने अन्याय ही किया है।'' यहाँ महादेवी का रेखाचित्रकार सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला हैं। इन्हीं के समकालीन रामकुमार 'एक परिवार' तथा गंगाप्रसाद पांडेय का 'मैथिलीशरण' रेखाचित्र प्राप्त होते हैं।

सन 1958 में हर्षनाथ द्वारा 'मन्दिर का माली' एवं रोटी और धरम' रेखाचित्र लिखे गये। इसी समय अयोध्याप्रसाद गोयलीय का 'गहरे पानी पैठ' नामक रेखाचित्र संग्रह प्रकाशित हुआ। यह हिन्दी रेखाचित्र के एक प्रमुख हस्ताक्षर हैं। आपने अपने रेखाचित्रों में मानवता के अनेक सजीव चित्र अंकित किए हैं। इसी समय सत्यवती मल्लिक का 'अमिट रेखाएँ' नामक रेखाचित्र संग्रह प्रकाशित हुआ जिसमें अतिरंजकता और भावुकता दिखाई देती है। चन्द्रप्रकाश वर्मा के राजपथ यह रेखाचित्र 1952 में प्रकाश में आया जिसमें राजपथ का सुन्दर चित्र खींचा गया है।

बनारसीदास चतुर्वेदीजी की गणना हिन्दी के प्रमुख रेखाचित्रकारों में की जाती है। चतुर्वेदीजी ने अपने रेखाचित्र यों तो 1912 से ही लिखे हैं, लेकिन उनका प्रकाशन 1982 में हुआ है। इनके रेखाचित्रों का संकलन 'रेखाचित्र नाम' से प्रकाशित हुआ हैं। इसमें 40 रेखाचित्र संग्रहित हैं। आपने अपने जीवन संपर्क में आनेवाले व्यक्तिओं को लेकर भी अपने मौलिक रेखाचित्रों का सृजन किया। इनके रेखाचित्र के संबंध में डॉ. शान्ति खन्नाजी लिखती है– ''बनारसीदासजी ने जीवन को निकट से देखा है। इसलिए उनके रेखाचित्र सजीव है, वे चलते–फिरते दिखाई देते है और बोलने से सुनाई पडते हैं। रेखाचित्र के क्षेत्र में इनका महत्त्वपूर्ण कार्य है।'' श्रीराम शर्मा का परिचय रेखाचित्र के माध्यम से करते हुए चतुर्वेदी जी लिखते हैं ''आईये आपका परिचय अपने एक भाई और हिन्दी के सुलेखक से करवा दूँ। उन्हें आप जानते हैं? प्रताप सम्पादक स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी ने एक टोपधारी और बंदूक लिए हुए सज्जन की ओर इशारा करते हुए पूछा। उस वक्त उनकी बातचीत मगर के शिकार के बारे में चल रही थी। गणेश जी ने उनका नाम बतलाया श्रीराम शर्मा।'' आपके व्यक्तियों के संबंध में लिखे रेखाचित्र आकर्षक बन पड़े हैं। सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' की रचना 'अरे यायावर रहेगा याद' रेखाचित्र में अनेक स्थानों का वर्णन रेखाकिंत किया गया है।

कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकरजी रेखाचित्रकारों में से एक प्रमुख है। इनके रेखाचित्रों का संग्रह 'जिदंगी मुसकराई', 'भूले हुए चेहरे' शीर्षक से प्रकाशित हुए। इन रेखाचित्रों के संबंध में स्वयं मिश्रजी लिखते हैं– ''इन रचनाओं के संबंध में क्या कहूँ सिवाय इसके कि यह मेरा संचित रक्त है, जो आज पाठकों को भेट कर रहा हूँ। अपने भक्कड़ जीवन में इसके सिवाय मैंने और कुछ भी तो संचय नहीं किया'' इन रेखाचित्रों में मिश्रजी ने अनेक व्यक्तियों के माध्यम से अपना जीवन भी रेखाकिंत करने का प्रयास किया है। प्रेमनारायण टण्डन भी रेखाचित्र कारों में प्रमुख है। आपका 'रेखाचित्र' (1959) संग्रह प्रकाशित हुआ। इसमें सात रेखाचित्र संकलित हैं। इसी समय भगवनशरण उपाध्याय का 'ढूँढा आम', रामकुमार वर्मा का 'मील का पत्थर', उदयनारायण तिवारी का 'श्री राहुल सांकृत्यायन', शरद देवडा का 'पत्थर का लैम्प पोस्ट' आदि प्रमुख रेखाचित्र कृतियाँ है। डॉ. विनयमोहन शर्मा की कृति 'रेखा और रंग' यह 14 रेखाचित्रों

का एक सफल संग्रह है। इस संकलन के विषय बिल्ली, डिब्बा, वृक्ष, चिड़िया आदि हैं। लेखक पात्रों के बहिरंग पर ऐसी दृष्टि डालता है, जिसमें वे मूर्तिमान होकर पाठक के समक्ष साकार हो उठते हैं। इस दृष्टि से डॉ. नगेन्द्र की कृति 'चेतना के बिम्ब' भी उल्लेखनीय रेखाचित्र रचना है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी रेखाचित्र मात्रा की दृष्टि से अल्प है लेकिन उसकी मौलिकता असामान्य है। हिन्दी का रेखाचित्र साहित्य प्रगति की ओर अग्रसर ही माना जा सकता है। आज भी अनेक रेखाचित्र पत्र–पत्रिकाओं में ही अधिक प्रकाशित हुए हैं। आज भी उसकी यही स्थिति हैं। लेकिन यह कहा जा सकता है कि हिन्दी रेखाचित्र विधा का भविष्य उज्जवल है।

36.5 रेखाचित्र : तत्व

वर्ण्य विषय– यह रेखाचित्र साहित्य का प्रमुख तत्व है। रेखाचित्र वस्तु व्यक्ति अथवा घटना का शब्दों द्वारा विनिर्मित वह मर्मस्पर्शी और भावमय रूप–विधान है ''जिसमें कलाकार का संवेदनशील हृदय और उसकी सूक्ष्म पर्यवेक्षण दृष्टि अपना निजीपन उँडेलकर प्राण–प्रतिष्ठा कर देती है।'' इससे स्पष्ट होता है कि रेखाचित्र– कार का विषय कोई भी व्यक्ति घटना अथावा वस्तु जिसका कि उससे जीवन भर अधिक प्रभाव हो जाता है। जहाँ तक व्यक्ति का प्रश्न है इसमें यह कोई आवश्यक नहीं कि वह किसी महान् पुरुष की रेखा ही चित्रित करता है वह तो साधारण से साधारण व्यक्ति के विषय में भी लिख सकता है। यह तभी हो सकता है यदि उस व्यक्ति में कुछ ऐसे गुण हों जिनसे लेखक विशेष रूप से प्रभावित हुआ हो। ऐसे ही घटना के विषय में है। वह किसी भी ऐसी घटना का चित्रण करता है जिससे कि वह अधिक प्रभावित हों वह किसी विशेष स्थल का चित्रण भी कर सकता है। इस प्रकार रेखाचित्रकार का विषय जड़ भी हो सकता है और चेतन भी।

विषय चुनाव के पश्चात् वर्ण्य विषय में कुछ ऐसे गुणों का होना आवश्यक है जो कि रेखाचित्र को सफल बनाते हैं। वर्ण्य विषय में सर्वप्रथम सत्यता एवं यथार्थता का होना आवश्यक है। प्रत्येक रेखाचित्र का विषय अनुभूत्यात्मक होता है काल्पनिक नहीं। इसलिए इसमें वास्तविकता होती है। रेखाचित्र में जितनी वास्तविकता होगी उतना ही वह सफल माना जायेगा। पाठकगण पर जितना प्रभाव वास्तविक घटनाओं का पड़ता है उतना काल्पनिक घटनाओं का नहीं। रेखाचित्र जितना सत्य के निकट हो उतना अच्छा हे। इसमें थोड़ी अतिरंजना विनोद की सामग्री अवश्य उपस्थित कर देती है किन्तु विनोद चुटीला न होना चाहिए। ''रेखाचित्र में भी 'सत्यं शिवं सुन्दरम' का आदर्श पालन करना पड़ता है।''

अन्य महत्वपूर्ण गुण जिसका विषय में होना आवश्यक है वह है रोचकता। लेखक को अपने जीवन की अनुभूतियों का इस ढंग से वर्णन करना चाहिए जिससे वह पाठक को रुचिकर प्रतीत हों। न तो स्केच इतना काल्पनिक ही होना चाहिए कि हमारी कल्पना तक ही सीमित रहे, और न इतना वास्तविक ही कि केवल हमारी दृष्टि तक ही सीमित रहे।

अन्य महत्वपूर्ण गुण जिसका विषय वर्णन में होना आवश्यक है वह है संक्षिप्तता। रेखाचित्रकार की सीमाएँ निश्चित हैं। ''उसे कम से कम शब्दों में सजीव से सजीव रूप विधान और छोटे से छोटे वाक्य से अधिक तीव्र और मर्मस्पर्शी भाव व्यंजना करनी पड़ती है। रेखाचित्र की विशेषता विस्तार में नहीं तीव्रता में होती है।'' इससे स्पष्ट है कि वर्ण्य में संक्षिप्तता का होना आवश्यक है। आवश्यक विस्तार विषय को नीरस बना देता है।

इस प्रकार वही विषय उत्कृष्ट कोटि का माना जाएगा जिसमें वास्तविकता, स्पष्टता, रोचकता एवं संक्षिप्तता आदि गुणों का समावेश हो।

चरित्रोद्घाटन

रेखाचित्र साहित्य का यह अन्य महत्वपूर्ण तत्व है। रेखाचित्रकार का उद्देश्य किसी भी व्यक्ति के चरित्र का विश्लेषण करना नहीं है वरन् चरित्रोद्घाटन करना है। रेखाचित्रकार का कार्य तो प्रभावित व्यक्ति के जीवन से सम्बन्धित प्रमुख घटनाओं का वर्णन करना ही है उसी से पाठक को उसके व्यक्तित्व का अनुमान हो जाता है। पाठक को प्रभावित करने के लिए वह नायक के व्यक्तित्व से सम्बन्धित घटनाओं का ऐसा चित्रण करता है कि वह उसके चरित्र को स्वयं स्पष्ट कर देती हैं। उसका कारण यह है कि रेखाचित्र में प्रधानता संकेतों की होती है इसमें खुलकर बात बहुत कम की जाती है। इस प्रकार थोड़ी सी रेखाओं द्वारा एक सजीव चित्र बना देना किसी कुशल कलाकार का ही काम हो सकता है... थोड़े से शब्दों में किसी घटनाओं को चित्रित कर देना अथवा किसी व्यक्ति का सजीव चित्र उपस्थित कर देना अत्यन्त कठिन कार्य है। इसके लिए लेखक को कठोर साधनों की जरूरत है। ''जहाँ रंग के थोड़े गहरे या किंचित हलके होने से ही तस्वीर बिगड़ सकती है, वहाँ तूलिका को कितनी सफाई कितने चातुर्य के साथ चलाना चाहिए, इसका अन्दाज किसी विशेषज्ञ चित्रकार को ही हो सकता है। इसके लिए सरस्वती मंदिर की आराधना तो अनिवार्य है ही पर साथ ही साथ अपने व्यक्तित्व को सजीव तथा उन्मुक्त बनाये रखना भी अत्यन्त आवश्यक है।'' इस प्रकार उत्कृष्ट चरित्रोद्घाटन के लिए लेखक के व्यक्तित्व का भी उत्कृष्ट होना आवश्यक है। अनुभवी लेखक ही चरित्र सम्बन्धी उत्कृष्ट रेखाएँ प्रस्तुत कर सकता है।

देश–काल वातावरण

रेखाचित्र का सम्बन्ध अधिकतर देश से होता है काल से नहीं। क्योंकि वर्ण्य विषय किसी स्थान विशेष में विद्यमान रहता है उसके आस–पास की कुछ परिस्थितियाँ होती हैं। ''ये पार्श्ववर्ती भाग गतिशील नहीं होते हैं और वर्ण्य विषय के साथ नित्य संपृक्त रहते हैं। उनके बिना पात्र या वस्तु का अस्तित्व गोचर नहीं हो सकता। रेखाचित्रकार उन स्थायी सम्बन्ध रखने वाले अंगों का वर्णन करता है।'' इस प्रकार देश व किसी विशेष स्थल का चित्रण करना रेखाचित्रकार के लिए आवश्यक हैं

प्रत्येक घटना के घटित होने का कोई न कोई विशेष स्थल होता है। जब लेखक उस घटना का वर्णन करता है तो उसके लिए उस स्थान विशेष का वर्णन करना भी आवश्यक हो जाता है जहाँ वह घटित हुई हो। इसलिए देश का चित्रण रेखाचित्र में होता है। कई यात्रा सम्बन्धी रेखाचित्रों में इसका प्रमुख रूप से वर्णन होता है।

जहाँ तक वातावरण का प्रश्न है लेखक सांकेतिक रूप से पाठक को तत्कालीन परिस्थितियों का ज्ञान करवा देता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रेखाचित्र साहित्य में प्रमुखता देश–चित्रण की ही होती है वातावरण का वर्णन तो गौण रूप से होता है।

उद्देश्य

यह रेखाचित्र साहित्य का प्रमुख तत्व है। इसमें लेखक का जीवन दर्शन अथवा उसकी जीवन दृष्टि, जीवन की व्याख्या या जीवन की आलोचना होती है। कोई भी लेखक निरुद्देश्य रचना नहीं करता बिना उद्देश्य के साहित्यिक कृति प्रयोजनहीन एवं व्यर्थ होती है। ''रेखाचित्रकार का प्रमुख उद्देश्य होता है चरित्र विशेष के बाह्य ओर आभ्यान्तर

दोनों ही के मार्मिक एवं संवेदनशील तत्वों को उभारकर पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर देना। इससे स्पष्ट है कि रेखाचित्रकार का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति के बाह्य और आन्तरिक दोनों स्वरूपों का चित्रण करना है। बाह्यरूप का चित्रण तो किसी भी साहित्यकार को करना कठिन है परन्तु आन्तरिक मस्तिष्क का विश्लेषण रेखाचित्रकार स्पष्ट रूप से न करके अपनी रेखाओं से सांकेतिक रूप से करता है। यहाँ लेखक का उद्देश्य नायक के चरित्र का उद्‌घाटन करना है विश्लेषण नहीं, विश्लेषण तो स्वयं हो जाता है। यहाँ पर लेखक उस व्यक्ति के चित्रण में ही अपनी मानसिक प्रतिक्रियायों, मान्यताओं एवं आदर्शों की अभिव्यक्ति करता है। मानवेतर रेखाचित्र भी किसी न किसी सत्प्रेरणा को लेकर लिखे जाते हैं।

अतः स्पष्ट है कि रेखाचित्रों में लेखक का दृष्टिकोण, उसका जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समाविष्ट हो जाता है।

भाषा शैली

शैली अनुभूत विषयवस्तु को सजाने के उन तरीकों का नाम है जो उस विषय वस्तु की अभिव्यक्ति को सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण बनाते हैं। रेखाचित्र शैली की कुछ अपनी ही विशेषताएँ हैं जिसका होना इसमें आवश्यक है।

सर्वप्रथम रेखाचित्र शैली में चित्रात्मकता का होना आवश्यक है। स्केच चित्रकला का अंग है। जिस प्रकार चित्रकार कुछ इनी–गिनी रेखाओं द्वारा किसी वस्तु, व्यक्ति के दृश्य को अंकित कर देता है इसी प्रकार रेखाचित्रकार भी शब्दों से चित्र को बनाता है। इस तरह चित्रात्मकता का इस शैली में होना आवश्यक है। चित्रात्मकता का गुण तो इस शैली में ऐसा है कि वह अर्थात् लेखक नायक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का चित्रण शब्दों द्वारा ऐसे ढंग से करता है कि उसका स्पष्ट अनुमान पाठक को हो जाता है।

शैली वही उत्कृष्ट मानी जाती है जिसका प्रभाव पाठकों पर स्थायी रूप से रहे। इसलिए शैली में प्रभावोत्पादकता का होना अत्यन्त आवश्यक है। प्रभावपूर्ण शैली तभी हो सकती है यदि लेखक नायक का वर्णन रोचकपूर्ण ढंग से करे। इस प्रकार शैली में प्रभावोत्पाकदता उत्पन्न करने के लिए रोचकता का होना भी आवश्यक है।

संक्षिप्तता का गुण भी इस शैली में आवश्यक है। लेखक को सीमित परिधि में शब्दों में रेखाओं का काम लेकर कोण को सम्पूर्ण बनाना होता है जो विशेषलाघव संक्षिप्तता स्फूर्ति का काम है। इस प्रकार लाघवता का होना इस शैली में अत्यन्त आवश्यक है। इसके साथ ही शैली में आत्मीयता का होना भी आवश्यक है। इससे वर्ण्य विषय पर लेखक के व्यक्तित्व की छाप पड़ती है। इस विशेषता से शैली अधिक प्रभावपूर्ण बन जाती है और इसे गद्य की अन्य विधाओं से पृथक् करती है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रेखाचित्र शैली में चित्रात्मकता, प्रभावोत्पादकता, रोचकता, लाघवता, एवं आत्मीयता आदि गुणों का होना आवश्यक है। इन्हीं से युक्त शैली परिपक्व शैली बनती है।

भाषा का जहाँ तक प्रश्न है, भाषा ही भावाभिव्यक्ति का साधन है। भावानुकूल एवं विषयानुकूल भाषा का प्रयोग कृति को अधिक प्रभावपूर्ण बना देता है। रेखाचित्र में शब्द–विन्यास तथा वाक्य–विन्यास की विशिष्टता होती है। एक शब्द का एक वाक्य तथा अपने में चित्र हो सकता हे। रेखाचित्र में यथार्थ के लिए ध्वन्यात्मक शब्दों से ध्वनि चित्र रंगों का उल्लेख कर वर्ण चित्र अंकित किए जाते हैं। मिलते–जुलते शब्दों में से प्रभाववर्द्धन किया जाता है। चुभते चित्रोपम विशेषण, साम्यमूलक अलंकार, लक्षणात्व्यंजना आदि कवित्वपूर्ण प्रसाधनों से चित्र को सजीव किया जाता है।

इस प्रकार भावानुकूल एवं विषयानुकूल भाषा का प्रयोग ही इस शैली में अत्यन्त आवश्यक है।

36.6 प्रश्नावली

1. रेखाचित्र की परिभाषा देते हुए इसके स्वरूप पर प्रकाश डालें।

2. रेखाचित्र साहित्य की परम्परा पर लेख लिखें।

3. रेखाचित्र साहित्य उद्‌भव एवं विकास पर प्रकाश डालें।

_____

_____

_____

_____

4. रेखाचित्र के विभिन्न तत्वों पर प्रकाश डालें।

_____

_____

_____

_____

_____

36.7 सन्दर्भ ग्रन्थः

1. हिन्दी साहित्य का इतिहासः– रामसजन पाण्डे।
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास :– हुकम चन्द राजपाल
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास :– रामचन्द्र शुक्ल
4. हिन्दी का गद्य साहित्य :– रामचन्द्र तिवारी
5. आधुनिक हिन्दी का जीवनीपरक साहित्य :– डॉ॰ शान्ति खन्ना
6. गद्य की नई विधाओं का विकासः– माजदा असद

.....

कथेतर गद्य साहित्य : संस्मरण

37.0 भूमिका

37.1 उद्देश्य

37.2 प्रस्तावना

37.3 संस्मरण साहित्यः परिभाषा और स्वरूप

37.4 संस्मरण : परम्परा और विकास

37.5 संस्मरण : तत्व

37.6 प्रश्नावली

37.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

37.1 उद्देश्यः प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरांत आप

- कथेतर साहित्य की महत्वपूर्ण विधा 'संस्मरण' के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगें।
- 'संस्मरण' साहित्य के स्वरूप को जानेंगे।
- 'संस्मरण' के तत्वों को जानेंगे।

37.2 प्रस्तावनाः–

सम्यक समृति की वह अमिट छाप जिसे शब्दों द्वारा साहित्यिक ढंग से अभिव्यक्त किया जाए। संस्मरण कहलाती है। किसी वस्तु घटना, दृश्य और परिवेश को जब आत्मीयतापूर्ण रूप से याद किया जाए और उसका विवेचन कलात्मकता के साथ हो तो वह संस्मरण बन जाता है। संस्मरण एक वर्णनात्मक विधा है इसमें विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

37.3 संस्मरण : परिभाषा एवं स्वरूप

हिन्दी साहित्य में गद्य की अन्य नवीनतम विधाओं में संस्मरण साहित्य का भी विशेष स्थान है। संस्मरण कुछ असम्बद्ध घटनाओं का नोट हो सकता है जो लेखक के जीवन से सम्बन्ध रखता है और जिसे या तो चरित्रनायक स्वयं लिखे अथवा उसे अन्य व्यक्ति लिखे। जीवन की बहुत–सी बातों में संसार की हलचलों में दफ्तर की किसी कार्यवाही में या किसी सभा में जो समय–समय पर बातें घटी हैं उनका अलग–अलग वर्णन संस्मरण कहा जा सकता है। इसमें आत्मचरित्र की एकता नहीं हो सकती है और न व्यक्तित्व का कोई चित्र उपस्थित हो सकता है। उनमें मनुष्य की आत्मा, उसका मस्तिष्क नहीं पहचाना जा सकता है। किसी का संस्मरण उसका जीवन–चरित्र लिखने वाले लेखक के लिए सामग्री का काम दे सकता है, और निस्सन्देह जीवनी लेखक को इससे बड़ी सहायता मिल सकती है। संस्मरण जीवन सम्बन्धी घटनाओं का केवल ऐतिहासिक उल्लेख कहा जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि संस्मरण साहित्य जीवनी साहित्य का एक अंग है इसमें मनुष्य की कुछ प्रमुख घटनाओं का जिनसे लेखक प्रभावित होता है उल्लेख होता है, व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का वर्णन नहीं होता।

'स्मरण और संस्मरण' शब्द विषय और प्रकृति की अव्यवस्था को सूचित करते हैं, लेखक लिखते समय जो भी याद कर सकता है, उन्हीं का इनमें वर्णन होता है।

इस परिभाषा में संस्मरण की अव्यवस्थता पर अधिक लिखा है। इसमें संस्मरण का अर्थ लेखक की स्मरण शक्ति को लक्षित करता है। याद की हुई घटनाओं का जिसमें वर्णन हो उन्हीं को संस्मरण में लिया है।

संस्मरण में सम्पूर्ण जीवन के कुछ विशिष्ट अंगों का प्रकाशन किया जाता है। संस्मरण में केवल उन्हीं घटनाओं का उल्लेख रहता है जिनसे लेखक के जीवन में घटित होने वाले परिवर्तनों का संकेत मिलता है और जो अन्य जनों के कौतूहल को शान्त करने में सहायक हो सकती है। –''संस्मरण सामान्यः प्रसिद्ध व्यक्ति ही लिख सकता है। अपने कार्य क्षेत्र में सामान्य प्रसिद्धि प्राप्त करके लेखक अपने जीवन के कुछ खंड जिनमें अन्य जनों की सहज रूचि हो सकती है संस्मरण के रूप में प्रस्तुत करता है। इस स्थिति में वह लेखक आकर्षण का कारण नहीं होता अपितु उसके संस्मरण में वर्णित वृत्त में आकर्षण रहता है।''

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्मरण प्रसिद्ध व्यक्ति ही लिख सकता है। इसके साथ ही वह अपने जीवन से सम्बन्धित संस्मरण भी लिख सकता है और अन्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में भी। कुछ भी हो चाहे वह अपने जीवन के विषय में लिखे चाहे अन्य व्यक्ति के विषय में ये सभी संस्मरण उसके व्यक्तित्व से अवश्य प्रभावित होंगे वर्णन शैली में लेखक अपनी कोमल कल्पना की सहायता ले सकता है तभी वह अपने संस्मरणों को प्रभावशाली बना सकता है इन सभी विशेषताओं को एकत्रित रूप से यदि वर्णित किया जाय तो संस्मरण की परिभाषा यह हो सकती है– जब लेखक अतीत की अनन्त स्मृतियों में से कुछ रमणीय अनुभूतियों को अपनी कोमल कल्पना से अनुरंजित कर व्यंजनामूलक संकेत शैली में अपने व्यक्तित्व की विशेषताओं से विशिष्ट कर रमणीय एवं प्रभावशाली रूप से वर्णन करता है तब उसे संस्मरण कहते हैं।

37.4 संस्मरण साहित्यः परम्परा और विकास

लेखक जब अपनी अनेक स्मृतियों से कुछ विशिष्ट स्मृतियों को अपनी कोमल कल्पना से कलात्मक और प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करता है तो उसे 'संस्मरण' कहा जाता है। साहित्य की यह विधा हिंदी साहित्य में आधुनिक

युग में शुरू हुई है। हिन्दी साहित्य में संस्मरण लिखने की शुरुआत भारतेन्दु युग और उसके पश्चात शुरू हुई है। वास्तविकता तो यह है कि संस्मरण लिखने की प्रथा हिंदी में पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से ही करती है। संस्मरण साहित्य भी इसका अपवाद नहीं हैं।'' हिन्दी संस्मरण विधा की परम्परा और विकास को निम्नलिखित रूप में देख सकते हैं।

हिन्दी संस्मरण साहित्य : उद्‌भव (1900–1920)

स्वतंत्र साहित्यरूप की दृष्टि से संस्मरण साहित्य का विकास अत्यंत आधुनिक माना जाता है, लेकिन संस्मरण का अस्तित्व प्राचीन है। आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक अनेक संस्मरणात्मक ग्रंथ मिले हैं। 'पृथ्वीराज रासो, 'विनयपत्रिका', 'हनुमानबाहुक', 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', आदि रचनाएँ संस्मरण साहित्य के अत्यधिक निकट हैं। लेकिन आधुनिक संस्मरण के तत्वों का प्रायः इसमें अभाव है। आधुनिक संस्मरण विधा की दृष्टि से बालमुकुन्द गुप्ता जी की रचना 'प्रतापनारायण मिश्र' हिन्दी संस्मरण विधा की प्रथम रचना मानी जाती है। इस युग में स्वयं भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने 'कुछ आप बीती कुछ जग बीती' शीर्षक से एक सुंदर संस्मरण लिखा था। इस युग में अनेक संस्मरण पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से प्रकाशित होते रहे। इसमें पं. अंबिकादत्त व्यास का 'निज वृत्तांत' उल्लेखनीय है। वास्तविक रूप से संस्मरण की शुरूआत 1900 के पश्चात ही संस्मरण विधा का उद्‌भव मानते हैं – ''सरस्वती इस युग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पत्रिका थी और संस्मरण–साहित्य ने इसके माध्यम से ही अपने अस्तित्व की सूचना दी। इसके विभिन्न अंकों में समय–समय पर अनेक रोचक संस्मरण प्रकाशित होते रहे।'' यही से संस्मरण विधा की वास्तविक परम्परा शुरू होती हैं। सरस्वती के माध्यम से स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने 'अनुमोदन का अन्त' 'क्षमा की सभ्यता' 'विज्ञानाचार्य वसुका विज्ञान मंदिर' आदि संस्मरणात्मक रचनाएँ लिखी। संस्मरण की श्रीवृद्धि में 'सरस्वती' पत्रिका का योगदान महत्वपूर्ण है। इसी पत्रिका के विभिन्न अंकों में अनेक संस्मरण लिखे गये। इसमें उल्लेखनीय है– रामकुमार खेमका का 'इधर–उधर की बातें', जगदूबिहारी सेठा का 'मेरी बड़ी छुट्टियों का प्रथम सप्ताह' पान्डुरंग खानखोजे का 'वाशिंगटन महाविद्यालय का संस्थापन दिनोत्सव', प्यारेलाल मिश्र का 'लंदन का फाग या कुहरा', काशीप्रसाद जायस्वाला का 'इंग्लैंड के देहात में महाराज बनारस का कुआँ', जगन्नाथ खन्ना का 'अमेरिका आनेवाले विद्यार्थियों को सूचना', भोलादत्त पांडे का 'मेरी नयी दुनिया संबंधित रामकहानी आदि' उल्लेखनीय हैं। इस युग के अधिकांश संस्मरण प्रवासी भारतीयों द्वारा लिखे गये हैं। इस युग में पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित बालमुकुंद गुप्ता की रचना 'हरिऔध जी के संस्मरण' यही एकमात्र उल्लेखनीय संस्मरण रचना है। यह रचना संस्मरण विधा की प्राथमिक अवस्था ही मानी जानी चाहिए। इस युग में बहुत ही कम मात्रा में संस्मरण लिखे गये। संस्मरण विधा केवल पत्र–पत्रिकाओं तक ही सीमित रही है। संस्मरण विधा को पुस्तकाकार रूप देने का प्रयास छायावाद में ही होता दिखाई देता है। यह संस्मरण विधा का विकास–युग माना जा सकता है।

संस्मरण विकास युग : (1920 से आज तक)

द्विवेदी युग की तरह ही इस युग में भी अधिकांश संस्मरण पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से लिखने का प्रयास हुआ है। 'सरस्वती' पत्रिका में रामकुमार खेमका, कृपानाथ मिश्र, रामनारायण मिश्र, भगवानदीन दुबे, रामेश्वरी नेहरु आदि के अनेक संस्मरण देखने को मिलते हैं। देश–विदेश के जीवन के विविध पक्षों, प्रकृति के सौंदर्य, दर्शनीय स्थानों आदि के वर्णन को इस संस्मरणों में अधिक चित्रित किया गया है।

'सरस्वती पत्रिका के पश्चात संस्मरण विधा को अधिक प्राथमिकता देने का कार्य 'विशाल भारत', 'सुधा', और

माधुरी आदि पत्रिकाओं ने किया हैं। इन पत्रिकाओं में आचार्य रामदेव ने स्वामी श्रद्धानंद पर, अमृतलाल चक्रवर्ती ने बालमुकुन्द गुप्त पर, बनारसीदास चतुर्वेदी ने श्रीधर पाठक पर, मंगलदेव शर्मा ने पद्मसिंह शर्मा पर संस्मरण लिखे हैं। यहाँ कथा नायकों के जीवन को लेकर संस्मरण लिखे गये हैं। 'सुधा' पत्रिका में 'मेरे प्राथमिक जीवन की स्मृतियाँ (इलाचन्द्र जोशी)', कुछ संस्मरण (वृन्दावनलाला वर्मा) से प्रकाशित संस्मरण भी विशेष उल्लेखनीय रहे है। इसी समय में डॉ. श्यामसुन्दरदास ने 'लाला भगवानदीन' नामक एक महत्त्वपूर्ण संस्मरण लिखा है। इस संस्मरण में भगवानदीन जी के जीवन की यथार्थ झाँकी प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। श्री रामदास गौड द्वारा लिखित 'पं. श्रीधर पाठक', 'रायदेवी प्रसाद पूर्ण' संबंधी संस्मरण भी विशेष उल्लेखनीय रहे है। यह सभी संस्मरण पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से लिखे गये।

संस्मरण शुरू में पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से लिखे गये। लेकिन जैसे–जैसे संस्मरण विधा अपना विकास करती गई वैसे–वैसे कुछ संस्मरण संकलन भी सामने आते रहे। द्विवेदी युग के पश्चात अनेक लेखकों ने अपने संस्मरण संकलन भी प्रकाशित किए हैं। शिवराम पान्डेय की रचना मदन मोहन के संबंध की 'कुछ पुरानी स्मृतियाँ' सन 1932 में प्रकाशित एक महत्त्पूर्ण संस्मरण संकलन है। इसके पश्चात श्रीराम शर्मा कृत 'शिकार', मन्मथनाथ गुप्त कृत 'क्रान्ति युग के संस्मरण' तथा शिवनारायण टन्डन कृत 'झलक' यह उल्लेखनीय संस्मरण ग्रंथ है। इसी समय 'हंस' पत्रिका का बाबूराव विष्णुराव पराडकर द्वारा संम्पादित 'प्रेमचन्द स्मृति अंक' संस्मरण परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। जो तिलक भार्गव द्वारा सम्पादित 'साहित्यकों के संस्मरण' भी इस युग की उल्लेखनीय रचना हैं। इसमें मंगलदेव शर्मा द्वारा प्रेमचन्द के जीवन पर लिखा गया 'मुंशी प्रेमचन्द' महत्त्वपूर्ण संस्मरण है। 1935 तक लिखे गये संस्मरणों में समाजसेवी नेताओं और साहित्यकारों पर अधिक संस्मरण लिखे गये हैं। इसके साथ ही प्रवासी भारतीयों के स्मृति–प्रसंगों को रोचक और प्रवाहपूर्ण शैली में प्रस्तुत किया गया है।

सन 1940 के समय में हिन्दी संस्मरण लिखनेवाले राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह एक प्रमुख संस्मरण लेखक हैं। उनके संस्मरण हिन्दी साहित्य की अमूल्यनिधि के रुप में प्राप्त होते हैं। उनके संस्मरण चरनाओं में 'सावनीसमा', 'टूटा तारा' और 'सूरदास', 'देवी बाबा' प्रमुख है। 'सावनीसमा' (सावन के दृश्य या नजारे) में सावन के दृश्यों को सजीवता से अंकित करने का प्रयास किया हैं। स्वयं इसके संदर्भ में सिंहजी लिखते हैं– ''आज भी मेरी मानस दृष्टि पर यह सावनी चकल्लस की पार्टी चक्कर काटती है। उस विलुप्त गौरव की धुँधली स्मृति गोधूलि की क्लान आभा की तरह स्निग्ध भी है।'' इससे स्पष्ट है कि इसमें सावन और समाज का स्निग्ध और करूण चित्रण हुआ है। 'टूटा तारा' राजासाहब के कलात्मक संस्मरणों की दूसरी पुस्तक है। इसमें मौलवी मुरादबख्श और देवी बाबू के संस्मरण लिखे गये हैं। सूरदास में राजा साहब के पंखा कुली का सजीव अंकन किया गया है। राजा राधिकारमण सिंह के संस्मरण संबंधी उपर्युक्त रचनाओं के संबंध में नगेंद्रजी लिखते है– ''सार्थक विशेषणों , विशिष्ट उपमाओं एवं ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग उनकी शैलीगत विशेषताएँ है।''

महादेवी वर्मा एक सफल संस्मरण लेखिका है। 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएँ' एवं 'श्रृंखला की कडियाँ' उनके संस्मरणात्मक गद्य संग्रह हैं। इन संग्रहों में सामाजिक वैषम्य, नारी हृदय की करूणा, वेदना, व्यथा का मर्मस्पर्शी बौद्धिक विश्लेषण हुआ है। इनके संस्मरण के संबंध में डॉ. शान्ति खन्ना लिखती हैं – ''काव्य जगत की भावुक प्रणयिनी कवयित्री अपने संस्मरणें में धरती की बेटी बनकर माँ बहन के रूप में अवतरित हुई है। आत्मनिवेदिता कवयित्री ने स्वात्मपंडित से उन्मुख होकर युग सापेक्ष गतिमान रूप स्वीकार किया है और उनका आत्मरूद्ध कलाकार

अपने संस्मरण साहित्य में युगों–युगों से पीडित तिरस्कृत मानवता की वकालत के लिए तनकर खड़ा हो गया है''। महादेवी वर्मा की दृष्टि समाज की पीडा पर अधिक टिकी है। शान्तिप्रिय द्विवेदी हिन्दी के प्रसिद्ध संस्मरण लेखक है। इनकी 'स्मृतियाँ और कृतियाँ' नामक संस्मरण रचना है। यह उनका व्यक्तिगत जीवन से संबंधित संस्मरण संग्रह है। इसके साथ–साथ शिवपूजन सहाय की 'वे दिन वे लोग' प्रकाशचन्द्र गुप्त की 'पुरानी स्मृतियाँ', देवेद्र सत्यार्थी की 'रेखाएँ बोल उठी' आदि उल्लेखनीय संस्मरण रचनाएँ हैं।

सन 1952 मे बनारसीदास चतुर्वेदी के 'संस्मरण' प्रकाशित हुए। इस संस्मरण में 21 व्यक्तियों के संस्मरण 251 पृष्ठों में लिखे है। इनके संस्मरण कलात्मक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। इनके संस्मरणों की भाषा सजीव और आकर्षक है। विष्णु प्रभाकर ने 'कुछ शब्द कुछ रेखाएँ' शीर्षक संस्मरण में सामाजिक स्थितियों तथा अनेक मूल में छिपी विसंगतियों का सटीक विश्लेषण किया है। राहुल सांकृत्यायन का संस्मरण साहित्य 'बचपन की स्मृतियाँ', 'जिसका मैं कृतज्ञ' तथा 'मेरे असहयोग के साथी' में संकलित है। अपने जीवन मे आनेवाले विशिष्ट व्यक्तियों की अनेक स्मृतियों को राहुलजी ने शब्दशुद्ध करने का प्रयास किया हैं। इनके संस्मरणों के संदर्भ डॉ. नगेंद्रजी लिखते हैं – ''बोलचाल की प्रावहपूर्ण भाषा के द्वारा अपने हृदय की भावुकता को व्यक्त करते हुए तथा अपने सम्पर्क में आनेवाले छोटे–बडे तथा मामूली महान सभी व्यक्तियों को समान रूप से महत्त्व देते हुए मर्मस्पर्शी रचनाओं का प्रणयन इनके लेखन की विशेषता है।'' उनकी 'यात्रा के पन्ने' डायरी शैली में लिखी गई प्रथम संस्मरणात्मक कृति है। इस रचना में लेखक तिब्बत यात्रा का वर्णन करता है।

किशोरदास वाजपेयी हिन्दी संस्मरण साहित्य के एक प्रमुख हस्ताक्षर हैं। उनकी संस्मरण रचना 'साहित्यिक जीवन के अनुभव और संस्मरण' सन 1953 में प्रकाशित हुई। यह रचना चार भागों में विभाजित हैं। अपने जीवन में आये महत्त्वपूर्ण अनुभव का लेखा–जोखा प्रस्तुत करने वाली यह रचना है। इस रचना के संबंध में डॉ. शान्ति खन्ना लिखती हैं– ''जीवन में जो भी अनुभव उन्हें हुए, उन सभी का वर्णन इसमें है। जीवन में असफलता के कारण और सफलता की कुँजी दोनों ही इस पुस्तक में है।'' हिन्दी संस्मरण साहित्य में जैनेन्द्र का नाम भी उल्लेखनीय है। इनके बारह संस्मरणों का संग्रह 'ये और वे' सन 1954 में प्रकाशित हुआ। आपके द्वारा लिखित प्रेमचन्द, मैथिलीशरण गुप्त के जीवन पर लिखे संस्मरण कलापूर्ण बन गये है। सन 1955 में घनश्याम बिडला की संस्मरणात्मक रचना 'गांधीजी की छत्रछाया में' प्रकाशित हुई। यह व्यक्तिगत रचना है। इसमें तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का यथार्थ और सजीव चित्रण किया गया है। बिडला जी ने म. गांधीजी के छत्रछाया में रहते हुए अपने व्यक्तिगत जीवन की वास्तविकता को इस रचना में व्यक्त किया है। यशपाल इस समय के प्रमुख संस्मरण लेखक हैं। उसकी रचना 'सिंहावलोकन' अपने समय के क्रान्तिकारी जीवन का यथार्थ सिंहावलोकन करती है। यहाँ स्वतंत्रता संग्राम की झाँकी भी देखने को मिलती हैं।

उपेद्रनाथ अश्क ने भी संस्मरण के विकास में अपना योगदान दिया। उनकी रचनाएँ 'रेखाएँ और चित्र', मंटो मेरा दुश्मन में उनके अश्क जी द्वारा बिताए गए दिनों की दर्दभरी और दिलचस्प कहानी है। यथा – ''मंटो जब गाली देने पर माफी माँग लेना या इतना मादा उसे था, तब फिर क्या कारण है कि हम में बराबर खिंचाव रहा और हम लडते रहें? मैंने स्वयं इस बात पर गौर किया है और मैं हमेशा इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ, कि जिंदगी की बिसात पर हमें एक–दूसरे के सामने रख दिया गया और हम लडने पर मजबूर रहे।'' इस प्रकार सभी संस्मरणों में अश्कजी की कला कुशलता निखर उठी हैं। 1956 में प्रकाशित शिवरानी देवी द्वारा 'प्रेमचन्दः घर में' एक प्रमुख संस्मरण रचना है। इस

समय 'हंस' द्वारा 'प्रेमचंद स्मृतिग्रंथ' तथा राजकमल प्रकाशन द्वारा 'श्री सुमित्रानन्दन पंत स्मृति चित्र', तथा लखनऊ से 'पाण्डेय स्मृति ग्रंथ' प्रकाशित हुए। संस्मरण विधा के विकास में इन ग्रंथों का भी महत्त्व अनन्यसाधारण हैं। यह स्मृतिग्रंथ संस्मरण विधा को पुष्ट विकास के प्रमाण कहे जा सकते हैं। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर हिन्दी संस्मरण साहित्य के एक प्रमुख हस्ताक्षर है। आपके संस्मरणों का संग्रह 'दीप जल शंख बजे' सन 1950 में प्रकाशित हुआ। इसमें पच्चीस संस्मरण ऐसे हैं, जो सामान्य व्यक्ति से महान व्यक्ति के जीवन को स्मृतिपटल के सामने ताजा करते हैं। इस संकलन के संदर्भ में डॉ. शान्ति खन्ना लिखती हैं – ''ये संस्मरण लिखते समय मिश्रजी ने यह नहीं सोचा कि अमुक व्यक्ति जनता में प्रसिद्ध हैं कि नहीं, उनके सम्पर्क में जो व्यक्ति आए और जिनमें उन्होंने मानवीय गुणों का समावेश पाया उन्हीं का वर्णन किया है।'' इन्द्र विद्यावाचास्पति की रचना 'मैं इनका ऋणी हूँ' महान राष्ट्रपुरूषों के जीवन में संबंधित महत्त्वपूर्ण संस्मरण रचना हैं। सेठ गोविन्ददास की 'स्मृति कण' में स्मृति के विशेष क्षणों को रेखांकित किया हैं। रामधारीसिंह दिनकर द्वारा लिखित 'संस्मरण और श्रद्धांजलियाँ' उल्लेखनीय हैं। जिनमें सरल एवं भावपूर्ण भाषा के माध्यम से अपने युग के प्रमुख साहित्यकारों, राजनीतिक नेताओं आदि के निजी संबंधों का अन्तरंग परिचय दिया गया है। स्वाधीनता के पश्चात भी अनेक संस्मरणात्मक रचनाओं का सृजन हुआ हैं। इसमें महत्त्वपूर्ण है, सत्यजीवन वर्मा भारतीय की 'एलबम', ओंकार शरद की 'लंका महाराजिन', कैलाशनाथ काटजू की 'मै भूल नहीं सकता', विनोदशंकर व्यास की 'प्रसाद और उनके समकालीन', सम्पूर्णानन्द की 'कुछ स्मृतियाँ और स्फुट विचार', हरिभाऊ उपाध्याय की 'मेरे हृदय देव', रायकृष्ण दास की जवाहर भाई 'आत्मीयता और सहृदयता', लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', की 'व्यक्तित्व की झांकियाँ, अमृतलाल नागर की 'जिनके साथ जिया', भगतसिंह की 'मेरी क्रांतिकारी साथी', कृष्णा सोबती की 'हम हशमत', भारतभूषण अग्रवाल की 'लोक–अलोक', डॉ. रामकुमार वर्मा की 'संस्मरणों के सुमन', फणीश्वरनाथ रेणु की 'वन तुलसी की गंध' आदि संस्मरण परक रचनाएँ हैं। आदि रचनाओं ने हिन्दी संस्मरण विधा को समृद्ध बनाने का प्रयास किया है। अनेक पत्र–पत्रिकाओं ने भी संस्मरण को समृद्ध बनाने का सफल प्रयास किया है। जीवन में विविध क्षेत्रों से जुड़े व्यक्तियों को संस्मरण पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से लिखे जा रहे हैं। अनेक रचनाओं का अनुवाद भी हिन्दी में हुआ है।

समग्रतः संस्मरण विधा की परम्परा और विकास के संबंध में यह कहा जा सकता है कि हिन्दी संस्मरण ने अपनी छोटी–छोटी भी विकास यात्रा में जिस बहुरंगी एवं विविध आयामी समृद्ध परम्परा का निर्माण किया है, वह उल्लेखनीय और प्रशंसनीय कहा जा सकता है। आज भी यह विकास निरंतर जारी है।

पिछले कुछ वर्षों के भीतर संस्मरण–लेखन की प्रवृत्ति की प्रवृत्ति बढ़ी है। चर्चित संस्मरणों में –सृजन के सेतु (1990 ई॰) विष्णु प्रभाकर, याद हो कि न याद हो (1992 ई॰) काशीनाथ सिंह, निकट मन में (1992 ई॰) अजित कुमार, जिनकी याद हमेशा रहेगी (1992 ई॰) अमृत राय, सुधियाँ उस चन्दन के वन की (1992 ई॰) श्री विष्णुकांत शास्त्री, लाहौर में लखनऊ तक (1994 ई॰) प्रकाशवती पाल, सप्तपर्णी (1994 ई॰) गिरिराज किशोर, लौट आ ओ धार (1995 ई॰) दूधनाथ सिंह, स्मृतियों के छंद (1995 ई॰) और अपने–अपने रास्ते (2001 ई॰) रामदरश मिश्र, अतीतजीवी (1995 ई॰) प्रफुल्लचन्द्र ओझा, सृजन के सहयात्री (1996 ई॰) रवीन्द्र कालिया, अभिन्न (1996 ई॰) विष्णुचन्द्र शर्मा, यादें और बातें (1998 ई॰) बिन्दु अग्रवाल, हम हशमत, (भाग–दो) कृष्णा सोबती, अमराई (1999 ई॰) पद्म सच्चदेव, वे देवता नहीं है (2000 ई॰) राजेन्द्र यादव, याद आते हैं (2000 ई॰) रामनाथ अवस्थी, नेपथ्य नायक लक्ष्मीचन्द्र जैन (2000 ई॰) सं॰ मोहनकिशोर दीवान, यादों के काफिले (2000 ई॰) देवन्द्र सत्यार्थी, अंतरंग संस्मरणों में प्रसाद (2001 ई॰) सं॰

पुरुषोत्तमदास मोदी, एक नाव के यात्री (2001 ई॰) विश्वनाथप्रसाद तिवारी, प्रदक्षिणा अपने समय की (2001 ई॰) नरेश मेहता, चिड़िया रैन बसेरा (2002 ई॰) विद्यानिवास मिश्र, लखनऊ मेरा लखनऊ (2002 ई॰) मनोहर श्याम जोशी, लौटकर आना नहीं होगा (2002 ई॰) कान्ति कुमार जैन, नेह के नाते अनेक (2002 ई॰) कृष्णाबिहारी मिश्र, लखनऊ मेरा लखनऊ (2002 ई॰) डॉ॰ रामकमल राय, साहित्य के स्वप्न पुरुष (2002 ई॰) विष्णु प्रभाकर, रघुवीर सहायः रचनाओं के बहाने एक संस्मरण (2003 ई॰) मनोहरश्याम जोशी, आँगन के वन्दनवार (2003 ई॰) और मेरे सुहृदय श्रद्धेय (2005 ई॰) डॉ॰ विवेकी राय, ये जो आइना है (2006 ई॰) मधुरेश, काशी का अस्सी (2002 ई॰), आछे दिन पाछे भये (2004 ई॰) डॉ॰ काशीनाथ सिंह, लाई हयात आए (2004 ई॰) डॉ॰ लक्ष्मीधर मालवीय, तुम्हारा परसाई (2004 ई॰), जो कहूँगा सच कहूँगा (2006 ई॰), अब तो बात फैल गई (2007 ई॰), और बैकुण्ठपुर में बचपन (2010 ई॰) डॉ॰ कान्तिकुमार जैन, पर साथ–साथ चल रही याद (2004 ई॰) श्री विष्णुकान्त शास्त्री, नंगा तलाई का गाँव (2004 ई॰) डॉ॰ विश्वनाथ त्रिपाठी, सुमिरन के बहाने (2005 ई॰) केशवचन्द वर्मा, घर का जोगी जोगड़ा (2006 ई॰) डॉ॰ काशीनाथ सिंह, एक दुनिया अपनी (2007 ई॰) डॉ॰ रामदरश मिश्र, कुछ यादें कुछ बातें (2008 ई॰) अमरकान्त, दिल्ली शहर दर शहर (2009 ई॰) डॉ॰ निर्मला जैन, कालातीत (2009 ई॰) मुद्रा राक्षस, कितनी शहरों में कितनी बार (2010 ई॰) ममता कालिया, हाशिये की इबारतें (2009 ई॰), मेरे भोजपत्र (2009 ई॰) चन्द्रकान्ता, कविवर बच्चन के साथ (2009 ई॰) एवं जिनके संग जिया (2015 ई॰) अतीत कुमार, अमृत लाल भागर की बाबूजी बेटाजी एण्ड कम्पनी (2009 ई॰) अचला नागर, जे एनयू में नामवर सिंह (2010 ई॰) सम्पादक डॉ॰ सुमन केशरी, अँधेरे में जुगनू (2010 ई॰) अजीत कुमार यादों के गलियारे (2010 ई॰) नासिरा शर्मा, कल परसों के बरसों (2011 ई॰) ममता कालिया, स्मृति में रहेंगे वे (2011 ई॰) शेखर जोशी, टिगरिया का लोकदेवता भवानी प्रसाद मिश्र (2011 ई॰) डॉ॰ प्रेमशंकर रघुवंशी, अतीत राग (2011 ई॰) नन्द चतुर्वेदी (1923–2014 ई॰), मेरे हिस्से का शहर (2011 ई॰) सुधीर विद्यार्थी, स्मृतियों के गलियारे से (2012 ई॰) नरेन्द्र कोहली, गंगा स्नान करने चलोगे (2012 ई॰) डॉ॰ विश्वनाथ त्रिपाठी, माफ करना यार (2012 ई॰) बलराम, अपने–अपने अज्ञेय, दो खण्ड (2012 ई॰) सम्पादकः ओम थानवी, यादों का सफर (2012 ई॰) प्रकाश मनु, हम हशमत भाग–3 (2012 ई॰) कृष्ण सोबती, नेह के नाते (2012 ई॰) डॉ॰ कमलाप्रसाद, लता मंगेशकर : ऐसा कहा से लाऊँ (2012 ई॰) पद्मा सचदेव, ज्ञानरंजन के बहाने (2012 ई॰) नीलाभ, जहाँ से उजास (2013 ई॰) राजी सेठ, कृति और कृतिकार (2013 ई॰) मृदुला गर्ग, एक पेड़ की याद (2013 ई॰) शेखर जोशी, कथाशिल्पी कमलेश्वर (2013 ई॰) सं॰ महावीर अग्रवाल, फिर मुझे रहगुजर याद आया (2013 ई॰) शैलेन्द्र सागर स्मृतियों का साक्ष्य (2014 ई॰) हृदयेश, धीमी–धीमी आँच (2013 ई॰) बलराम, ई इलाहाबाद है भइया (2013 ई॰) विमलचन्द पाण्डेय महागुरु मुक्तिबोधः जुम्मा टैंक की सीढ़ियों पर (2014 ई॰) कान्तिकुमार जैन, बोरुंदा डायरी (2015 ई॰) मालचन्द तिवाड़ी, गुरुजी की खेती–बाड़ी (2015 ई॰) डॉ॰ विश्वनाथ त्रिपाठी, मेरे हमकलम (2015 ई॰) रवीन्द्र कालिया, एक था राजा (2015 ई॰) डॉ॰ कान्तिकुमार जैन, यादें–यादें...ओर यादें (2016 ई॰ पुष्पा भारती, मैं और वे (2016 ई॰) मधुरेश, आवा हयामि (2016 ई॰) रमेश चन्द्र शाह आदि।

37.5 संस्मरण : तत्व

वर्ण्य विषय – संस्मरण साहित्य का यह प्रमुख तत्व है। इसमें लेखक अपने या अन्य व्यक्ति के जीवन से सम्बन्धित विशिष्ट या रमणीय घटनाओं का वर्णन करता है। घटनाओं में उन्हीं का वर्णन होता है जिनसे लेखक स्वयं प्रभावित होता है और यह अनुभव करता है कि अन्य व्यक्ति भी प्रभावित होंगे। संस्मरण किसी विशेष व्यक्ति के ही लिखे जाते हैं। जिस भी व्यक्ति के संस्मरण लेखक लिखे उसे जनता में अवश्य प्रतिष्ठित होना चाहिए। ऐसे प्रतिष्ठित

व्यक्तियों के संस्मरण ही जनता के लिए प्रेरणादायक सिद्ध हो सकते हैं। प्रतिष्ठित व्यक्ति राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक कोई भी हो सकता है।

वर्ण्य विषय की कुछ विशेषताएँ होती हैं जोकि उसे उत्कृष्ट बनाती हैं। उनमें सर्वप्रथम रोचकता है। लेखक को अपने विषय का वर्णन इस ढंग से करना चाहिए जिससे कि वह पाठक को सरस प्रतीत हो। नीरस विषय को पढ़ने के लिए कोई भी व्यक्ति तैयार नहीं होता। इस प्रकार रोचकता का विषयवर्णन में होना अत्यन्त आवश्यक है।

अन्य महत्वपूर्ण गुण जिसका वर्ण्य विषय में होना आवश्यक है वह है स्पष्टता। यदि लेखक अपने या किसी अन्य व्यक्ति के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का वर्णन पूर्ण ईमानदारी से करता है तभी वह सफल संस्मरण लेखक हो सकता है। किसी भी व्यक्ति का संस्मरण तभी सच्चा उतर सकता है जबकि लेखक का संस्मरण–नायक से निकट सम्पर्क रहा हो और उसको उसने हर पहलुओं से देखा और समझा हो। ऐसा न होने से परिणाम यह होता है कि मनुष्य कुछ है और उसका चित्रण उसके बिल्कुल विपरीत होता है।

इसके पश्चात वर्ण्य विषय में सुसंगठितता का होना भी आवश्यक है। लेखक जिस भी घटना का वर्णन करना चाहे उसमें भावों और विचारों का तारतम्य होना आवश्यक है। जीवन की समस्त अनुभूतियों का वर्णन क्रमबद्ध रूप से करना आवश्यक है। ये सभी विशेषताएँ वर्ण्य विषय को रोचक एवं प्रभावशाली बनाती हैं। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ''वर्ण्य विषय को दो प्रकार से वर्णन किया जा सकता है यदि संस्मरण लेखक अपने सम्बन्ध में लिखे तो उसकी रचना आत्मकथा के निकट होगी यदि अन्य व्यक्ति के विषय में लिखे तो जीवनी के निकट।''

चरित्र–चित्रण

यदि लेखक अपने जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का वर्णन संस्मरणात्मक शैली में करता है तो वह उसकी संस्मरणों में लिखी आत्मकथा बन जाती हे। यदि वह अन्य व्यक्ति के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का वर्णन करता है तो वह जीवनी संस्मरणों में लिखी हुई मानी जाती है इन दोनों में लेखक केवल उन्हीं घटनाओं का उल्लेख करता है जिनका प्रभाव जनता पर स्पष्ट रूप से पड़ सकता है। वे सभी घटनाएँ केवल उसके चरित्र के गुणों को ही स्पष्ट करने के लिए नहीं लिखी जातीं उनमें कुछ ऐसी घटनाओं का वर्णन भी होता है जोकि उसकी चारित्रिक दुर्बलताओं की ओर संकेत करती हैं। इस प्रकार संस्मरणों में चरित्र सम्बन्धी गुण–दोषों का वर्णन स्पष्ट रूप से किया जाता है।

लेखक द्वारा लिखा हुआ प्रत्येक पृष्ठ उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होता है। लेखक के व्यक्तित्व का प्रभाव उसकी प्रत्येक कृति में स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। यदि लेखक मनोविज्ञानकार है तो वह अपने नायक का चरित्र मनोवैज्ञानिक ढंग से लिखेगा उसके चरित्र का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करेगा। ऐसे लेखक अपने नायक के चरित्र का चित्रण तो करते ही हैं इसके साथ उसके मस्तिष्क में छिपी हुई उनकी भावनाओं एवं उलझनों का भी स्पष्ट रूप से विश्लेषण करते हैं। कुछ ऐसे संस्मरण भी लिखे जा सकते हैं जोकि नायक के जीवन की कुछ घटनाओं को ही व्यक्त करते हैं। ऐसे संस्मरण यद्यपि नायक के सम्पूर्ण जीवन को नहीं स्पष्ट करते प्रत्युत फिर भी उन कुछ वर्णित पृष्ठों का वर्णन ही ऐसे ढंग से लेखक करता है कि नायक के सम्पूर्ण चरित्र का अनायास ज्ञान हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि संस्मरण साहित्य में भी लेखक नायक के चारित्रिक गुण–दोषों का वर्णन स्पष्ट रूप से करता है जिससे कि उसका चरित्र स्पष्ट हो जाता है।

देशकाल वातावरण

वातावरण उन समस्त परिस्थितियों का संकुल नाम है जिनसे पात्रों को संघर्ष करना पड़ता है। संस्मरण साहित्य को वास्तविकता का भान देने की कसौटियों में वातावरण मुख्य उपकरण है। संस्मरण लेखक भी देश और काल की जंजीर में जकड़े हुए होते हैं। नायक के व्यक्तित्व को स्पष्ट करने के लिए देशकाल का चित्रण आवश्यक है। नायक के व्यक्तित्व के अनुसार ही वातावरण एवं परिस्थितियों का चित्रण लेखक करता है। यदि लेखक का नायक साहित्यिक है तो उसके संस्मरणों में लेखक जहाँ उसके साहित्यिक व्यक्तित्व को स्पष्ट करेगा वहाँ उसका स्थान निर्धारित करने के लिए उसे तत्कालीन साहित्यिक परिस्थितियों का अवश्य वर्णन करना पड़ेगा।

यदि नायक राजनैतिक व्यक्ति है तो उसमें पाठक को तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों का ज्ञान होगा। क्योंकि उनके नायक का व्यक्तित्व इन्हीं परिस्थितियों में निखरता है इसलिए ये सभी वर्णन उसके लिए आवश्यक हो जाते हैं। यही नहीं कुछ राजनैतिक व्यक्ति अच्छे लेखक भी होते हैं। इसलिए उनके जीवन में दोनों ही प्रकार की परिस्थितियों का वर्णन होता है। धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का ज्ञान हमें ऐसे पुरुषों के जीवन से मिलता है जिनका सम्पूर्ण जीवन इन्हीं में व्यतीत हुआ हो। इस प्रकार विवेचन से स्पष्ट है कि परिस्थितियों का वर्णन केवल नायक के व्यक्तित्व को उभारने के लिए ही किया जाता है प्रमुख रूप से नहीं।

देश और काल में वास्तविकता लाने के लिए स्थानीय ज्ञान आवश्यक है। इसलिए चरित्र को और उज्जवल एवं प्रभावशाली बनाने के लिए जहाँ लेखक तत्कालीन परिस्थितियों का वर्णन करते हैं वहाँ विशेष स्थान का वर्णन भी करते हैं जहाँ से सभी घटनाएँ घटित होती हैं। कई संस्मरण तो लिखे ही इसी दृष्टिकोण से जाते हैं। यात्रा सम्बन्धी संस्मरणों में नगरों एवं विशेष स्थलों का चित्रण होता है। इस प्रकार संस्मरणों में वास्तविकता एवं प्रभावोत्पादकता लाने के लिए देशकाल वातावरण का चित्रण आवश्यक है।

उद्देश्य

यह संस्मरण साहित्य का प्रमुख तत्व है। इसमें लेखक की जीवन दृष्टि का विवेचन होता है। इसे लेखक का जीवन–दर्शन अथवा उसकी जीवन दृष्टि या जीवन की व्याख्या कह सकते हैं। निरुद्देश्य रचना प्रयोजनहीन एवं व्यर्थ होती है। संस्मरण साहित्य का उद्देश्य अन्य विधाओं से पृथक है। इसमें लेखक अपने समय के इतिहास को लिखना चाहता है परन्तु इतिहासकार के वस्तुपरक रूप से वह बिल्कुल अलग है। संस्मरण लेखक जो स्वयं देखता है जिसका वह स्वयं अनुभव करता है उसी का वर्णन करता है। उसके वर्णन में उसकी अपनी अनुभूतियाँ, संवेदनाएँ भी रहती है। इस दृष्टि से शैली में वह निबन्धकार के समीप है। वह वास्तव में अपने चतुर्दिक के जीवन का सर्जन करता है, सम्पूर्ण भावना और जीवन के साथ, इतिहासकार के समान वह विवरण प्रस्तुत करने वाला नहीं। इससे स्पष्ट है कि संस्मरणों में लेखक केवल उन्हीं घटनाओं का चित्रण करता है जिनसे वह प्रभावित होता है और उसके सम्मुख घटित हुई होती हैं। लेखक केवल उन घटनाओं का वर्णन ही नहीं करता अपितु उनके विषय में अपनी विचारधाराओं का भी वर्णन करता है जिससे हमें लेखक के विचारों का भी आभास हो जाता है।

संस्मरणों में लेखक केवल उन्हीं घटनाओं का चित्रण करता है जिनसे वह स्वयं प्रभावित होता है। अपने अतीत की स्मृतियों को साकार रूप देने का उसका अवश्य कोई न कोई उद्देश्य होता है। एक तो लेखक इस उद्देश्य से इनका वर्णन करता है कि ये वर्णित घटनाएँ समय–समय पर उसे प्रेरणा देती रहें। जब भी जीवन में प्रेरणा की

आवश्यकता पड़े पाठक इनको पढ़ सके। अन्य बात यह है कि कुछ संस्मरण इस उद्देश्य से लिखे जाते हैं कि उनको लिखकर लेखक को मानसिक संतोष प्राप्त होता है।

लेखक अपने जीवन के अनुभवों का वर्णन इसी दृष्टिकोण से करता है। कि शायद इनके पढ़ने से कुछ लोग प्रेरणा ग्रहण कर सकें क्योंकि संस्मरण में तो लेखक केवल उन्हीं घटनाओं का उल्लेख करता है जिनसे लेखक के जीवन में घटित होने वाले परिवर्तनों का संकेत मिलता है और जो अन्य जनों के कौतूहल को शान्त करने में सहायक हो सकते हैं। इस प्रकार विवेचन से स्पष्ट है कि संस्मरण लेखक का उद्देश्य जहाँ स्वान्तः सुखाय रचना करना है वहाँ प्रभावशाली अतीत की स्मृतियों का चित्रण करना भी है जिससे उसे एवं पाठकगण को प्रेरणा मिलती रहे।

भाषा शैली

शैली अनुभूत विषयवस्तु को सजाने के उन तरीकों का नाम है जो उस विषयवस्तु की अभिव्यक्ति को सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण बनाते हैं। संस्मरण शैली की कुछ अपनी ही विशेषताएँ है जो इसका सम्पन्न एवं प्रभावोत्पादक बनाती है। सर्वप्रथम इस शैली में प्रभावोत्पादकता का होना आवश्यक है। संस्मरण इस ढंग से लिखने चाहिए जिससे वे पाठक पर अपना प्रभाव स्थायी रूप से डाल सकें। यह प्रभाव तभी डाल सकते हैं जबकि इनका रोचकता से वर्णन हो। उत्तम ढंग से कही हुई बात ही अधिक प्रभाव डाल सकती है इस प्रकार रोचक शैली का होना भी आवश्यक है। जब तक प्रत्येक भाव एवं विचार का वर्णन सुसंगठित रूप से न किया गया हो तब वह पाठक को रुचिकर न प्रतीत होगी ओर प्रभावित करने के लिए असमर्थ प्रतीत होगी। इसलिए शैली में रोचकता, सुसंगठितता एवं प्रभावोत्पादकता आदि गुणों का होना आवश्यक है।

संस्मरण लिखने के कई ढंग हो सकते हैं। ये निबन्धात्मक शैली में लिखे जा सकते हैं। जब लेखक अपने जीवन से सम्बन्धित संस्मरणों का वर्णन करता है तब वे आत्मकथा शैली में लिखे जाते हैं। कई बार लेखक अपने संस्मरणों का विवेचन पत्रात्मक एवं डायरी शैली में भी करता है। इस प्रकार संस्मरण लिखने की कई शैलियाँ है।

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है भाषा ही भावाभिव्यक्ति का साधन है। यदि भाषा शुद्ध परिमार्जित एवं भावानुकूल होगी तभी वह पाठक को प्रभावित कर सकती है। स्वाभाविक एवं प्रसाद गुण का भाषा में होना अत्यन्त आवश्यक है। शब्दचयन भी विषयानुकूल होना चाहिए।

37.6 प्रश्नावलीः–

1. संस्मरण साहित्य की परिभाषा देते हुए इसके स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

_____

_____

_____

2. संस्मरण साहित्य के उद्‌भव और विकास पर प्रकाश डालिए।

3. संस्मरण के तत्वों का विवेचन कीजिए।

37.7 सन्दर्भ ग्रन्थः

1. हिन्दी साहित्य का इतिहासः– रामसजन पाण्डे।
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास :– हुकम चन्द राजपाल
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास :– रामचन्द्र शुक्ल
4. हिन्दी का गद्य साहित्य :– रामचन्द्र तिवारी
5. आधुनिक हिन्दी का जीवनीपरक साहित्य :– डॉ॰ शान्ति खन्ना
6. गद्य की नई विधाओं का विकासः– माजदा असद

.....